2024

ISSN 2231-1041

स्तोम
STOM

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

यूजीसी-केयर सूचीबद्ध, पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका
UGC-Care enlisted Peer Reviewed Annual Research Journal
वर्ष-24, अंक-24 / Year-24, Volume-24

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

ISSN 2231-1041

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(यूजीसी-केयर सूचीबद्ध, पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका)

वर्ष-24, अंक-24

प्रधान सम्पादक

प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सह सम्पादक

डॉ० कुमार विनय मोहन सिंह

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

2024

संस्थापक

चन्द्र किशोर सिंह, अधिवक्ता

आदि मुद्रक

श्यामा सिंह

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० कुमार विमल मोहन सिंह

डॉ० कुमार निर्मल मोहन सिंह

प्रकाशक

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

मुद्रक

कुमार प्रिन्टर्स,

लाह बाजार, छपरा-841301

पत्राचार का पता

प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

फ्लैट नं०- 108

न्यू टीचर्स फ्लैट

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

दरभंगा (बिहार)

मोबाईल नं० : 9835296330

ई-मेल : editor.stomresearchjournal@gmail.com

सहयोग राशि- **425/-**

पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी संगीतसेवी अवैतनिक हैं ।

लेखकों के विचार से सम्पादकीय सहमति आवश्यक नहीं है ।

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(यूजीसी-केयर सूचीबद्ध, पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका)

सलाहकार मण्डल : प्रो० पंकजमाला शर्मा
प्रो० द्वारम वी.जे. लक्ष्मी
विदुषी काजल शर्मा
प्रो० दर्शन पुरोहित
प्रो० के० शशि कुमार

सम्पादक मण्डल : प्रो० संगीता पण्डित
प्रो० बी० राधा
डॉ० विधि नागर
डॉ० अनीता शिवगुलाम
डॉ० हिमांशु द्विवेदी

सहयोगी मण्डल : प्रो० अर्चना अम्भोरे
प्रो० निशा झा
डॉ० राजश्री रामकृष्ण
डॉ० बिन्दु के०
डॉ० आरती एन० राव
डॉ० अरविन्द कुमार
डॉ० ज्योति सिन्हा
डॉ० मधुरानी शुक्ला
डॉ० अवधेश प्रताप सिंह तोमर
डॉ० रवि जोशी
डॉ० शिखा समैया
डॉ० अमित कुमार पाण्डेय

शिवम्–सरगम

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम् ।।

नृत् कला की इस दुनिया में,
है अपना नया कदम ।
जहाँ सुर का संगम होता,
वो सरगम बना शिवम् ।।

लेकर हम चाँद सितारे
आपस में प्रीत सँवारे ।
प्रीत के इस मंदिर में,
नित शीष झुकाते हैं हम ।।

संगीत हो मन्त्र हमारा,
अभिनय हो शस्त्र हमारा ।
हम नेक, एक, जग जीते,
यही नाद सुनाते हैं हम ।।

हो विकसित जग में कलायें,
संस्कृति की अलख जगाएँ ।
यही भावना हमारी,
यही लक्ष्य बनाते हैं, हम ।

मूल रचना : रविभूषण 'हँसमुख'
परिकल्पना : विनय मोहन 'वीनू'
संगीत : लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सम्पादकीय...

बहुत प्रसिद्ध और मार्मिक पद है भक्तकवि सूरदास का, कई महान गायकों ने इसका भावपूर्ण गायन भी किया है–

हे गोविन्द राखो शरण, अब तो जीवन हारे ।।
नीर पिवन हेतु गए, सिन्धु के किनारे ।
सिन्धु बीच बसत ग्राह, चरण धरि पधारे ।।
चार प्रहर युद्ध भयो, ले गयो मझधारे ।
नाक कान डूबन लागे, कृष्ण को पुकारे ।।
द्वारिका में शब्द भयो, गरूड़ तजि सिधारे ।
'सूर' कहे श्याम सुन्दर, आस है तिहारे ।।

इस गेय पद में हरिहर क्षेत्र के उसी प्रसंग का उल्लेख है जहाँ गज और ग्राह का युद्ध हुआ था और साक्षात् हरि ने प्रकट होकर, सुदर्शन चक्र चलाकर गज की रक्षा की थी । यहाँ इसी स्थान के नाम से मेला लगता है 'हरिहर क्षेत्र का मेला', इसे भगवान विष्णु (हरि) और शिव (हर) की पूजा के लिए आरम्भ किया गया । भारत वर्ष में पाँचवी–छठी शताब्दी में ही भगवान विष्णु और शिव की संयुक्त पूजा प्रारम्भ हो गई थी जिसका प्रमाण राजा ईशान वर्मन के कार्य–काल के अभिलेखों से प्राप्त होता है । राजा ईशान वर्मन भारतीय सभ्यता और संस्कृति से जुड़े विद्वान् थे । मुगलकाल में इस क्षेत्र का नाम 'सोनपुर' पड़ा था और इस मेला को 'सोनपुर मेला' भी कहते हैं क्योंकि यह बिहार के सोनपुर जो बिहार की राजधानी पटना से लगभग पच्चीस किलोमीटर तथा वैशाली जिला के मुख्यालय हाजीपुर से मात्र तीन किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है । यह मेला छपरा जिला के सोनपुर में गंगा और गंडक नदी के तट पर कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर (गंगा–स्नान) आयोजित होता है । इस मेला को 'छत्तर मेला' भी कहते हैं । इस मेला के सम्बन्ध में कहा जाता है कि भगवान विष्णु के दो भक्त शापित होकर गज (हाथी) तथा ग्राह (मगरमच्छ) के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए थे । उपर्युक्त पद में वर्णित युद्ध यहीं कोनहारा घाट पर हुआ था, यहाँ हरिहरनाथ मन्दिर भी है जिसमें हरि और हर अर्थात् विष्णु तथा शिव की एकीकृत प्रतिमा है । वेद, श्रीमद्भागवत, महाभारत, पुराणादि में गज–ग्राह युद्ध का उल्लेख है । ऋग्वेद में हरिहर क्षेत्र का वर्णन प्राप्त होता है । महाभारत के सभापर्व और वनपर्व में इस क्षेत्र को 'महाबल' एवं 'अतिबल' सम्बोधित किया गया है । कहा गया है कि यहाँ स्नान का पुण्यफल प्राप्त होता है । तीर्थ दीपिका, वाराह पुराण, बामन पुराण में इस क्षेत्र का यशोगान किया गया है । अठाइसवें मन्वंतर में गजेन्द्र–मोक्ष की परिकल्पना प्राप्त होती है । इस 'गजेन्द्र मोक्ष स्थल' और मेले की अनेक धार्मिक मान्यताएँ हैं । यह पन्द्रह दिनों तक खूब धूम–धाम से चलता है, इसके बाद भी महीना–भर रहता है ।

इस मेला का उल्लेख विद्वान बौद्ध दार्शनिक बुद्ध घोष ने अपनी पुस्तक में किया है । तब हरिहर

क्षेत्र को 'उल्ला चेल' नाम से जाना जाता था जो वज्जि गणराज्य का हिस्सा था । इस गणराज्य के आठ (अठ्ठकुल) सदस्य थे । बौद्ध साहित्य के अनुसार, वज्जि गणराज्य में तब भी कार्तिक माह में सात दिवसीय कार्तिक स्नान का मेला लगता था ।

सम्पूर्ण बिहार की सभ्यता, संस्कृति और आस्था का ऐतिहासिक परिचय प्राप्त होता है हरिहर क्षेत्र मेला में । इसका इतिहास लगभग 717 (सात सौ सतरह) वर्ष पुराना है । हरिहर नाथ मन्दिर में आज भी वर्ष 1306 का शिलापट्ट लगा हुआ है जिस पर 'कार्तिक पूर्णिमा का उत्सव' अंकित है । ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासन-काल में सोरा (सोड्डा) कम्पनी में कार्यरत अंग्रज लेखक जान मार्शल ने 1672 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जॉन मार्शल इन इण्डिया' में सोनपुर मेला और कार्तिक स्नान के बारे में लिखा है जिसे उन्होंने स्वयं 1671 में देखा था । लॉर्ड मेयो ने 1871 में सोनपुर दरबार लगाया था, तब नेपाल के तत्कालीन राजा राणा जंग बहादुर का गुणगान किया गया था । इससे पूर्व 1857 में गदर के नायक वीर कुँवर सिंह ने यहीं से हाथियों की खरीदारी की थी, इस प्रकार यह स्वतंत्रता संग्राम से भी जुड़ा है । इससे और भी पहले 1846 में सोनपुर में ही हरिहर क्षेत्र रिजोल्यूशन पास हुआ था जिसमें पीर अली, ख्वाजा अब्बास, वीर कुँवर सिंह आदि उपस्थित थे । यहीं वीर शिवाजी द्वारा घोड़े खरीदने की भी लोकश्रुति है । मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त (340 ई० पू०- 298 ई. पू०) और मुगल सम्राट अकबर ने भी हाथियों और अस्त्र-शस्त्रों का क्रय किया था । 1960 में प्रकाशित सारण (जिला) गजेटियर के अनुसार, यह मेला साढ़े चार वर्गमील में होता था । जनश्रुतियाँ कहती हैं कि यह कभी 500 एकड़ में होता था । आज भी यह लगभग ढ़ाई वर्गमील में फैला हुआ है । पर्यटन विभाग के आँकड़े के अनुसार, गत वर्ष लगभग चालीस लाख लोग मेला में आए थे । इस मेला के लिए 'मेला स्पेशल' रेलगाड़ियो का परिचालन पूर्व मध्य रेल की ओर से किया जाता है । यह एशिया महाद्वीप का विश्वप्रसिद्ध सबसे प्राचीन और बड़ा मेला है ।

अंग्रेज-काल में इस मेला को पशु-मेला का रूप दे दिया गया । 1958 में प्रकाशित मुजफ्फरपुर गजेटियर में यह दृष्टिगोचर होता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लॉर्ड क्लाइव ने 1803 में यहाँ एक विशाल अस्तबल का निर्माण कराया था । नेपाल रेजिडेंट के रूप में नॉक्स नामक अंग्रेज इसका कैप्टेन था । 1837 में गंडक में बाढ़ आई थी जिसमें यह रेसकोर्स बह गया, तब इसे सोनपुर लाया गया, इससे पूर्व यह हाजीपुर तक विस्तारित था । यहाँ अंग्रेज ऑफिसर घुड़सवारी तथा पोलो खेलने भी आते थे । आज भी विदेशी सैलानी पर्यटकों का यह पसंदीदा मेला है । अकबर के प्रधान सेनापति महाराजा मान सिंह भी हाथी और अस्त्र-शस्त्र यहीं से लेते थे । जंग-हाथी के अतिरिक्त मुल्तानी एवं अन्य नस्ल के घोड़े आज भी बड़ी तादाद में यहाँ उपलब्ध होते हैं । गत वर्ष सीवान के 'सुल्तान' नामक घोड़ा और 'बिजली' नामक घोड़ी की कीमत लाखों में थी । हाथी, घोड़ों के अतिरिक्त अन्य पालतू और शौकिया पशु-पक्षी आज भी देखे जाते हैं जिनकी मांग आसमान छूती है । ये पशु-पक्षी मेले की शान समझे जाते थे । यहाँ का व्यापारिक सम्पर्क अफगानिस्तान से सीधा जुड़ा हुआ था । अंग्रेजों के काल तक ईरान, अरब आदि देशों से अच्छी नस्ल के घोड़े लाए जाते थे । अफगानिस्तान के इस रूट को 'उत्तरा पथ' कहा गया । डॉ. मोतीचन्द्र ने 'सार्थवाह' नामक अपनी पुस्तक में ऐसा वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त मखमल (बनारस से) जरी जड़ित वस्तुएँ, कश्मीरी शॉल आदि का व्यापार आज भी होता है । यहाँ से चीजें समुद्र-मार्ग से यूरोप भेजी जाती थीं । इतना ही नहीं, पशु-मेला के अतिरिक्त आर्ट एण्ड क्राफ्ट की प्रदर्शनी भी लगायी जाती है । भू-राजस्व विभाग द्वारा लगाया जाने वाला

स्टॉल, संस्कृति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से खेलों का आयोजन, कॉटेज, लोक-रूचि के वस्त्र, भोजन-व्यंजन आदि के अतिरिक्त छोटी-से-छोटी चीज, सूई से लेकर हाथी तक, उपलब्ध होता है । आत्मसमर्पण के बाद जादूगर बने डाकू माधो सिंह इस मेला में जादू दिखाने आते थे । यहाँ नब्बे के दशक तक सर्कस भी खूब लगता था । कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर पर्यटक मोक्ष की कामना से गंगा नदी में डुबकी लगाकर स्नान करते हैं । दैनिक जीवनोपयोगी हर प्रकार की वस्तुओं को यहाँ देखा जा सकता है, यहाँ से खरीदा जा सकता है । इस मेला ने अपना कलेवर बदला है और जनता खींची चली आती है ।

बिहार की सांस्कृतिक झलकियों का यह प्रमुख केन्द्र होता है । मनोरंजक गतिविधियाँ प्रतिदिन चलती रहती हैं । नौटंकी, नाच, गायन, वादन अबाध चलता है । सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं । गीत एवं नाटक प्रभाग द्वारा अनेक बहुद्देशीय कार्यक्रम बनाए जाते हैं । यह मेला कई ऐतिहासिक क्षण एवं परम्परा को अपनी गोद में समेटे हुए है । यहाँ अनेक प्रसिद्ध कलाकार हस्तियाँ अपनी कला का जलवा बिखेरा करते हैं । दर्शकों, पर्यटकों के लिए गीत-संगीत का अनूठा आयोजन होता है । 'थियेटर' इस मेले की जान है । लोक-संस्कृति के इस ख्यातिप्राप्त मेला में नौटंकी की मल्लिका गुलाब बाई का जलवा विश्वप्रसिद्ध था । यह वह दौर था जब महिलाओं की भूमिका पुरूष ही निभाते थे । गुलाब बाई प्रथम महिला थीं जिन्होंने नौटंकी में गीत-संगीत की प्रस्तुति का आरम्भ किया । तब शनैः शनैः नौटंकी में महिलाओं का प्रवेश होने लगा था । गुलाब बाई इस मेला की शान थीं । उन्हें इस कला के लिए संगीत नाटक अकादमी अवार्ड तथा 'पद्मश्री' (1990) भी प्राप्त हुआ । उन्होंने 1950 में 'गुलाब थिएट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की । उनका मूल नाम गुलाब जान था । नौटंकी के कलाकारों के लिए तब संगीत का ज्ञान आवश्यक माना जाने लगा । 'लैला मजनूँ' की लैला, 'राजा हरिश्चन्द्र' की तारामती, 'शीरीं फरहाद' की शीरीं की भूमिका में गुलाब बाई अत्यन्त प्रसिद्ध थीं । हिन्दी फिल्म 'मुझे जीने दो' का गीत 'नदी नारे ना जाओ श्याम पैंया पड़ूँ' को मूलतः गुलाब बाई ने ही गाया है । प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक के अनुसार, फणीश्वर नाथ 'रेणु' के 'मारे गए गुलफाम', जिस पर 'तीसरी कसम' फिल्म बनी', की नायिका मूलतः गुलाब बाई ही हैं । श्री कृष्ण राघव ने इन्दिरा गाँधी नेशनल सेन्टर ऑफ आर्ट्स द्वारा 'एक थी गुलाब' नामक डाक्यूमेन्ट्री तैयार की है । यही नहीं, पेंगुइन इण्डिया द्वारा 2006 में 'नौटंकी की मलिका : गुलाब बाई' प्रकाशित किया जिसका लेखन सुश्री दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा ने किया । नौटंकी के संगीत और गायन में गुलाब बाई का बहुमूल्य योगदान है । 1926 में उत्तर प्रदेश के कन्नौज में बेदिया जाति के कृषक परिवार में जन्मी गुलाब बाई ने अपनी बहनों को भी आगे बढ़या । 1996 में उनकी मृत्यु के बाद उनकी पुत्री मधु अग्रवाल कानपुर में इस परम्परा को गुलाब बाई की कम्पनी के द्वारा आगे बढ़ा रही हैं । कानपुर-शैली की नौटंकी गुलाब बाई के कारण ही जगप्रसिद्ध है । कानपुर की रामलीलाओं पर पारसी थिएटर के अतिरिक्त नौटंकी शैली की छाया अद्यतन दृष्टिगोचर होती है । यद्यपि नौटंकी की दूसरी शैली हाथरस-शैली भी है । एक जमाना ऐसा था जब नौटंकी के सहारे कला का प्रदर्शन होता था और सोनपुर मेला की नौटंकी जगप्रसिद्ध थी । लगभग 1830 में ही यहाँ सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आरम्भ हुआ था, देश-भर के प्रसिद्ध कलाकार अपनी-अपनी प्रस्तुतियाँ देते थे । आरम्भ में राम और कृष्ण लीलाएँ भी खूब होती थीं । बाद में, सर्वप्रथम पारसी थिएटर लगाए गए । देश के प्रसिद्ध गायक-गायिकाएँ-नर्तकियाँ-फिल्मी हस्तियों का जमावड़ा लगता । कलकत्ता की गौहर बाई, इटावा की तिलोत्तमा, इलाहाबाद की जानकी देवी, पटना की मुहम्मद वादी, राजेश्वरी बाई की महफिले होती थीं ।

सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री नरगिस की माँ जद्न बाई कई वर्षों तक अपनी प्रस्तुतियाँ देती रहीं । सोनपुर मेला में गौहर जान द्वारा प्रस्तुत मल्हार-गायन और घनघोर वर्षा का जिक्र आज भी हो जाता है । भींग जाने के बाद भी वे गाती रह गई थीं और श्रोता भी जमे रहे थे । ऐसे कार्यक्रमों को देखने-सुनने के लिए देश-भर से लोग आते थे । आज भी यहाँ थिएटर का अहम् रोल है । बड़ी संख्या में थिएटर देखने के लिए भीड़ एकत्र होती है । गीत-संगीत के बड़े-बड़े कलाकार आमंत्रित किए जाते हैं । कला, संस्कृति एवं युवा विभाग द्वारा देश-भर के सुप्रसिद्ध कलाकारों की प्रस्तुतियाँ होती हैं । सांस्कृतिक-सांगीतिक रूप से यह मेला बहुत समृद्ध रहा है ।

आज, कई कलाएँ न्यून देखने-सुनने में आती हैं परन्तु जब ये आँखों के सामने प्रस्तुत होती हैं, अपनी सांस्कृतिक कलात्मकता को प्राप्त करने, सहेजने, सँवारने, समृद्ध बनाने को हम आतुर हो जाते हैं । ये जीवन्त कलाएँ हैं, इन्हें सींचने-सँवारने की नितान्त आवश्यकता है । इस हेतु चिन्तन-मनन और पहल की दरकार है । आधुनिकता की दौर में हम जीवन्त कलाओं से पीछे छूट रहे हैं । इसके लिए नीतियों का निर्धारण अपेक्षित है । ऐसी अनगिनत आशाओं के साथ 'स्तोम' शोध-पत्रिका का यह अंक अनगिनत नवीन बिन्दुओं पर शोध-आलेखों से सिंचित हो, अपने सुधी पाठकों, जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत है । आपके बहुमूल्य विचार हमारा मार्गदर्शन करेंगे । 'स्तोम' की पूरी टीम को सौहार्दपूर्ण अपेक्षित मार्गदर्शन एवं सहयोग के लिए हार्दिक साधुवाद और सभी सुचिन्तक लेखकों, शोध-प्रज्ञों को अनेकशः बधाइयाँ !

नव वर्ष की नव ऊर्जा के साथ नव-नव शुभकामनाएँ,

(लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या')

अनुक्रम

			पृ.सं.
	सम्पादकीय		iv-vii
1.	पं. कुमार गन्धर्व के क्रान्तिकारी विचार	मुकेश गर्ग	01
2.	सामवेदीय लक्षणग्रन्थ 'स्तोभानुसंहारकारिका' : एक परिचय	प्रो. पंकज माला शर्मा	04
3.	A Comparative Study of Carnatic-Mridangam Drum and Sri Lankan-Kandyan Drum	Prof. K. Shashi Kumar W.M.H.G.U.I.T.B. Weerakoon	06
4.	भारतीय स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रकवि दिनकर	प्रो0 (डॉ.) छाया सिन्हा	18
5.	योग का तबला–वादन में प्रयोग	प्रो0 डॉ वसुधा सक्सेना	21
6.	मगही लोकनाट्य में संगीत	प्रो. निशा झा	24
7.	Exploring the Blend of Kathak Dance and Maand: Deciphering Influences, Rhythmic Designs and Melodic Configurations	Dr. Parul Purohit Vats	28
8.	Emerging Technologies in Music Education	Dr. Sangeeta	34
9.	महिलाओं द्वारा प्रस्तुत गीति–लोकनाट्य : एक अध्ययन	डॉ. अरविन्द कुमार	39
10.	Library : As a Preserver and Promoter of Cultural Heritage of India	Pramanna Gurung	43
11.	Sankīrṇa Rāga Lakṣanā	Sharanya Sriram	48
12.	Comparative study of types of heroines in separation in the Bandish-es of Hindustani music: with reference to Ashtanayika-s	Dr. Swapnil Chandrakant Chaphekar	53
13.	In Search of Ingenuity and Freshness: A Brief Study of The Excerpts from Jean Dubuffet's "In honor of savage values"	Somaditya Datta	59
14.	Recycling and Upcycling Fashion : A Reusing, Reprocessing and Remaking The Used Clothing in a Sustainable Occurrence	Subarna Ghosh	68
15.	हिन्दी चित्रपट संगीत में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोक संगीत का प्रयोग : निरीक्षण एवं समीक्षा	डॉ. सिमरप्रीत कौर	76
16.	'संगीतरत्नाकर' के स्वरगताध्याय की प्रासंगिकता	डॉ0 दीप्ति श्रीवास्तव	81

17.	महाकवि विद्यापतिरचित ऋतुगीतों का सौन्दर्यात्मक पक्ष	डॉ0 जगबन्धु प्रसाद	84
18.	हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में 'राग' की अवधारणा	श्रीप्रकाश पाण्डेय	89
19.	विज्ञापन कला एवं कम्प्यूटर तकनीक माध्यम पर विमर्श	चारू यादव संजीव किशोर गौतम	93
20.	Ideal Institute for Performance Oriented Education in Classical Music : A Layout	Dr. Monika Soni	99
21.	The Ancient Art Form of Puppetry and its different types in India	Dhananjay Kumar	105
22.	किन्नौर के देवी–देवताओं के गीत	डॉ. सरिता नेगी	110
23.	The Carving and Relief Sculptures of The Northeast : Special Emphasis on Unakoti in Tripura as A Site of Historical Significance	Debabrata Das	116
24.	Digital Literacy and its influencing characteristics for human resources working in the fashion industry	Suranjan Lahiri	121
25.	The Progress and Obstacles of The Fashion Industry in India Post-colonial Rule; The Opportunity to Embrace Sustainability in its Operations and The Recent Scenario Post-Pandemic	Srijana Baruah	130
26.	उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत प्रमुख गायन–शैलियों का सौन्दर्य पक्ष एवं प्रयोग	डॉ. स्मृति त्रिपाठी	137
27.	अमूर्त कला के प्रतीकों का महत्व	डॉ0 सुनील कुमार पटेल	140
28.	A Dialectics of Narrative Voices: (Re) Reading Nayomi Munaweera's Island of a Thousand Mirrors	Ms. Sisodhara Syangbo	146
29.	Indian Tribal Art and Its Application in Textiles	Ms. Anshu Singh Choudhary Dr. Deepti Pargai	151
30.	पंजाब की प्रसिद्ध लोक कला 'फुलकारी'	डॉ. कमल जीत सिंह	163
31.	Cascading Whispers: Unveiling the Mellifluous Metaphor of the Slumbering River in When the River Sleeps - A Serendipitous Ecological Sojourn amidst Nature's Embrace.	Kanseng Shyam	167
32.	भारतीय वृन्द–वादन/कुतप का ऐतिहासिक विकास क्रम	डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य	172
33.	स्वतंत्रता पूर्व काल में संगीत की स्थिति	डॉ. आकांक्षी	175
34.	भोजपुरी लोकगीतों में साहित्य	डॉ. ऋचा वर्मा	179
35.	मिथिलांचल में विवाह संकीर्तन और स्नेहलता के पद	डॉ. ममता कुमारी	183

36. Studio Theatre as a Revolution in Theatre — Manish Joshi, Dr. Smriti Bhardwaj — 186
37. An Empirical Study on the Objectification of Women in Bollywood Item Songs — Junny Kumari — 189
38. कथक नृत्य एवं ठुमरी — डॉ. पूजा चौधरी — 194
39. 19वीं शताब्दी की भक्तिपरक बन्दिशों के प्रमुख वाग्गेयकार — डॉ. सर्वेश शर्मा — 199
40. A Comprehensive Examination of Instagram's Influence on the Young Generation's Musical Taste — Soummay Ghosh — 205
41. तबला–वादन में रचना एवं रचना विस्तार सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन — शशी रॉय — 213
42. संगीत शिक्षा की प्राचीनकालीन शालेय शिक्षण–प्रणाली — एलिस गुप्ता — 216
43. व्यक्तित्व विकास में भारतीय शास्त्रीय नृत्य की भूमिका — डॉ. खिलेश्वरी पटेल — 220
44. साहित्य–संगीत एवं ललित कलाएँ : सम्बंध, महत्त्व एवं परम्परा — डॉ. कपिल देव — 224
45. सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा की विवेचना — डॉ. रूचि मिश्रा — 229
46. Importance of Expertise in 2d Classical Animation Art in Today's Animation Industry in India — Dr. Loveneesh Sharma, Lt. Jayanta Roychowdhury — 235
47. Sufi : It's Impact On Indian Music — Dr. Jyoti Sharma — 243
48. Peekaboo : Peeking through Design Trends- Past, Present & Future — Radhika Kishorpuria — 248
49. Translation of the Tribal Songs of Bhutia Community of Darjeeling Hills — Dr Kaustav Chakraborty — 251
50. Resignification of Buddhism; Eastern Himalayas in-between remembering and forgetting — Nimu Sherpa — 258
51. The Portrayal of Queer Characters in Indian Web Series : The Lesser Problematic Space — Shatabdi Chakraborty — 264
52. भारतीय क़व्वाली गायकी के परिवेश में शिष्य एवं वंश–परम्परा : एक दृष्टि — डॉ. वैभव कैथवास — 271
53. बौद्ध धर्म में संगीत का प्रचार–प्रसार — दीपक वर्मा — 276
54. Music and Social Bonding: Analyzing the Role of Music in Building and Strengthening Relationships — Dr. Ram Manohar Sharma — 281
55. Origin, History and Development of Tabla – A Study — Dr. Nikhil Bhagat — 290
56. A brief study of Indian Theatre evolution -Architecture and Style — Dr. Jyoti Singh — 296

57. Harmony in Motion: Exploring the Enigmatic World of Mudras in Indian Iconography and Classical Dance — Simer Preet Sokhi 303
58. The Science of Sound and Recording : A Brief Study — Dr. Renu Gupta 309
59. भारतीय संगीत में गज़ वाद्यों की परम्परा : एक अध्ययन — खुश पॉल, डॉ. श्वेता कुमारी 315
60. Ethnic Community and Cultural Tradition in The Context of Globalization: A Study on Dimasa Ethnic Group of Barak Valley, Assam — Dr. Binoy Paul 320
61. कालिदास की रचनाओं में प्रकृति–चित्रण के शिल्पगत सौंदर्य की अभिव्यंजना — डॉ. रंजना उपाध्याय 326
62. संगीत के परिप्रेक्ष्य में : भूत, वर्तमान और भविष्य — डॉ. रोज़ी श्रीवास्तव 330
63. नाट्यशास्त्र में भरत की रस परिकल्पना — डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय 333
64. निम्बार्क सम्प्रदाय के मन्दिरों में प्रचलित गायन विधाएँ — डॉ. गौरव शुक्ल 335
65. 'संगीत शिरोमणि' पंडित प्रह्लाद प्रसाद मिश्र 'दास पिया' : संगीत और व्यक्तित्व — डॉ. सौरव कुमार नाहर 339
66. संत कबीर की विचारधारा में हठयोग के सिद्धान्तों का समीक्षा — डॉ. ज्योति शर्मा 342
67. उत्तरी तथा दक्षिणी संगीत के पृथक् होने से पूर्व की स्थिति, उसके कारण तथा प्रभाव — डॉ. शालिनी ठाकुर 346
68. हरियाणवी लोकगीतों में भावों के उद्गारक तत्त्व — डॉ. रचना 353
69. विज्ञापन–कला द्वारा उपभोक्ता–समाज की भाषिक संवेदना का विदोहन — डॉ. प्रियंका श्रीवास्तव 357
70. विश्वविद्यालयीय संगीत शिक्षा में शिक्षण प्रविधि व नई शिक्षा नीति — डॉ. श्वेता केशरी 363
71. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की समस्याएँ एवं समाधान : संगीत के संदर्भ में — डॉ. ममता यादव 368
72. सोहराई चित्रकला एवं संस्कृति — सितेन्द्र रंजन सिंह 372
73. The Application of Wood Gravure Printing in Dasha Mahavidya — Jayanta Naskar 376
74. Uniqueness of the Gat of Tabla — S Sai Ram 380
75. Performing Arts between Tradition and Contemporaneity (with special reference to teaching learning in Bharatanātyam) — Deepthi Radhakrishna, Dr. Shobha Shashikumar 388
76. ManobodhaChautisa : A magnificent literary composition by the eminent Bhakta Poet, Sri Bhakta Charan Das of Odisha — Dr. Bilambita Banisudha 393
77. Challenges for Communication in the Era of Social Media — Dr. Bala Lakhendra 401
78. बहुलतावादी बोध के कवि भवानी प्रसाद मिश्र — डॉ. अविनाश कुमार सिंह 407
79. मानव जीवन में संगीत का महत्व — डॉ. आशुतोष शर्मा 414

80.	उत्तर भारतीय संगीत में राग एवं उससे उत्पन्न रस : एक महत्वपूर्ण तत्त्व	अलंकार महतोलिया	419
81.	निर्गुण भक्ति के प्रणेता कबीर दास	मेघना कुमार	423
82.	कुमाऊँ की लोक संगीत–परम्परा	डॉ. रवि जोशी कमल जोशी	427
83.	कालिदास साहित्य में कला–वैभव	अंकिता आर्य डॉ. जी. एल. पाटीदार	434
84.	उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में किराना घराना	प्रियंका सहवाल डॉ. सुभाष विश्नोई	439
85.	The Significance of Folk Music and Media in India's Freedom Struggle	Badshah Alam Prabhat Kumar Dubey	442
86.	भारतीय संगीत में वैश्वीकरण का प्रभाव : एक अध्ययन	डॉ. पंकज शर्मा	447

पं. कुमार गन्धर्व के क्रान्तिकारी विचार

मुकेश गर्ग

यह ऐतिहासिक इंटरव्यू मैंने अप्रैल 1990 में दिल्ली के गान्धर्व महाविद्यालय में लिया था। बड़ी मुश्किल से पंडित जी इसके लिए तैयार हुए थे। जब नवभारत टाइम्स में इसका प्रकाशन हुआ तो वह इतने प्रसन्न हुए कि दिल्ली की एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में उन्होंने नवभारत टाइम्स की इस क्लिपिंग को सब पत्रकारों के सामने लहरा कर पूछा था– ''हिन्दी को छोड़िए, क्या किसी अन्य भाषा में भी कभी किसी ने मेरे ऊपर ऐसा लिखा है?'' मैं उस प्रेस कॉन्फ्रेंस में नहीं था, पर यह बात मुझे वहाँ मौजूद इलाहाबाद के संगीतज्ञ स्वर्गीय पं. शांताराम कशालकर और दिल्ली में हिन्दुस्तान टाइम्स के संगीत–समीक्षक स्वर्गीय श्री आर.एन. वर्मा ने बाद में बताई थी। साक्षात्कार के समय प्रयाग शुक्ल, मधुप मुद्‌गल, कलापिनी कोमकली और रवीन्द्र मिश्र भी मौजूद थे।

मैं घराने की कुलीगीरी नहीं करता

कुमार गन्धर्व यानी हिन्दुस्तानी संगीत का नया सौंदर्यशास्त्र। कुमार गन्धर्व यानी बगावत। घरानों के खिलाफ बगावत। ऐसी बगावत जिसने घरानों के नाम पर चली आ रही 'श्रेष्ठता' का पर्दाफाश किया। बताया कि नकल कर लेने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा होता है सृजन से, कुछ नया रचने से। "मैं तोताराम नहीं हूँ" कहना है उनका।

कुमार गन्धर्व की बगावत से घरानेदार संगीत के हिमायतियों में खलबली मच गयी। जिन्हें अभिमान था कि संगीत को घरानों ने पनपाया है, उनके सामने अब ऐसा आदमी आ खड़ा हुआ जो कह रहा था कि घरानों की ही वजह से हमारा संगीत नीचे गया है। यह कोई छोटी बात नहीं थी, वह भी आज से चालीस साल पहले।

नतीजा यह कि हर तरफ से हमले होने लगे कुमार पर। कोई कहता– ''ये भी कोई गाना है इयेऽऽ करके बिल्लियों की तरह आवाज निकालना!'' (आचार्य बृहस्पति)। बहुतों को कुमार के राग–रूपों से शिकायत होने लगी– ''अगर राग के परंपरागत रूप की रक्षा नहीं कर सकते तो उसका नाम बदलकर कुछ और क्यों नहीं रख लेते?'' किसी ने इल्जाम लगाया– ''मेरे बनाए राग 'वेदी की ललित' में तुमने तीव्र निखाद लगा दी और कह दिया लगनगंधार! हमारे राग के ऊपर तुम एक सुर और नया लगाते हो!!'' (पं. दिलीपचन्द्र वेदी)। गरज यह कि परंपरा के प्रति भावुक लगाव रखने वाला हर संगीतज्ञ कुमार गन्धर्व को एक खतरे के रूप में देखने लगा। और यह गलत भी नहीं था। कुमार ने उन जड़ों को जोरदार झटका दे दिया था, जिन पर हिन्दुस्तानी संगीत का वटवृक्ष सीना ताने खड़ा था।

क्या सचमुच कुमार परंपरा–विरोधी हैं, इसकी पड़ताल के लिए हमने उन्हीं से पूछा– ''कुछ लोगों का आरोप है कि आप परंपरा को नहीं...।" इतना सुनना था कि आवेश में आ गए– ''परंपरा के ऊपर आप क्यों इतने लट्टू होकर बैठे हैं? हमको समझ नहीं आता। फिर क्यों नहीं रहते आप पुरानी तरह से? यह इतना फालतू लफ्ज है। लोग इसमें क्यों इतने अटके हैं? आप आगरा–फोर्ट देखने जाइए न! मैं तो नकार नहीं कर रहा। हम भी जाते हैं आपके साथ। अच्छा भी लगता है। आपको फिर राजा लोग चाहिए क्या? फिर बैलगाड़ी चाहिए आपको? यानी, फिर कुआँ चाहिए क्या? तो फ्लश–संडास निकाल दीजिए घर से। आपको फ्लश–संडास भी चाहिए घर में, नल भी चाहिए और कुआँ भी चाहिए। और कुआँ का अभिमान भी छूटना नहीं चाहिए आपको!''

जवाब सुनकर मैं हैरान रह गया। कैसी बेलाग टिप्पणी है हमारे दोगले जीवन–मूल्यों पर। 'फिर राजा लोग चाहिए क्या' में कितनी गहरी समझ है। किसी कट्टर घरानेदार से यह वाक्य सुनने को नहीं मिलेगा आपको। उलटे रजवाड़ों के न रहने का रोना ही सुनेंगे उससे। यह वो चीज है जो एक तरफ कुमार गंधर्व की समाज–सापेक्ष चिंतनशीलता का सबूत देती है, तो दूसरी तरफ उनकी गायकी का रहस्य भी खोलती है। यह बताती है कि क्यों परम्परागत गायकी और कुमार गंधर्व की गायकी एक–दूसरे

को पीठ दिए बैठी रहती हैं। एक ही उत्स से जन्म लेकर भी क्यों दोनों अलग दिशाएँ पकड़ती हैं और आगे जाकर उन में इतनी दूरी आ जाती है कि समझौते की सम्भावना तक बाकी नहीं बचती।

असल में हमारे ज्यादातर संगीतज्ञ, जिन में पढ़े–लिखे भी हैं, 'परम्परा' का जो मतलब समझते हैं, गड़बड़ उसी में है। उनकी नजर में परम्परा का अर्थ है पिछली पीढ़ियों से मिली कलात्मक सम्पदा को ज्यों–का–त्यों अपना लेना। उसी को शुद्ध और आदर्श मानना। उस में जरा–सी मिलावट, प्रयोग की हलकी–सी आहट भी उन्हें विचलित कर देती है। ताज्जुब की बात यह है कि इन में ऐसे लोग भी हैं, जो मानते हैं कि हमारा संगीत कभी एक–सा नहीं रहा, बदलता रहा है। आप उनसे कह दें कि आज की जरूरतों के हिसाब से कुमार गंधर्व भी संगीत को बदल रहे हैं तो वे आपे से बाहर हो उठेंगे– "यह बदलना नहीं, शास्त्रीय संगीत की धज्जियाँ उड़ाना है।"

जो हो, कुमार को इस सबकी परवाह नहीं। ऐसा इसलिए नहीं कि वे दुराग्रही हैं, अहंकारी हैं और बुजुर्गों की इज्जत नहीं करते। बल्कि इसलिए कि 'परम्परा' क्या है, इसके मर्म को उन्होंने समझ लिया है। वह जानते हैं कि पुरखों ने जो कुछ पैदा किया, अपने जमाने के हिसाब से किया। वह यह भी जानते हैं कि जो कलात्मक विरासत हमें मिली है, उसे हमारे पूर्वजों ने ही सदियों की जद्दो–जेहद के बाद हासिल करके हमें दिया है। उन्हें मालूम है कि इस धरोहर में ऐसा बहुत–कुछ है, जो हमारे काम का है। मगर, साथ ही वह यह भी जानते हैं कि इसमें बहुत–कुछ ऐसा है जो आज सार्थक नहीं रह गया, जो मरणासन्न है। हमारी परम्परा में क्या जीवन्त है और क्या मृत, इसको पकड़ने वाली बारीक नजर कुमार गंधर्व के पास मौजूद है। इस नजर ने ही वह ताकत दी है, जो कदम–कदम पर बाधाओं के बावजूद उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं होने देती। वह मजबूती दी है, जो चौतरफा हमलों के बावजूद उन्हें समझौता नहीं करने देती। व्यावसायिक मंच से जुड़े होने पर भी इतना बड़ा खतरा मोल लेने का साहस कुमार गंधर्व की काठी का आदमी ही दिखा सकता है।

मजे की बात है कुमार अपने को सच्चा परम्परावादी मानते हैं– "मेरे जितना ऑर्थोडॉक्स कोई है ही नहीं। कोई नहीं है संगीत में मेरे जितना ऑर्थोडॉक्स।'' कितना आत्मविश्वास है उन्हें– "और मैं ऑर्थोडॉक्स हूँ, इसीलिए कुछ कर सकता हूँ। आप फंडामेंटल विचार करना छोड़ बैठे हैं संगीत में, तो इसमें मेरा क्या कसूर।"

इसीलिए कुमार गन्धर्व को स्वच्छंदतावादी कह देना इतना आसान नहीं। 'स्वच्छंदता' से निजी स्वार्थ की और परम्परा के तिरस्कार की गंध आती है। कुमार में ये दोनों ही नहीं हैं। उनका विद्रोह स्वैराचार नहीं है। बंधनों से मुक्ति नहीं चाहता वह। "राग–संगीत में बंधन है। जितना बंधन आप डालेंगे, उसका 'पावर' बढ़ता जाता है।" किसी स्वच्छंदतावादी से कभी सुनी है आपने ऐसी बात ?

कुमार गन्धर्व 'बंधनयुक्त स्वैर' में विश्वास करते हैं। 'स्वैरयुक्त बंधन' में उनकी दिलचस्पी नहीं। बंधन ज्यादा और फिर स्वैर यानी स्वच्छंदता। यह बड़ा मुश्किल है। बंधन वह खुद पैदा करते हैं। राग लगनगंधार के उतरे–चढ़े दोनों कोमल गंधार और दोनों कोमल निषाद उन्होंने खुद बनाए। खुद बंधन तैयार किया अपने लिए। बार–बार उसे निभाते हैं, बँधते हैं। अपनी ही रस्सी से जकड़ते हैं खुद को। जेवड़ा तुड़ाकर नहीं भागते, खुद खूँटे से बँधते हैं। मगर यह जेवड़ा उनका अपना ही है, खूँटा भी अपना है। अपना कहना भी गलत है। यह रस्सी, यह खूँटा अपनी विरासत को समझने, उसे आत्मसात करने से पैदा हुए हैं। हमारी परम्परा के सकारात्मक हिस्सों का निचोड़ है इनमें।

कुमार गन्धर्व का संगीत आदमी की पुनर्प्रतिष्ठा की जबरदस्त कोशिश है। हमारे रागदारी संगीत का अधिकांश आज भी दरबारी मानसिकता से जकड़ा है। वह भी उस दौर की मानसिकता से जब रजवाड़े अंतिम साँसें ले रहे थे। दरबारी संगीत पूरी तरह आदमी से कट गया था। तानबाजी की विकरालता और लयकारी के गणितीय चमत्कार हावी हो चले थे। असुरक्षा की भावना ने अपने गुर छिपाने की मजबूरी उस्तादों के सामने ला धरी थी। गोपनीयता की इस प्रवृत्ति ने समाज के बड़े हिस्सों से संगीत का रिश्ता खत्म कर दिया। कला जब सिमट कर बिलों में घुसने लगे तो जिंदगी की ताजा हवा से उसका महरूम हो जाना लाजिमी है। वह बीमार पड़ जाती है। आदमी से डरने लगती है। यह अकारण नहीं कि आज भी शास्त्रीय संगीतज्ञों का एक बड़ा हिस्सा अपने संगीत को आम आदमी से दूर रखने की सिफारिश करते कोई शर्म महसूस नहीं करता।

कुमार ने हमारे रागदारी संगीत को ताजा हवा में साँस लेने का मौका दिया है। जड़ बंधनों को काटकर उसे पनपने और फिर से तंदुरुस्ती हासिल करने का अवसर दिया है। लोक–संगीत का उनका अभ्यास उनके रागदारी संगीत को ऑक्सीजन देता है। इस तरह उनका संगीत अभिजात होते हुए भी लोकोन्मुखी है। लोक उसमें अनायास घुल गया है। बेशक उसका चरित्र उच्चवर्गीय है, मगर खाद–पानी जुटाने के लिए वह बार–बार जमीन से जुड़ता है। उससे रस–ग्रहण करता है। इसके लिए कुमार सोची–समझी कोशिश नहीं करते। लोक–संगीत का उनके रक्त में घुल–मिल जाना अनजाने इस प्रक्रिया को सम्पन्न कराता रहता है।

कुमार गन्धर्व की शिकायत है कि घरानों ने हमारे संगीत की सर्जनात्मकता समाप्त कर दी है। वे कलाकार से कुलीगीरी कराते हैं। "कुलीगीरी यानी लीक पर चलना, जो पुराने कहते चले आ रहे हैं, उसे कहना। बोझ लेकर चलना। घराना तो एक बोझा ही हुआ न। मेरे अपने संगीत का जब मुझ पर बोझा नहीं, तो आपका बोझा कहाँ लेता फिरूँ मैं! मैंने कल जो गाया, वह खतम हो गया। आज फिर फ्रेश विचार करूँगा। मेरे पास राग है और ताल है। जो गाया, उसको काहे को, क्यों याद रखूँ? आप जब लिखते हैं, तो कुछ याद करते हैं क्या? कविता करते में कुछ याद करते हैं आप? एक कविता करने के बाद दूसरी लिखते वक्त पहली को याद करते हैं आप? अच्छी पेन्टिंग करने के बाद नई पेन्टिंग बनाते समय आपको उसे याद रखना पड़ता है क्या? फिर संगीत से ही ऐसी उम्मीद क्यों करते हैं? संगीत को आप फिर कला क्यों कहते हैं? बहुत कुछ याद करके आप विद्वान भले ही हो जाएँ, ज्ञानी नहीं हो सकते। एक तरफ कलाकार कहना, दूसरी तरफ सृजन का बिलकुल लोप, यह कैसे? यह तो जमती नहीं बात। हमारे विचार में नहीं जमती। रोज आपको नई भूख लगनी चाहिए, तो ही आपका पेट है और आप जिंदा हैं। आप 'म्यूजियम' क्यों बनते हैं?"

कुमार गंधर्व के ये सवाल किसी सिरफिरे के सवाल नहीं। न किसी एक आदमी के सवाल हैं ये। हमारा पूरा युग इनके पीछे हिलोरें ले रहा है। सामंती कला के सामने लोकतंत्री आशा–आकांक्षाओं से पैदा हुए सवालिया निशान हैं ये। दरबारी सौंदर्यशास्त्र के खिलाफ जनतन्त्री सौंदर्यशास्त्र की बगावत हैं ये। इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता, दबाया नहीं जा सकता।

सामवेदीय लक्षणग्रन्थ 'स्तोभानुसंहारकारिका' : एक परिचय

प्रो. पंकज माला शर्मा *

सारांश

चारों वेदों में सामवेद का विशेष महत्त्व है। यह गान का वेद है और साम का गान ऋचा पर आधरित होता है। सामगान करते समय ऋग्गत पदों का स्वरूप ज्यों–का–त्यों न रह कर काफी परिवर्तित हो जाता है। ऋचा के अतिरिक्त कुछ वर्णों या पदों का प्रयोग भी सामगान करते समय किया जाता हैं जिन्हें 'स्तोभ' कहते हैं। सामवेद के लक्षण ग्रन्थों में स्तोभ के स्वरूप तथा इनके प्रयोग का विधान प्राप्त होता है। स्तोभ का वर्णन ऋग्वेद, ब्राह्मण आदि में प्राप्त होता है। यज्ञों में सामगान एक आवश्यक अंग होने कारण स्तोभगान का व्यवहार भी बढ़ा तथा अनेक लक्षणग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से 'स्तोभ' पर ही लिखे गये। बहुत से ग्रन्थों के नाम वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं। 'स्तोभानुसंहार कारिका' नामक ग्रन्थ में स्तोभ के स्वरूप, तकनीक तथा व्यवहार का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पत्रमें स्तोभ की परिभाषा, लक्षण तथा स्वरूप का उल्लेख करते हुए 'स्तोभनुसंहारकारिका' का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

कुंजी शब्द : *स्तोभ, सामगान*

प्रविधि : *मूल ग्रन्थ अध्ययन*

'स्तोभ' पद स्तुति अर्थ की वाचक स्तुभ धातु से निष्पन्न होता है। ऋग्व्द में गान के लिए 'स्तोभ' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। 'स्तोभतः, स्तोभन्ति', 'स्तोभतु' आदि क्रियापदों का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। जैसे ऋग्वेद 1.62.4 में स्वर के विशेषण के रूप में 'सुष्टुभा' और 'स्तुभा' पदों का प्रयोग हुआ है।[1] प्रारम्भ में यह 'स्तोभ' पद सामान्य गान के अर्थ में था लेकिन परवर्ती काल में ऐसे गान के लिए रूढ़ हो गया जो बिना ऋचा के आधार से गाया जाता था। ऋचा के ऊपर सामगान करते समय कभी कोई पद या कोई अक्षर को जोड़ कर गान किया जाता था। इस प्रकार परवर्ती काल में 'स्तोभ' एक पारिभाषिक शब्द बन गया।

सर्वप्रथम संहितोपनिषद् ब्राह्मण में 'स्तोभ' के स्वरूप का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्तोभ सामयोनि ऋक् में तो कहीं नहीं होते किन्तु सामगान में सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं।[2] जैमिनी ने मीमांसा सूत्र में स्तोभ का लक्षण करते हुए लिखा है कि वे वर्ण या पद जो ऋक् में अविद्यमान हो स्तोभ कहलाते हैं।[3] माधवाचार्य ने जैमिनि न्यायमालाविस्तर में जैमिनि के मत को ही स्वीकार किया है।[4] संहितोपनिषद् ब्राह्मण, पुष्पसूत्र तथा सामतन्त्र में स्तोभ को 'सामगान' के विकारों के अन्तर्गत माना है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण में अठारह पुष्पसूत्र में बीस तथा सामतन्त्र में चौतीस विकार उल्लिखित हैं जिन्हें 'भाव' भी कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्तोभाक्षरों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा साम के अवयव के रूप में उल्लेख किया गया है। वहाँ स्तोभाक्षरों का विभिन्न देवताओं के साथ सम्बंध भी दिखाया गया है।[5] सामवेद के प्रातिशारण्य ग्रन्थों में केवल स्तोभों का ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

'स्तोभानुसंहारकारिका' सामवेद का लक्षण ग्रन्थ है जिसमें स्तोभ का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह आकार में संक्षिप्त है। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं। इसके हस्तलिखित ग्रन्थ में लेखक का नाम नहीं है। इस ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं। इन खण्डों के अन्तर्गत श्लोक रूप में स्तोभ के लक्षण उदाहरण सहित वर्णित हैं। श्लोक अनुष्टुप् छन्द में है। तीन खण्ड तीन पटल भी कहे जाते हैं जिनमें पद्य रूप में कारिका ये हैं। इसमें कुल चौवालीस (44) कारिकायें हैं। प्रथम खण्ड या पटल में 16, द्वितीय में 11 तथा तृतीय में 17 (16+11+17) कुल 44 कारिकायें हैं। विषय वस्तु इस प्रकार है–

प्रथम खण्ड में स्तोभ का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि ऋक् के मूल से अतिरिक्त जो कुछ अधिक या द्विरुक्त अर्थात् दो बार कहा गया दिखायी पड़ता है उस वर्ण को शास्त्र चिन्तक ऋषि स्तोभ मानते हैं।[6] स्तोभ गान

*चण्डीगढ़

करते समय ऋक्पद् के पूर्व प्रयुक्त होता है वैसा ही बाद में भी प्रयुक्त होता है अर्थात् विद्यागीतों में स्तोभ आदि तथा अन्त में ही दिखायी पड़ता है। इन पद तथा पाद स्तोभों के दो भेद अन्वयी अथा अनुषंगी कहे गये हैं। अन्वयी स्तोभ वह है जो पद के आदि में प्रयुक्त होता है तथा अनुषंगी स्तोभ वह है जो पद के बाद में जोड़ा जाता है।[7] विभिन्न ऋचाओं पर गाये जाने वाले सामों में स्तोभ के गान का विधान इसी खण्ड में किया गया है।

द्वितीय खण्ड ये ग्यारह कारिकाओं के अन्तर्गत विभिन्न सामों में प्रयुक्त होने वाले स्तोभ के प्रकार तथा मात्राकाल का वर्णन है। जैसे संकृति साम (साम. 1.139) में एक मात्रा का स्तोभ होता है।[8] ऋचा के पद के पूर्व या पश्चात् आने वाला स्तोभ पद स्तोभ तथा ऋचा के पाद के पूर्व या पश्चात् आने वाला पाद स्तोभ कहलाता है। अभ्यास पदों में स्तोभ तथा गान की भक्ति निधन में स्तोभ के प्रयोग के विधान भी बताये गये हैं। राजन, रौहिण, अभ्रातृव्य, एक वृष, सत्रस्यऋद्धि, अंगिरसां व्रत, रथन्तर, विष्णोव्रत, दीवाकीर्त्य, राक्षोघ्न आदि सामों में स्तोभ पदों का विधान करते हुए स्तोभ के प्रयोग एवं महत्त्व वर्णित है।

तृतीय खण्ड में सोलह पद्य है। यहाँ विभिन्न सामों में स्तोभ के प्रयोग में विकल्प भी उल्लिखित हैं। यह भी कहा गया है सभी सामों में ऋचा (आम्नाय) से भिन्नता अवश्य होनी चाहिए।[9] एक मन्त्र में यह भी कहा है कि पद, पाद, विधा, मात्रा, छन्द, देवता, ऋषि तथा ब्राह्मण को जानकर ही सामगान का प्रयोग करना चाहिए।[10] वही ब्राह्मण सामगान के लिए योग्य है जो अक्षर का ज्ञाता हो, विराम करने के नियमों का ज्ञाता हो, कब गान प्रारम्भ करना है इसे जानता हो, तथा स्वर एवं मात्रा के विभाग का ज्ञाता हो। जो शब्दों को सम्यक् प्रकार से जानता है, जो यज्ञ प्रक्रिया की मीमांसा करता है, तथा सामस्वरगानविधि का ज्ञाता है, वह पंक्तिवान ब्राह्मणों में भी सबसे अधिक पवित्र माना जाता है।[11] यह भी धारणा थी कि सम्पूर्ण पृथिवी का भ्रमण करके भी यदि यज्ञकार्य करने के लिए सामों के प्रत्येक अक्षर का चिन्तन करने वाला सामगायक मिल जाता हे तो सम्पूर्ण श्रम सार्थक हो जाता है।[12]

सामगान में स्तोभ के प्रयोग का विशेष महत्त्व होता है। ऋचाओं के ऊपर गान में तथा पाद में किस प्रयोजन से स्तोभपदों का प्रयोग किया जाता है इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वस्तुतः सामों के (ऋचाओं के साथ) नग्न न होने के लिए उन ऋचाओं के गान में इन स्तोभों का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः स्तोभ साम के आभूषण हैं।[13] तात्पर्य यह है कि ऋचा का मात्र गान करना उतना रूचिकर एवं सौन्दर्यपूर्ण नहीं होता, वही गान जब स्तोभ पदों के साथ स्वर और मात्रा में सम्मिलित रूप से किया जाता है तो गान को सौन्दर्यात्मक अलंकरण प्राप्त हो जाता है। सामगान कितना तकनीकी था कि ऋचा का ध्यान रखते हुए स्तोभ आदि सभी क्रियाओं को साधकर प्रस्तुत किया जाता था। परिणामतः सामगान की एक हजार शारणायें हुई। यह विद्या गुरू के पास अध्ययन करने से ही सीखी जा सकती थी। आचार्य स्वयं साधना से सामगानों को कण्ठस्थ रखते थे और विद्यार्थी को भी धैर्य एवं परिश्रम के साथ सिखाते थे। सामगान का विस्तार बहुत था। कई बार आचार्य स्तोभ यदि क्रियाओं को कथन मात्र से भी बताते थे। ऐसा संकेत भी इस ग्रन्थ के अन्त में प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि कुछ आचार्य लाघव की इच्छा से यानि संक्षेप में केवल कथन मात्र से स्तोभ के प्रयोग को बता देते थे लेकिन व्यवहार के समय तो पूर्ण गान ही करना होता था।[14]

इस प्रकार इस ग्रन्थ में स्तोभ की परिभाषा, लक्षण, स्वरूप, तकनीक का उल्लेख सोदाहरण किया गया है। आकार में संक्षिप्त होने पर भी अत्यन्त सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका सम्पादन, हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रो. ब्रजबिहारी चौबे जी द्वारा किया गया जो वेद विद्या केन्द्र, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता द्वारा सन् 1914 में प्रकाशित हुआ।

सन्दर्भ :

1. स सुष्टुमा स स्तुभा सप्तविप्रैः स्वरेणादि स्वर्यो नवग्वैः। ऋ. 1.62.4
2. सर्वत्रगताः स्तोभाः सर्वत्रनिवृताः सर्वत्रप्रवृत्ताः।। सहि.ब्रा. 2.3
3. अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात्। जै.सू. 9.2.39
4. अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षणवर्णः स्तोभः। न्याः मा.वि. 9.2.11
5. द्र. लेखिका की पुस्तक सामगान उद्भव. व्यवहार एवं सिद्धान्त, पृ. 376
6. ऋचो यदधिकं किञ्चिद् द्विरूक्तं वाऽपि दृश्यते।
स्तोभत्वं तस्य मन्यन्त ऋषयः शास्त्रचिन्तकाः।। स्तोभ. 1.16
7. स्तोभानुसंहारकारिका 1.3
8. वही 2.1
9. आम्नायेनाल्पभिन्नं तु कर्तव्यं सर्वसाम सु। स्तोभ. 2.10
10. वही 2.12
11. वही 2.13–14
12. वही 2.15
13. किमर्थमनुसंहार्यो विद्यौ पादेपुनर्भवेत्।
अनग्नत्वातु वै साम्नां न्याय एष विधीयते। स्तोभ 3.16
14. उद्धारः पुनराचार्यैः स्वाध्याये लाघवार्थिभिः।
प्रोक्तस्तस्मिन् प्रतिष्ठा च संहारस्तेन इष्यते। स्तोभ. 3.17

A Comparative Study of Carnatic-Mridangam Drum and Sri Lankan-Kandyan Drum

W.M.H.G.U.I.T.B. Weerakoon** **Prof. K. Shashi Kumar***

Abstract

This comparative study delves into the world of percussion instruments, specifically exploring the Carnatic Mridangam Drum from South India and the Sri Lankan Kandyan Drum. Both instruments hold immense cultural significance within their respective regions and play vital roles in traditional music and dance performances. The study aims to uncover similarities and differences between these two drums, shedding light on their unique characteristics, playing techniques, and cultural contexts, while fostering cross-cultural understanding and appreciation. The Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum are traditional percussion instruments that have been deeply embedded in the cultural fabric of their societies for centuries. The Mridangam is an essential accompaniment in classical Carnatic music performances, while the Kandyan Drum plays a central role in Sri Lankan traditional dance and music forms, particularly in the Kandyan region. Understanding the historical context and cultural significance of these drums is essential to appreciate their individuality and the depth of their contributions to their respective musical traditions. This study addresses several key problems, including:Identifying and comparing the construction, materials, and design of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum to understand their impact on sound production and tonal qualities.Analyzing and contrasting the playing techniques, rhythmic patterns, and musical applications unique to each drum to discern their distinctive musical expressions.Examining the cultural contexts and ceremonial occasions in which these drums are traditionally used to comprehend their roles beyond mere musical instruments.Assessing the challenges and opportunities in preserving and promoting these traditional instruments and their associated musical traditions in the face of modernization and changing cultural landscapes. This comparative study adopts a comprehensive research approach, incorporating qualitative and quantitative methods. Ethnographic research involves engaging with practitioners, scholars, and craftsmen from both cultures to gain insights into the instruments' cultural significance and nuances. Acoustic analysis is utilized to explore the tonal qualities, sound characteristics, and overtones of each drum. Comparative performance demonstrations are conducted by skilled musicians, showcasing the distinct playing styles and musical expressions of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum. This comparative study adopts a comprehensive research approach, incorporating qualitative and quantitative methods. Ethnographic research involves engaging with practitioners, scholars, and craftsmen from both cultures to gain insights into the instruments' cultural significance and nuances. Acoustic analysis is utilized to explore the tonal qualities, sound characteristics, and overtones of each drum. Comparative performance demonstrations are conducted by skilled musicians, showcasing the distinct playing styles and musical expressions of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum.

Keywords: *Carnatic Mridangam, Kandyan Drum, Culture context, Musical instrument*

Methodology : *Secondary sources.*

*Dean, Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University
**Lecturer, UVPA – Sri Lanka, Research scholar, Dance & Music Department, Manipur University

Introduction

The drum, one of the most ancient musical instruments, has a rich historical evolution that spans across diverse cultures and civilizations. Initially, drums were made from natural materials like animal skins stretched over hollowed-out tree trunks or clay pots. Throughout human history, drums have been deeply connected to various cultural and spiritual practices, often serving as a means of communication, celebration, and ritualistic expression. As such, they have been associated with the earliest forms of human communication and artistic expression. The evolution and societal contributions of early-era drums have been profound, shaping human history and culture in various ways. Drums have been an integral part of human civilization for thousands of years, and their impact can be seen across different societies and historical periods.

Drums held immense significance in religious and ceremonial practices of early civilizations. They were used in various rituals, including initiation ceremonies, fertility rites, and worship of deities. Drums were believed to invoke divine presence, connect with ancestors, and induce altered states of consciousness during shamanic practices. The rhythmic beats of the drum were believed to connect the earthly realm with the spiritual world

Research problems

This research attempts to resolve some of the issues between Carnatic mridangam and upland drumming in Sri Lanka.

Identifying and comparing the construction, materials, and design of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum to understand their impact on sound production and tonal qualities.

Analyzing and contrasting the playing techniques, rhythmic patterns, and musical applications unique to each drum to discern their distinctive musical expressions.

Examining the cultural contexts and ceremonial occasions in which these drums are traditionally used to comprehend their roles beyond mere musical instruments.

Research Objectives

This comparative study adopts a comprehensive research approach, incorporating qualitative and quantitative methods. Ethnographic research involves engaging with practitioners, scholars, and craftsmen from both cultures to gain insights into the instruments' cultural significance and nuances. Acoustic analysis is utilized to explore the tonal qualities, sound characteristics, and overtones of each drum. Comparative performance demonstrations are conducted by skilled musicians, showcasing the distinct playing styles and musical expressions of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum.

Introduction to Carnatic Mridangam and Sri Lankan Kandyan Drum:

The Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum are two traditional percussion instruments with rich cultural heritage and historical significance. These drums hold a central place in their respective musical traditions, adding rhythmic depth and complexity to the music and dance forms of their regions. Both instruments showcase unique characteristics, playing techniques, and cultural contexts that have evolved over centuries, making them captivating subjects for study and appreciation.

Carnatic Mridangam:

The Carnatic Mridangam is a prominent classical percussion instrument from South India, specifically associated with the Carnatic music and Baratha Natya tradition. Its name,

"Mridangam," is derived from the Sanskrit words "Mrid" (clay) and "Angam" (body), indicating its traditional construction using a hollowed-out block of wood with layered and stretched animal skin on either side. This double-sided design enables a wide range of rhythmic possibilities and tonal variations.

Sri Lankan Kandyan Drum:

The Sri Lankan Kandyan Drum, also known as "Geta Beraya" is a traditional drum native to Sri Lanka, specifically associated with the Kandyan dance and music forms. These drums are central to various cultural events and ceremonies, such as traditional dance performances, processions, and religious rituals. Crafted from wood, and animal skin, Kandyan drums come in various sizes, each with a specific role in the ensemble. The drumheads are tensioned using a unique system of interwoven ropes, which allows for precise tuning. Kandyan drumming is characterized by its powerful and vibrant rhythms, often accompanied by Dancing, other traditional instruments like cymbals creating a captivating and energetic musical experience.

Religious Significance of Carnatic Mridangam and Sri Lankan Kandyan Drum:

In South India, the Carnatic Mridangam is not only a musical instrument but also considered a divine and sacred instrument with a deep spiritual connection. Its religious significance lies in its association with the rich tradition of Carnatic music, which has strong ties to Hinduism. The Mridangam is often referred to as "Deva Vaadyam" or "instrument of the gods."During Hindu religious ceremonies, the Mridangam is frequently used as an accompaniment to devotional songs, bhajans, and hymns dedicated to various deities. It adds a rhythmic dimension to the musical offerings, enhancing the spiritual atmosphere and creating a sense of divine presence. In temple rituals, the Mridangam is played during the elaborate processions of deities, symbolizing their majestic presence and invoking their blessings.

In Carnatic music concerts, the Mridangam artist plays a critical role in setting the pace and rhythm of the performance, guiding the entire ensemble and creating a sense of spiritual communion between the performers and the audience. The intricate rhythms and patterns produced by the Mridangam are believed to have a transformative effect, elevating the listener's mind and soul to a higher spiritual plane.

The Sri Lankan Kandyan Drum, also known as the "Geta Beraya" holds religious significance within the context of Sri Lankan culture, especially in the Kandyan region. It plays a central role in various religious ceremonies, traditional dance rituals (Kohombakankariya ritual ceremony), and processions. In Sri Lankan Buddhist ceremonies, the Kandyan Drum is used to accompany sacred chants, prayers, and offerings made to the Buddha. The rhythmic beats of the drum add a sense of solemnity and reverence to these religious observances, creating an atmosphere conducive to contemplation and devotion.In Kandyan dance performances, which often depict stories from Sri Lankan mythology and religious folklore, the Kandyan Drum is an essential element of the accompanying music. The drum's powerful and vibrant rhythms enhance the expressive movements of the dancers and help convey the spiritual and mythological narratives portrayed in the dance.Moreover, the Kandyan Drum is utilized in traditional rituals and ceremonies dedicated to local deities, spirits, and guardian gods. These rituals are deeply rooted in animistic beliefs and are performed to seek blessings, protection, and guidance from the spiritual realm.

In summary, both the Carnatic

Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum have profound religious significance within their respective cultures. They serve as conduits of spiritual expression, adding a sacred dimension to music, dance, and religious ceremonies. Their rhythmic vibrations are believed to connect individuals with the divine and facilitate a deeper spiritual experience, making them integral components of the religious and cultural heritage of South India and Sri Lanka, respectively.

Historical Context and Cultural Significance of Mridangam and Kandyan Drum

The Mridangam holds a rich historical context and significant cultural importance in the traditional music of South India, particularly in the Carnatic music genre. Its origins can be traced back to ancient times, and its evolution has been shaped by the cultural practices and musical traditions of the region. Here is a brief overview of the historical context and cultural significance of the Mridangam.

The Mridangam's history can be linked to ancient Indian percussion instruments, as well as the broader evolution of drums and rhythm across various civilizations. It is believed to have evolved from the ancient two-sided drum called "Mattaalam," which dates back to the Vedic period (around 1500-500 BCE). Over the centuries, the Mridangam evolved to its current form, with specific design modifications and advancements in playing techniques. The Mridangam gained prominence as a primary rhythmic accompaniment in the Carnatic music tradition around the 17th century. Before that, other drums like the "Pakhawaj" and "Damaru" were commonly used in Indian classical music. However, the Mridangam's versatility, tonal range, and ability to complement the intricate melodic patterns of Carnatic music make it a preferred choice for percussion accompaniment.

The Mridangam is an indispensable part of Carnatic music concerts and performances. It plays a critical role in establishing the rhythmic structure (tala) of the compositions and guiding the flow of the music. Accompanying the vocalists and instrumentalists, the Mridangam artist interacts with the lead musicians through intricate patterns and improvisations, enhancing the overall aesthetic experience. The Mridangam's association with spirituality and devotion is significant. In Carnatic music concerts, the rhythmic patterns created by the Mridangam are believed to have a profound impact on the listeners, transporting them to a higher state of consciousness and connecting them with the divine.

The Mridangam is deeply embedded in the cultural heritage of South India. It is a symbol of artistic expression and represents the region's unique musical identity. Learning and mastering the art of playing the Mridangam is considered a prestigious pursuit, and accomplished Mridangam players are revered for their skill and contribution to the art form. The Mridangam's versatility allows it to adapt to various musical contexts, from traditional Carnatic music concerts to dance performances and folk music gatherings. Its ability to produce a wide range of tones and intricate rhythms makes it a versatile and expressive instrument.

Art of Guru-Shishya Tradition: The learning of the Mridangam follows the Guru-Shishya (teacher-disciple) tradition, where knowledge and techniques are passed down through generations. This ancient pedagogical approach fosters a deep bond between the teacher and the student, nurturing not only musical skills but also values and cultural ethos.

In conclusion, the Mridangam's historical journey and cultural significance have shaped its central role in the world of Carnatic music and South Indian culture. As a living tradition, the Mridangam continues to inspire

and captivate audiences, preserving its heritage and contributing to the richness of India's classical music heritage.

The Kandyan Drum, also known as "Geta Beraya" holds a deep historical context and significant cultural significance within the traditional music and rituals of Sri Lanka, particularly in the Kandyan region. Its origins can be traced back to ancient times and are intertwined with the island's rich cultural and religious heritage. Here is an overview of the historical context and cultural significance of the Kandyan Drum.

The roots of the Kandyan Drum can be traced back to ancient Sri Lankan civilization, where drums were used for various purposes, including religious ceremonies, communication, and entertainment. Over time, the drum evolved and gained specific characteristics that distinguish it as a unique instrument in Sri Lanka's cultural landscape. The Kandyan Drum's historical significance is closely tied to the traditional dance forms of Sri Lanka, particularly the "Kandyan dance."

Rituals and Ceremonies: The Kandyan Drum plays a central role in religious and cultural rituals throughout Sri Lanka. In Buddhist ceremonies, the drum is used to accompany sacred chants, prayers, and offerings made to the Buddha. It adds a sense of reverence and solemnity to these religious observances, creating an atmosphere conducive to contemplation and devotion. Kandyan Dance Performances: The Kandyan Drum is an essential component of the traditional Kandyan dance performances. The drum's powerful and vibrant rhythms enhance the expressive movements of the dancers and help convey the spiritual and mythological narratives portrayed in the dance. These performances often depict stories from Sri Lankan mythology and religious folklore, and the drum serves as a musical narrative guide.

The Kandyan Drum is considered a symbol of Sri Lankan cultural heritage, especially in the Kandyan region. It represents the ancient art forms, customs, and rituals that have been passed down through generations, preserving the island's cultural identity. The Kandyan Drum is often played in communal settings during festivals, processions, and other cultural events. Group drumming sessions, known as "drum circles," create a sense of unity and connectedness among participants, fostering a shared cultural experience.

The crafting of Kandyan Drums is a traditional art passed down through generations. Skilled craftsmen use jack wood and animal skin to create these drums, following traditional methods and techniques. This craftsmanship adds to the drum's cultural significance and historical value. Throughout Sri Lanka's history, drums, including the Kandyan Drum, have been used as a means of communication, signaling, and expression in various contexts. They have played an important role in connecting communities and conveying messages during gatherings and events.

In conclusion, the Kandyan Drum holds a rich historical context and significant cultural importance within Sri Lanka's traditional music, dance, and religious practices. As an integral part of the island's cultural heritage, it continues to be cherished and celebrated as a symbol of Sri Lankan identity and artistic expression.

Structural features of Mridangam and Kandyan Drum

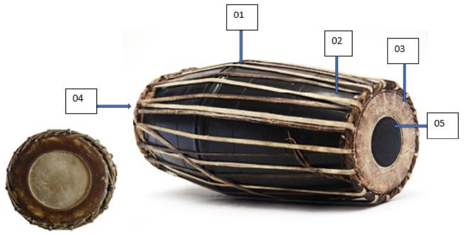

Figure Mridangam

01. Wood Structure
02. Leather straps
03. Right Head
04. Left Head
05. Karanai

The Mridangam is a unique double-headed drum with a distinctive design that allows for a wide range of tonal expressions and intricate rhythms. It is traditionally made from a single block of wood, shaped like a barrel. The left head of the Mridangam comprises two rings, one outer ring made of buffalo skin and an inner one made of sheep/goat skin. These parchments are stretched and held in place using a plait called "chattai" or "pinnal," which consists of twisted leather straps. To keep the instrument in tune, these plaits are connected to leather braces made from buffalo/cow skin, which can be adjusted for tightening or loosening. On the other hand, the right head of the drum is coated with a permanent fixture of black paste known as the "soru." This paste is a composition of manganese dust, boiled rice, and tamarind juice or a mix of fine iron fillings and boiled rice. Occasionally, a powdered stone, referred to as "kittan," is mixed with rice in specific proportions. The black paste is carefully applied in small grains to the inner skin and finely rubbed for hardening using a polished hard stone. The thickness of the paste is highest in the center and tapers towards the edges, giving the Mridangam its distinctive tone. Unlike the right face, the left face is not loaded with black paste. However, before the start of a concert, a temporary paste made of soojee (fine flour), boiled rice, water, and ashes is applied to the center of the right head. The quantity of this paste is adjusted to ensure that the note produced by the left head is exactly an octave or a fourth below the note tuned on the right side.The diameter of the left head is slightly larger than that of the right head, with the right head varying in diameter from six-and-a-half inches to seven inches, and the left head ranging from six-and-a-half inches to seven-and-a-half inches.The instrument has sixteen interspaces (holes) on the two leather hoops. By using a small hammer with downward and upward strokes at appropriate points on the hoop, the pitch of the Mridangam can be increased or decreased by as much as a full tone.Similar to a skilled musician showcasing creativity in music, an expert Mridangam player demonstrates their creative prowess in the realm of "tala" by playing new permutations and combinations of rhythmic patterns (jatis). The cross-rhythmic accompaniment provided by the Mridangam player is truly distinctive and adds a unique dimension to the performance.

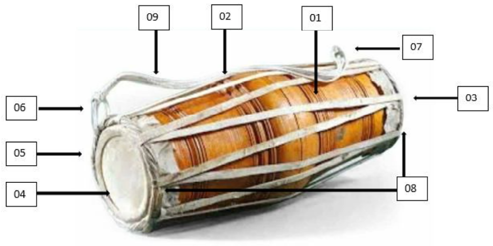

Figure Kandyan Drum

01. Bera Kanda
02. Warapati
03. Left Head
04. Right Head
05. Hakma
06. Kanwaraya
07. Kaipudiwalalla
08. weniwara karalla
09. lanuwa /Patiya

The Kandyan Drum is a traditional Sri Lankan drum crafted from jack wood, Kohomba, Milla, and animal skin. It comes in various sizes, each with a specific role in the ensemble. The drumheads are tensioned using an intricate system of interwoven lether straps

(Warapati), allowing for precise tuning and producing a wide range of tones. The drum's unique design and construction are influenced by the island's cultural practices and craftsmanship passed down through generations. The Kandyan Drum is deeply embedded in the cultural identity of Sri Lanka, particularly in the Kandyan region. It represents the rich cultural heritage and traditional arts of the island, contributing to its unique musical landscape. Standing approximately 27 inches long, the drum exhibits a subtle disparity of 0.5 inches between its two drum eyes. The right eye is slightly smaller and adorns a goat or monkey skin, while the left eye is covered with buffalo skin. To secure the drum eyes to the log, a tool called "Hakma" is employed. The Hakma fastens the drum eyes firmly, ensuring stability and resonance during play. Interestingly, unlike some drums, the Kandyan Drum does not undergo plaster or coating application on its drum eyes. This distinctive feature allows the natural properties of the animal skins to resonate fully, contributing to the drum's unique and authentic sound.

This traditional drum plays a vital role in Sri Lankan culture, particularly in the Kandyan dance and religious rituals. With its distinctive design and craftsmanship passed down through generations, the Kandyan Drum continues to be a cherished symbol of Sri Lanka's rich artistic heritage and spiritual connections. Its presence and use in various cultural settings serve as a testament to the enduring traditions and cultural expressions that have been preserved and celebrated for centuries.

In summary, both the Mridangam drum in South India and the Kandyan Drum in Sri Lanka hold deep cultural and historical significance. They are not only unique in their design and construction but also symbolize the rich artistic heritage and spiritual connections of their respective regions. These drums continue to be cherished and celebrated, representing the enduring cultural traditions and expressions of the people who have played them for generations.

The Fundamental Sounds of Mridangam and Kandyan Drum

The mridangam, a traditional South Indian percussion instrument, produces a rich and intricate range of sounds that form the rhythmic foundation of various musical compositions. Among its fundamental sounds are "Ta," "Ti," "Thom," and "Nam," each contributing to the rhythmic complexity and melodic beauty of Indian classical music. The Kandyan drum, a traditional percussion instrument from Sri Lanka, produces a distinctive array of sounds that contribute to the rhythmic and melodic dimensions of Sri Lankan music and dance. Among its fundamental sounds are "Tat," "Jit," "Tom," and "Nam," each playing a crucial role in creating the rhythmic patterns and textures that characterize Kandyan drumming.

The Sound producing manner of Mridangam and Kandyan Drum

Mridangam	Kandyan Drum
Ta: "Ta" is a syllable used to represent a resonant open stroke on the left side of the mridangam. It is produced by striking the center of the drumhead with the left hand, allowing the drum to resonate freely and	Tat: The sound "Tat" is a foundational stroke produced by striking the left drumhead with the left hand's fingers, typically the little finger, ring finger, middle finger, and index fingers. This stroke generates a clear and sharp tone, forming

produce a full-bodied sound. “Ta” is often used as an embellishment or to create accents within the rhythmic sequence.	the basis for rhythmic articulation. “Tat” establishes the rhythmic pulse and serves as a point of reference for other sounds and patterns.
Ti: “Ti” is another stroke produced by the righ hand, often using the small finger, ring finger, and middle finger a combination of fingers. Ti sound is a slightly sharper rhythmic structure. “Ti” is skillfully woven into the rhythmic phrases, contributing to the overall texture and complexity of the mridangam’s sound.	Jit: “Jit” is another important sound created by striking the right drumhead with a combination of fingers from the right hand. It produces a crisper and more pronounced tone compared to “Tat,” adding complexity and depth to the rhythm. “Jit” is often used to create accents and variations within the rhythmic sequence.
Thom: The sound “Thom” is created by striking the drum edge with the point of fingers of the left hand. This stroke produces a deep, resonating tone that contrasts with the sharper sounds of “Ta” and “Ti.” “Thom” adds depth and a sense of gravity to the rhythmic patterns, enhancing the mridangam’s tonal palette.	Thom: The sound “Thom” is produced by striking the left drumhead with the point of fingers of the hand, usually near the edge of the drum. This stroke generates a resonant and slightly muted tone that contrasts with the sharper sounds of “Tat” and “Jit.” “Thom” contributes a distinct timbre and serves to enhance the overall sonic palette of the Kandyan drum.
Nam: The sound “Nam” is a fundamental stroke produced by striking the drumhead with the right hand’s fingers, usually the index and middle fingers. It results in a clear and resonant tone, serving as a crucial component of rhythmic patterns. “Nam” provides a strong base for the rhythm and is often combined with other sounds to create intricate rhythmic variations.	Nam: “Nam” or “Jin” represents a resonant open stroke on the Kandyan drum. It is produced by striking the edge of the right drumhead with the right hand, allowing the drum to resonate freely and produce a full-bodied sound. “Nam” is often employed to create accents, transitions, and dynamic variations within the rhythmic composition.
These basic sounds, “Ta,” “Ti,” “Thom,” and “Nam,” are the building blocks of the mridangam’s rhythmic language. Skillful manipulation and combination of these sounds by the mridangam player give rise to intricate rhythmic patterns, improvisations, and compositions that form an integral part of Indian classical music performances. The mridangam’s versatility and expressive capabilities make it a vital component of the rich of sounds that define Indian classical music traditions.	These fundamental sounds, “Tat,” “Jit,” “Tom,” and “Nam,” provide the essential building blocks for Kandyan drumming. The skilled manipulation and combination of these sounds by the drummer result in intricate rhythmic patterns, improvisations, and compositions that characterize the expressive and dynamic nature of Kandyan drum music. The Kandyan drum’s unique soundscape contributes to the cultural heritage and artistic identity of Sri Lanka, enriching the of musical traditions in the region.

Analysis of the identity characteristics of Mridangam and Kandyan Drum

The Mridangam and Kandyan drum are two distinctive percussion instruments that hail from different cultural contexts, each possessing unique playing techniques, rhythmic patterns, and musical applications that contribute to their distinct musical expressions. By analyzing and contrasting these aspects, we can gain a deeper understanding of the rich of sounds they bring to the world of music. The above-mentioned facts can be summarized by the following table.

	Mridangam	**Kandyan Drum**
Playing Techniques:	The Mridangam, a traditional South Indian drum, is played with both hands. The dominant hand produces a range of sounds by striking the drumhead with the fingers, while the non-dominant hand controls the tension of the drumhead by pressing against it. The fingers are used to create various strokes, including "Ta," "Ti," "Thom," and "Nam," each contributing to the intricate rhythmic patterns.	The Kandyan drum, native to Sri Lanka, is played with both hands, usually keep on the waist. The drumhead is struck by fingers and palms to create a diverse array of sounds. The playing techniques include "Tat," "Jit," "Tom," and "Nam," which are produced through different hand and finger placements and striking techniques.
Rhythmic Patterns	The Mridangam is renowned for its complex and intricate rhythmic patterns. Its playing technique allows for a wide range of rhythmic variations, rapid rolls, and intricate accents. It often accompanies Indianclassical music performances, providing a rhythmic foundation for intricate melodic improvisations.	The Kandyan drum features rhythmic patterns that are deeply rooted in Sri Lankan traditional music and dance. Its patterns are characterized by a strong sense of pulse and dynamic accents. The drum's rhythms often accompany Kandyan dance ritual performances and other ceremonial events, reflecting the cultural heritage of the region.
Musical Applications	The Mridangam is a central instrument in Indian classical music, where it accompanies vocalists and instrumentalists. Its rhythmic capabilities allow it to engage in intricate dialogues with other instruments and performers, enhancing the overall musical experience. It play a vital role in shaping the rhythm, tempo, and mood of the performance.	The Kandyan drum is an integral part of Sri Lankan traditional music and dance. It plays a key role in Kandyan dance performances, which often depict stories from folklore and mythology. The drum's rhythms provide a compelling backdrop for the dancers' movements, adding depth and energy to the overall presentation.

In essence, while both the Mridangam and Kandyan drum share the role of being percussion instruments that contribute to the rhythmic and musical elements of their respective cultures, their

distinct playing techniques, rhythmic patterns, and musical applications give rise to unique and captivating expressions. The Mridangam's intricate patterns complement the melodic intricacies of Indian classical music, while the Kandyan drum's pulsating rhythms enhance the storytelling and dynamic movements of Sri Lankan dance performances. Each instrument embodies the rich cultural heritage of its region, inviting audiences to explore the diverse and enchanting world of percussion music.

Comparison of Tala system between Mridangam and Kandyan Drum

The tala system in Carnatic music and the rhythmic patterns of Sri Lankan drums exhibit several similarities, particularly in terms of rhythmic elements and concepts. These shared features contribute to the rhythmic richness and complexity of both traditions. Here aresome key similarities.

Akshara and Matra

In Carnatic music, "akshara" refers to a rhythmic unit that encompasses a specific number of beats. It is equivalent to a measure or a bar in Western music. "Matra" refers to a single beat within the akshara. Similarly, in Sri Lankan drumming, the concept of "matra" is prevalent, representing a single beat within a rhythmic cycle. The division of the rhythmic cycle into matras allows for intricate patterns and improvisations.

Beats and Tempo

Both traditions involve the subdivision of beats within a rhythmic cycle. In Carnatic music, beats are divided into counts such as 4, 8, 16, etc., while in Sri Lankan drumming, rhythmic cycles are divided into various counts as well. The tempo, or the speed at which the rhythmic cycle is played, is an essential aspect in both traditions. The tempo can influence the mood and energy of the performance, and variations in tempo are used to create different rhythmic effects.

Rhythmic Patterns and Cycles

The tala system in Carnatic music revolves around specific rhythmic patterns and cycles that repeat throughout a composition. These cycles dictate the structure and timing of the performance. Similarly, Sri Lankan drumming is characterized by rhythmic cycles that guide the progression of the performance. Different drums may have distinct rhythmic patterns, contributing to the overall texture and complexity.

Synchronization and Counting

Both traditions require precise synchronization among performers to maintain the integrity of the rhythmic cycle. Musicians and drummers need to count and coordinate their rhythms accurately to ensure a cohesive performance. The concept of counting beats and subdivisions is vital in both traditions to navigate through intricate patterns and transitions seamlessly.

Emphasis on Improvisation

Both the tala system and Sri Lankan drumming provide opportunities for improvisation within the established rhythmic framework. Musicians and drummers can creatively embellish and vary the patterns while staying within the rhythmic cycle.

Accents and Dynamics

Accents and dynamics play a crucial role in both traditions. Manipulating accents within the rhythmic cycle can create interesting patterns and textures, enhancing the overall musical experience.

Cultural Significance

Both the tala system and Sri Lankan drumming hold cultural significance and are

integral to their respective musical and dance traditions. They contribute to the unique identity and character of their respective art forms. These similarities underscore the universal importance of rhythm as a foundational element in music and performance. Despite their cultural differences, the tala system of Carnatic music and the rhythmic patterns of Sri Lankan drums exemplify the profound role that rhythm plays in shaping and defining musical expressions.

Conclusion:

In conclusion, the exploration of the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum has unveiled a captivating journey through the realms of musical heritage, cultural symbolism, and rhythmic intricacies. Our journey began with an introduction to these two distinctive percussion instruments, which have ingrained themselves deeply within their respective cultural landscapes.

The religious significance attributed to the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum underscores their roles as vessels of devotion and spiritual expression. These instruments serve as conduits connecting individuals to their beliefs, enriching sacred rituals and ceremonies with their resonant voices. Tracing their historical and cultural roots, we uncovered the profound impact these drums have had on shaping the artistic and communal identities of their regions. The Mridangam's history within the context of Carnatic music and the Kandyan Drum's integral role in Sri Lankan dance performances highlight their enduring contributions to the artistic tapestry of their societies. Delving into their structural features, we discerned the meticulous craftsmanship and engineering that underpin the Mridangam's dual drumheads and the Kandyan Drum's robust form. These design elements not only facilitate their distinct sounds but also embody the cultural aesthetics of their traditions. A closer examination of the fundamental sounds and sound-producing techniques revealed the exquisite artistry involved in coaxing resonant tones from the Mridangam and generating vibrant rhythms from the Kandyan Drum. The nuanced variations and techniques employed by skilled musicians and drummers underscore the instruments' expressive potential.

Analyzing their identity characteristics, we witnessed the unique personalities of the Mridangam and Kandyan Drum unfurl. The Mridangam's symbiotic relationship with Carnatic music and the Kandyan Drum's pulsating heartbeat within Sri Lankan dance emerged as defining traits, uniting sound, movement, and cultural heritage. Lastly, the comparison of the Tala system between the Mridangam and Kandyan Drum illuminated shared rhythmic concepts and divisions, showcasing the integral role of rhythm as a universal language in music. While rooted in distinct traditions, both instruments showcase the intricate interplay of beats, subdivisions, and improvisation. In essence, the Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum stand as testaments to the enduring power of music to shape societies, evoke emotions, and transcend boundaries. Through their resounding voices and rhythmic dialogues, they beckon us to appreciate the intricate melodies of culture, spirituality, and artistry that enrich our shared human experience. As we conclude our exploration, we are reminded that these drums are not merely instruments; they are living embodiments of the traditions, stories, and vibrant energies that continue to resonate through time.

Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum are two culturally significant and distinct percussion instruments that have evolved within the rich musical traditions of their respective regions. While the Mridangam complements the intricate rhythms of Carnatic

music in South India, the Kandyan Drum plays a central role in the vibrant dance and music traditions of Sri Lanka. Both instruments continue to captivate audiences with their unique sounds and contributions to the diverse world of traditional music and cultural heritage.

The Carnatic Mridangam and the Sri Lankan Kandyan Drum hold religious significance in their respective cultures, playing integral roles in religious rituals, ceremonies, and worship practices. Their association with spirituality and devotion is deeply rooted in the traditions and beliefs of the communities that use them.

References :

Alavandar, R. (1981). Tamizhar Tor Karuvigal. International Institute for Tamil Studies.

Bandyopadhyay, S. (1980). Musical Instruments of India. Chaukhamba Orientalia.

Batuka Natha Sharma & Baladeva Upadhyaya (Editors). (1980). NâmyaÚâstra of Bharata. Chaukhamba Sanskrit Sansthan.

Chaitanya Deva, B. (2000). Musical Instruments of India: Their history and development. MunshiramManoharlal Publishers.

Day, C.R. (Novello, Ewer. Co.). (Year unknown). The Music and Music Instruments of Southern India and the Deccan. London & New York.

Herbert A. Popley. (1921). The Music of India. Association Press, Calcutta.

Kousalya Rama. (2004). Âlayavazhipâmmilicaikkaruvika. Minambika Publishers.

Krishnamurthy, K. (1985). Archaeology of Indian Musical Instruments. Sundeep Prakashan.

Manamohan Ghosh (Translator). (1951). The Natyasastraya. Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

Manomohan Ghosh (Edited and Translated). (2003). NâmyaÚâstra. Chowkhamba Sanskrit Series Office.

Monier Monier Williams. (1981). A Sanskrit-English Dictionary. Motilal Banarsidass.

Perumal, A.N. (1984). Tamizhar Isai. International Institute of Tamil Studies.

Ramaseshan, S. (Ed.). (1988). Scientific Papers of C V Raman, Volume II, Acoustics. Indian Academy of Sciences.

Ravi Prakash Arya (Edited). (2004). RâmâyaGa of Valmiki (Volumes I - III). Parimal Publications.

Robert Caesar Childers. (2007). A Dictionary of Pali Language. Oriental Book Centre.

Robert L. Hardgrave, Jr., & Stephen M. Slawek. (1997). Musical Instruments of North India. Manohar Publishers and Distributors.

Ruth Midgley (Managing Editor). (1997). Musical Instruments of the World. Sterling Publishing Co.

Sadanand Naimpalli. (2007). Theory and Practice of Tabla. Popular Prakashan.

Sankara Varyar. (2003). Madda7amennaMaEga7avâdyam. Kerala Kalamandalam.

Sarangadeva. (1978). Sangita Ratnakaraya, Vol. One. Motilal Banarsidass, Delhi.

Sarkar, K.T. (1981). Theory and Practice of Leather Manufacture. Ajoy Sorcar.

Seetha, S. (1981). Tanjore as a Seat of Music. University of Madras.

Shreejayanthi Gopal. (2004). Mridangam – An Indian Classical Percussion Drum. B.R. Rhythms.

Srdjan Beronja. (2008). The Art of the Indian Tabla. Rupa & Co.

Sundaram, V.P.K. (1988). The Art of Drumming. Institute of Asian Studies.

Sundaram, V.P.K. (1999). Arivanâr'sPañcamarapu. The South Indian Saiva Siddhanta Works Publishing Society.

SuneeraKasliwal. (2006). Classical Musical Instruments. Rupa & Co.

Swami Prajnanananda. (1963). A History of Indian Music, Vol One. Ramakrishna Vedantha Math, Calcutta.

Swami Prajnanananda. (1965). A Historical Study of Indian Music. AnandadharaPrakashan, Calcutta.

Turner, R.L. (2008). A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages, Volume 1. Motilal Banarsidass Publishers.

Vijayalakshmi, M. (2004). Aumâpatam – A Work on Music. Sanjay Prakashan.

भारतीय स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रकवि दिनकर

प्रो0 (डॉ.) छाया सिन्हा*

शोध–सार

स्वाधीनता संग्राम में हिन्दी कवियों का योगदान अतिमहत्वपूर्ण है लेकिन इन सभी कवियों में दिनकर का स्वर सर्वाधिक ऊँचा और प्रभावशाली है। आजादी की लड़ाई की ज्वाला को और अधिक प्रचंड करने में उन्होंने जो महती भूमिका निभायी, वह अविस्मरणीय है।

बीज शब्द– *देशभक्ति, स्वतंत्रता–आन्दोलन, युगधर्म, जागरण, आजादी*

प्रविधि– *द्वितीयक माध्यमों की सहायता ली गई है ।*

भूमिका– भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का मूल रूप अहिंसक था। देश की जनता इस संग्राम में गाँधीजी के साथ खड़ी थी। वैसे तो भारतवर्ष की सभी प्रमुख भाषाओं के कवि अपनी–अपनी रचनाओं के द्वारा स्वाधीनता की अलख जगा रहे थे, लेकिन इस दिशा में हिन्दी कवियों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय है।

अंगरेजी हुकूमत के अत्याचारों के बावजूद इस संघर्षकाल में देश की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति गर्म थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वाधीनता संघर्षकालीन राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों की चर्चा के क्रम में लिखा है कि शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान–आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन, अछूत आन्दोलन इत्यादि कई आन्दोलन एक विराट् परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगों के रूप में चले। .... इन आन्दोलनों का तीव्र स्वर हमारी काव्यवाणी में सम्मिलित हुआ।[1]

लेकिन अंगरेजों के जुल्म एवं गाँधीजी के अहिंसक विचारों के बीच स्वाधीनता संघर्ष का पूरा रंग नहीं उभर पा रहा था।

ऐसी परिस्थिति में साहित्यकारों विशेषतः जिन कवियों ने अपनी लेखनी का सहारा लिया, उनमें मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर जैसे कवियों का बड़ा योगदान रहा।

बिहार के भी जो कवि इस स्वाधीनता आन्दोलन में अपनी ओजपूर्ण कविताओं से आहुतियाँ दे रहे थे, उनमें दिनकर के अतिरिक्त गोपाल सिंह नेपाली, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' और मोहनलाल महतो 'वियोगी' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सभी कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर' का स्वर सर्वाधिक ऊँचा और प्रभावशाली रहा है। उनका यह ऊँचा स्वर अकारण नहीं था। इसके पीछे के कारणों को जानने के लिए हमें देश की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा के साथ–साथ उनके निजी पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश की भी पड़ताल करनी होगी।

विषय प्रवेश– दिनकर का जन्म बिहार के एक साधारण किसान–परिवार में हुआ था। मात्र दो वर्ष की अवस्था में उनके सिर से पिता का साया छिन गया था। परिवार का कोई सदस्य उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं था, किन्तु सुसंस्कृत अवश्य था। शाम के समय गाँव में रामायण के सस्वर पाठ की परिपाटी थी। राजेश्वर प्र0 सिंह लिखते हैं कि यह वह समय था जब सिमरिया गाँव के घर–घर में नित्य रामचरितमानस का पाठ होता था। कई घरों में तो मानस की हस्तलिखित प्रतियॉं (जो सम्भवतः गाँव के पुरोहितों द्वारा लिखी गयी होंगी) भी मौजूद थीं। शाम ढलते कई लोगों के दरवाजे पर लोग ढोलक–झाल बजा–बजाकर रामायण की चौपाइयाँ गाते थे और स्वयं दिनकर जी भी, जब वे गाँव के पाठशाला के छात्र थे, प्रायः हर रोज रात्रि में डेढ़ दो घण्टे तक रामायण का पाठ करते थे।[2]

सांध्यकालीन इन ग्रामीण बैठकों में दिनकर के पूर्वज कवि भैरो राय की हस्तलिखित पुस्तक 'नगर–विलाप' की पंक्तियाँ भी सुनने–सुनाने को मिलती थीं। घर की परिस्थितियाँ विकट थीं, किन्तु इन्हीं विपरीत परिस्थितियों के बीच उनकी प्रारम्भिक स्कूली शिक्षा पूरी हुई। बड़े भाई वसंत सिंह ने अपने छोटे भाई के लिए अपना व्यक्तिगत

*विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

हित नहीं देखा और सभी छोटे भाइयों के लिए उन्होंने पिता का फर्ज पूरा किया। उस समय जबलपुर से पं0 मातादीन शुक्ल के सम्पादन में 'छात्र–सहोदर' नाम की पत्रिका प्रकाशित होती थी। उस पत्रिका में स्वतंत्रता–संघर्ष से सम्बन्धित लेख, कविताएँ और कार्टून निकलते थे। वसंत सिंह इसके नियमित ग्राहक थे।

इस पत्रिका ने दिनकरजी पर देशभक्ति का ऐसा जादू डाला कि वे अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकों से कहीं अधिक समय 'छात्र–सहोदर' की रचनाओं को पढ़ने में लगाने लगे। इस पत्रिका के साथ–साथ इतिहास, संस्कृति और राजनीति विषयक छोटी–मोटी पुस्तकों के पठन–पाठन में भी वे गहरी रुचि रखने लगे।[3] इन सबके सम्मिलित प्रभाव से वे भारतीय संस्कृति और इतिहास में पूरी तरह रम गये।

1928 ई0 में उन्होंने मैट्रिकुलेशन और 1932 ई0 में पटना कॉलेज से इतिहास विषय में प्रतिष्ठा के साथ बी0ए0 किया।

इस काल तक आते–आते उनकी रचनाएँ 'प्रकाश', 'देश', 'महावीर', 'सेनापति' जैसी उस युग की प्रमुख पत्र–पत्रिकाओं में सादर प्रकाशित होने लगी थीं।

1933 ई0 में भागलपुर में बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उन्होंने समस्यापूर्ति के रूप में 'हिमालय' शीर्षक कविता रची और उसका पाठ किया। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

मेरे नगपति! मेरे विशाल
साकार दिव्य गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिमकिरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
ओ, मौन तपस्या लीन यती !
पल भर को तो कर दृगुन्मेष!
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।[4]

गौरवशाली अतीत और वर्तमान की दुर्दशा पर ध्यान खींचती तथा आनेवाले नवयुग की शंखध्वनि करती इस कविता की ऐसी धूम मची कि भारतीय इतिहास के अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल उनकी काव्य–प्रतिभा पर मुग्ध हो गये और आजीवन उनका स्नेह दिनकरजी को मिलता रहा। उन्हें भी जायसवाल जी के सत्संग का चस्का लग गया था। यही कारण है कि अंगरेजी हुकूमत की अपनी सेवावधि में जब चार वर्ष के भीतर उनका बाईस बार तबादला हुआ तो इस प्रताड़ना से वे हताश नहीं हुए, बल्कि इसे अवसर में बदलते रहे। हर स्थानान्तरण के बाद जो सात दिन का संक्रान्ति–अवकाश (transit leave) मिलता था, उसमें वे अनिवार्यतः पटना आकर श्री जायसवाल के चरणों में बैठने का सुख लूटते थे। वे इस मोह से कभी उबर नहीं पाते थे। उस समय डॉ0 जायसवाल की 'हिन्दू पॉलिटी' की बड़ी धूम थी। भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति में रुचि रखनेवाले अनेक देशी तथा विदेशी विद्वान अकादमिक विमर्श के लिए डॉ0 जायसवाल के यहाँ आया करते थे जिनकी सत्संगति का अनायास लाभ दिनकरजी को प्राप्त होता गया था।

अपनी संस्कारगत ऐतिहासिक रुचि तथा जायसवालजी से प्राप्त प्रामाणिक इतिहास–ज्ञान ने अतीत–गर्व सम्बन्धी उनकी कविताओं में एक अद्भुत तेज और आकर्षण भर दिया।

इस बात की परख हम 'हुंकार' के आमुख के रूप में छपी कविता 'समय ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये, आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये'[5] अथवा 'रेणुका' की 'पाटलिपुत्र की गंगा' अथवा 'मिथिला' जैसी कविताओं से कर सकते हैं।[6]

अपने अतीत पर गर्व ही वह प्रबल कारण है जिसके चलते वे राम, कृष्ण, द्रोणाचार्य, भीष्म, युधिष्ठिर, कर्ण, अशोक, चन्द्रगुप्त जैसे भारतीय–संस्कृति के प्रतीक–पुरूषों की ओर काव्यात्मक ढंग से आकृष्ट हुए हैं। 'हिमालय' में वे लिखते हैं–

तू पूछ, अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?[7]

वे देशभक्त ही नहीं, देशभक्तों के भी भक्त हैं, इसलिए वे अपनी कलम से उनके जयकारे लगाते हैं–

कलम, आज उनकी जय बोल
जला अस्थियाँ बारी–बारी
छिटकायीं जिनने चिनगारी
जो चढ़ गये पुण्यवेदी पर
लिये बिना गर्दन का मोल।[8]

घोर नैराश्य और हताशा के वातावरण में भी उनकी

रचनाओं में आशा और विश्वास की आँधी चलती है–

दिशा गूँजी बिखरता व्योम में उल्लास आया।
नये युगदेव का नूतन कटक लो पास आया।।

वे समय की नब्ज पर हाथ रखकर चलनेवाले जागरण के कवि हैं। गाँधीजी के प्रति पूर्ण आदरभाव रखते हुए भी वे स्वतंत्रता–संघर्ष में उनकी अहिंसा–नीति से पड़नेवाली बाधा को देखकर वे क्षुब्ध हो जाते थे। 'कुरूक्षेत्र' में रामायण के सेतुबंध–प्रसंग के बहाने वे अपना मत बड़ी दृढ़ता के साथ रखते हैं–

तीन दिवस तक पंथ माँगते
रघुपति सिंधु किनारे
बैठे पढ़ते रहे छन्द
अनुनय के प्यारे–प्यारे
उत्तर में जब एक नाद भी
उठा नहीं सागर से
उठी हिलोर धधक पौरूष की
आग राम के शर से
सिन्धु–देह धर 'त्राहि त्राहि'
करता आ गिरा शरण में
चरण पूज दासता ग्रहण की
बँधा मूढ़ बन्धन में।[9]

दिनकर के काव्य में जड़ता नहीं, अपितु चिर जंगमता है, उसमें सतत एवं अदम्य प्रवाह है। वे हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों में सर्वाधिक स्वच्छन्द हैं।

वे सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रकवि हैं। एक राष्ट्रकवि के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है, वे सभी गुण दिनकर में विद्यमान थे। उनकी कविताओं में युगधर्म का हुंकार पाया जाता है।

बयालीस के आन्दोलन में एक समय ऐसा भी आया था, जब देश के लगभग सभी प्रमुख नेता जेल में बन्द हो गये थे, तब दिनकर की रचना 'आग की भीख' आयी थी। यह रचना 'सामधेनी' में संकलित है। कहना न होगा कि स्वाधीनता आन्दोलन की गरमाहट को बनाये रखने में इस कविता ने बड़ी भूमिका निभायी थी–

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ
तम–बेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ....[10]

दिनकर में उग्र राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल थी। उनके उत्तेजक भाव और विचार उत्तेजनापूर्ण भाषा में उनकी कविताओं में दिखायी पड़ते हैं। तत्कालीन स्वाधीनता आन्दोलन की आग को तीव्रता प्रदान करने में ऐसी उत्तेजक कविताओं का बड़ा प्रभावी योगदान रहा है। 'कुरूक्षेत्र' में वे लिखते हैं–

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप से काम ले
यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।[11]

निष्कर्ष :

दिनकर प्रचण्ड राष्ट्रवादी हैं। उनकी कविताओं में प्रेम के विविध पक्षों, यथा–देशप्रेम, प्रकृति–प्रेम, नारी–प्रेम आदि को देखकर कुछ लोग उन्हें दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि तक कह देते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि वीर और शृंगार आदिकाल से ही एक–दूसरे के पूरक रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि जब–जब राष्ट्रप्रेम की गति मन्द पड़ती है– प्रकृति और नारी दोनों थाप दे–देकर उस गति को तीव्र वेग–सम्पन्न कर देती हैं। कहना न होगा कि अपने समय के सूर्य दिनकर ने अपना यह साहित्यिक दायित्व बखूबी निभाया है।

संदर्भ सूची :

1. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 453, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
2. सिंह राजेश्वर प्र0 (सं.), रामधारी सिंह दिनकर, पालने से चिता तक (राष्ट्रकवि दिनकर निबंध–संग्रह) पृ. 3, ग्रन्थ निकेतन, पटना
3. वही, पृ. 05
4. दिनकर, रामधारी सिंह, हुंकार, पृ. 70, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. दिनकर, रामधारी सिंह, 'हुंकार' का आमुख, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. दिनकर, रामधारी सिंह, रेणुका– पृ. 20–27, प्रकाशन, उदयाचल, पटना।
7. दिनकर, हुंकार ('हिमालय' शीर्षक कविता), पृ. 72, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
8. वहीं ('प्रणति' शीर्षक कविता), पृ. 55
9. दिनकर, कुरूक्षेत्र, पृ. 36–37, उदयाचल, आर्य कुमार रोड, पटना
10. दिनकर, सामधेनी, पृ. 56, उदयाचल, पटना।
11. दिनकर, कुरूक्षेत्र, पृ. 25, उदयाचल, पटना

योग का तबला–वादन में प्रयोग

प्रो0 डॉ वसुधा सक्सेना*

सारांश

तबला–वादन में सर्वप्रथम हम किस स्थिति में बैठकर बजाते है उस पर चर्चा करेंगे। तबला–वादन करते समय निम्नलिखित आसनों पर बैठकर वादन किया जाता है– पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, सुखासन, वीरासन – ये सभी आसन शरीर को शक्ति प्रदान करते हैं। इससे सहनशक्ति व दृढ़ता आती है। नींद की समस्या– यदि हो तो उसमें सुधार होता है। आसन के अतिरिक्त तबला–वादन में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि आठ नियमों की पालना पूर्णरूपेण की जाती है।

लेख से यह प्रमाणित होता है कि तबला वादक संगीत में प्रदर्शन व अभ्यास करने में श्रेष्ठता तक तभी पहुँच सकता है जब वह योग के समस्त नियमों की पालना कर।

कुंजी शब्द : *योग, तबला, संगीत, पद्मासन, यम, नियम, आसन*

प्रविधि : *यह शोध–पत्र द्वितीयक माध्यमों से सहयोग लेकर तैयार की गई है ।*

"योग शब्द मुख्यतः युज् + धभ् प्रत्यय से उत्पन्न माना गया है। वैसे जगह–जगह योग की भिन्न परिभाषा भी प्राप्त होती है किन्तु पतंजलि योग में युज समाधौ से उद्भुत योग शब्द का प्रयोग हुआ है जोकि समाधि वाचक है परन्तु अन्य योग समप्रदायों यथा तंत्र, नाथ, शैव आदि में युजिर योग निष्पन्न होकर संयोगार्थक है।[1]

महर्षि व्यास के अनुसार –

योग–जीवात्मा का सच्चिदानन्द (सत+चित+आनन्द) स्वरूप है अर्थात् जीवात्मा द्वारा ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करना ।

याज्ञवलक्य स्मृति के अनुसार –

संयोगों योग इत्यक्तो जीवात्यनो, अर्थात् योग जीवात्मा व परमात्मा का मिलन हैं।

कैवल्योपनिषद् के अनुसार –

योग में चित्त की एकाग्रता पर बल दिया गया है। जब मनुष्य अपने अन्तःकरण को इतना योग्य बना ले कि बिना किसी बाह्य मदद के वह चित की एकाग्रता द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार करे–वास्तव में यही योग है।

योग दर्शन के अनुसार–

सबसे अधिक परिभाषा महर्षि पंतजलि द्वारा दी गई है कि चितवृत्तियों के निरोध का योगानुशासन अपनाने पर मानसिक बिखराव रूकता है अर्थात् मनुष्य अपने सम्पूर्ण बाहय व्यवहार की सिद्धि के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों का करण के रूप में प्रयोग करता है। इसी प्रकार, मनुष्य आन्तरिक व्यवहार या आचरण के सिद्धि के लिए मन, बुद्धि व अंहकार का उपयोग करता है, ये साधन अन्तःकरण कहलाते हैं।

गीता के अनुसार योग –

'योगस्थ कुरू कर्माणि संगत्यक्ल्वाधनंजय
सिद्धयसिद्धियोः सभो भूकत्वा समत्व योग उच्चते' (2/48)

अर्थात् सुख, दुख, लाभ हानि, शत्रु, मित्र, शीत और ऊष्ण आदि द्वन्दों में सर्वत्र सम–भाव रखना योग है। मन की इसी स्थिति को समत्व कहा गया ओर यही समता योग है।

सांख्य दर्शन के अनुसार –

'पुरूषप्रकृत्योर्वियोगेपि योग इत्यमिधीयते'

अर्थात् पुरूष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरूष का स्वः स्वरूप में अवस्थित होना ही योग है।

विष्णु पुराण के अनुसार –

जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन ही योग है।

*प्राचार्य, राजस्थान संगीत संस्थान, जयपुर

बौद्ध धर्म के अनुसार –

'कुशल चितैकग्गता योग'

अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही योग है।

जैन दर्शन के अनुसार –

शरीर, वाणी और मन तीनों के द्वारा आत्मा में जो हलचल होती है, वह योग है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार –

योग सबसे बहुमूल्य विरासत है और यह आज की आवश्यकता है और कल की संस्कृति ।

योग मिनिस्ट्री के अनुसार –

योग अनिवार्य रूप से एक अत्यन्त विज्ञान पर आधारित आध्यात्मिक अनुशासन है जो मन और शरीर के बीच सामंजस्य लाने पर केन्द्रित है। यह स्वस्थ जीवन जीने की कला और विज्ञान है।[2]

तबला–वादन व योग का सम्बन्ध –

तबला–वादन में सर्वप्रथम हम किस स्थिति में बैठकर बजाते हैं, उस पर चर्चा करेगे। तबला–वादन करते समय निम्नलिखित आसनों पर बैठकर वादन किया जाता है–

1. **पद्मासन**[3] – इस आसन में कमल के फूल के समान बैठक लगायी जाती है। इसी कारण इसको कमलासन व पद्मासन भी कहा जाता है। जमीन पर बैठकर बायें पैर की एड़ी को दायीं जंघा पर इस प्रकार रखें कि एड़ी नाभि के पास आ जाये। इसके बाद दायें पांव को उठाकर बाई जंघा पर इस प्रकार रखें कि दोनों एड़ियाँ नाभि के आस–पास मिल जायें । दोनो घुटने जमीन पर लग जायें इसके बाद स्वतः ही मेरूदण्ड पूर्ण सीधी हो जायेगी।

लाभ – यह आसन ध्यान के अभ्यास के लिए सबसे उपयुक्त आसन है। इससे मन को शान्ति व शरीर में सकारात्मक ऊर्जा प्राप्त होती है।

2. **सिद्धासन**[4] – दण्डासन में बैठकर बायें पैर को मोड़कर एड़ी को गुदा एवं उपेन्द्रिय के मध्य भाग में लगायें तथा दाये पैर की एड़ी को उपेन्द्रिय के ऊपर वाले भाग पर रखें तथा बाँये पैर के टखने पर दाँये पैर का टखना रखें। इसके अतिरिक्त दोनों पैर के पंजे जंघा और पिण्डली के मध्य रखें। घुटने जमीन पर लगाते हुए रीढ़ की हड्डी बिल्कुल सीधी रखें। इस आसन को करने से भी मन शान्त व एकाग्र होता है।

लाभ – इस आसन से नाड़ियों की शुद्धि होती है। मस्तिष्क की स्मरण–शक्ति बढ़ती है। तबला–वादकों के लिए यह स्थिति अत्यन्त फलदायी होती है।

3. **वज्रासन**[5] – इस आसन में पाँव को घुटने से मोड़कर एड़ियों को पीछे कूल्हे के नीचे रखें। यह आसन ध्यान के साथ–साथ पाचन–शक्ति के लिए सबसे सशक्त आसन है। यह एकमात्र ऐसा आसन है जिसे भोजन करने के पश्चात् किया जा सकता है।

इस आसन में बनारस घराने में विशेषकर तबला–वादन किया जाता है।

4. **सुखासन**[6] – यह आसन बहुत ही सरल होता है। आम भाषा में आलती–पालती मारना भी बोलते हैं। यह आसन एक ऐसा आसन है जिसमें अधिकांश तबला–वादक बैठकर तबला–वादन करते हैं।

लाभ – इसे करने से साधक का चित्त शान्त व एकाग्र होता है जिससे तनाव की स्थिति कम होती है । पैरों में रक्त–संचार कम हो जाता है और अतिरिक्त रक्त अन्य अंगों की ओर संचारित होने लगता है जिससे क्रियाशीलता बढ़ जाती है।

5. **वीरासन**[7] – जमीन पर खड़े होकर बायें पाँव को यथासाध्य एक कदम से भी ज्यादा आगे रखें, तत्पश्चात् बाये पाँव को उलटकर घुटने को मोड़ते हुये पाँव को पीछे की तरफ किंचित खड़ा करते हुए कमर के ऊपरी भाग को पूर्णतया बलपूर्वक पीछे की तरफ खींचते हुये बायें पाँव के पंजे से लेकर जांघ का पूरा हिस्सा आंतरिक शक्ति लगाते हुये सीधा रखें। इस आसन में पं. किशन महाराज, पं. कुमार बोस, सुरेश तलवलकर वादन करते हैं।

लाभ – यह आसन शरीर को शक्ति प्रदान करता है, इससे सहनशक्ति व दृढ़ता आती है। नींद की समस्या– यदि हो तो सुधार होता है।

आसन के अतिरिक्त तबला–वादन में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि, आठ नियमों की पालना पूर्णरूपेण की जाती है। –

1. **यम**– यम का अर्थ आत्म–नियन्त्रण से है। तबला–वादन करते समय हाथ की गतिविधियों का संचालन करते समय पूर्णतः नियन्त्रण रखना पड़ता

है। अतः यम के नियम का पालन किया जाता है।

2. **नियम**– नियम का अर्थ आत्म अनुशासन से लिया जाता है और तबला–वादन करते समय वादन के नियम, बैठक, पढन्त आदि के सभी नियमों की पालना करनी होती है इससे योग के भी नियम की पालना होती है।

3. **आसन**– योग के इस नियम की पूर्ण व्याख्या तबला–वादन करते समय बैठक में ऊपर किया जा चुका है।

4. **प्राणायाम**– प्राणायाम के नियम में योग में श्वास पर सन्तुलन रखना सिखाया जाता है। तबला–वादन में भी प्राणायाम के पूरक, रेचक, कुंभक आदि की पूर्णरूपेण पालना की जाती है। वादन में पढ़न्त करते समय श्वास को धीरे–धीरे लेना व त्यागते हैं। विलम्बित लय में श्वांस का ठहराव व द्रुत लय में वादन के पसीने से शरीर के विकार निकल जाते हैं।

5. **प्रत्याहार**– इस नियम में इन्द्रियों का संयम आता है। तबला–वादक अभ्यास में पाँचो इन्द्रियों आँख, नाक, कान, जीभ एवं त्वचा को सयंमित कर ही वादन में निखार ला सकता है। अतः पूर्णतः इस योग नियम की भी पालना की जाती है।

6. **धारणा**– इसका अर्थ दृढ़ संकल्प से है। इसमें व्यक्ति अपने लक्ष्य को पाने के लिए दृढ निश्चयी बनता है और तबला–वादक अपने वादन को सौन्दर्यात्मक कर्णप्रिय करने के लिए दृढ़ निश्चयी होकर साधना करने से धारणा नियम की पालना करता है।

7. **ध्यान** – उक्त नियमों की पालना कर तबला वादक योग के इस नियम–ध्यान की ओर अग्रसारित होता है जिसमें वह परम शक्ति में धीरे–धीरे तल्लीन होता जाता हैं ।

8. **समाधि**– चित जिसका ध्यान कर रहा हो, उसका स्वरूप शून्य होकर जब केवल ध्येय मात्र की प्राप्ति करे तो वह समाधि की स्थिति होती है। वादक धारणा, ध्यान की स्थिति तक जाते हुए वादन की नाद–साधना में लीन होकर ब्रह्मानन्द की अवस्था तक पहुँच जाता है और यही स्थिति योग की समाधि स्थिति होती है।

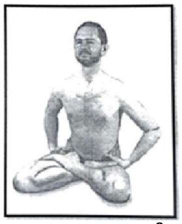
चित्र : 1. पद्मासन[3]

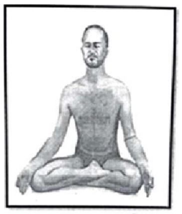
चित्र : 2. सिद्धासन[4]

चित्र : 3. वज्रासन[5]

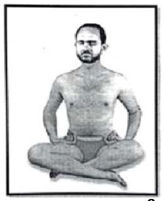
चित्र : 4. सुखासन[6]

चित्र : 4. वीरासन[7]

उपसंहार :

उपर्युक्त लेख से यह प्रमाणित होता है कि तबला–वादक संगीत में प्रदर्शन व अभ्यास करने में श्रेष्ठता तक तभी पहुँच सकता है जब वह योग के समस्त नियमों की पालना करें।

सन्दर्भ सूची :

1. कुमार, डा. कामाख्या, योग महाविज्ञान, पृ. 21
2. yoga-https://him.wikipedia.org
3. पद्मासन चित्र. https://images.app.goo.gl/9xAyUKNjgq2SBGTP7
4. सिद्वासन चित्र. https://images.app.goo.gl/9xAyUKNjgq2SBGTP7
5. वज्रासन चित्र. https://images.app.goo.gl/9xAyUKNjgq2SBGTP7
6. सुखासन चित्र. https://images.app.goo.gl/9xAyUKNjgq2SBGTP7
7. वीरासन चित्र. https://images.app.goo.gl/9xAyUKNIgq2SBGTP7
8. माईणकर, सुधीर, तबला वादन कला और शास्त्र अभिनव, भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल 23/04/2000
9. मिस्त्री, आबान, तबले का उद्‌गम, विकास ओर वादन शैलियाँ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1987
10. मिश्र, विजय शंकर, तबला पुराण, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रथम संस्करण 2009

मगही लोकनाट्य में संगीत

प्रो. निशा झा*

सारांश

मगध राज्य का उल्लेख प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास में मगध राज्य का उच्च स्थान रहा है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं पुराण आदि में भी मंगध शब्द का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण में भी मगध राज्य की चर्चा मिलती है। यह बुद्ध की–ज्ञान प्राप्ति का स्थान रहा है। इसलिए इस क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ नाट्य की प्राचीन परंपरा रही है। इस क्षेत्र की नाट्य शैलियों, विशेषकर लोकनाट्य की विभिन्न शैलियों एवं उनके प्रयुक्त संगीत की शोधपूर्ण व्याख्या आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिए मगही लोकनाट्य शैलियों में सांगीतिक प्रयोग के संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त कर उन्हें प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

शब्द : *मगही, लोकनाट्य, गीत, संगीत, शैली, संवाद*

प्रविधि : *पुस्तकों के अध्ययन से सामग्री संकलित कर शोध–पत्र तैयार किया गया है ।*

मगध राज्य का परिचय

प्राचीन मगध राज्य को ही मगही क्षेत्र के नाम से जानते हैं। हुएनसांग ने (629–45 ई.) इसके लिए 'यो–किए–तो' शब्द का व्यवहार किया है।[1] इसका क्षेत्रफल 5000 मीटर या 8.33 वर्गमील बताया है।[2] इस क्षेत्रफल के अनुसार इसके अंतर्गत संपूर्ण पटना जिला एवं गया जिला भाग का क्षेत्र आता है। डॉ विश्वनाथ प्रसाद के अनुसार प्राचीन मगध राज्य की सीमा उत्तर में गंगा, पश्चिम में वाराणसी (कर्मनाशा नदी तक), पूरब में हिरण्य पर्वत या मुंगेर और दक्षिण में कर्ण, सुवर्ण्य या सिंहभूम तक विस्तृत थी।[3]

मगध की उत्पत्ति

मगध की उत्पत्ति के संबंध में डॉ विश्वनाथ प्रसाद ने लिखा है–''मगध का व्युत्पत्तिगत अर्थ'मग' सुद को धारण करने वाला बताया गया है। अथर्ववेद संहिता में गान्धारेभ्यो मूजवद्भ्योऽड़ेग्भ्यो मागधेभ्यः (5–22–5–14)। इस मन्त्र में तक्मन (ज्वर) से कहा गया है कि वह इन देशो में चला जाए। अथर्ववेद के 15वें कांड में मागध व्रात्यों का धनिष्ठ मित्र कहा गया है।[4]

इस क्षेत्र की महत्ता इस बात से स्पष्ट होती है कि– ''भगवान बुद्ध ने इसी प्रदेश के गया क्षेत्र में बोधि–सत्व प्राप्त किया। सारिपुत्र और मोद्गलायन इसी भूमि के गौरव के प्रतीक थे। शिशुनागवंशी अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र नगर की स्थापना कर उसी को राजधानी बनाया था, जो मौर्यकाल में आकर केवल मगध का ही नहीं, वरन् सारे देश के केंद्रीय शासन की राजधानी बन गया। चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक के राज्यकाल में यह प्रदेश बौद्धधर्म और विश्वसंस्कृति का केंद्र स्थान बन गया। ईरान का दारा और विश्वविजयी सिकन्दर को मगध के पराक्रम से अभिभूत होकर निराश लौट जाना पड़ा और सेल्यूकस को कन्यादान कर संधि करनी पड़ी थी।[5] इस क्षेत्र में प्रचलित भाषा को 'मगही' भाषा कहा जाता है। बिहार की प्रमुख बोलियाँ हैं मगही, मैथिली, भोजपुरी, अंगिका और बज्जिका। इन बोलियों में बहुत कुछ साम्य है वैसे पटना, गया एवं मुंगेर की मगही भाषा में स्वभावतः अंतर मिलता है।

लोकनाट्य

''लोक वृत्तानुकरणं''[6]

नाटक मूलतः सामाजिक स्थितियों की अनुकृति है। नाटक का निर्माण, सामाजिक रीति–रिवाज, आदर्श, सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर होता है। हर समाज की सभ्यता एवं संस्कृति में, रीति–रिवाजों में कुछ–कुछ अंतर होता है। इसलिए देश–विदेश, स्थान– विशेष एवं काल–विशेष के कारण नाटको में भिन्नता होती है। नाटक में सामाजिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है। प्राचीन भारत में धर्म–प्रधान समाज था। इसलिए उस काल के नाटकों में,

*सचिव, सांस्कृतिक परिषद्; अध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

नाटक की कथावस्तु प्रायः धार्मिक हुआ करती थीं। पारंपरिक रूप से भारतीय ग्रामीण समाज में छोटे–छोटे स्तर पर नाटक खेला जाता था जिसे 'लोक नाट्य' कहा जाता रहा। लोकनाट्य का उद्देश्य है मनोरंजन एवं सामाजिक शिक्षा को समृद्ध करने के लिए सामूहिक अभिव्यक्ति। 'लोक' की कृति को, किसी कथा को संवाद के माध्यम से नाट्यरूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसे लोकनाट्य कहते हैं। लोक नाट्य को व्यक्तिक न मानकर सामूहिक कृति माना जाता है। माना जाता है कि लोकनाट्य के वर्तमान स्वरूप की उत्पत्ति 15वीं–16वीं सदी से है। परंपरारात लोक नाट्य स्थानीय जीवन शैली के विभिन्न पहलुओं को दर्शाता है। बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में, वहाँ की बोलियों में लोक नाट्य प्रस्तुत होता है, जैसे, अंगिका, वाज्जिका, भोजपुरी, मैथिली एवं मगही आदि।

मगही लोकनाट्य–

मगही क्षेत्र की बोली के हिसाब से, पटना, गया एवं मुंगेर जिला के दक्षिणी भाग को माना जाता है। इन्ही क्षेत्रों में मगही भाषा का प्रचलन है।

"मगही भाषा–क्षेत्र ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त विलक्षण और प्रसिद्ध रहा है। किसी जमाने में मगध एक प्रमुख क्षेत्र था और उत्तर भारत का एक प्रमुख राजनैतिक केन्द्र। पाटलिपुत्र या पटना एक समय में पूरे उत्तरी भारत की राजधानी के रूप में विख्यात रहा है। मौर्य राजाओं तथा गुप्त वंश के राजाओं की राजधानी रहने का गौरव भी पाटलिपुत्र या पटना को ही प्राप्त था। यह गौरव बिहार के किसी भी अन्य नगर को सुलभ नहीं हो सका।"[7]

आर्थिक दृष्टि से यह क्षेत्र समृद्ध नहीं है। परिणामतः यहाँ का लोकजीवन सामान्य एवं साधारण रहा है। यहाँ के लोगों में सहजता है,बहुत कुछ पाने की होड़ नहीं है। यहाँ लोगों के बीच जो लोकनाट्य प्रचलित हैं, वे हैं– बगुली, सामाचकवा, जाट–जाटिन, डोमकच, चैता, भाँड, बहुरूपिया, चौहर, जँतसार, नौटंकी, रामलीला आदि। इन लोकनाट्यों का संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित हैं–

बगुली– बगुली लोकनाट्य मगही भाषी क्षेत्र के लोकजीवन से संबंधित है। इसमें अत्यंत सादे, सहज जीवन का चित्र अभिव्यक्त होता है। इस लोकनाट्य के संबंध में डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद का मत है कि– 'बगुली मगध का लोक प्रचलित गीति नाट्य है। शरद ऋतु में खुले नीले आकाश और मैदान में स्त्रियाँ जमा होकर अभिनय करती हैं। यह अभिनय प्रायः आश्विन के सुहावने और सुखद वातावरण में होता है।' बगुली नाट्य में एक स्त्री बगुली का वेश धारण करती है और लम्बा घूँघट काढ़ कर अन्य स्त्रियों के बीच बैठती है। उसकी कृत्रिम चोंच हिलती रहती है। वह उछल–उछल कर इधर–उधर कूद–फाँद करती हुई दिदिया नाम की दूसरी पात्र से संवाद करती है। लगता है, यह दिदिया उसकी बड़ी नंनद है। दिदिया उसकी आलोचना करती है और तब वह रूठकर नदी के किनारे जाकर मल्लाह से नैहर पहुँचाने की प्रार्थना करती है। मल्लाह क्रमशः अपनी माँग बढ़ाता जाता है और अंत में बगुली के यौवन की माँग करता है, किंतु, वह इन्कार करती है। यहीं नाट्य समाप्त हो जाता है। इस लोक नाट्य में दो दृश्यों की योजना हुई है। आरंभ से अंत तक संवादों की झड़ी लगी रहती है।[8]

बगुली– दिदिया संवाद को महिलाओं द्वारा गाया जाता है, बगुली दिदिया संवाद इस प्रकार से होता है–

दिदिया– कहबाँ से रूसल कहबाँ जा ह हे बगुली?

बगुली– ससुरा से रुसल नहिरा जा हिओ हे दिदिया।

दिदिया– कउने करनमें नहिरा जा ह हे वगुली?

वगुली– चउरवा छँटइते खुदिया खइली हे दिदिया।

इसी तरह आरोप–प्रत्यारोप का संवाद होता रहता है। इसमें गीत के दो दल होते हैं। पहला दल बगुली के भाव को अभिव्यक्त करता है तो दूसरा दल दिदिया एवं मल्लाह के भाव को। सभी गीतों का गायन महिलाओं द्वारा होता है। इसमें सामूहिक गीत के साथ अभिनय भी होता है। बगुली लोकनाट्य विशेषकर जाड़ों में आयोजित होता है। खुले आकाश एवं हरियाली के बीच महिलाओं का समूह संवाद करता है। धीरे–धीरे यह अद्भुत नाटकीय माहौल बना लेता है और एक अद्भुत मनोरंजन का साधन बन जाता है।

सामा चकवा– इस लोकनाट्य में भाई–बहन के संबंधों की व्याख्या होती है। यह लोकनाट्य कार्तिक माह में आयोजित होता है। इस लोकनाट्य में अनुष्ठान का भी महत्व है। इसका एक गीत है–

सामो खेले गैली चकवा भइया अँगना।
खरहो भइजी लेलन लुलुआए, ननद कहाँ आएल है।।

कातूँ हूँ भौजो लेल लुलुआय, सामो कहाँ आयल हे।
जब ही रहतइ माई–बाप के राज, सामो खेले आयव हे।
छुटी जहेइें माय–बाप के राज तजब तोर अँगना है।
एतनाबचनिया सुनलन चकवा भईया हे।।
मारे लगलन बरछा घुमाय बहिनियाँ कहाँ पाएब हे।
मारेलगलन तीर झमकाय, बहिनियाँ कहाँ पाएब हे।।

इस लोक नाट्य में लड़की को अपने मायके से कितना प्यार है, इसको दर्शाया जाता है। इसमें गीत अधिक एवं नाटकीयता कम है।

जाट–जाटिन– यह लोकनाट्य बिहार के हर क्षेत्र में प्रचलित है। मगही क्षेत्र के मोकामा एवं दक्षिणी मुंगेर के क्षेत्र में यह लोकनाट्य अधिक प्रचलित है। इस लोकनाट्य के गीतों में मगही क्षेत्र के झूमर गीतों का प्रभाव है। इस लोकनाट्य में स्त्रियों के ही दो दल होते हैं। स्त्रियाँ ही प्रायः पुरुषों की भूमिका निभाती हैं। इसमें प्रधान पात्र दो होते हैं। एक दल जाट का एवं दूसरा दल जाटिन का। जाट–जाटिन, दाम्पत्य जीवन की कथाओं एवं नोंक–झोंक से संबंधित है। स्त्रियाँ विभिन्न भंगिमाओं के साथ, अभिनय करती हैं और संवाद होते रहते हैं, जैसे–

जाट– लम के चलिहें गे जाटिन, लम के चलिहें।
जईसे बँसवा के छिपवा लमहई, ओइसही लम के चलिहें।।

जाटिन– नहिंए लमबऊ रे जटवा, नहिए लमबऊ रे।
हम तो बाबा के दुलारी ही, नहिए लभबऊ रे।।
हम तो मइया के दुलारी ही, नहिंए लमबऊरे।

इसी प्रकार, गीतों के माध्यम से यह लोकनाट्य आगे बढ़ता है।

डोमकच– यह लोकनाट्य पूर्ण रूप से एक प्रहसन है। इसमें गालियाँ भी गाई जाती हैं। इसमें दो–चार कथाओं का समावेश होता है, जैसे–चूड़ी का मोल–तोल, प्रसविनी महिला का प्रसव पीड़ा, डोम–डोमिन के फूहड़ संवाद आदि। कुछ लोग मानते हैं कि डोमकच ब्रजयानियों की स्वांग–परम्परा का अवशेष है।

चैता– यह पटना के अगमकुँआ, फतुहा, नवादा एवं गया में प्रदर्शित होता है। यह नृत्य गीत–रूपक है। इसका प्रदर्शन, पशु मेले, ठाकुरबाड़ी, राममंदिर या शिवमंदिर आदि स्थानों पर होता है। चैत महीने में 'सतुआन' त्योहार होता है। इसमें भी चैता का आयोजन होता है।

भाँड– इस लोकनाट्य के संबंध में कमला प्रसाद ने लिखा है ''तालियाँ लगाते कुछ मोटे, कुछ छोटे, कुछ अकाल और कुछ अफीम के मारे, जीते कंकालों के नमूने, जीराफ की गर्दन निकाले, बिस्टी बाँधे, नंगधिरंगे, आगे आगे लम्बी चोटी वाले चुस्त पायजामे घर पेशबाज लगाए, पैर में घुँघरू, तहरदार छोकड़े को नर्तकी के रूप में, बेशकीमती किश्तीनुमा टोपी पहनाए, महफिल में लाकर भांडों का गिरोह जब सामने खड़ा कर देता था तब सभी चौकन्ने हो जाते थे। झुक–झुक कर अदब के साथ सलाम बन्दगी और कोर्निश के बाद नकल के साथ–साथ गाना शुरू हो जाता था। तालियाँ ताल पर बजने लगती थीं, राग में राग मिलाकर सभी गाने लगते थे और कुढ़ंगे भाँड़ कमर लचकाते औरतों के भाव और नखड़ों के साथ मुँह बनाकर ऊँगलियाँ चमकाते इस तरह नाचते थे कि मिनट–मिनट पर कहकहे लगते, पर भाँड़ों के मुँह पर मुस्कुराहट की रेखा तक न आती थी। गाते तो राग–रागिनियाँ ही, पर वही व्यंग्य के ताल और तालियों के साथ।''[9]

नौटंकी– मगही क्षेत्र में लोकनाट्य नौटंकी का भी प्रचलन रहा। मगही लोकगीतों की मधुरता, सहजता, सरलता का भाव, मगही नौटंकी पर था। जगन्नाथ शुक्ल के अनुसार–पटना जिले में एक विशेष प्रकार के नौटंकी दल का अस्तित्व था और उसकी संवाद–शैली लखनऊ या कानपुर के नौटंकी वालों से भिन्न हुआ करती थी। लखनऊ या कानपुर के नौटंकी वालों की संवाद–शैली पर पारसी संवाद–शैली का गहरा असर था जबकि पटना सिटी के नौटंकी वालों की संवाद–शैली पर मगही लोकगीतों की सहज कोमलता का प्रभाव था।[10] गया शहर में नौटंकी का खूब प्रचलन था। वहाँ कई नौटकी पार्टियाँ थीं, उनका अक्सर प्रदर्शन हुआ करता था। उनके प्रदर्शन एवं संवाद की शैलियों पर मुख्य रूप से धार्मिक आख्यानों के संवाद का प्रभाव दिखता था।

एक जमाना था, 1940 के दशक के लगभग मगही क्षेत्र में कानपुर एवं लखनऊ की पार्टियाँ अक्सर आकर प्रस्तुतियाँ देती थीं। आगे चलकर इसमें ह्रास होने लगा। इसके संबंध में विशेषज्ञों का कहना है कि नौटंकी के आयोजन में जो आयोजक होते थे, वे मंच–व्यवस्था पर अधिक ध्यान नहीं देते थे, बिल्कुल अनिवार्य पक्षों पर ही

ध्यान दिया जाता था। इस नौटंकी प्रदर्शन में एक पूरी पार्टी (टीम) होती थी। संगीत का प्रयोग किया जाता था।

रामलीला– रामलीला तो बिहार ही नहीं, बल्कि भारत के सभी क्षेत्रों में प्रचलित रहा है। मगही क्षेत्र में भी रामलीला को लोकनाट्य के रूप में बहुत पसंद किया जाता रहा। महेश कुमार सिन्हा ने लिखा है– ''रामलीला एक ऐसा लोकनाट्य है जो प्रसिद्ध रामनवमी कथा का प्रचार–प्रसार करने के लिए प्रायः बिहार के सभी इलाकों में एक ही रूप में प्रचलित है। मगही क्षेत्र की रामलीला की एक विशिष्टता यह है कि इसका आयोजन होने पर बहुत बड़ी संख्या में लोग एकत्र होते हैं और मंच वृताकार रूप में दशकों से घिरा हुआ प्रायः मध्य में स्थित होता है। नेपथ्य का प्रयोजन अस्वीकार कर लिया जाता है क्योंकि सारे पात्र अपनी पूरी वेश–भूषा में तैयार होकर पहले से ही बैठे रहते हैं। रामलीला की प्रदर्शन–पद्धति का यह रूप बिहार के अन्य क्षेत्रों में प्रचलित नहीं है।''[11]

उपरोक्त सभी लोकनाट्यों में संगीत की प्रमुख भूमिका रही है। हारमोनियम, ढोलक, झाँझ, मंजीरा आदि अनेक वाद्य लोकनाट्य में प्रयोग किए जाते रहे। संगीत के बिना लोकनाट्य की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रोफेसर केसरी कुमार ने लिखा है कि' ''नाटक का आरंभ नृत्य और गीत से हुआ।''

लोक–समाज में हर्षित मन के मनोरंजन के लिए ही लोकगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य आदि का प्रचलन रहा। इसमें प्रयुक्त संगीत पूर्ण रूप से स्वछन्द है, इसमें व्यावहारिकता के साथ मनोरंजन के विभिन्न साधनों का प्रयोग होता है। इसलिए कुछ सरल वाद्यों का ही लोकनाट्य में प्रयोग होता है। संवाद–शैली के साथ–साथ गीतों की प्रस्तुति होती है। प्रायः कोई भी लोकनाट्य बिना गीत के नहीं होता है। सभी में गीत–वाद्य–नृत्य का समावेश है। ढोलक की थाप से लोकनाट्य का संवाद निखरता है। गीतों की प्रस्तुति से ही वह पूर्ण होता हैं। भाँड़ जैसे लोकनाट्यों में राग–रागिनियों की प्रधानता रही है।

निष्कर्ष :

लोकनाट्य के तत्व ही होते हैं– विषयवस्तु, अभिनेता और रस। रस की अनुभूति में संगीत का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए लोकनाट्य का आनन्द संगीत पर ही निर्भर है। आधुनिक समय में इन लोकनाट्यों का ही ह्रास हो रहा है जिसमें आधुनिक समाज का ही प्रभाव है। आधुनिक संस्कृति नृत्य–संगीत के वैज्ञानिक प्रयोग पर निर्भर होने लगा है। इसीलिए लोकनाट्य में प्रयुक्त गीत–नृत्य–वाद्य पर भी आधुनिकता हावी हो रही। इसलिए लोकनाट्यों में प्रयुक्त, गीत–नृत्य एवं वाद्यों का संरक्षण अति आवश्यक है, नहीं तो इसमें भी नये–नये वाद्यों (डिजिटल वाद्यों) का प्रयोग होता जा रहा है। जिससे लोकनाट्य का पारम्परिक संगीत प्रभावित होगा।

संदर्भ सूची :

1. दे. सैमुएल बील, बुद्धिस्ट रेकर्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड पृ.–82
2. जूलियन, हुएनसांग, पृ.–409
3. प्रसाद, विश्वनाथ, मगही संस्कार–गीत, संस्करण प्रकाशक–बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, पृ.–3
4. वही
5. वही, पृ–5
6. भरत, नाट्यशास्त्र–1–108–109
7. सिन्हा, महेश कुमार, बिहार की नाटकीय लोकविधाएँ, प्रथम संस्करण– जुलाई–2001, प्रकाशन–बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ.–176
8. प्रसाद, वासुदेव नंदन, आलेख–बिहार के लोकनाट्य, बिहार सरकार स्वाधीनता दिवस विशेषांक, 1971
9. केसरी, कुमार प्रसाद और उनके नाटक, प्रकाशक– मोतीलाल बनारसी दास, पटना, दूसरा संस्करण–1945 पृ.–192
10. सिन्हा, महेश कुमार, बिहार की नाटकीय लोकविधाएँ, प्रथम संस्करण–जुलाई–2001, बि. हि. ग्र. अकादमी पृ.–202
11. वही

Exploring the Blend of Kathak Dance and Maand: Deciphering Influences, Rhythmic Designs and Melodic Configurations

Dr. Parul Purohit Vats*

Abstract

This research paper delves into the intricate interplay between Kathak dance and Maand, shedding light on the distinct styles that emerge from their contrasting origins. The study specifically examines how Maand has influenced Kathak by incorporating diverse rhythmic patterns and melodic structures. Additionally, it explores how Kathak has reciprocated this influence by enhancing the presentation of Maand through its incorporation of footwork, rhythmical elements, and expressive gestures. The focal point of this investigation is to underscore the dynamic nature of cultural exchange in shaping the ongoing bond between these art forms. The findings aim to exemplify the captivating connection shared by these two artistic expressions and showcase the abundant diversity present in Indian art. By exploring the source, the research will reveal the complex impacts, temporal sequences, and harmonic arrangements that blend these fascinating forms of communication. The investigation will also uncover the abundant historical background and cultural relevance of these forms of artistic representation. Through this investigation, the goal is to illuminate the intriguing interaction and shared enrichment that has evolved between Kathak and Maand throughout the years.

Keywords : *Dance, Kathak, Maand, Rhythmic Design, Melody*

Methodology:

1. ***Historical Research:*** *The paper delves into the historical origins and evolution of both Kathak and Maand. It examines their development over time, their respective traditional roots, and how they have interacted and influenced each other through cultural exchange. Historical research involves the study of past events and developments in the evolution of these art forms.*
2. ***Literature Review:*** *The paper references works by musicologists and researchers (e.g., Komal Kothari, Regula Qureshi) who have studied Maand and Rajasthan's folk music.*
3. ***Comparative Analysis:*** *The paper compares and contrasts the distinct styles and characteristics of Kathak and Maand. It explores how the two art forms have reciprocally influenced each other and how they share common elements, such as rhythm and melody.*

Introduction:

Kathak and Maand, two distinct art forms have forged an extraordinary bond through artistic collaboration and the exchange of cultures. While exploring their rich origins, one uncovers the intricate influences, rhythmic patterns, and melodic structures that intertwine these captivating forms of expression. This exploration will shed light on the captivating interplay and mutual enrichment that has developed between Kathak and Maand over time.

Kathak , a classical dance style with roots in Northern India, is recognized for its precise footwork and elegant choreography. In contrast, Maandfolk singing tradition, a traditional form of music from Rajasthan, is recognized for its complex melodies and

*Dean, School of Performing Arts, World University of Design, Sonipat, Haryana

expressive verses. Nonetheless, this is renowned due to its energetic and lively shows that mesmerize spectators. Notwithstanding their different origins, Kathak and Maand have a deep and complex connection. The connection has developed through cultural interaction and joint artistic efforts. The research aims to explore the role of music in Kathak. Additionally, investigates the methods wherein the pair of these creative expressions have interwoven through the passage of time.

Origins and Evolution:

Maand is thought to have originated in the Marwar province of Rajasthan and has since been transferred verbally between generations. In conformity with the view put forth by Musicologist Komal Kothari, priorly Maand had been sang exclusively by female vocalists at the Royal Courts of Rajasthan with an underlying theme which denoted relinquishment towards Goddess Saraswathi (Kothari 1990, p.29) With the passage of time Maand underwent changes resulting in its growing popularity as an entertaining music genre which is currently being performed by both male and female artists in different places.

Kathak's origins can be traced back to ancient Sanskrit texts and the temple traditions of North India. Flourishing under the patronage of royal courts and temples during the Mughal era, this dance form gradually absorbed influences from Persian and Central Asian dance traditions. This fusion led to the emergence of distinct gharanas or schools within Kathak, each with its own unique style and repertoire.Kathak was originally performed exclusively for royalty in North Indian courts and later gained popularity as a form of entertainment. Over time, it transformed into a sophisticated and stylized version of classical dance, incorporating elements from both Hindu and Islamic customs. The hallmark of Kathak lies in its intricate footwork and rhythmic patterns, perfectly synchronized with the music provided by percussion instruments such as tabla or pakhawaj. (Walker, M.2016)

Maand, on the other hand, developed into a unique and complex genre of Rajasthani folk music over several centuries. It draws inspiration from the regal legacy of Rajasthan and has embraced modern influences, thereby increasing its popularity while maintaining its traditional roots. With an expanding fanbase, Maand started to infuse different music styles and topics. Classical Indian music elements such as talas (rhythmic cycles) and new ragas were introduced by Maand starting from the 19th century (Kothari 1990, p.29). Incorporation of guitar and accordion by Maand during the period of the fifties & sixties from western culture added to a new dimension to their music (Kothari '90). The ability of Maand to adapt has played a major role in its longevity as an organization, and the incorporation of new musical elements alongside their traditional roots can be seen as a hallmark of the Maand genre according to musicologist Regula Qureshi's comments (Qureshi 1995 p.203) Maand continues to remain relevant and loved in modern times through its ability to adapt. Nowadays Maand is commonly performed on various occasions, including festivals, weddings, and cultural events, showcasing its continued relevance and adaptability.

Shared Language of Rhythm and Melody:

Although Kathak and Maand are distinct art forms, they share a common language of rhythm and melody. In the mesmerizing realm of Kathak performances, the dancer intricately weaves together a tapestry of movements, employing a wide range of techniques to interpret and embody the accompanying music. At the heart of this captivating dance form lies the meticulous artistry of footwork, which

skillfully generates a symphony of intricate rhythms within the framework of a specific taal, or rhythmic cycle. The dancer's nimble feet create a melodic percussive language, serving as a vibrant canvas upon which the dance unfolds.

However, Kathak is not solely confined to the domain of the feet; it embraces a holistic approach to storytelling through its comprehensive gestural language. Hand movements, known as mudras, play a pivotal role in the narrative, allowing the dancer to communicate a myriad of emotions, depict characters, and convey the essence of tales. These mudras possess a profound symbolism, meticulously choreographed to evoke a spectrum of sentiments, from joy and love to sorrow and longing. As the dancer's hands gracefully traverse through the air, they weave a visual symphony, further enriching the narrative tapestry of the performance.

Yet, Kathak's artistic arsenal extends beyond the rhythmic footwork and expressive hand gestures. An integral component of this dance form is the art of abhinaya, the skillful employment of facial expressions. Through the subtle nuances of facial movements, the dancer brings the characters to life, infusing them with depth, emotion, and personality. Every furrowed brow, twinkling eye, and nuanced smile serves as a brushstroke on the canvas of the performance, capturing the essence of the narrative and creating a profound connection with the audience.

In essence, the multifaceted nature of Kathak transcends the boundaries of mere movement and embraces a rich tapestry of artistic expressions. It is through the intricate footwork, evocative hand gestures, and captivating facial expressions that the dancer becomes a storyteller, interweaving rhythm, emotion, and narrative to transport the audience to a world of enchantment and wonder.

Similarly Maand musicians demonstrate their virtuosity through the skilled implementation of intricate ornamentation techniques, allowing them to craft soul-stirring melodies that are firmly rooted in specific ragas. Maand's complex music is just as famous for its distinctive vocal style and the gradual unfolding of the raga through improvised vocals is a unique singing style utilized by the singers in Maand called alaap.When performing an alaap (Bhargava 2007 p. 62), singers have a continuous harmonic backdrop from tambura's drone to explore nuances in ragas.

These musicians employ a repertoire of techniques, including meend, gamak, and murki, which serve to enrich the musical texture and evoke profound emotional resonance. Through the delicate execution of meend, where the pitch glides seamlessly between notes, they create a sense of fluidity and expressive continuity. The gamak technique, characterized by rapid oscillations and vibrato, imparts a sense of liveliness and adds intricate embellishments to the melodic phrases. Additionally, the subtle insertion of murki, a quick melodic flourish, further enhances the musical narrative by providing moments of surprise and ornamentation.

Moreover, rhythm plays an indispensable role in the Maand tradition, serving as a foundation upon which the melodies can flourish. Percussion instruments such as the tabla and dholak hold the responsibility of establishing a firm rhythmic base that propels the music forward. The tabla, renowned for its versatility and tonal range, provides a complex and intricate rhythmic structure that complements the melodic intricacies of Maand. Its diverse repertoire of strokes and sounds, including the resonant bass strokes known as "ghe" and the crisp treble strokes called "na,"

contribute to the rhythmic tapestry of Maand compositions. Similarly, the dholak, with its rich and resonant timbre, adds a robust and earthy quality to the rhythm section, offering a steady pulse that anchors the melodic improvisations and allows the musicians to explore the depths of their artistry.

The Maand tradition showcases the musicians' exceptional mastery of ornamentation techniques, allowing them to weave intricate and heartfelt melodies based on specific ragas. The implementation of techniques like meend, gamak, and murki adds layers of depth and emotional expression to the music, elevating its artistic value. Furthermore, rhythm assumes a vital role in Maand, with percussion instruments such as the tabla and dholak providing a solid foundation for the melodies to soar. The interplay between these elements showcases the profound complexity and artistry inherent in the Maand tradition.

Exploring the Intricate Interplay: Kathak and Maand

With cultural exchange playing a key role in their evolution over time, the connection between Kathak and Maand is both complex and dynamic. Indian classical music has an ever-evolving tradition demonstrated in how Kathak intermingles with Maand, says Komol Kothri, showcasing the diversity present within cultural exchange (Kothari 1990:48).

Within the realm of Kathak performances, the enchanting artistry is further elevated by the presence of live music, expertly provided by a tabla player and singer. This collaborative effort between the dancer, tabla player, and singer results in a harmonious fusion of movement and melody. The tabla player, attuned to the singer's melodic rendition, anticipates the dancer's every step, thereby creating a synchronized and captivating experience for the audience. It is through this intricate interplay of music and dance that Kathak truly comes alive, offering a mesmerizing spectacle that engages all the senses.

Similarly, Maand performances, deeply rooted in Rajasthan's folk tradition, incorporate the combination of vocalists and drummers to complement the artistic expression. As the vocalist sings the evocative melodies, their voice resonates with the fervor of the lyrics, while the accompanying percussionist provides a rhythmic foundation. This harmonious interplay between rhythm and melody establishes an immersive atmosphere, inviting the audience to be transported into the world of Maand, where every note and beat intertwines to create a rich tapestry of sound and emotion.

In certain instances, these two distinct art forms merge in a captivating display known as "Jugalbandi" - a duo performance that combines Kathak and Maand. Here, the Kathak dancers interpret the musical composition through their graceful and intricate dance movements, seamlessly merging with the rhythmic and melodic landscape. Simultaneously, Maand artists contribute their unique embellishments, adorning the melodious tunes with their artistic ornamentation. This extraordinary convergence of Kathak and Maand results in an unforgettable experience, where the audience witnesses the beautiful synergy between two diverse yet complementary art forms.

Through this exploration of the interplay between Kathak and Maand, we delve into the depths of artistic collaboration and cultural exchange. It is within this vibrant intermingling that the boundaries of tradition and innovation are blurred, allowing for the emergence of new dimensions of artistic expression. By unraveling the threads that connect these two captivating realms, we gain

insight into the profound influence they have had on one another, enriching both Kathak and Maand through their shared artistic journey.

Significance for the future generation of Kathak dancers:

Exploring the interplay between Maand singing and Kathak dance holds great significance for upcoming dancers. It offers them a unique opportunity to delve into the rich cultural heritage and artistic traditions of India, while also expanding their artistic repertoire and honing their skills.

Firstly, understanding the interplay between Maand singing and Kathak dance allows dancers to develop a deep appreciation for the symbiotic relationship between music and movement. By exploring the connection between rhythmic patterns, melodic phrases, and corresponding dance steps, dancers can enhance their sense of musicality and rhythmic precision. This exploration enables them to embody the essence of the music through their dance, effectively becoming vehicles for expressing the intricacies and emotions embedded within the compositions.

Moreover, the collaboration between Maand singing and Kathak dance provides a platform for dancers to explore the potential of interdisciplinary art forms. By engaging with different artistic mediums, dancers can expand their creative boundaries, experiment with innovative choreographic approaches, and develop a unique artistic voice. This interdisciplinary exploration fosters artistic growth and encourages dancers to push the boundaries of their craft, ultimately leading to the creation of fresh and compelling performances.

Furthermore, delving into the interplay between Maand singing and Kathak dance exposes upcoming dancers to diverse cultural perspectives and traditions. Both Maand and Kathak are deeply rooted in Indian culture and history, reflecting the regional nuances and influences of their respective origins. By immersing themselves in these art forms, dancers gain a deeper understanding of Indian heritage, aesthetics, and storytelling techniques. This cultural enrichment not only broadens their artistic horizons but also fosters cross-cultural understanding and appreciation.

Additionally, exploring the interplay between Maand singing and Kathak dance allows dancers to engage in a dynamic and collaborative artistic process. It encourages them to interact with musicians, vocalists, and other artists, fostering a sense of teamwork and shared creativity. Collaborative experiences strengthen dancers' adaptability, communication skills, and ability to respond spontaneously to the nuances of live performances. This collaborative exploration also opens doors to future artistic collaborations, paving the way for interdisciplinary projects and the creation of new and exciting works.

Conclusion:

In summary, when considering Maand and Kathak as distinctive dance genres, it becomes evident that they share a remarkable similarity through their harmonious coordination of rhythms and melodies. This connection is established through the interplay of beats and tunes, creating an exclusive bond between Kathak and Maand. As a result, spectators are taken on a mesmerizing and captivating journey.

In the style of Kathak, the artist's movements and actions serve as a means of understanding and interpreting the accompanying music. The performer becomes a conduit for the sound, embodying its intrinsic qualities and conveying them through their dance routines. On the other hand, during a Maand performance, the musicians play a

crucial role in providing intricate embellishments to the musical compositions. Their expert handling of the musical arrangements adds depth and complexity to the overall exhibition, elevating it to innovative artistic heights.

When these two art forms merge through collaboration, the audience is presented with an exceptionally distinct and long-lasting impression. The collaboration between Kathak and Maand, with their shared emphasis on rhythm and melody, generates an enchanting fusion of motion and sound. The intricate footwork and fluid movements of Kathak perfectly complement the embellished melodies of Maand, resulting in a coordinated visual and auditory spectacle.

The connection between Kathak and Maand goes beyond their mere coexistence as separate artistic expressions. It serves as a testament to the power of creative partnership and cultural communication. By engaging with each other and mutually influencing one another, the dance forms of Kathak and Maand have enriched each other. They have established a deep connection that surpasses their individual origins. This collaboration not only enhances the creative range of both genres but also enriches the cultural legacy and diversity of theatrical presentations.

Exploring the interplay between Maand singing and Kathak dance offers upcoming dancers a multitude of benefits. It deepens their understanding of the relationship between music and movement, expands their artistic repertoire through interdisciplinary exploration, exposes them to diverse cultural perspectives, and fosters collaboration and artistic growth. By embracing these opportunities, dancers can enrich their artistic journeys, develop a unique artistic voice, and contribute to the preservation and evolution of these traditional art forms.

References :

Bhargava, A. (2007). The Music of Rajasthan: Tradition and Creativity. New Delhi: Concept Publishing Company.

Kothari, K. (1990). Folk Songs and Music of Rajasthan. New Delhi: Abhinav Publications.

Walker, M. (2016). *India's Kathak Dance in historical perspective*. https://doi.org/10.4324/9781315588322

Qureshi, R. (1995). Music and Musicians in Rajasthan: An Ethnomusicological Study. New Delhi: Motilal Banarsidass.

Azad, Teerath R. (2017). *Kathak Gyaneshwari*

Saxena, S. (2012). Kathak: The Dance of Storytellers. New Delhi: Wisdom Tree.

Banerji, P. (1983). *Kathak dance through ages*. http://ci.nii.ac.jp/ncid/BA53937852

Maand Folk Music Rajasthan. (2023, February 21). Issuu.https://issuu.com/chokhidhanidesertcamp/docs/maand_folk_music_rajasthan

Dhar, A. K. (2013). VirahIn The MAAND Gayaki of Rajasthan: Total Victory in Total Surrender- The Desert Singers. www.academia.edu. https://www.academia.edu/5475522/Virah_In_The_MAAND_Gayaki_of_Rajasthan_Total_Victory_in_Total_Surrender-_The_Desert_Singers

Emerging Technologies in Music Education

Dr. Sangeeta*

Abstract

Technology is playing a vital role in the world of music production. It has revolutionized the music arena by allowing the musicians to write, record and produce high quality music, speed up tempo, compress sounds and remove background noises. Technology has made the music education easier for the learners by allowing them to create presentations and handouts which prove beneficial for learning. Both teacher and student are benefitted by the use of technology as it has helped in saving time, making advances in publication, archiving, making research easier and in retaining multiple learning styles by engaging them in an interesting manner. Faster practice software are also available for students which make them efficient in the field of Music Education.

Keywords: *technology, music, education, world*

Methodology : *The author has tried to review all potential articles for the current study. Articles from National as well as Inter-national level have been included in this research paper.*

Introduction

The application of technology in the field of music education has enabled the teacher in making fundamental musical concepts to be taught in a more effective manner. This is accomplished by the utilization of practise and drill-like exercises which cultivates an in-depth understanding of rhythm and note recognition. The design of handouts and presentations that can further assist in the teaching of any musical topic is made much simpler due to technological advancements. In the same way that technology readily assists in teaching, it can also assist in learning. The use of technology has additional advantage for music students. They have the ability to record their own performances and listen to them to analyze where they excelled and where they fell short. Students who require assistance have access to a wide choice of practise tools that can assist them in the identification of rhythm and pitch. Research has become simpler as a result of advances in publication and archiving, which means that students can discover what they need more quickly and with less effort. Technology also makes it possible for the students with fewer resources to obtain less expensive instruments at their doorstep.

Using Technology For:

Teaching fundamentals of Music

1. Rhythm – Slide shows with sound allow the class to practice rhythm together
2. Swar Recognition – Testing software to recognize pitch

Pitch Training

CDs containing pitches help in riyaz

Music Composition

Software aids in composing and printing music

Music Recording

1. Students may record their music and play it again to know about their flaws
2. Music industry has a lot of scope for which students can be prepared

How Technology has helped music

Printing music for wide distribution and

*Associate Professor, Department of Music (I), Dev Samaj College for Women, Ferozepur City

instruction in the form of books, journals etc.

Recording music for wide distribution and use

Amplifying music

Easier sound production for large audience

Sound Effects Tools

The use of technology has undoubtedly contributed to improvement in the quality of sound.

Use of Microphones:

The voice production has undergone changes as a direct result of the hi-fi, sophisticated, and variable-sized microphones that are used in the concerts. Now-a-days, it is no longer necessary for the voice to travel great distances. Artists now sing with a more relaxed throat and in a more subdued tone.

"Many artists working in the modern age claim that the introduction of the microphone has caused a significant shift in both the vocal and instrumental aesthetics of music. They have observed that the microphone has eliminated the requirement for singers to project their voices, which has resulted in the replacement of an earlier "shouting" open-mouthed style with the "crooning" style, which involves singing with one's mouth closed, almost in the manner of humming. Vocalists have now lowered their pitch in order to transcend the likelihood of intense emotions.

Automatic Resonance: People now appreciate the resonance of music and the implications contained in the tracks as a result of modern culture's emphasis on sound. The term "resonance" depicts to the richness and importance of sound. The phenomenon known as resonance can particularly relate to the amplification and extension of a sound. The level of resonance has been increased, which has resulted in a sound that is more interesting and soothing.

Change in Voice culture:

In order to sing with vigour throughout their 18-hour riyaz sessions, early singers and connoisseurs like Ustad Faiyaz Khan Sahib would engage in wrestling and consume copious amounts of ghee. When compared to those who came before them, today's young people achieve success at a much younger age and with much less work than those who came before them. The recordings of Ustad Faiyyaz Khan, Ustad Abdul Karim Khan and others included a greater degree of volume and roughness in the vocal forms. In a similar vein, older recordings of many Ustads do not possess strong tonal quality. As a result of the development of technology in the music industry, vocalists may now utilise voices that are more soothing and melodic than ever before."

Problems with the use of Microphone:

There is aesthetic dilemma also which arises as a result of the utilisation of microphones. Although the microphone has made fine music accessible to vast audiences, it has had a major deleterious influence on the performance of Indian music. The microphone is there to do the job for you, but it has led to carelessness in voice production, a rise in falsettos, and crooning.

However, there are a few new techniques based on scientific and traditional reasoning, which have been evolved to sing effectively on mike and other digitalized recording instruments:

The capacity to sing appropriately on mike in all three octaves effortlessly may be developed by using the chest voice, head voice, and diaphragm control over breath.

'Kharaj Abhyasa' and practice of complex paltas in order to strengthen the muscles and activate the vocal chakras.

The practise of musical ornamentations like kana, khatka, murki, gamak, meend and zamzama can result in an augmented voice. It is helpful to have the appropriate voice modulation.

Technology in pedagogical perspective:

The proliferation of online educational opportunities has resulted in the simplification and broadening of access to many modes of instruction. Due to the nature of the world of music, it should come as no surprise that there is no competition for the revered Guru-Shishya parampara or the Gurukul teaching. But in our hectic environment, where one wants to avoid long travels in the jam-packed traffic and where one does not want to lose time striving to have contact and taleem from a maestro, online classes and other instructional strategies are preferred.

Online education: Many online educational websites, such as Udemy, Udacity, and Coursera, amongst others, serve as a platform for students and instructors. On this platform, an individual may easily launch his or her courses after sequencing them, recording them, and finally uploading them to the website, all while keeping the cost of the course relatively low. These websites provide lectures that were given by knowledgeable lecturers from major universities all over the world. This is not only a financially and socially beneficial way out for the teachers, but it is also a tremendous benefit for music enthusiasts who have a strong desire to sing and to learn how to do so in an appropriate manner. Raga Labs Academy Rag Hindustani, Sharda, Surdemy, and Pratibha Music are three fantastic websites that offer online music instruction and classes. The Swar Ganga Music Foundation provides online data base of Ragas, Talas and Bandish. Chandrakantha.com has list of private tutors in India and across the globe. Itablapro has rich collection of instruments.

Mobile Learning

For the past eight or nine years, there has been a trend toward downloading applications, which has been amazing in many aspects, including studying, playing games, interacting with others, and socializing. Learning on a mobile device with the assistance of programmes that are linked to the topic allows one to learn for a longer period of time while learning at one's own speed and in one's own environment. The educational websites that were just described all offer mobile apps that can be used on mobile devices as well. These apps make it possible to study for a class whenever and wherever you happen to be. Even for the rehearsals and concerts, we do not need the electronic instruments. It is not necessary to do much more than install the instrument apps and connect them to high-quality speakers to get good results. To give you an idea, an iPhone Indian classical software like Itablapro comprises of six instruments, including two tanpuras, a tabla, a manjira, a sur-mandal, and a sur-peti, in addition to the preloaded Ragas-base drones of about 105 ragas. The sound of these instruments, when linked with speakers, has more rich quality (similar to the manual) in comparison to the sound of electronic instruments such as Ragini or Radel. In a similar vein, studying classical music via an Android app such as Tanpura droid, pocket raga, or Indian Classical ragas might be beneficial. Some of the best applications for learning instruments and gaining an understanding of sound frequencies are guitarlab, Percussive, Ear trainer, Note perfect, and many others.

Teaching tools

Technology also provides plethora of teaching techniques and courses for those who are unaware about how to teach online. There are ample of softwares and tools through which

one can transform monotonous teaching practices into pretty interesting and engaging sessions.

Screen flow and Camtasia, these two software enable to record the screen of your laptop and your voice without showing the face; one can teach by speaking and exhibiting innovative slides/presentations and frame a video. Simply, it will record whatever shows up on the computer screen along with the audio. Tools like Edmodo, Prezi, Canva, Animoto etc. help creating mesmerizing slides, record video clips, publish them on the teaching sites or create website and eventually attract more and more students. Here are the links to make us aware about how online teaching works: http://www.teacherkit.net/.

Live classes through skype/google hangout:

Skype has proved to be a successful attempt at connecting two individuals through the internet on the screen of a computer when they are located in different parts of the world. Live courses and other instructional trends have gained a lot of popularity in recent years. This has not only offered the chance for those who are interested in gaining new knowledge, but it has also pushed office workers and family members to resume their preferred studies. The availability of live sessions courses and certificates in the music sector, offered by a variety of institutes, is helpful for students who want to pursue vocations and work opportunities outside of their home country. To mention a few: the Shankar Mahadevan Academy of music, the Khan Academy, and the Delhi-based Nada centre for music therapy (for music therapy).

Technology should facilitate folk music too

The rural folklore is one of the few areas that has not been affected by the widespread penetration of media and technology. Traditional folk music artists still do not receive the recognition or programmes they deserve for their work in this genre. Radio, television, and mobile phones are the primary means by which villagers and folk artists engage in amusement-seeking activities. According to the findings of a study that was conducted by students at Berkeley, "Mobile phones are gradually being used across rural India," and as of October 2009, 19 percent of families owned a phone. An informal survey was carried out in Luniyakhedi and the surrounding villages in Malwa, and the results showed that 80 percent of the households own televisions CDS and nearly 100% of the households own a radio. "Low-cost audio pirated CDS and cassettes are largely responsible for generating a more regular and widespread audience for local folk music. Due to the inconspicuous nature of the internet and the widespread awareness of its presence, audiences for rural folk music commonly store recordings on their cell phones and listen to them on a regular basis. The primary reason for the lack of popularity of folk music is that traditional regional folk songs and the artists who perform them are never given formal stages outside of their respective communities. The modern period of radio has also been dominated by Bollywood tunes which has resulted in folk music not getting any space on the station. For the folk audience, there are only the time-honored radio frequencies that continue to broadcast, such as Vividh Bharti. According to Tapas Sen, the Chief Operating Officer of Radio Mirchi, "The trend for indie pop vanished in the early 1990s, and once the radio developed into an industry by 2001, the classical and folk traditions have limited presence here."

At a traditional music event in Luniyakhedi (Malwa) that was attended by around 3,000 people from neighbouring villages,

hundreds of individuals in the crowd were noticed holding their phones up high and aiming them at the stage, as stated by a researcher by the name of Neha Kumar (where 30-40 folk troupes from the Malwa region were taking turns performing from 6pm to 4 am). This was done, in order to capture both the audio and the video of the performances so that they could be played back at a later time upon request. Rather than the attendance at live performances going down, these recordings served as "advertisements" for local musicians, keeping the listenership alive and growing." Many associations such as the Centre for Media and Alternative Communication (CMAC), which conduct Sound art and technology (SAT) festival, Spic Macay, makers of Gurgaon ki Awaaz are accelerating our folklore heritage and culture, but internet tech-world and power are hindering their efforts.

Role of media and Promoting tools

Current beliefs and attitudes are only reinforced by the media. The ability of electronic media to reach millions of people in their homes despite the widespread problem of illiteracy gives it a great deal of value. It is not dependent on the communication through roads and wires for the purpose of reaching their target. The media, particularly social media, plays an important role in the marketing of the stuffs on a bigger scale and on an economically viable level. Social media websites such as Facebook, Twitter, and LinkedIn may prove to be a wasteful and energy-depleting medium for the people who sit continuously waiting for the maximum number of likes on their posts, but they are also one of the most accessible, economical, and easier sources of promoting products and services. We are able to acquire information on the whereabouts of people anyplace in the globe with relative ease. In point of fact, marketing events like as concerts, seminars, symposiums, and sammelans on Facebook and Instagram attract twice as much attention and market share as marketing them through traditional print media.

Conclusions :

The purpose of this study was to explore the use of technology as a contemporary strategy in the existing music programme at the educational institutions. The results have revealed that the use of music software is relatively easy to integrate and has the ability to impact positively on students' music education. The use of it in educational institutions has brought sea changes in the field of music education and research. This technology has the potential to impact significantly on the standards of the educational programmes. It has been resolved that the equipment utilized on regular basis are "earphones, tuner, electronic organ, metronome, amplifier, and recorder and Bluetooth speaker" and these gadgets are often utilized with programming equipment. This technology has an important place in Music Education.

References :

1. Susan A O' Neill: Music and media infused lives: Music education in a digital age Edition Vol. 6.
2. Mark Katz : Music and Technology (2nd Edition)
3. S.K. Mangal: Essentials of Educational Technology. Publisher : Prantice Hall India Learning Private Limited, (4th Edition), 1 January 2019
4. Fisher, M. (2013). Computer and technology awareness training in pre-service teacher education, Tech Trends, 46(6), 21-26.
5. Roblyer, M. E., & Edwards, J. (2005). Integrating educational technology into teaching. (4th Ed.) Upper Saddle River, NJ: Prentice-Hall
6. Walls, K. C. (1997). Music performance and learning: The impact of digital technology. Psychomusicology, 16(1-2), 68-76.
7. Williams, D., & Webster, P. (2006). Experiencing music technology, 3rd Edition. Belmont, CA: Thomson/Schirmer.
8. L. Green, Music, Informal Learning and the School: A New Classroom Pedagogy, London and New York: Ashgate Press, 2008

महिलाओं द्वारा प्रस्तुत गीति–लोकनाट्य : एक अध्ययन

डॉ. अरविन्द कुमार*

सारांश

बिहार की लोकभूमि असीम और अप्रमेय है। मानव–जीवन के जितने रंग और स्वभाव इस क्षेत्र में मिलते हैं उतने शायद ही किसी अन्य लोक क्षेत्र में होंगे। सुख के बटोर लेने और दुख को काट लेने की सही जमीन यही है। पर्व–त्योहार–उत्सव, गाना–बजाना–नाचना, हँसना–रोना–सोना, मौज–मस्ती–मसखरी, व्रत–उपवास–कल्पवास आदि इस भूमि के शाश्वत साथी हैं। सभी लोक कलाओं की भाँति किसी भी लोक–नाटक का कोई विशेष रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक होता है और अनेक प्रतिमानों के सम्मिलित चमत्कारों का साकार स्वरूप भी। लोक–नाट्य प्रायः अविकसित होता है। इसका प्रयोग प्रायः मौखिक रूप में ही होता रहा है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान, एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति तक, उस स्थान के प्रभाव, क्षमता व रूचियों से नवजीवन ग्रहण करता है और इस प्रकार क्रमबद्ध होकर प्रेषणीय बनकर जीवंत रहता है। इस नाटक के सफल या असफल होने का श्रेय समाज पर निर्भर करता है। इस नाटक का तत्त्व मुख्यतः नृत्य, गायन, अभिनय आदि हैं।

लोकनाट्य संगीतात्मक होता है। इसमें नृत्य व गीत दोनों की प्रधानता होती है। यह सहज लोकसंगीत के तत्वों से जुड़ा रहता है। इस नाट्य का सरोकार दैनिक जीवन के विविध क्रियाकलापों एवं सामाजिक सम्बन्धों से है। इसलिये लोकधर्मिता उसकी प्रमुख चारित्रिक विशेषता है। लोक का आशय गाँव और नगर दोनों जन–सामान्य से है। उसमें शिक्षित–अशिक्षित, सभ्य–असभ्य, धार्मिक–अधार्मिक, निर्धन–धनी सभी आते हैं। जाति, सम्प्रदाय, धर्म, वर्ग आदि से जुड़ा किसी भी तरह का भेद–भाव नहीं रहता। इसलिए इस नाट्य की सामाजिक उपादेयता अनायास अधिक हो जाती है।

महिलाओं द्वारा प्रस्तुत गीति–लोकनाट्य एक सामुदायिक कला विधा है। यह नाट्य किसी मंच पर मंचित नहीं होता बल्कि खेत–खलिहान, चौराहे, रास्ते, घर के पिछवारे इत्यादि स्थानों पर मंचित होता है। वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोक–कलाओं को बड़ा मंच तो प्रदान किया लेकिन उसमें लोकभाव, लोकमंच, लोकरंग, लोकचरित्र, लोक अभिनव आदि का अभाव हो गया। इसी को दृष्टिगत कर इस आलेख में महिलाओं द्वारा प्रस्तुत कुछ गीति–लोकनाट्य का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत शोध–आलेख गीतिनाट्यों में महिलाओं के भाव एवं संवेदना को साथ देखने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : *गीति, लोकनाट्य, महिला, भाव, संवेदना*

शोध–प्रविधि : *इस शोध–आलेख को वर्णात्मक प्रविधि से पूर्ण किया गया है तथा इसकी सीमा बिहार राज्य है।*

भूमिका :

बिहार कृषि प्रधान राज्य है। फसल–चक्र या ऋतु–परिवर्तन के समय संगीत, नृत्य और लोकनाट्यों का विशेष प्रचलन है। फसल के बोने, पकने, कटने के समय जो आह्लाद किसानों के हृदय में होता है, उनका प्रदर्शन इन लोकनाट्यों के द्वारा व्यक्त होता है। इन नाट्यों में पौराणिक जीवन, मानव–चेतना और सामाजिकता की भावना दिखाई पड़ती है। लोकमन अपने अनगढ़ टूटे–फूटे स्वरूपों के माध्यम से नाट्य–प्रदर्शन में सफलता प्राप्त करता है। मानव में चेतना का विकास और मनोरंजन की इच्छा ने लोकनाट्य के रूप को सृजित किया है।

महिलाओं द्वारा प्रस्तुत गीतिनाट्यों की विशेषता इनका प्रस्तुतिकरण एवं दृश्य–विधान है। इनको खेलने के लिए किसी रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती, वह औपचारिक ही होते हैं। इनकी एक विशेषता यह भी है कि इन नाट्यों के अभिनय के लिए प्रशिक्षण तथा पूर्वाभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसके लिए विशेष वस्त्र–विन्यास, साज–सज्जा की आवश्यकता भी नहीं

*एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना

होती, क्योंकि दैनिक–व्यवहार के वस्त्र ही काम में आ जाते हैं। थोड़ा–बहुत किसी–किसी पात्र–विशेष में वस्त्र–परिवर्तन कर भी लिया जाता है।

महिलाओं द्वारा प्रचलित गीतिनाट्य में केवल इनके द्वारा ही अभिनीत किया जाता है। इसमें पुरुष पात्रों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित है। ये गीतिनाट्य स्वांग के अन्तर्गत आते हैं। इन गीतिनाट्यों की खास विशेषता यह है कि इनमें दर्शक एवं प्रदर्शक दोनों का स्थान महिलाओं को ही प्राप्त होता है। इनमें कुछ का प्रदर्शन तो महिलाओं द्वारा शादी–व्याह के अवसर पर तो कुछ विशेष अवसरों पर किया जाता है। इस आलेख में इनके द्वारा प्रस्तुत डोमकच, जट–जटिन एवं बगुली का अध्ययन किया गया है।

गीतिनाट्य का वर्णन

(1) **डोमकच** : यह बिहार का बहुत ही प्राचीन और प्रसिद्ध लोकनाट्य है, जिसे केवल महिलाएँ ही अभिनीत करती हैं। यह इतना व्यापक गीत लोकनाट्य है कि सभी बोलियों में लड़के के विवाह के अवसर पर महिलाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। गाँव–भर के लोग जब बारात लेकर चले जाते हैं, तब उस घर के पास–पड़ोस की महिलाएँ एक साथ इस लोकनाट्य के माध्यम में रात भर जागकर अपना मनोरंजन करती हैं। इसके पीछे रात भर जागने की भावना निहित है, ताकि घर में चोरी आदि का डर न रहे।

अनार कली डोमनी तोहर डोम कांहाँ गेलई
डोमबा गेलई सूपली बेचे
ओतही लोभलई रे।[1]

x x x x x

बनठन के तू गेले हे डोमवां
मालिक के बरियात में
कथी–कथी देखले रे डोमबा
कथी–कथी खएले रे।[2]

उपर्युक्त गीत में डोम–डोमिन में खूब हास्य–परिहास होता है। इस गीत को समयानुकूल नये–नये गीतात्मक हास्य–सम्वादों को जोड़ते हुए आगे बढ़ाया जाता है।

इस हास्यपूर्ण नाटक में अभिनय के लिये लड़के की फूआ, मौसी, बहन, चाची या किसी अन्य महिला को 'भौजेतिन' बनाया जाता है। कोड़े या फिर खटोले के पाये का लड़का बनाया जाता है। सिर पर काला कपड़ा लपेटकर, कौड़ी से आँख बना कर किसी अन्न के दाने का दाँत बनाते हैं। इसी बालक रूपी 'जलुआ' के जन्म से लेकर विवाह तक की लीला इसमें खेली जाती है।

जो महिला आसन्न–प्रसव का अभिनय करती है, वह अत्यन्त स्वाभाविक ढंग का प्रसव–वेदना पर कराहती है। सबसे पहले वैद्य जी आते हैं। एक महिला वैद्य का वेश धारण करती है–धोती, कुर्ता, पगड़ी, गठरी (दवा की पोटली) हाथ में छड़ी और लोटा होता है। नाड़ी देखने के बहाने वैद्य जी कुछ अश्लील हरकत करते हैं। नाड़ी–परीक्षण के बाद जलुआ पैदा होता है। इसके बाद जलुआ के विवाह तक की पूरी घटनायें विभिन्न भाव–भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत की जाती हैं। डोमकच का हास्यपूर्ण अभिनय रात–भर चलता रहे, इसके लिये महिलायें मुख्य कथानक के साथ अन्य छोटी–छोटी घटनाओं को भी स्वांग के रूप में प्रस्तुत करती हैं। जैसे–चूड़ीहारिन, सब्जी बेचनेवाली, साधू बाबा, दरोगा, सिपाही, सेठ, नौकर आदि के द्वारा। महिला जिस वेश–भूषा को धारण करती हैं उनमें अत्यन्त स्वाभाविकता की झलक दिखायी देती है। ये महिलाएँ इस नाट्य में जो पुरुष बारात नहीं गए हैं उनको भी मजाक का पात्र बनाती है।

यह नाट्य हास्य के साथ–साथ सामाजिक चेतना के भाव को भी उजागर करती है। साथ ही, अपनी सृजनात्मक क्षमता को भी उभारती हैं।

(2) **बगुली** : आश्विन के महीने में महिलायें चाँदनी राग में एकत्र होकर इस गीतिनाट्य की प्रस्तुति करती है। एक औरत अपने घूँघट को नीचे तक खींचकर, उसमें हाथ डालकर बगुली की चोंच की आकृति बनाती है और अन्य औरतों के बीच उकडूँ बैठकर फुदकती है। उसकी बनावटी चोंच हिलती है।[3] बगुली और अन्य स्त्रियों का गीत संवाद में होता है–

दिदिया स्त्री – दुल चल बगुली, दुल चल
बगुली – केकरा दुअरिया दुल चलूँ
दिदिया – सोनरवा दुअरिया दुल चल
बगुली – सोनरवा के पूत मोंहे मारिये
दिदिया – सोनरवा के पूत के जदही जारों
– काहें बगुलिया के मारूये।[4]

इसी प्रकार ब्राह्मण, जमींदार, अहीर आदि सभी जातियों के लड़कों द्वारा सताये जाने की शिकायत 'बगुली' दिदिया से करती है। सभी औरतें उसे पुत्रीवत् मानकर उन सबको गाली देती हैं। यह प्रसंग बहुत देर तक चलता है।

इसी नाट्य के अगले प्रसंग में बगुली ससुराल से रूठ कर नैहर (मायका) की ओर प्रस्थान करती है। रूठकर जाती हुई बगुली से महिलाएँ पूछती हैं–

दिदिया – कहवाँ के रूसल कहवाँ जालू ये बगुली
बगुली – ससुरा के रूसल नइहरवाँ जानीं ये दिदिया
दिदिया – कवने करनवाँ नहरवा जालू ये बगुली
बगुली – रोटिया बनवते लोइया खा लियो ये दिदिया
दिदिया – तू–तू–हऊ ललचहिया ये बगुली।[5]

इसी क्रम में औरतें बगुली का मनावन (मनुहार) करती हैं कि वह अपने ससुराल लौट जाय क्योंकि उसके ससुर उसे लेने के लिये आये हैं। तब बगुली कहती है–

ससुरा के संगवा हम न जाइब ये दिदिया
घूँघट तानत जियरा जाई ये दिदिया।

इसी तरह जब अपने देवर, जेठ आदि के साथ भी जाने से असमर्थता व्यक्त करती है, अन्त में दिदिया (बड़ी बहन) कहती हैं–

आहे सइयाँ लिआवे तोहि के अइहैं ये बगुली
अंग मोरी के चल ये बगुली
घुंघट तानि के चल ये बगुली।

पति का आगमन सुनकर बगुली प्रसन्न होकर कहती है–

अरे सइयाँ के संगवा हम जाइब ये दिदिया
गोड़वा बधिहे कन्हवाँ ली हैं ये दिदिया।[6]

इस प्रकार, बगुली अपने प्रियतम के साथ मार्ग में विनोद करती हुई चली जाती है। नाट्य के प्रारंभ में करूण रस का उद्रेक है। जब बगुली विभिन्न नामों के लड़कों द्वारा पीटे जाने की बात करती है तो सभी को उसमें हार्दिक सहानुभूति उससे हो जाती है। ससुराल जाने की बात बहुत ही श्रृंगारिक भाव–भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत की जाती है। नाट्य का अंत दिदिया या श्रोताओं पर भारतीय नारी के गौरवपूर्ण चरित्र की अमिट छाप छोड़ता है।

(3) **जट–जटिन** : यह लोकनाट्य उत्तर बिहार के मिथिला एवं बज्जिका क्षेत्र में प्रचलित है। इस गीति–नाट्य का आयोजन का उद्देश्य प्रधानतः वर्षा के निर्मित होता है। यह एक आनुष्ठानिक नाट्य है जो इन्द्र की आराधना हेतु किया जाता है। इस नाट्य के अन्त में जट–जटिन द्वारा हल जोतने की परिपाटी है तथा ऐसा विश्वास है कि किसी मिट्टी के पात्र में मेढ़क रखकर उस व्यक्ति के घर में फेंकती हैं, जो गाली देने में विख्यात है तो वह व्यक्ति जितना गाली देगा उतना अधिक वर्षा होगी।

इस गीतिनाट्य में जट–जटिन दो दलों में बँट जाते हैं तथा एक महिला पुरुष–वेश में जट का अभिनय करती है और दूसरी जटिन के रूप में। इसके कथानक में दाम्पत्य जीवन के चित्र मिलते हैं। जटिन की फरमाइश पूरी करने के लिये जट नौकरी करने पूरब देश को चला जाता है। जटिन उसे ढूँढ़ती है, पर पा लेने पर रूठकर नैहर (मायका) चली जाती है। जट भी उसे ढूँढ़ने निकल पड़ता है। दोनों मिलते हैं और रूठने–मनाने का क्रम चलता है।

जटिन – टिकवा जब जब मंगलियइ रे जट्टा
टिकवा किये न आनले रे
अरे बारी समइया रे जट्टा
टिकवा किये न आनले रे।
जट – टिकवा जब–जब अनलियउ गे जट्टिन
टिकवा किये न पेन्हले रे
अरे बारी समइया गे जट्टिन
नैहर किये गमओले रे।[7]

इसी प्रकार सभी आभूषणों का नाम लेकर यह गीत गाया जाता है। इस गीत में दोनों के नोक–झोंक की पराकाष्ठा देखने को मिलती है।

निम्नलिखित गीत में जट–जटिन के प्रेम की श्रृंगारिक–भावना उच्च मापदण्ड से व्यक्त हुई है–

जट– जाइतह शहर कलकत्ता जे जटिन
खूबे कमयबऊ गे, गे जटिन खूब कमयबऊ गे
सारी चूनर कनफूल, कमरधन, कंगना ले आएबऊ गे।

जटिन– जाके सहर कलकत्ता हो जटा
हमरा भूलइह न हो जटा हमरा भूलइह न
लिखि–लिखि पतिया लिह खबरिया
जाके बिसरीह न कि आहो राम
हम्मरा बिसरीह न[8]

श्रृंगारिक भावनाओं से ओत–प्रोत स्नेह दोनों व्यक्त करते हैं तथा वहाँ क्या–क्या आशंकाएँ हो सकती हैं, उस पर जटिन शंका व्यक्त करती है और जट उसे समझाता है।

निष्कर्ष :

गीति–लोकनाट्य के माध्यम से महिलायें अपना मनोरंजन तो करती ही हैं। साथ ही समाज, परिवार की मंगल कामना भी। सामाजिक भावना के साथ मानवीय संवेदना को भी यह गीति–नाट्य स्थापित करता है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में इसे संरक्षित करने की आवश्यकता है ताकि मानवीय संवेदना, सामाजिक सम्बन्ध, सामूहिक भाव को बचाया जा सके।

संदर्भ सूची :

1. श्रीवास्तव, डॉ. उषा, बज्जिका लोक मरजाद के गीत, समीक्षा प्रकाशन, मुजफरपुर, प्रथम संस्करण–2022, पृ. 31.
2. वही, पृ. 31.
3. जैन, डॉ. शांति, बिहार के लोक–नृत्य, छायानट, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ, अंक–92, अक्टूबर–दिसम्बर, 2000, पृ. 73.
4. परम्परा से।
5. परम्परा से।
6. परम्परा से।
7. परम्परा से।
8. श्रीवास्तव, डॉ. उषा, बज्जिका लोक मरजाद के गीत, पृ. 29

Library : As a Preserver and Promoter of Cultural Heritage of India

Pramanna Gurung*

Abstract

India is well known throughout the world for its rich and rare cultural heritage. The cultural heritage reflects the country's history, traditions, culture, glory, prestige, identity, and while it is an irreplaceable source of pride. If the younger generation is not introduced to their own cultural and not aware of their cultural heritage in the future they might suffer cultural identity crisis. So it is very necessary to preserve and promote this cultural heritage for future generation. This paper aims to discover the initiative taken by libraries in preserving and promoting the Cultural Heritage of India. It also gives brief information about the Cultural Heritage of India.

Keywords : *Libraries, Preservation, Promotion, Cultural Heritage and India.*

Methodology*: The research methodology adopted for this study is descriptive and required information is collected from different primary and secondary sources like books, journals and internet sources.*

Introduction

Cultural heritage is the entire corpus of material sign – artistic or symbolic – pass through generation to generation, therefore, to all human kind (UNESCO, 1989). Cultural heritage preservation and promotion is an attempt consisting of safeguarding, developing and utilizing country's culture. One of the important functions of the library is to preserve and promote cultural heritage collection of a country. The collection ranges from books, manuscripts, maps, works of art and artifacts, literature, paintings and photos that reflects our society's history, culture and value. We can rely on libraries in order to collect, organize, present and disseminate cultural heritage of the country.

Cultural Heritage

The culture we inherit from our predecessors is called our Cultural Heritage. Every nation has its own cultural heritage. According to UNESCO, cultural heritage is defined as "the legacy of physical artifacts and intangible attributes of a group or society that are inherited from the past generations, maintained in the present and bestowed for the benefit of future generations". UNESCO divides cultural heritage into tangible and intangible. Tangible cultural heritage includes buildings, historic sites, monuments, landscape, archive materials, books, work of art and artifacts. While the intangible cultural heritage includes oral traditions, performing arts, rituals, festivals, folklore, social practices and wealth of knowledge and skill that is transmitted for one generation to next generation.

Indian Cultural Heritage

Talking about the Indian cultural heritage, it is not only one of the most ancient but it is also one of the most extensive and varied. The soul of cultural heritage of India lies in the fact that it's an all embracing confluence of religions, traditions, customs and beliefs. Over the years, numerous styles of art, architecture and customs have developed in India and this wide variety has made the Indian cultural unparallel to which the entire world still looks up to. The cultural heritage of India still flourishes maintaining its original features together along with changes, a key indicator of

*Librarian, Mirik College, Kawley, Ward No.6, Mirik,734214

its strength. The contribution of Baudhayana, Aryabhatta, Bhaskaracharya in the field of Mathematics, Astronomy and Astrology; Varamihir in the field of Physics; Nagarjuna in the field of Chemistry; Susruta and Chakra in the field of Medicines and Patanjali in the field of Yoga are profound treasure of Indian Cultural Heritage. Our Indian Cultural Heritage will bind us together e.g. Indian literature and scriptures namely Vedas, Upanishads, Gita and Yoga system etc. have contributed a lot by providing right knowledge, right action, behavior and practice as complementary to the development of civilization.

Objective Of The Study

1. To know about the Cultural Heritage of India.
2. To give an awareness about the initiatives taken by libraries in preserving and promoting Cultural Heritage of India through digitization.
3. To know why should public library preserve Cultural Heritage?

Review Of Literature

For the current study following articles and books were taken for the literature review and are arranged in a reversed chronological order.

Kanchi (2022) in his study states the preservation of Cultural Heritage of India through Open Access initiative and examines and evaluates the Indian initiatives in these respects by identifying their shortcomings, challenges before them and their potential. **Anna** (2017) discusses the role played by libraries in building and promoting the cultural heritage collection of Indonesia and gives recommendation for government, to empower information agency such as libraries to take part in cultural heritage preservation and promotion. He also talks about the Indonesian batik as one of the intangible cultural heritage that must be maintained in order not to extinct. **Stshwane and Oats (2015**) discuss and share ideas and initiatives of Kanye Public Library on culture collection, preservation and management. **Ekwelem, Okafor and Ukwoma (2011)** states the strategic role of the library and information science professional in South East Nigeria for preservation of Cultural Heritage and recommends the training of library staff, provision of infrastructure, adequate funding and good environmental conditions.

Why Sould Public Library Preserve Cultural Heritage?

Public Libraries are meant to inspire lifelong learning, advance knowledge, and strengthen our communities. If public libraries do not document cultural heritage it will be lost and this means the national identity is lost. Public libraries are to preserve culture in order to show support for the cultural identity of the community. As public libraries collect and document cultural artifacts they are helping their communities to archive their past to be used in the future. Public libraries must document cultural heritage so that researchers may access it as they conduct their studies. These studies are mostly imperative because they can be read by the future generation.

Initiatives Taken By Libraries In Preserving And Promoting Cultural Heritage Of India Trough Digitization

When often we talk about preservation of cultural heritage we think about museums, archeological department, history department but nobody talks about library. But in India, there are many libraries who have immensely taken initiative for the preservation and promotion of cultural heritage through digitization. As an example we can take the following libraries:

1. **National Virtual Library of India:**

The Ministry of Culture, Government of

India has decided to setup National Virtual Library of India. This is an important part of the larger vision of putting information of the entire Indian Culture Heritage in the digital web world. The aim of the National Virtual Library of India is to provide a platform for the digital preservation of diverse cultural artifacts and to create awareness and sense of collective ownership among citizens about their shared heritage. Under the ages of the National Mission on Libraries, National Virtual Library of India started a project named Indian Cultural Portal (ICP) (www.indiaculture.gov.in) on 10th December 2019. This portal serves as a platform that hosts data of cultural relevance from various repositories and institutions all over India. There are different features of portal that we can get access to -

a) Documentary and Textual Resources includes Rare Books, Research Papers, E-books, Reports and Proceedings and Gazetteers.

b) Art and Antiquities includes Paintings, Museum collections, Musical Instruments and UNESCO Heritage.

c) Archival Resources includes Archives and Manuscripts.

d) Library Records includes Library Records and Indian National Bibliography.

e) Visual Resources includes Images, Videos and Photo Archives.

f) Research Based Content includes Stories on Personalities, Historical Events, Performing Arts, Monuments and Cities and Cuisine like festive foods, royal foods, street foods etc.

The library has also developed the Mobile Application named Indian Culture, which is simple and secure with good search features and can be access from anytime and anywhere. Almost everything that we can see on a website can be seen on the mobile application.

FEATURES OF INDIAN CULTURAL PORTAL

http://www.youtube.com/nationallibraryofindia

2. Kalasampada: Digital Library: Resource of Indian Culture Heritage (DL-RICH)

Recognizing the need to preserve the distributed fragments of Indian art and culture, and to serve as major resource centre for arts, the Indhira Gandhi National Center for the Arts (IGNCA) in collaboration with Minister of Information and Communication Technology, initiated a project, Kalasampada (Digital Library: Resource of Indian Culture Heritage), for the development of databank of Cultural Heritage. Reckoned as the pioneering digital treasure of arts, Kalasampada received golden icon award for exemplary implementation of E-governance initiatives under best document, knowledge and case study category by the dept. of administrative reforms and Public Grievances, government of India. Kalasampada facilitates the users to access and view the materials including over couple of lacks of manuscripts, thousands of rare books, rare photographs, audio and video along with highly research publication of the IGNCA, from a single window. Multimedia computer technology has been used for the development of software package that integrates variety of

cultural information accessible at one place, This will provide the new dimension in the study of the Indian Art and Culture, in an integrated way, while giving due importance to each medium. It allows the users to interact and explore the cultural information in a nonlinear mode by combining audio, text, graphic animation and video.

The DL-Rich which was established in 1985 has rich collection of tribal art, folk arts and provides open access to cultural informatics through five of its regional centers namely

- Sutradhara
- Kalinidhi
- Kalakosha
- Janapadasampada and
- Kaladarshana.

Kalasampada in Hindi means artistic treasure and this repository is not only preserving but promoting and also providing open access to the cultural wealth of India.

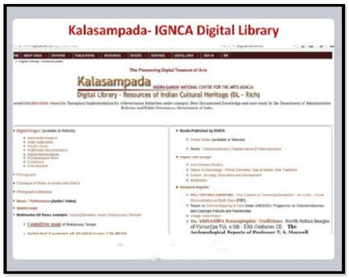

http://www.ignca.nic.in/dgt

3. Traditional Knowledge Digital Library (TKDL)

India has possessed a rich traditional knowledge to diagnose and treat various kinds of diseases since time immemorial. This knowledge was passed down from generation to generation either through archive literature or word of mouth. Recognizing the urgent need to preserve this rich cultural legacy and prevent attempts by unscrupulous elements claiming patents and rights on traditional Indian curative and remedial knowledge the TKDL was established by the government of India. The TKDL provides information on traditional knowledge existing in the country in languages and formats understandable to patents examiners at international patent office's (IPO's) so as to prevent the grant of wrong patents, thus acting as a bridge between traditional Indian medicinal knowledge existing in local languages and the patent examiners at IPO's. TKDL was setup in 2001 by Council of Scientific and Industrial Research (CSIR), department of Ayurveda, Yoga and Naturopathy, Unani, Siddha and Homeopathy (Dept of AYUSH) and Ministry of Health and Family Welfare, Govt. of India. It has transcribes over 34 million pages of traditional Indian formulations into five languages-English, German, French, Spanish and Japanese and makes them available in public domain (About TKDL, n.d.). The TKDL is a representative Database of 1200 Ayurvedic, Unani and Siddha formulations that provides access to 25 million medicinal formulations to patent offices through its access agreement. The medicinal formulations are selected from various classical texts of Indian medicine which make use of about 291 plant materials as ingredients, besides ingredients of animal or mineral origin. These formulations are used to treat 186 diseases. The TKDL is a searchable database containing 75 books on Ayurveda, 10 books on Unani, 50 books on Siddha and 15 books of Yoga systems totaling to about 150 books on various traditional systems of Indian medicine.

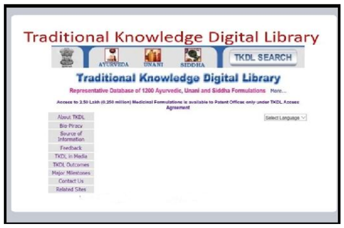

http://www.tkdl.res.in/tkdl/langdefult/commom/Home.asp

4. Muktabodha: Digital Library and Archiving Project

In 1997 Gurumayi Chidvilasananda inaugurated the Muktabodha Indological Research Institute (MIRI). It is dedicated to digitally preserve the philosophical and scriptural texts of classical India and make them freely accessible to scholars and seekers worldwide through the online Digital Libray. This Digital Library includes a growing archive of 3,000 Sanskrit texts, including several hundred searchable e-texts from the non-dual Saivite traditions of Kashmir, the paper transcripts of the French Institute of Pondicherry (IFP), the Vedic Manuscript Collections of Gokarna and other major streams of Trantric literature. To provide broader access to the wisdom contained within the texts, Muktabodha is supporting scholars to translate selected manuscripts from its Kashmiri Saivite collection into English, many of which have never been translated before. The texts available through the Muktabodha Digital Library constituted, for the last twenty years is one of the major resources for scholars of Saivism worldwide.

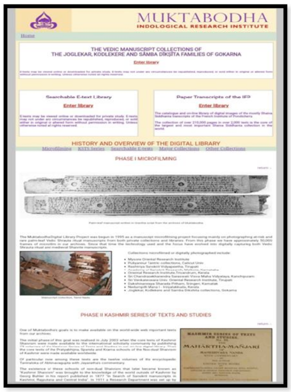

https://muktabodha.org/digital-library/

Conclusion

From the above study it is now clear that preservation and promotion of our cultural Heritage is very essential and Library has no fewer roles to play in this regard. It must be mention that, if due attention is not given for preservation of library material then there is every possibility that our cultural heritage may disappear one day. Therefore each librarian and each library needs to emphasized more and look at themselves as preserver and promoter of the cultural heritage of its own country. There is a need of thorough policy for preservation and promotion of Cultural Heritage in India an the Collaborative approach from the side of Government, Organization and Libraries is strongly recommended for this purpose.

References :

Anna, Nove E. Variant. (2017). The Role of Libraries in Building and Promoting the Cultural Heritage Collection. *International Journal of Information Studies and Libraries, 2(1),* 19-23. https://in.docworkspace.com/d/slC7outhLtv-7pwY?sa=e1&st=0t

Bakshi, Shamir I. (2016).Digitization and Digital Preservation of Cultural Heritage in India With special reference to IGNCA, New Delhi. *Asian Journal of Information Science and Technology, 6(2),* 1-7. https://in.docworkspace.com/d/sIP3L8aS8pw?sa=00&st=0t

Ekwelem, V.O., Okafor, V.N. and Ukwoma, S.C. (2011). Preservation of Cultural Heritage: The Strategic Role of the Library and Information Science Professionals in South East Nigeria. *Library Philosophy and Practice.*

Kanchi, Srinath Vijay. (2022). Preservation of Cultural Heritage of India through Open Access Initiatives. *International Journal of Library and Information Science, 11(1),* 91-96. https://doi.org/10.17605/OSF.IO/BZ8LX

National Library of India. (28.10.2018). Role of Library In Preserving Cultural Heritage of India : Indian Cultural Portal - A case study. http://www.youtube.com/@nationallibraruofindia

Sathapathy, Binod Bihari (n.d.). Characteristics of Indian Culture, Significance of Geography of Indian Culture (pp.3-26). *Indian Culture and Heritage.*

Stshwane, Connie Monica and Oats, Lillian (2015). Cultural Preservation through Public Libraries: Lessons from Kanye Public Library (pp.1-5). http://creativecommons.org/licenses/by/3.0/

Anna, Nove E. Variant in his paper entitled *The Role of Libraries in Building and Promoting the Cultural Heritage Collection(2017),*

Sankīrṇa Rāga Lakṣanā

Sharanya Sriram*

Abstract

Ṣuddha-Chāyalaga-Sankīrṇa system of classifying rāgas became prominent in the post Natyaṣastra period. This system of classification was first mentioned in Aumāpatam by Umāpati and many subsequent authors of treatises have attributed it to him. This system of classification could be considered as a technique of deriving new melodic scales and exploring new melodic possibilities in the ocean of Rāgas. This paper is an attempt to throw light on a manuscript Sankīrṇa Rāga Lakṣ anā (Asiatic society MSS1139) of unknown authorship. The work contains information on Sankīrṇa rāgas that prevailed in the medieval period.

Keywords : *Sankīrṇa, Raga, Manuscript*

Research Methodology *: The manuscript titled "Saṇkīrṇa Raga Lakṣanā" (MSS 1139) of Asiatic Society, Calcutta, a copy of which is available on musicresearchlibrary.net has been taken up for this study. As the manuscript titled Saṇkīrnā Rāga Lakṣanā bears information on some of the Saṇkīrnā Rāgas and has not been published so far, it has been edited for scribal errors and exclusively translated for this study. The methodology adopted here is qualitative and study is exploratory and analytical. Some of the findings have been summarised below.*

Introduction

Rāga classification system based on the similarity of notes used or similarity of aesthetic appeal has certainly stood the test of time. Classification of rāgas can be studied under three different periods viz ancient, medieval and modern period which refers to the Trinity[1] period. Ṣuddha-Chayalaga-Sankīrn)a system of classifying rāgas has been mentioned in the Aumāpatam of Umāpati and all subsequent authors have attributed this classification to him. Umāpati's work is available and this classification is found in the eleventh chapter of his work. The date of this work could be attributed to a period preceding Kallinatha. The work has also been referred to by Somanatha in Rāga Vibodha.

Ṣuddha rāgas are rāgas which have their own melodic identity and conform to prescribed rules. A chāyālagā or sālanka or sālagarāga combined in itself the characteristics or shades of another rāga.A Sankīrṇa, Sankrama or Miṣra rāga can be defined as a mixed rāga which takes traces or elements of more than one rāga. It can be considered as a complex amalgam of rāgas. This system of classification is still popular in Hindustani music while Karnatak music has developed the Janaka Janya system of classification.

A few rāgas in Karnatak music such as Ghantā, Āhiri, Dwijāvanti can be considered as Sankīrṇa Rāgas as the characteristics of such rāgas can be understood through a set of phrases which act as building blocks of the raga. Though the classification dates back to the times of Aumapatam, a list of names of some Sankīrṇa rāgas so far is available to us from few works such as Kohalarahasya, where Kohala mentions about 49 Sankīrṇa rāgas.

There is also an instance of mention of Ṣuddha-Salamka-Sandhi rāgas found in a work Natyalochana (dated around 800-1000 A.D).

*Research Scholar, Deptt. of Performing Arts, Jain University, Bangalore

O.C.Gangoly in his book mentions that Sandhi rāgas might be equivalent to Sankīrṇa rāgas with doubt. Therefore the current work – Sankīrṇa Rāga Lakṣanā, a standalone work on Sankīrṇa rāgas might help us understand the names of Sankīrṇa rāgas of medieval times and also help us establish some missing links in the evolution of rāgas.

Manuscript Summary

The manuscript appears to be incomplete as some information seems to be missing and discontinuous. There is no information on the author in any of the verses. The ending verse reads the year as Samvat 1798 and the second day of Krishna Paksha in the Ashvina month, which corresponds to the year 1714 A.D. The work is mentioned by Bhavabatta in his works Anūpa Saṇgīta Vilāsā and Anupa Saṇgīta Ratnākara.

This proves that the Saṇkīrṇa Rāga Lakṣanā precedes the times of Bhavabatta, who has been attributed a period of end of seventeenth century and beginning of eighteenth century (Raghavan, 1932).

The work has been referred as Saṇkīrṇa Rāga Adhyaya by Bhavabatta in his work- Anūpa Saṇgīta Ratnakara while he describes Rāga Adana and Kamodh and also gives the verse which matches the description in Saṇkīrṇa Rāga Lakṣanā manuscript. The verses are depicted below in Img 1 and Img 2.

Img 1: Description for Raga Kamodha in the manuscript

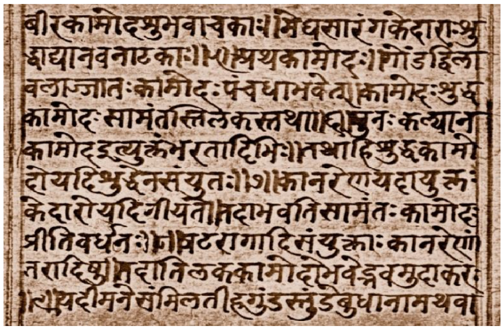
बीरकामोदशुभवाचकाः मिघसारंगकेदाराःशु
द्धायानवनाटकाः ॥ अथकामोदः ॥ गौंडहिला
वलाज्जातःकामोदःपंचधाभवेत् ॥ कामोदःशुद्ध
कामोदःसामंतस्तिलकस्तथा ॥ पुनःकल्याण
कामोदइत्युक्तंभरतादिभिः ॥ यदिशुद्धकामो
दोयदिशुद्धेनसंयुतः ॥ कानरेणयदायुक्तः
केदारोयदिगीयते ॥ तदाभवतिसामंतःकामोदः
प्रीतिवर्धनः ॥ अथटरागादिसंयुक्तःकानरेणा
तरादिषु ॥ तदातिलककामोदोभवेद्ध्वमुदाकरः
॥ यदिमनेसमिलतीहगुंडस्तुडबुधानामथवा

Img 2: Description for Rāga Kamodha in Anūpa Saṇgīta Rathanakara

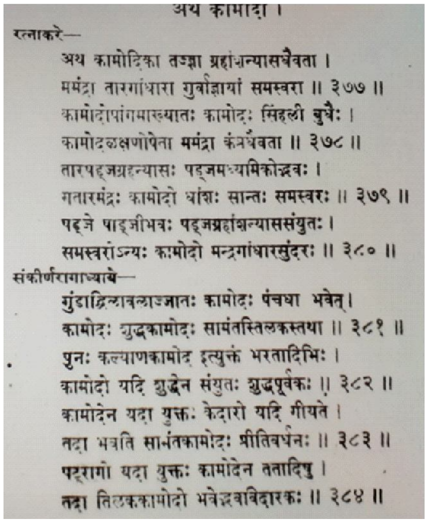
अथ कामोदः ।

रत्नाकरे—

अथ कामोदिका तज्ज्ञा ग्रहांशन्यासधैवता ।
ममंद्रा तारगांधारा गुर्वोज्ञायां समस्वरा ॥ ३७७ ॥
कामोदोपांगमाख्यातः कामोदः सिंहली बुधैः ।
कामोदलक्षणोपेता ममंद्रा कंप्रधैवता ॥ ३७८ ॥
तारषड्जग्रहन्यासः षड्जमध्यमिकोद्भवः ।
गतारमंद्रः कामोदो धांशः सान्तः समस्वरः ॥ ३७९ ॥
षड्जे षाड्जीभवः षड्जग्रहांशन्याससंयुतः ।
समस्वरोऽन्यः कामोदो मन्द्रगांधारसुंदरः ॥ ३८० ॥

संकीर्णरागाध्याये—

गुंडाद्धिल्लावल्लाज्जातः कामोदः पंचधा भवेत् ।
कामोदः शुद्धकामोदः सामंतस्तिलकस्तथा ॥ ३८१ ॥
पुनः कल्याणकामोद इत्युक्तं भरतादिभिः ।
कामोदो यदि शुद्धेन संयुतः शुद्धपूर्वकः ॥ ३८२ ॥
कामोदेन यदा युक्तः केदारो यदि गीयते ।
तदा भवति सामंतकामोदः प्रीतिवर्धनः ॥ ३८३ ॥
षट्रागो यदा युक्तः कामोदेन ततादिषु ।
तदा तिलककामोदो भवेद्द्रवविदारकः ॥ ३८४ ॥

Bhavabatta had authored three works on music namely Anūpa Saṇgīta Vilāsa, Anūpa Saṇgīta Ratnakara and Anūpa Saṇgīta Ankusa and they had references to Saṇkīrṇa Rāgadhyaya and two other known works of King Hridaya Narayana namely the Hrudayakautuka and Hrudaya Prākasha. Both his works are very short and deal with Rāgas only and are available in print. His works are attributed a period of around 1667 A.D (Raghavan, 1932). Bhavabatta also makes a mention of his father Sangita Raya Janardhana Bhatta who was a court musician of the Mughal emperor Shah Jehan in his Anūpa Saṇgīta Vilasa.

The work Saṇkīrṇa Rāga Lakṣanā is set in Anushtup metre, and Bhavabatta was known to have held the title of Anushtup Chakravarti i.e master of Anushtup metre (Raghavan, 1932). Considering the above points, the work Saṇkīrṇa Rāga Lakṣanā consisting of around 66 verses and information on Rāgas could have been authored by King Hridaya Narayana as his works predominantly dealt with Rāgas and were very short and the metre used in his work Hridaya Prakasha is also Anushtup.

Contents of the Manuscript

The work starts with a colophon on Lord Ganesha and goes on to describe Nada and svaras. The author describes Nada as sound that cannot be manifested and svara as a sound that can be manifested. There is a description of seven svaras in three octaves- lower, middle and higher. When employed according to context, it becomes a Rāga which is so called because it entertains people.

The author writes that the knowledge of Ṣuddha and Saranga[2] is a prerequisite and goes on to describe Saṇkīrṇa Rāgas. There is no definition mentioned for any of the types of Rāgas which make us speculate that the manuscript has some missing information or it is a continuation of some other work. First, the types of Nata Rāga are given namely -Kānarā, Āhira, Hambirā, Kāmoda, Shubhavachaka, Mēgha, Sāranga, Kēdara, Ṣuddhā are the nine Nata Rāgas .

The Five types of Kāmoda which is born from Gōndadvila are mentioned next namely Kāmoda, Ṣuddha Kāmoda, Tilaka Kāmoda, Samantha Kāmoda, Kalyana Kāmoda; Kalyana Kāmoda is also quoted by Bharata. The subsequent verses give the names of different combinations of Rāgas which will yield another Rāga. Some Rāgas which are obtained as a combination of few Rāgas are again mixed with other Rāgas to form new Rāgas.

By carefully looking at the verses, we could understand that the manuscript is intended to focus on obtain new melodies by combining existing melodies. The svaras, phrases or singing times have not been mentioned in the work. It seems to be a collation of names of different melodies that existed during that time and the work seems to have drawn inferences from Rāgamāla which can be understood from one of the verses, as depicted below.

||Sa cha Shuddhādhi bedhēna
Bhairavādhiranekadha

Tadhāshrithāchashraye Ragāgneyasthē
Rāgamālāya ||

Again, there are two works with the same name -Rāgamāla by Meṣakarṇa and Rāgamāla by Puṇdarika Vitalā. But it was Puṇdarika Viṭalā who mentions about Saṇkirṇa Rāgas and gives the Rāga –Rāgini classification based on that. The combination of Rāgas and the Saṇkirṇa Rāgas resulting from them has been mentioned in the below table. The work ends with a colophon reading "Ithi Saṇkirṇa Rāga Lakṣanām".

Constituent Raga	**Resulting Saṇkīrna Rāga**
Guṛjari + Asāvari	Guṇakri
Shiva Rāga + Danaṣri	Kumbharī
Mallāri+ Ṣuddha+ Mālāsri	Madhumadhi
Naṭyanarayaṇa+ Shankarabharaṇa+ Jayashree+ Ṣuddha	Saraswathi
Malava+ Achala+ Rudranee+Chaitree+ Gowri+Dhanasri	Ūruhamsā
Dhavala + Kanara	Pūrvika / Malakāshtaka
kedara+ Shailashailaja	Lankādahanam
Gunakari, Ramakari, Gandhari, Shyama, Gujjari,	Shakti Vallabha
Vilavala + Kedara	Shankarabarana

Sindhula+ Asavari+Gaula+ Devagiri+Bhairava	Gāndhara
Dhanasri + Kaanara	Vāgeeshwara
Purvika+ Shyama+Gowri	Phirodhā
Vangapalā + Vibhās	Varali
Mallāra+ Kānara	Adāna
Phirodhā+Kānara	Sahāna
Marudhavala+ Dhanashri+ Kumbhari	Patmanjari
Ṣuddhā+Mallāra+Kānara+ṣankarābharana	Deshakā
Bilāvala+ Gōnda+ Sāranga	Velāvali
Saurashtra+Kauravi	Kāmodhi
Maru+ Ṣuddha +Jayashri	Ghantarava
Devagiri+Gauri+Purvika	Pauravati
Dhanashree+Ṣuddha+Purvika	Bhimplāsika
Dhanashree + Ṣuddha Mallara	Khambhavati
VadRāga+Asavari + Deshi	Andhāvari
Deshikara +Gauri + Tryambakarika	Varāli
Deshikara +Jayashri	Lilāvati
Trivana +Talavacana +Gauri	Jayamanohari
Suddha + Kedara	Hambira
Sri +Kaanara +Bhairava	SadaRāga
Gujjari +Kalyana + Deshikara	Abhiri
Mallara+ Kedara +Subhaga	Nagadhvani
Sorati + Shankarabharana + Adana	Rabhasamangala
Kumbhari, Purvika and Todi	Narayani
Marwa + SriRāga	Rajahamsa
Malashree+ Ṣuddha+ Sri Rāga+ Tanka + Bhimapalasika	Ajani
Todi/ShadRāga /Deshi/Hamsi/ Dhavala/Gondi when combined with Purva, Saranga and Ṣuddha	Devagiri
Kalyana/Kānadā combined with Bihag	Kolahala
Malashree /Harabhushana combine with Sri	SriRamana
Devagiri+Purva+ Kedara +Bilavala	Kakubha

combination of Purva, Shankarabharana, Kedara, Vilavala and Kakubha	Sharmakara
Shyama and Ramakari are sung with Avahalagujjari	Mangalagujjari
Dēshikara, Lalitā, and Gauri	Trivana
Natyanarayani, Adana, Kānada, and Vilavala	Karayikalavadini
Vagishvari combines with Purvika and Madhumadhi	Suddhanata
Badahamsā+Tanka +Gouri	Sri
Ṣankarābharana, Madhumādhi and Vilāvala.	Natyanarayana
Līlavati, Lalitapaṇcama and Pūrvika combine with Bhairava	Hindola
Kōkilapriya is combined with Kalyāna and Kamoda	Megha
Devagiri+Nata+ Mallara+Saranga+ Vilavala	Kokilapriya
Hindola, Suddha, Purvika, and Bhairava	Triratna
Sarvabharana, Kedara, Sharada, and Madhumadhi	Malasree
Vagishvari, Kanara, Hira, Nata, Kedara, Ṣuddha, Madhumadhi+ Subhashi	Kadambanata
Deshikara, Vangala, Ramakari, and Gujjari	Vali Gujjari
Shorati and Lankadahana along with Velavala	Sankramana

Conclusion :

This manuscript provides valuable information on names of Sankīrṇa rāgas of the pre-trinity period. Its authorship is unknown but its reference can be found in works like Anūpa Saṇgita Vilāsa and Anūpa Saṇgita Ratnākara of Bhavabatta, whose works date back to end of seventeenth and early eighteenth centuries. This work could help us ascertain the missing link in evolution of few rāgas in both Karnatak and Hindustani music.

References :

Sankīrṇa rāgas Lakṣana – Unknown Author – a manuscript of Asiatic society Library, Calcutta – copy available on Musicresearchlibrary.net

Later Sangita Literature, Dr.V. Raghavan, Journal Of Madras Music Academy, Volume IV , 1932

Kohalarahasyam, an unpublished thesis submitted to Madras University by Girija Shankar.

Rāgas & Raginis, O.Gangoly,1948, Nalanda Publications – Bombay, www.ibiblio.org

Sambamoorthy.P (Prof.), 2008, *South Indian Music*, Book III, The Indian Music Publishing House, Chennai.

Ṣuddha-Chāyālāga-Sankīrṇa Rāgas, research paper by Dr.V.Premalatha, www.musicreserachlibrary.net

The Story of Indian music; its growth and synthesis, Gosvami.O, 1961, www.archive.org

(Footnotes)

1. The Karnatak music composers Tyagaraja, Mutthuswamy Dikshitar and Syama Shastry were collectively known as Trinity who greatly enriched the Karnatak repertoire.
2. **The word Saranga itself means mixed or variegated and has been employed by many early authors of treatises. Sankīrṇa, Saranga or sankara Raga all meant the same mixed melody. (Gosvami, 1961).**

Comparative study of types of heroines in separation in the Bandish-es of Hindustani music: with reference to Ashtanayika-s

Dr. Swapnil Chandrakant Chaphekar*

Abstract

Hindustani vocal music uses various themes for the compositions like Mahakavya-s, Bhakti, philosophy, Nayika-bheda etc. which adds a dimension of poetic beauty to the Raga music. Ashtanayika is one of such prominent themes widely used to compose the Bandish-es. These Nayika-s depict various situations of the heroine in relation with her beloved. The theme is beautifully expressed through Bandish-es and generations of music connoisseurs have enjoyed the emotions they express.

It is seen that the emotion of separation is shared by some of these eight Nayika-s. Then what is it that separates them from each other? Are there different shades or intensity of same emotions? Such triggering questions lead us to conduct the comparative study of these Nayika-s. In the present research paper, the depiction of Virahotkanthita, Proshitapriya and Vipralabdha Nayika-s are analyzed to show how they and their emotions differ from each other. This research also attracts the attention of composers, vocalists and connoisseurs towards the poetic beauty of the Bandish-es; which is often neglected in classical music.

Keywords : *Nayika, Ashtanayika, Bandish, Hindustani, Music, Raga*

Research Methodology : *The major part of this research paper is developed using the textual analysis method. This paper required desk research method which included studying major texts in Sanskrit to analyze Ashtanayika and referring Bandish collection books. In the present work, the primary source text for Nayika-s, Bharata's 'Natyasastra' is taken as the standard for understanding each Nayika. Also, Acharya Kesavadasa's treatise 'Rasikpriya' is used as a medieval reference for the same. Around 3000 Bandish-es were examined ranging from the Sadarang-Adarang to contemporary Vaggeyakar-s to find various shades of the Nayika-s. A comparative analysis of the Nayika-s in separation is then carried out based on the findings.*

1. Nayika: The word 'Nayika' in Sanskrit is synonymous with the word 'heroine' in English, which also includes a woman of merit. But since the heroine in Sanskrit literature and plays is mainly in a romantic role, writers like Bharata have used the word Nayika in the sense of 'female lover'. The heroines in Hindustani music Bandish-es use this very meaning.

2. Ashtanayika: Bharata and later authors have distinguished the heroines in terms of eight different situations or states - known as Avastha - that come in the relationship with her hero or Nayaka. The heroines depicting these eight states are collectively called as Ashtanayika. The eight Nayika-s are Swadhinpatika, Vasakasajja, Khandita, Kalahantarita, Virahotkanthita, Vipralabdha, Proshitapatika, and Abhisarika.

3. Bandish: The term is usually used to refer to basic compositions a vocalist employs to launch musical improvisations / elaborations. However, the word composition would only be a loose translation of the term Bandish. Every single musical composition is not accorded status of a Bandish. A Bandish is a composition, which, due to its inherent completeness, can claim to be a map of a full musical growth,

*Assistant Professor, Department of Music and Fine Arts, Central University of Karnataka, Kalaburagi, Karnataka

comparable to a seed carrying within the complete potential of a full form.

4. **Hindustani Music**: Hindustani music is the classical music of northern regions of the Indian subcontinent. It may also be called North Indian classical music or Hindustani Shastriya Sangeet. Its origins date from the medieval period, when it diverged from Carnatic music, the classical tradition of southern regions of the Indian subcontinent.

5. **Raga**: Raga is a creative, improvisation oriented and entertaining structure of Swar (notes) and Shritis. A Raga has definite characteristics like notes, phrases, ascend-descend, Vadi, Samvadi, Pradhan Ang etc. The format of improvisation of a Raga is bound by traditions to ensure the creation of beauty and bliss.

Study Area

The focus area of this research work is interpretation of Hindustani music compositions with reference to the concept of Ashtanayikas. The interpretation is from the literary as well as musical aspect. The 'heroine in separation' is one of the most important themes portrayed in the Hindustani classical Bandish-es. When analyzed closely, the different shades of the separation start to reveal. They connect the listener to Nayika-s and the music used in the composition justifies the lyrical meaning. The study area is to analyze this connection between the poetry and music to convey a particular emotion.

Discussion

The concept of Ashtanayika has been used as a theme in Indian painting, literature, sculpture, classical music as archetypal states of the romantic heroine. Legendary vocalist and Vaggeyakar Pt. Ramakrishnabua Vaze mentions in his book 'Sangeet Kala Prakash' that to compose a Bandish, we must have one of the eight Nayika-s in it. This triggers a researcher's mind who starts to search the inclusion of this Ashtanayika theme in the compositions of Hindustani music. The present study is in the same direction, where a particular emotion is analyzed in the perspective of Ashtanayika theme.

Natyashastra by Bharata is the first text which mentions the eight Nayika-s and gives their description. Many poets and writers in medieval period and later followed the theme and used it in their creations with slight variations. This research paper also takes Rasikapriya by Keshavadasa, who has elaborated upon the same theme. First of all, let us know about all the Nayika-s from the Ashtanayika theme. It can be noted that these is no particular sequence for them and various texts have used their names with slight variations.

1. **Swadhinapatika or Swadhinabhartrika:** Swadhinapatika is a heroine who enjoys that her hero is close to her and she is having full control over him.

2. **Vasakasajja:** Vasakasajja is the heroine who beautifies herself and prepares to welcome the hero as he is about to arrive or has already arrived at her home.

3. **Khandita**: Khandita is a heartbroken heroine whose pride of belonging to her lover is broken due to certain circumstances or events, mostly due to the feeling of betrayal.

4. **Kalahantarita or Abhisandhita:** A heroine whose lover does not come to meet her due to jealousy or differences is Kalahantarita. Some treatises describe her as the one who is separated from her beloved due to quarrel.

5. **Virahotkanthita or Utka:** Virhotkanthita is the heroine who is not reunited with her lover (Viraha), longs for union (Utkanthita) and waits for her lover.

6. **Vipralabdha:** Vipralabdha is the heroine who is upset when her lover doesn't show up despite her reaching at the meeting place as per her lover's message.

7. **Proshitapatika, Proshitpriya or Proshitabhartrika:** Proshitapatika is a heroine whose lover lives abroad or far away since a very long period.

8. **Abhisarika:** Abhisarika is the heroine who, unable to bear the separation of her lover, sets out herself to meet him.

It is clear that most of the Nayika-s have some shade of separation in them, except for Swadhinapatika. Vasakasajja Nayika is preparing to welcome the Nayak. Currently he is not with her, but the union is expected soon, that is why this separation takes a back seat as compared to excitement and enthusiasm of having him there at any moment. When a Nayika is Khandita, the feeling of anger and exasperation is more powerful than the separation. In case of Kalahantarita, the sorrow and regret is more prominent. Abhisarika herself goes to meet the Nayak. In spite of uncertainty, the separation is going to end. She is depicted as fearless and bold more often, than the lady in separation. But in case of Virahotkanthita, Proshitapriya and Vipralabdha, the feeling of separation is the most prominent one. Then what makes them different from each other? Is there any similarity between them? While answering such questions, this research paper will focus on comparative analysis of these three Nayika-s.

First, it is important to see how there Nayika-s are described in the Hindustani music compositions. Following are some examples and shades of such Bandish-es which represent the said Nayika-s.

<u>Virahotkanthita Nayika</u>

The Natyashastra describes this Nayika as follows:

Anekakāryavyāsangādyasyā nāgacchati priyah|
Tadanāgataduhkhārtā virahotkanthitā tu sā ||[1]

Keshavadasa, in his text Rasikapriya calls her Utka with following description:

Kaunahu heta na âiyo, prītama jāke dhāma|
Tâkom socati soci hiya, kesava utkā bāma||[2]

As said in these legendary texts, the word Virahotkanthita has two parts in it. Viraha+Utkanthita. Which means there is a separation, but there is eagerness and desperation to meet the Nayak. These two shades of the same Nayika are seen very well caught in Hindustani music Bandish-es. For example, see the Bandish in Raga Jog, set to Madhya Laya Ektaal, composed by Ustad Vilayat Hussain Khan:

Gharī pala china kachu nā suhāya, āja morâ tarapa tarapa jiyarā nikaso jāta hai|

'Prānapiyā' morā mana hara lino, bahuta dukha dino, birahā agana aba nahīm saho jāta hai||

The text aptly describes the desperation of the Nayika. She cannot withstand the separation even for a second, she feels as if she is burning in the fire of this separation, which might take her life. The intense 'Viraha' bhava is thus captured in the lyrics and the tune justifies the emotion. The next Bandish is focussing the second half of that word, i.e. Utkanthita:

Begī āo, darasa dikhāo, tuma bina lāge nā jiyarā morā piyā|

Āsa rakhata hūm, tuma bina lāge nā jiyarā morā, dera bhaī aba to āvo piyā||[3]

This composition of Dr Ashwini Bhide-Deshpande perfectly captures the eagerness of the Nayika to meet her beloved. She is pleading to him to come as early as possible as she cannot endure his absence any more. Both of the shades in that word are shown profoundly in the following Bandish in Raga Bahar, set to Madhya

Laya Teentaal:

Kaisī nikasī cāndanī, úarada rāta madamāta vikala bhaî piyu piyu merata bhāminī|

China āngana china jāta bhavana mem china baithata china bārihum daurata, kala nā parata taraphata birahākula, camakata jo dukhabhāminī||[4]

The Raga is a seasonal one. Obviously, the joy and ambience the season creates is making it more difficult for Nayika, who is alone. Again and again she is going to her windows, doors to see whether he has come. This is a perfect depiction of Virahotkanthita Nayika. The tune in the notes of Bahar makes it even more impactful.

Proshitapriya Nayika

The Proshitapriya Nayika comes in Natyashastra with the following description:

Nānākāryāni sandhāya yasyā vai procitah priyah|
Sā rūd hālakakesāntā bhavet prositabhartrkā||[5]

Keshavadasa, however takes a different take and describes her as:

Jāko prītama dai avadhi, gayo kaunahū kāja|
Tākom procitapreyasī, kahi baranata kabirāja||[6]

However, the Bharata's Proshitapriya is more popular in literature as well as music compositions. She is not ready to let her beloved go to the foreign land. She is requesting him not to go as this Bandish says:

Mâno jī more saimyā nā jaiyo paradesa, binatī
karata hūm paimyā parata hūm
'rasa' tuma bina kachu nā suhāve|
Paradesa jāta patiyā nā bhejata,
ye dukha aba moso saho hī na jāta||

The Nayika in the above Bandish is currently not in separation, but a very long period of separation is in front of her eyes and she is trying to avoid it. Pt. Babanrao Haldankar has thoughtfully composed it in the Raga Komal Rishabh Asavari, to suit the emotion. This is considered as a first stage of Proshitapriya. The next stage can be seen in this very popular Bandish in Raga Yaman:

E rī ālī piyā bina, sakhī kala nā
parata mohe gharī pala china dina|
Jabase piyā paradesa gavana kino,
ratiyām katata morī tāre gina gina||

The Nayak has gone to foreign land which makes the Nayika sleepless, who counts the stars in the night, to deviate her own mind from his thoughts. This is a central theme of Proshitapriya which is widely used in the Hindustani music compositions. The 'Karuna' Rasa Ragas are preferred for such compositions. One more interesting stage of this Nayika is seen, where she asks the prophesier to hell her when he will be back; as depicted in the following well-known Bandish in Raga Devgiri Bilawal:

Dina gina de more bamanā āja kāle paraso re|
Pothī bācyo motī vārūm dacchinā dilāūm
donom kara re||

Vipralabdha Nayika

The word Vipralambha or Viprayoga means separation.[7] The classical literature mentions the two types of Shringara (romance) as Sanyog Shringara (romance in union) and Viyog Shringara (romance in separation). The Viyog Shringara is also known as Vipralambh Shringara. The same concept is used while naming this Nayika. See her description in Natyashastra:

Yasyai dūtīm priyah presya datvā sanketameva vā|
Nāgatah kāraneneha vipralabdhā tu sā bhavet||[8]

The Rasikapriya also describes her in a similar way:

Dūtī som sanketa kahi laina pathāī āpa|
Labdhabipra so jāniye, anaāe santāpa||[9]

The Hindustani music Bandish-es have scarcely used this Nayika as per this study. Very few compositions are found, including the following one in Raga Bairagi, which is used in Kathak dance to portray this Nayika:

Nehā lagāīm bairana maim tumase, aise
nithura kadarana nahīn jānī|
Jhūthī prīta jhūthī bata batiyā vacana dilāe
aura nahīm āye||[1]**

A perfect depiction of Vipralabdha is found in the following Bandish; where she says that the Nayak (Kanha in this case) has deceived me. He sent a message to come to a certain meeting place. I went there and he never turned up. This Bandish is set to Ektaal in Raga Nand, which helps to intensify the emotion.

Sanketa jhūthā, jhūthe kanhāī|
Patiyā pathāī, milana bulāī, 'prīta' na āye,
mohe phasāī||[10]

Comparative study

In the above section, it is clearly seen how these three Nayika-s have been incorporated in the compositions. Though all three of them share the same emotion of separation, their states are different due to their situations. This section compares these Nayika-s with the help of some important aspects.

Duration of separation

The Vipralabdha was there at the meeting place where the Nayak did not come; means she is in separation for a very short time. In case of Virahotkanthita this time is more, as she is not sure whether he is even coming or not. But this period is comparatively huge in case of Proshitapriya; as her beloved has gone to foreign land since many days or may be years. The intensity of the separation can be determined when we know the duration.

1 ** Acknowledgment: The Bandish is received from the collection of renowned Kathak dancer Shri Chetan Saraiya

Hope of union

In case of Vipralabdha, it is possible that the Nayak has been busy with some other unavoidable work and will return to her once he is free. Virahotkanthita has a hope that sooner or later he will come to meet her; may be in a day or two. But, in case of Proshitapriya, it is very difficult to guess when he will come. There is also a fear in her mind that he might find some other lover in the foreign land (most commonly termed as Sautan in Bandishes). In such a case, the hope of union is very much dim and uncertain.

Selection of Raga

It is clearly seen that when the Rasa of the Raga suits the lyrics, it helps to enhance the emotion of the poetry. While considering the above three Nayika-s who are in separation, the Vaggeyakar-s have selected the Ragas keeping this in mind. The sorrow and Karuna Rasa is well captured in the Ragas with Vikrut Swara-s such as Komal Rishabh Asavari, Marava, Jog, Bahar and Bairagi as seen in the Bandish examples used above. As an exception, one Bandish of Proshitapriya is in Yaman, which is considered as a pleasant Raga. But when analyzed the tune of this particular composition, it can be seen that the Teevra Madhyam is used prominently, which enhances the mood of the separation.

Selection of Laya

Most of the Bandish-es above are in Madhya Laya. The tempo of the compositions helps to enhance the emotion. Vilambit and Madhya Laya is suitable to depict the moods of these Nayika-s in separation.

Selection of Tala

The selection of Tala has least impact over the emotion of the composition. Still, when the emotions are expected to be rendered through Raga music, the suitable Taal-s like

Teentaal and Ektaal create the scope for the appropriate expression. Use of semi-classical music or light music Taal-s like Dadara, Keherava, Deepchandi might not have created the same impact.

Thus, we can see that though sharing the same emotion of separation, the three Nayika-s Virahotkanthita, Proshitapriya and Vipralabdha have their own unique situation and that is how they differ from each-other. Their depiction in the Hindustani music Bandish-es differs in similar way.

Conclusion

The comparative study of heroines in separation as depicted in the Bandish-es of Hindustani music makes one think about possibility of numerous shades of the feeling of separation. Very few of them are captured in the concept of Ashtanayika and so they resemble in the creations based on this theme. It is clear that the lyrics or poetry used to portray these Nayika-s is the one who guides the audience to the emotion. This underlines the importance of lyrics in classical music. Secondly, the selection of Raga plays the important role. A suitable Raga increases the intensity of the emotion. Similarly Laya and Taal contribute to the overall Rasa created by the Bandish-es.

References :

1. Mishra, B. (1996), Natyashastra Ka Paribhashik Sandarbhakosh, p. 97 (Verse 22.214)
   ISBN 81-7220-081-1
2. Prakashan Vibhag, Soochana Aur Prasaran Mantralaya, Bharat Sarkar (1994), Acharya Keshavada Krit Rasikapriya, p. 103, (Verse 7.7)
   ISBN 81-230-0053-7
3. Bhide-Deshpande, A. (2005), Raga Rachananjali Part 1, p. 55. ISBN 81-7434-296-6
4. Bhatkhande, V. N., (Ed. 1997), Hindustani Sangeet Paddhati – Kramik Pustak Malika Part 4, Sangeet Karyalay Hathras Prakashan, U.P., p. 612
5. Mishra, B. (1996), Natyashastra Ka Paribhashik Sandarbhakosh, p. 97 (Verse 22.219)
   ISBN 81-7220-081-1
6. Prakashan Vibhag, Soochana Aur Prasaran Mantralaya, Bharat Sarkar (1994), Acharya Keshavada Krit Rasikapriya, p. 104, (Verse 7.19) ISBN 81-230-0053-7
7. Shyamsundardas, B. S., (1928), Hindi Shabdasagar, Nagari Pracharini Sabha, New Delhi, p. 4503
8. Mishra, B. (1996), Natyashastra Ka Paribhashik Sandarbhakosh, p. 98 (Verse 22.218)
   ISBN 81-7220-081-1
9. Prakashan Vibhag, Soochana Aur Prasaran Mantralaya, Bharat Sarkar (1994) Acharya Keshavada Krit Rasikapriya, p. 104 (Verse 7.22) ISBN 81-230-0053-7
10. Chaphekar, S., (2023), Ragakavya, Satyam Publication House, New Delhi, p. 161
    ISBN 978-93-91993-82-5

In Search of Ingenuity and Freshness: A Brief Study of The Excerpts from Jean Dubuffet's "In honor of savage values"[1]

Somaditya Datta*

Abstract

The study focuses on the text "In honor of savage values" by the French artist and writer, Jean Dubuffet, translated and edited by Kent Minturn. The study tries to get the understanding behind Dubuffet's writing and definition of art brut and its essential character, his claim, and assertions over time with observation and inference in delineating a contour where it differs and deviates from the trends of both cultural art and the practices by insane, spiritualists, or mediums of the time. In doing so the study has taken up a few excerpts and focused on what constituted Dubuffet's search of the elemental, his calling of the untrained individuals as "author" and identifying them without names, dates, and histories (Minturn, p. 255) while emphasizing special interest in their works beyond the aesthetics of art yet retaining their pathological significance. Analytical, textual, and referential, the study is qualitative in nature. The claim of pure untrammeled experience of a section of individuals as projected by Dubuffet is at several intersections interpreted and speculated to individual experience and moments yet tied and affected by culture and social existence as mentioned by Malraux, Levi-Strauss, and others in the study.

Keywords: *art brut, savage, pathological, outsider art, untrained, insane, other*

Methodology : *The present paper is based on data gathered from secondary sources*

Introduction

Is there any individual or collective standing at the precipice of culture/civilization capable of experiencing and expressing beyond? Are there any who is untouched by dominant Eurocentric aesthetic trends and forms of expression and styles across nations and continents or anyone before it, unscathed by cultural contact with other forms of expression and technique? Are thereany untrained minds that exist among the demographic reality efficient and able, to remain unrestricted among all? The study touches upon practice and view, however selective and few, of Jean Dubuffet's text that almost brought a huge shift in the reception of art and its nature while blurring the lines between trained and untrained, coherent and incoherent, communal and dispersive while problematizing the terms along the way. It is here that Dubuffet makes a significant entry with a projection in search of the unknown, partially eroticizing[2] the real- the "other"[3], beyond the ethnocentric cultural legitimacy and their discursive categories and slipping it into the terrain of a psycho-somatic existence that seems to be unbothered but not outside the clutches of civilizing effects, modernity, universalist claims and the hypnotism of commodities. The "other" here is the pathological existence with a fractured/disturbed memory that functions outside intention, purpose, and recognition. In short, one that is devoid of being penetrated yet stays within the ambit of the familiar and the personal- beyond any canon, style, or systematic code. The study extends into the excerpts from his text "In honor of savage values" and tries to grasp Dubuffet's claim and understand other meanings and values that intersect along the way. His recognition of art by untrained individuals as documentation of lives and

*Asst. Professor, Dept. of Visual Arts, Assam University, Silchar

experiences alongside objects and artifacts goes way beyond aesthetic perception and museum-based art. The study thus attempts to understand the meaning of untrained practitionersvis a vislosing of the self in contrast to the ones that are trained and purposeful with a careerist mind as claimed by Dubuffet. The study begins with the observation of Andre Malraux and his idea regarding the transmission of memory, experience, and information as something fundamental between art and culture.

In Search of Ingenuity and Freshness

In a way, vivid and intelligible, Andre Malraux questions, 'What is art?' and to which he answers, 'That whereby forms are transmuted into style.' (Malraux, 1974, p. 272). Here attributing style[4] as the "supreme object of the artistic activity" he points to another world of perception rather than the "real world," (Malraux, 1974, p. 272). In the chapter, "The Creative Process", he argues that "to see" is to "imagine what has already been formed in the work of art" (Malraux, 1974, p. 274). He says "seeing" is different and thus points out to the seeing of a common man as a real-time experience rather than resembling real forms to a stock of cultural data/visuals (along with their prototypes), permeating through genres of painting, murals, frescoes, sculptures, illustrations and so on that becomes both cultural authority and mediators with a prescriptive world view. In short, his elaboration might have hinted at the prescribed technique of these categories that brings a style and a scheme to the nature of representation in art. And hence a *reduction*[5]. While speaking of the eye and its intrinsic relation to an oculist or a painter, Malraux frankly expounds, "Nothing is less unbiased than human sight" (Malraux, 1974, p. 279). He says, "…the first act whether conscious or not, of the painter (and indeed all artists) is to change the function of an object" and his argument precisely hits the contour of "…. visual experience of works of art than by that of the things they represent…" (Malraux, 1974, p. 279). It locates to the imaginative, innovative, or conceptual essence and an endurance linked to a "metamorphosis"[6]within a particular history of thought and practice. But more precisely the visual experience builds up a meaning that confirms the whole pattern of behavior and attitude of the viewer as a worthy audience and artists as a worthy producer.

Putting the vision, born of sedimented and matured years within the spectrum of culture above the one formed by the immediate and sudden uprush of emotion, Malraux(1974) traces the transforming process of art and perhaps its interconnected labyrinth of communication, confrontation, and relation in addition to the nature of its existence. A little later very sensibly he hatches the curious act of drawing by a child and in a fascinating way reveals, the words "surrender" alluding to children's work and "possession"of artistic work vis-à-vis "mastery of resources". Here he speaks of the intervention of the will that ruins the art and compares a child's production to a dream-work of charm and miracle, perhaps contrary to the attending virtues of mastery and awareness. Also, the untrained eye that lacks the composure to frame an object or choose a scene and muster decisiveness, to identify, compose, and organize could be speculated from his deliberation on an untrained individual vis-à-vis an artist or a painter. His reference to art from primitive to the modern and thereafter demystifies the enigmatic and revelatory tendencies of creativity and brings the disseminating and improvising aspect of it in lieu of culture and practice as it permeates through time via the cerebral and the sensory streams of consciousness with a strong sense of urgency to bring forth changes in perceiving and realizing the world through form, meaning, and representation (Malraux, 1974, pp. 279-281). But then again even a child's lens

at a fundamental level absorbs/identifies and adapts accordingly even if in fragments, within a particular culture as one is familiarized and reared gradually through time.

In a way peculiar and somewhat different from what Malraux elaborates, Jean Dubuffet tries to theorize *art brut* and the nature of art that comes from the restricted and the disturbedlives, living in isolation or confined within walls away from the effects of civilization and culture.

Jean Dubuffet in "In honor of savage values"[7] draws certain distinctions while writing about five artists of the exhibition held at Marcel Evrard Book store. As he mentions the names, Paul End, Alcide, Libel, Gasduf, Sylvocq in the text he says,

> These names might seem strange. Indeed, they are, because they are not exactly the real names of the artists. They are truncated names, not expressed in their entirety. It involves therefore the works of authors, who remain in half anonymity. This is a change from the normal ambience of painting exhibitions, where on the contrary, the artists show a great eagerness to make names for themselves. (Dubuffet, 2004, p. 259)

He writes thus,

> Artists, in normal exhibitions, are extremely worried about the reception which will be reserved by the public towards their works, and the comments that will eventually be published in the so-called art columns of the newspapers. Each calculates his chances of becoming, if he is not already, a professional artist living comfortably, off the sale of his works, showered with recognition and homages… (Dubuffet, 2004, p. 259)

He then says,

> The five artists do not care at all about the considerations of this order…they do not know that this exhibition is taking place. Such things leave them perfectly indifferent. They have preoccupation much more immediate and much more pressing than earning some money for their drawings, or acting like movie stars in fashionable circles…All five are in fact, for the moment, kept behind the padlocked doors of an asylum. And when one is in this situation one has more serious things to think about… (Dubuffet, 2004, p. 259)

He clarifies, "They are in fact people for whom all is lost. Any undertaking is hopeless for them. They are in the grips of the human condition reduced to its minimum, to its most elementary point…" (Dubuffet, 2004, p. 259).

Here the condition of half anonymity, typicality of names, truncated and strange, in fact, makes their (the five artists mentioned) authorial position inconsistent, and unsustain their chances of survival, moresoeverbound by the locked door of the asylum from where their appearance could be seem absurd and disgraceful to the public. Possibly to Dubuffet, the bodies beyond the door in the inside of the asylum give him the courage to preserve them as a residue of some events or happenings, whose reduced and precipitated condition of negligence and surrender itself becomes an expression to be archived and so do their intermittent acts of art and object making. These residues are therefore absences in their trivial rudimentary state and are disowned by the civility later. In the following lines, he intensifies the "raw- emotional movements" and its "immediate projection" of the artist's emotion. Here the maker is as much a participant as the work and a metonymic situation of relation appears thus between them. These emotions are a state of blankness that adheres to no code or grid and could reach heights and degrees where obscenities and violence made from shrieks and verbal ejaculation, fits, and distorted strains

could make their bodies torturous and painful. Yet they form a continuum breaking from the causality of time, while some touch it in bits and pieces. An inception of "other" reality, bends into that continuum, the glimpses of which adhere to their image. Dubuffet clearly breaks in, into the self and its imprisoned physical bodies instead of any physical geography or primitive communities, and digs right into the world of the civilized, into the cultural. He draws a thin distinction from what Levi-Strauss indicates of the other primitive societies and cultures separated by distance, geography, and cultural encounter. Dubuffet's savage beings (a sense of ownership or empathy?) cannot be retrieved from their state of reality. Where Strauss's methodology pointed toward structural anthropology and re-construction of categories to interpret myth and characters, objects and ritual items, Dubuffet's "other" is impenetrable and inaccessible (Minturn, 2004, p. 258).

Dubuffet very evidently makes a strong divide of the worlds where art as intellectual projection, discursive tool, and sophisticated commodity vitalizes its value through intermediaries to promote, propagate, and transact within a sphere of cultivated audience both as spectator and buyers in the face of recognition and honor. Art for him, feeds a cultural front and rehabilitates the known within a chain of organized space of feeding, receiving, and transmitting (with feedback thereafter). While the half-anonymous artists are lost, unclaimed, and immersed beyond time and reality. His use of the word "normal"[8] brings a sense of unease within the narrative, thus.

Let at this point try to understand "savage" in the general meaning of the term.

Savage as the term goes has its origin from Silva (in Latin, a wood) to Silvaticus (in Latin, of the wood) to Sauvage (in old French, wild) to Savage (in Middle English).

As an adjective, it is understood as, "1. (of an animal or force of nature) fierce, violent, and uncontrolled, cruel and vicious; aggressively hostile 2. (Of a person or group) primitive and uncivilized 3. (of a place) wild-looking and inhospitable; uncultivated" (Press, n.d.).

Here the term "savage"[9] seems to originate from the "woods", a peripheral region at the outskirts, at the fringe, away from the mainland - a forest bordering a city or town a civilization. If the term acquires a shape, a physicality, or an idea then the following qualities could be given to build the necessary form. It needs to be uncontrolled and fierce contrary to a cultivated, moderate mind with control and a sense of reasoning, vicious and cruel to be hostile toward any kind of dialogue and communication having a primitive and remote background where education and modern sensibilities haven't reached and lastly the physical space without proper health and hygiene and without a hospitable and amiable environment, the breeding ground of such shape. Although each quality mentions a place, person, or group but can be used for an individual or community. The wood makes up for the monstrous space segregated from the civilized one and a sense of anxiety and fear is culturally transmitted over, for its trespassing in the collective mind of the sane (self to be precise)- a sense of insecurity and awe mixed with exoticism and wonder so to say, for the varied shapes, sizes, color and appearance. The physical site and the monstrous shape here get intertwined and become one – the "other".

Although, some of his statements here are skipped for the sake of the size and purpose of the study, Dubuffetin "In honor of savage values" continues,

> In my opinion, art consists essentially in this display of the most intimate and most

profound internal movements of humor, inside the artist. And since we all have these internal movements inside of us, then it is very moving for us to be face to face with their projection. In fact, we see there some psychic facts that we possess in us, which exist in ourselves exactly as they exist in the artists, underneath, obscured, profoundly buried under successive layers; and it is precisely this confrontation with our most profound mechanisms that appears as a fascinating revelation, and which throws light on our own being and the world, which allows us to see the things around us with eyes other than our normal eyes. With (the infinitesimal number of) eyes that we all possess inside of us, profoundly buried, which do not work usually, and which the appearance of this work of art suddenly causes to function." (Dubuffet, 2004, p. 259)

Here, the artist makes an easy elaboration in a precisely readable way and communicates the obscured mechanisms of the mind and body. The eye an organ of the body is multiplied into many that not only intermediates with the receptor nodes of the neurological sensors but become screens themselves transmitting and experiencing the lapses that even the sense perception fails to withhold. The term "normal" has an addictive nature as it permeates through the mind into the senses that leads not only to acts but decisive acts hypnotized and rejuvenated by reason that replicates into thousand infected clones and builds a hallucinated real. Dubuffet might have been aware of this resilient infection and hence his project of preserving the maker from the world of availability and indifference, the world of "Cultural Art" (Dubuffet, 2004, p. 262), of institutional play and progress, of commodity and consumption. But he also preserves what the discursive processes of function and behavior within a cultural paradigm could lead, to a body that loses itself under severe trauma, miscommunication, and guilt. The multiple eyes could be a metaphor for the extra senses that develop after losing the sense. There could also be a movement, a reverberation of the physical, or a frenzied act that occurs out of an emotional excess, a turmoil, an anxiety with a spilling both gestural and delirious.It could be a vibration, palpable and immersive, yet cannot be labelled as insane or mad or a naïve performance streaming in some odd/eccentric way, leading to a psychological withdrawal into making of image or object as a medium of release. Perhaps the accumulated sensations failed to draw a coherent system of meaning or perception. Dubuffet shifts in several stages while theorizing *art brut*[10], and later confounded that such a mind could be found in Europe itself rather than in Africa and he realized that such promises of '"savage" individual' or more precisely such attributes could well be found around him and his culture in Europe and America (Minturn, 2004). This was later mentioned by Colin Rhodes in the book, "Outsider Art" where he mentions that the West has its own "…primitives- peasant population, children and the insane…" (Conley, p. 132). Here Dubuffet comes closer to Levi Strauss (Savage Minds[11]) when he says that *art brut* is a "kind of mental operation or activity"(Minturn, 2004, p. 257) rather than making a prejudiced commentary bordering on the racial or class / ethnic differences.

Later after some point of discussion, Dubuffet talks about *art brut* and says,

> We look for works marked with a very pronounced personal character, created outside of any influence of the traditional arts, and which also, at the same time (because without this there is no art) appeal to the profound layers of the human being- to the layers of savagery- and deliver its burning language. After that, it is immaterial

to us whether the author of certain works is- for reasons foreign to our own- reputedly sane or reputedly mad. (Dubuffet, 2004, p. 263)

He continues and says,

Very often the most delirious work, the most fevered, the most apparently imprinted with the characteristics that we attribute to madness, have as their authors, persons considered normal. There is not really in the majority of cases any criterion that justifies a discrimination between a work that one could call sane and works that one could call pathological… (Dubuffet, 2004, p. 264)

In relation to the above he says again, "…the phenomena of imitation, mimeticism, affectation, which are at work with normal people, are at work much the same way; invention in both the cases are frequently very poor" (Dubuffet, 2004, p. 264).

While speaking of the "pathological" and the "normal" and placing the "Occidental Man"[12]…..at the very juncture between the two in an idiosyncratic way and partly of his disdain for the workings of culture, Dubuffet unwraps the most vulnerable of conditions that has been eroding lives through punishments and purgatorial measures, discipline and control, violence and repression, predominantly by the dogmas and ideological mechanism of the state, religion, traditionand their dissemination of knowledge/information into reality and perception of viewing and communicating with the world from a prescriptive order. Perhaps his excursion into North Africa or into asylums or penitentiaries in Europe, later, unveiledto him the problem of "otherness" and the effects of the criminal laws and prejudices, detention and punishments with thecategorizing and sampling of tribes, and indigenous communities including retarded and senile humans, wanderer, mendicants, mentally disturbed, unhealthy, amputated and old individuals subjected under scientific inquiry and inhuman experimentations in confined quarters of the city with individuals as both subject and specimen for trials and tests, both in the colonial lands and Europe whose foremost example was the ethnographic museums in Europe in the nineteenth century.

Dubuffet's entry into the asylum could be the opening of a one-to-one interrogation with the self and a compulsion to a certain degree for an elementary and pure state of experience however blotched or schizophrenic / hallucinatory or hysteric it may appear. They became real conditions of individuals and not as types, away from the categorization that scientific inquiry usually labeled once. This may appear as another kind of eroticizing such individuals but then he hints at the certain operation that takes place without much noise like works made with "limited means, very hasty, unelaborated small scribbles, drawn on a wall with the point of a knife, or with a pencil on a random scrap of a paper" even if "half-realized, half completed". Here Dubuffet is neglecting the academic training, aesthetic mediums and materials, classical or modern, preparations and planning, and aesthetic techniques and styles at the cost of insulating the maker as a '"closed-circuit"' (*Prospectus*1, p. 322 cited, Minturn, 2004, p. 258). He is focusing more on the things, like a knife at hand, and the site like the wall as the surface. Both are contextual by virtue of their real positioning in time and space, unlike the burden of aesthetical sophistries.

It needs to be mentioned that Andre Breton equated surrealism with automatism and embarked on the relationship between surrealism and *art brut* that was later named *Outsider Art* by Roger Cardinal[13] Cardinal explained about three major types of categories: '"Schizophrenics, mediums and innocents" (35)' (Conley, p. 132) and encompassed a wider area

of practice by visionaries, mentally ill and mediums (Conley, pp. 129-130). In the book, Outsider Art by Collin Rhodes as in many other writings, the works like the drawings, scribbles, or jotting by untrained individuals are of revelatory nature and are a result of heightened conflict within the inner world and often would take the shape of guilt, fear and anxiety. In many cases, spiritual beliefs and assumptions would attain neurotic proportion and hysteric behavior verging on violent convulsions, anger, abuse, and self-harm. Clinical observation and innovative methods of pacifying the pressure often included drawings and scribbles as acts of engagement and relief. The individuals include self-taught, untrained visionaries, folk artists, (psychiatric) patients, prison mates, spiritualists, and so on (Rhodes, 2000).

Conclusion

An irony stands out in the whole prospect of preserving and documenting the maker in comparison to what stands as the ultimate subject - Man/knowledge or should one say consciousness or thought. French Philosopher and thinker, Jean Paul Satre says, "In Knowing, consciousness attracts the object to itself and incorporates it in itself. Knowledge is assimilation… the known is transformed into me…and consents to receive its existence from me alone (BN 739; EN639)" (Moi, 1994, p. 25). Satre also points to the futility of this relation of the active subject and the passive object of knowledge, where the one is both aware of oneself and of the other, a desire to be God (Moi, 1994). Dubuffet tried to isolate those absent spaces/ bodies that are passive and dysfunctional or docile and surviving within fractured temporality and existence. Then the question ariseswhat lies outside of man vis-a-vis consciousness? It is a sensation, an impression that is unaware of death. This brings us to Dubuffet's love for impermanence and ephemeral existence (and wittily aware of his shift from common man to desert clown to "Savage European"). The desire for mastery and control brings us to Andre Malraux' use of the word "possession" for the trained artist/ professional who constructs a deceptive ("phenomenon of affectation, imitation and mimetics" in contrast to iconoclastic and ant-aesthetic image /object of Dada and other such forms of manifestations) real that eventually goes into the collective consciousness of a participative culture and into the sophisticated neuro-cognitive mechanism thatlets the eyes see what it is trained to see. This reminds me of Satre'sother statement whereby he says, "To know is to devour with the eyes…For the child, knowing involves actually eating…" (Moi, 1994, p. 25). This oral possession is both primitive and infantile. Perhaps it has more to do with "surrender" than "possession". Dubuffet understood these qualities as liminal conditions within a culture and not as an attribute in itself. Almost like an archeologist (he studied anthropology early in life) he collected objects and works as "documents" almost of ethnographic relevance at the very edge of linear time and history and often addressed theuntrained as "author". The author is both a subject and object, an incessant enactment by itself, so to speak. He left no option but the eyes of the viewer to eat what is there upfront. The image of *art brut* as unintelligible and closed, may not be as such, as a modernist practitioner would like to see.They may be deciphered as compressed accumulation equaling the duration of execution that acquires a continuum with that span of time.

In contrast to Dubuffet's claim, art by patients, prison mates, affected individuals, and spiritualists, is patterned, repetitive and elaborate often descriptive and with a system of co-ordination and relation with arrangements and spatial design simulating cosmological scheme in a diagrammatic precision- an inner

world of symbols and motifs that communicates the belief, security, and familiarity of the individual (Rhodes, 2000). A world of revelation opened through the individual who acted almost like an intermediary. The images were often familiar, their ingredients are taken from the world closer to their experience and attachment with the ordinary life.

(Endnotes)

1. Translated and edited by Kent Minturn
2. After the North African trip in 1949 Dubuffet's exoticism of the Bedouins of Sahara faded and the dessert became 'a bath of discomforts and annoyance"- by Minturn, Kent. "Dubuffet, Lévi-Strauss, and the Idea of Art Brut." *RES: Anthropology and Aesthetics*, no. 46, 2004, pp. 247–58. *JSTOR*, http://www.jstor.org/stable/20167651. Accessed 21 Aug. 2023.
3. The Other is constructed by the quality of otherness which is formed out of 'a discursive process by a dominant group by stigmatising a difference, real or imagined – presented as a negation of identity and thus a motive for potential discrimination… The asymmetry in power relationships is central to the creation of otherness… power at stake is discursive: it depends on the ability of discourse to impose its categories. 'Women, homosexuals and the insane, all major figures of otherness in the West, owe their stigmatisation to something other than their location' and '… are, after all, found among the self' (staszac, 2008)
4. 'Style, which like architecture is like language, is not necessarily the most effective means of expressing what it represents...all things visible serve style and style serves man and his gods.' Malraux while speaking of the transformation and evolution of art its style, iconography and nature was building and interpreting specific connections with precedents and practice of aesthetic knowledge in relation to political and sociocultural history, transmission of cultural image and objects from different geography from the ancient to the modern times where influence styles language and form intersects and overlaps in variety of combinations and artists like Picasso or Van Gogh, Fauvists intersect with the Chinese , Byzantine, gothic or African/ Negro art so to say. pp.270-272, Andre Malraux, 'Chapter 2: Metamorphoses of Apollo', "the Voices of Silence"
5. Malraux says, 'To the eye of the artist things are primarily what they may come to be within the privileged domain where they "put on immortality"- but where, for that very reason, they lose some of their attributes: real depth in painting, real movement in sculpture. For every art purporting to represent involves *reduction.* This reduction is the beginning of art.' Pg.275, Andre Malraux, 'Chapter 3: The Creative Process, "the Voices of Silence"
6. See Pg.279, Andre Malraux, 'Chapter 3: The Creative Process, "the Voices of Silence", *metamorphosis* beyond mimetic effect, imaginative idealization or photographic reproduction.
7. 'In honour of savage values by Jean Dubuffet' Dubuffet, Jean, and Kent Minturn. "In Honor of Savage Values." *RES: Anthropology and Aesthetics*, no. 46, 2004, pp. 259–68. *JSTOR*, http://www.jstor.org/stable/20167652. Accessed 21 Aug. 2023.
8. Normal as reasonable and sane following dominant cultural practice distinct from a savage and illiterate or someone without reason and confused. Also, where one can find the phenomena of imitation, mimeticism and affectation at work. (Dubuffet, 2004)
9. 'It is the Savage' (humanity still out in nature), etymologically the Man of the forest, opposed with man from the cities and fields. This figure stigmatizes the Man who has not (yet) left the natural state. Folklore if not European reality is overflowing with these 'Woodsmen'. Hairy and violent they threaten villagers (specially the women of the village.)'. 'This form of otherness has a spatial component …and savages are in faraway zones (Australia) or the interstices (our forests.)' (staszac, 2008)
10. Art produced by untrained, isolated or illiterate individuals "unscathed by artistic culture" (Jean Dubuffet, "Art Brut in Preference to the Cultural Arts," trans. Paul Ross and Allen S. Weiss, Art and Text 27 (1988): 31-33)- by Minturn, Kent. "Dubuffet, Lévi-Strauss, and the Idea of Art Brut." *RES: Anthropology and Aesthetics*, no. 46, 2004, pp. 247–58. *JSTOR*, http://www.jstor.org/stable/20167651. Accessed 21 Aug. 2023.
11. Levi- Strauss says in The Savage Minds, 1962 that savage thought is "neither the thought of the savages, nor that of primitive or archaic humanity, but thought in a wild state, distinct from cultivated or domesticated thought"
12. The euro-centric man from the western civilization, white and scientific, rational and purposeful, morally grained and educated, heterosexual and masculine, adventurous and heroic with a universalist aim. Press,

O. U. (n.d.). *https://language.oup.com/google-dictionary-en*. Retrieved August 20, 2023, from https://language.oup.com/google-dictionary-enRhodes, C. (2000). *Outsider Art.* London and NewYork: Thames and Hudson . staszac, J.-F. (2008). *Other/Otherness* . Retrieved August 21, 2023, from https://www.unige.ch/sciences-societe/geo/files/3214/4464/7634/otherotherness.pdf.

References :

Conley, K. (n.d.). *Surrealism and Outsider Art, From "Automatic Message" to Andre Breton's collection.* Retrieved August 26, 2023, from http://www.jstor.org/stable/4149290. .

Dubuffet, J. a. (2004). *In Honor of Savage Values, RES: Anthropology and Aesthetics, no. 46,*. Retrieved August 21, 2023, from JSTOR, http://www.jstor.org/stable/20167652.

Malraux, A. (1974). The Creative Process. In A. Malraux, *The voices of Silence* (p. Pg.274). Frogmore, St. Albans: Paladin.

Malraux, A. (1974). The Metamorphoses of Apollo. In A. t. Malraux, *The Voices of Silence* (p. P. 272). Frogmore, St.Albans: Paladin.

Minturn, K. (2004). *Dubuffet, Lévi-Strauss, and the Idea of Art Brut, RES: Anthropology and Aesthetics, no. 46,*. Retrieved August 21, 2023, from JSTOR, http://www.jstor.org/stable/20167651.

Moi, T. (1994). *Simone De Beauvoir, The Making of an Intellectual Woman*. Cambridge, Massachusetts, USA: Blackwell Publishers.

Press, O. U. (n.d.). *https://language.oup.com/google-dictionary-en*. Retrieved August 20, 2023, from https://language.oup.com/google-dictionary-en

Rhodes, C. (2000). *Outsider Art.* London and NewYork: Thames and Hudson .

staszac, J.-F. (2008). *Other/Otherness*. Retrieved August 21, 2023, from https://www.unige.ch/sciences-societe/geo/files/3214/4464/7634/otherotherness.pdf.

Recycling and Upcycling Fashion : A Reusing, Reprocessing and Remaking The Used Clothing in a Sustainable Occurrence

Subarna Ghosh*

Abstract

Recycling / Upcycling plays a major role in the sustainability criteria of economic, environmental and social dimensions. For the fashion sector recycling contributes to the elimination of waste through reuse of materials and finished garments, conservation of the environment in particular reduction in landfill and pollution through redirection of waste to alternative uses and preservation of natural resources including water and natural fibers through a model in which the same materials can be used repeatedly. Waste in fashion is commonly considered a problem to be solved, whether through reduced consumption, improved production processes, or recycling and upcycling practices. Reusing waste materials in a manner that consumes less energy than that needed to manufacture such materials from scratch can be the way forward. This can be done either via recycling or by cycling. Recycling refers to the breakdown and reuse of waste as raw materials to make new products. On the other hand, upcycling, a term coined in 1994 by Reiner Pilz[1], involves reusing waste materials in their current state without the need to break them down into their base state. Upcycling however, includes the performance of valueadded activity on the material or disassembled garment in such a way as to create a product of higher quality or value than the original used clothing. Therefore, my research is how to recycle the discarded ones, instead of disposing them into the landfill and making mother earth bear the burden of years to decompose the used ones and making the environment toxic.

Keywords:- *Recycle , Upcycle, Waste, Environment& Sustainability.*

Research Methodology : *This research paper is direct from the main source and hence, Primary data has been used for the purpose of this study. The primary data has been collected originally from students activities, interviews, original artwork, recycled garments made by friends, and also through market research & surveys. It is an authentic data collected from pure sources.*

Introduction: -The idea of recycling, re-purposing and reusing fashion is not new, but it was not until recently that thrift shops became quite trendy. Today some of the biggest E-Commerce sites are based on reselling second items. Reuse of postconsumer clothes heralds the most attention and in many ways has come to represent one of the first steps on the journey to sustainability. Designing with recycled garments is also something in which consumers can actively participate through donation. Each of the fashion market segments of haute couture, ready to wear (preta-porter), mass market including premium, mid-market, fast fashion material that can be easily recycled is said to have high recyclability which also means its material properties do not show significant depreciation from those of the virgin material. Textiles production requires a lot of land for crops and uses a lot of water, energy, chemicals and other resources leaving often untreated pollution behind and has a highly negative environmental, economic and social footprint (Fletcher, 2008; GFA & BCG, 2017; Hiller

*Assistant Professor, Department of Amity School of Fashion Technology, Amity University Kolkata

Connell & Kozar, 2017; Leal et al., 2019; Remy et al., 2016). Today's conventional fashion and garment industry is linear by nature and in addition to the impact that raw material extraction for newly produced fiber production has, textile waste has become a major problem in the sector (Ellen MacArthur, 2013, 2017)

The goal of recycling is one that has been revisited many times in the past. Most recently, the 3R model of Reduce, Reuse, and Recycle has taken up speed. Production and consumption trends have increasingly adopted this model. Forty-four million tons of waste are estimated to have been generated worldwide in 2016, and of this amount, only a fifth were recycled. This shows how much room for improvement there is within recycling. Fashion and discount market experience design challenges in recycling and upcycling. There are many policy changes Governments can make (NGOs and advocacy groups can undertake in persuading them) to create incentives for behavioral change within the sector. To promote sustainability (recycling /upcycling) includes waste redirection through landfill taxes; tax deductions for donations to charities to collect waste. Quantitative methods can also be used to measure impact and improve quality of process and end product including packaging/ transportation of goods e.g., benchmarks, indices, metrics, testing, auditing, reporting and accounting, bearing in mind however that recycling / upcycling adds a further layer of complexity in what is fast becoming a crowded marketplace of textile accreditation and certifications. According to the researcher Jo Kellock the Director at Kellaborate[2]

However, environmental degradation can be controlled by avoiding the entry of new raw materials by closing the loop based on any of the three principles: reduce, reuse and recycle [Chen and Burns, 2006; Kuo et al., 2014]

As a counterapproach to the problems of waste, this article explores a poetic element that relates to an aesthetic of the worn and wasted, and a fashion practice that elevates rather than disguises waste.

Recycling glass bottles into home decor:

Creativity is a great idea in reducing waste in favor of a healthier environment. In this journey towards sustainability, designers, artists, and entrepreneurs from all over the world have dedicated themselves to creating exclusive pieces through the reuse and recycling of glass bottles.

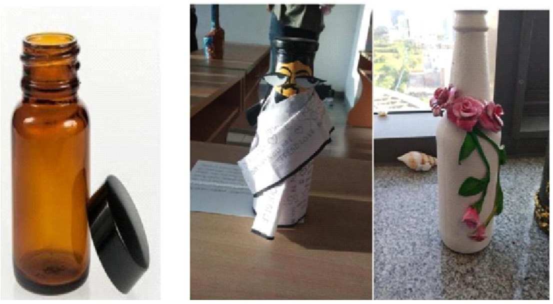

Fig 1: Recycling Glass Bottles into decorative purpose. (Source: Amity University Kolkata)

Recycling glass is one of the many ways we can help reduce pollution and waste. Every day we throw away tones of rubbish and glass is a significant part of it. Instead of letting landfills pile up with glass objects that are a threat to safety and the environment, we can use it again. Recycling glass reduces the space in landfills that would otherwise be taken up by used bottles and jars. Using glass for recycling means there are less glass objects lying around in the landfill or bin. In one of our college club activity the students were asked to get empty glass bottles which was to be recycled into home decor or a reusable product. The bottles were washed and cleaned. According to the theme the bottles were decorated. The glass bottles were transformed into a beautiful usable product.

Recycling of discarded T Shirts :

Every T-shirt has a lifecycle. There's that first fresh-off-the-rack wear, when it feels brand new, followed by the first few washes when things feel extra soft and worn in. Over many sweaty afternoons and subsequent rinse cycles, Tees become less absorbent, until it reaches the point where it shouldn't be seen in public anymore. But instead of tossing your ratty old T-shirt into the trash, there are plenty of ideas, far more sustainable things which can be done including upcycling.

The reason it's so important to upcycle versus recycle. ["Clothing needs to be sorted into groups of similar material content if they're to be recycled," says Tiffany]. Thread Gould, head of design at Teracycle, noting that it can be complicated to figure out how to sort your textiles to ensure they end up in the right place. ["While many Tshirts are 100% cotton there are definitely cotton-poly and 100 % poly blends, which would mess up a recycling system." So even if your T-shirts make it into the recycling bin instead of the plain old trash, there's no guarantee that they're going to be recycled, which is why it's more sustainable to find a new life for them to live.]. **["In general, clothing has sentimental value that can play into the reuse value of the shirt," says Thread Gould. "Perhaps you've outgrown them, or they're stained or faded. With a few cuts and crafty twists, you can reuse that shirt."]**

In context to recycling of discarded T- shirts, the designing students at our college organized a Recycling of old T- Shirts into a new using various techniques of hand paints, textures, blocks, appliques etc. to give a new look to the discarded ones and were taken to a next level by adding few colors and patterns.

Fig:3 Old Tees in newest forms (Amity Kolkata)

Fig 4: Recycling and Upcycling Discarded T - Shirts. (Fashion club members ASFTK)

Recycling & Upcycling Clothing: - The textile industry has bloomed to its full potential since the 19th century. Today we have clothing chains producing half a billion garments every year. According to the Environmental Protection Agency, about 14.3 million tons of textiles were sent to the landfill in 2012. A good step towards avoiding such a massive landfill would be to donate clothes to thrift stores. However, a significant amount of these clothes is cheap and unreliable. Thus, only 20 to 30 percent of the donated clothes can be resold. People are getting more interested in upcycling clothing. Recycling is more commonly known and often practiced by fashion consumers. It's a great way to be more sustainable with clothes.

There are many big differences between upcycling and recycling clothing. Upcycling is considered much better as it makes more valuable items out of old textiles. It extends their

lifespan and delivers products that can even be recycled at the end of their lifecycle. In this research I wish to prove through recycling and upcycling that the best part would be , definitely is a pollution free as the old clothing are not ditched in the landfills but straight way could be reused in away and also re-purposing our old clothing is another great option. Old clothing can be used as rags around the house and even for compost if it is a biodegradable fabric. A stained, oversized shirt is handy when doing any sort of painting or other messy activities. If you own a sewing machine, you can create a variety of different items with something like an old t-shirt: tote bags, quilts etc to sell on Etsy.

Fig 5: Redesigned and Recycled hand bags.

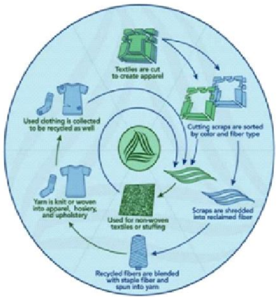

Fig 6: Clothing Recycling process example, it is the one used by Martex Fibre

Literature Review: -

Recycling & Upcycling is one good strategy to protect ecosystems, because the goal of both this cycling processing is to prevent wasting potentially useful materials by making use of existing ones. In the process of up-cycling garments for sustainability the article considers what impact this has on the apparel design process and how students learn and must learn differently based upon this need. Participants including students and design professionals who undertake a project of up-cycling and recycling are surveyed about the differences they perceive in their design process. Results indicate that there are some opportunities that arise and need to be incorporated into our educational system.

Methods & Materials: -

I have collected all the primary data and secondary data from students, Fashion professional, magazines, journals and other sources to collect the information on recycling and upcycling.

We are facing an unprecedented need for clothing recycling because of the global population increase and the rise of rapid consumption and fast fashion. These trends are causing more and more clothing items to be discarded. As an example, data from the United States EPA showed around 16 million tons of textile municipal solid waste was generated just in 2015. All this waste ends up in landfills, where it can take many years to decompose and can release carbon dioxide and other harmful gases into the atmosphere

Due to high levels of three key metrics of carbon, water and waste, UK government agency WRAP (Waste & Resources Action Program) has identified textile products as priority materials for reuse and recycling. Upcycling enables a sustainable design option for reuse techniques to be employed for greatest economic and environmental benefit, in which used clothing and textiles are sourced to produce newly designed fashion products.

1. The more communities implement solutions, the more people can actively participate in recycling their clothing. One obvious idea is to donate old clothing to thrift

stores and charity shops. Only about 20 percent of the clothing donated to places like Goodwill and the Salvation Army even gets sold. The rest is sold to textile recyclers. The companies get money for the clothing, and that money goes to charities.A donation can also be done to large organizations that collect specific types of clothing, such as The Bra Recyclers, Souls 4 Soles, and the Blue Jeans Go Green program.

2. For clothes that aren't fit to be donated, these organizations will accept a variety of clothing in different conditions. Recycle Now, PlanetAid Bins, Secondary Materials and Recycled Textiles, Donation Town, Council for Textile Recycling.

3. The classic garage sale is a great way to give your clothing (that's in relatively good condition) a new life and generate a profit at the same time.

1.1 Clothing out of landfills: - There are certain ways to keep our clothing out of landfills and create a reusable purpose.

1.2 Donating clothing: -To prevent clothes from ending up in landfills, donate them locally. It's an easy way to give our clothing a second life. Check for the many organizations in our area that accept clothing donations. Many non-profit organizations raise money for charitable causes. We can also donate old clothing that's in good condition to homeless and women's shelters, family service agencies, immigrant support groups, temples and churches. Donating our clothing to someone else that may need it more than we do is a great gesture and happiness within.. Therefore, donating our garments is one of the greatest procedures for recycling.

1.3 Upcycling into new clothes: - Upcycling is cutting and sewing used garments and other textiles to create new clothes of higher value. It gives a new purpose to old items in our wardrobe by making something exceptional and unique.

It's an outstanding way to preserve the environment. Instead of throwing old clothes away, upcycle them to get something useful. Today fashion industry is taking a great initiative to upcycle old clothing and giving it a purposeful meaning.

We can upcycle our clothing at home without extra machinery and save resources. Extending the life of clothes and upcycling are very important steps to build a sustainable fashion future.

Fig 7: Upcycling old into new cloths

1.4 Repairing and caring for cloths: - Whenever possible we should repair and reuse our clothes instead of buying new ones.

I know it's fun to shop for new pieces for our wardrobe and at the same time getting rid of the clothes we never wear. But taking better care of the clothes we already own has a huge impact on the environment.

Repair old clothes to a possible extent as much as we can. We can make our clothes last longer by washing in lower temperatures as well.

To build a sustainable fashion future, we must change our behavior for the better. Taking better care of the clothes we have makes a huge difference.

1.5 Selling unwanted clothes: -If our old clothes are still valuable, we can sell them to resale shops and thrift stores for extra cash.

Local consignment shops are one good option.

Many apps and online marketplaces such as eBay, Poshmark, ThredUp, Tradesy, allow us to sell our used clothing easily on the internet.Selling our unwanted clothes is very sustainable. We help upcycle clothes that would otherwise end up in landfills. It's a great way to buy and sell second-hand and designer clothing at a fraction of the retail price.

The second-hand clothing market is expanding rapidly. More and more people are buying vintage clothing and shopping in thrift stores. Buying used clothing is becoming cool again.

1.6 Recycling old clothes: - When our used clothes cannot be sold or donated, we can keep them out of landfills by recycling them. Old clothing can be used as rags around the house and even for compost if it is a biodegradable fabric. A stained, oversized shirt is handy when doing any sort of painting or other messy activities. If you own a sewing machine, you can create a variety of different items with something like bags, pillow covers, curtains etc. that will save the fabrics to dump in landfills which would take years to biodegrade. Below are a few pictures of accessories made of old ties.

Fig : 8 Recycling of Old Ties, Source : Pinterest.

Reduction of Fashion Industry waste to protect environment.

The Recycling and waste management sector is relatively new for the textile industry; however, the benefits from Recycling are clear. Several companies have been researching innovative ways to recycle fabrics. Clothes can also be made from recycled cotton and wool, but only about 1% of the global supply is recycled. Manufacturers could increase that number significantly with better technologies and consumer education and engagement. Humble's clothing brand has been working towards this goal, increasing their use of secondhand fabrics over time as they find ways to work within the limits of their production capabilities. They now source preused fabric from local thrift shops (Humble x Goodwill Collection) and sell them at affordable prices in conjunction with an e Commerce platform that enables shoppers to purchase responsibly sourced garments.

Most recently, H&M announced it is collaborating with Eco Alpha on a wastewater treatment plant in Italy that will be capable of transforming a million tons of its used clothes into new textiles every year to be 100% recycled by 2020 and 30 % recycled materials by 2025.

The Council of Fashion Designers of America (CFDA) partnered with the Ellen MacArthur Foundation to launch a new initiative called "The New Plastics Economy." The goal is to create a circular economy for fashion in which materials are reused, recycled, and repurposed. Several high-end designers, such as Stella McCartney and H&M, have begun using sustainable fabrics like organic cotton and bamboo in their collections. Some brands are even experimenting with upcycling or taking discarded materials and turning them into something new and valuable. For example, Dutch Designer Anouk Wipprecht has created

3D high fashion clothing by using old car parts. E.g., old car parts are upcycled into the Fashion Industry

Fig:9 Futuristic 3D printed dresses that are made from Audi car parts

Discussions and Results: -

Many brands are also trying to reduce their environmental impact in other ways, such as designing products that don't need to be thrown away after a single use and investing in technology like computerized cutting machines that can cut fabric more efficiently. It has been found that the price of the new product in the market is the main criteria to purchase the used product. If new clothes are available at lower prices, consumers will prefer to buy new instead of second-hand clothes. So, the price of the used product also decides its future. Focus should on how to reduce cost during repairing or redesigning (Zhao et al., 2013; Das and Dutta, 2015). It has also been found that collaborative kind of redesigning facility is more cost effective (Yang et al., 2013). Silently, saving both time and money for manufacturers.

"The New Plastics Economy" is only one of many initiatives the fashion industry has taken towards reducing its environmental impact through Recycling & sustainability. Other programs include REPREVE (a brand owned by DuPont), turning recycled plastic bottles into new fibers. The Sustainable Apparel Coalition's Higg Index program launched last year, encouraging companies to measure and improve their environmental and social impact. The main objective for this writing is how recycling and upcycling can be done to make the environment more sustainable and ecofriendly, instead of throwing and discarding the clothing into the landfills.

Most favoured option

Reduce — lowering the amount of waste produced

Reuse — using materials repeatedly

Recycle — using materials to make new products

Recovery — recovering energy from waste

Landfill — safe disposal of waste to landfill

Least favoured option

Fig 10: Flow Chart of Reduce to Landfill.

Conclusions: -

It has been observed that the main aim of upcycling is to achieve sustainability by increasing the life span of the product and or its materials. An upcycling process consists of idealization, reconstruction and fitting stages. Upcycling has various benefits, which includes environmental and monetary benefits for the individual. This study is to determine the process of designing and techniques or methods of upcycling used clothing as a waste used clothing. The research benefits for the fashion Industry adds innovation to reduce waste . Upcycle is recycling fashion products into new products that have better value than throwing away and making the environment polluted and health adversely affected.

Acknowledgement:-

I would like to shower my immense gratitude to my family & friends. My motivation was geared up by my mother & brother in law (An environmentalist) who constantly pushed me to write on this issue and above all it is my own interest to recycle and upcycle the

fashionable waste till it is no longer usable and functionable and lastly & safely dispose to landfill.

Refrences :

1. https://doi.org/10.1080/17569370.2016.1226604 (Carla Binotto & Alice Payne)
2. https://www.tandfonline.com/doi/full/10.1080/17569370.2016.1193977(Kate Catterall)
3. https://www.tandfonline.com/doi/full/10.1080/17569370.2016.1148309 (Marilyn Delong, Mary Alice Casto , Seoha Min & Gozde Goncu - Berk)
4. https://doi.org/10.1080/17543266.2018.1534001 (Dipti Bhat , Jillian Silverman & Marsha A. Dickson)
5. researchgate.net/publication/322728121_Revisiting_upcycling_phenomena_a_conc ept_in_clothing_industry
6. Chen, H.L. and Burns, L.D. (2006), "Environmental analysis of textile products", Clothing and Textiles.
7. Research Journal, Vol. 24 No. 3, pp. 248-261.

   Connell, K.Y.H. (2011), "Exploring consumers 'perceptions of eco-conscious apparel acquisition behaviors", Social Responsibility Journal, Vol. 7 No. 1, pp. 61-73.
8. https://fashionandtextiles.springeropen.com/articles/10.1186/s40691-021-00262-9(Harri Moora , Markus Vihma , Reimo Unt , Marko Kiisa & Sneha Kapur) Designing for circular fashion: integrating upcycling into conventional garment manufacturing processes
9. https://www.academia.edu/12022127/A_Review_on_Upcycling_Current_Body_of_Literature_Knowledge_Gaps_and_a_ Way_Forward (Kyungeun Sung)
10. https://www.researchgate.net/publication/321251472_Upcycling_Used_Garments_to_Recreate_Sustainable_Fashion_Designs_Treated_by_Soil_Release_Finishing

    (Maha M.T Eladwi, Rania N Shakar, S. H. Abdelrahman & Aya S, Mahmoud)
11. https://www.scirp.org/journal/paperinformation.aspx?paperid=114931The Upcycling and Reconstruction of Garments and Fabrics (Yuan Zhi , Department of Art and Design Northumbria University)
12. https://koreascience.kr/article/JAKO201412835857601.pdf Upcycling Awareness Research Fashion Clothing Goods for Korean University Students Se-Lin Choi, Eun-Hee Choi, and Wol-Hee Do

Other Sources :

My dissertation thesis on Sustainable Fashion "Let us Breath"

My review paper published in Stom Journal 2022 ISSN 2231-1041 "Significance and value of Sustainable Fashion : It's Detrimental Effect on the People During Pandemic"

This paper "Recycling and Upcycling Fashion : A Reusing, Reprocessing and Remaking the used Clothing in a Sustainable Occurrence" is my International conference paper presented in Birla Institute of Technology, Mesra (Ranchi) Noida Campus, India.

हिन्दी चित्रपट संगीत में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोक संगीत का प्रयोग : निरीक्षण एवं समीक्षा

डॉ. सिमरप्रीत कौर*

सारांश

हिन्दुस्तान में हिन्दी चित्रपट संगीत एक बहुत ही लोकप्रिय संगीत शैली है, जो अधिकाधिक श्रोताओं तक अपनी पहुंच रखता है। चलचित्रों के गीत हिन्दी सिनेमा के लिए एक अलग उद्योग बनाते हैं एवं इन गीतों की सफलता पर हिन्दी चलचित्रों की आय का एक बड़ा भाग निर्भर करता है। इसलिए इन गीतों की सफलता संगीत निर्देशक, गीतकार, संगीतकार के लिए ही नहीं, बल्कि चलचित्र के निर्माता और निर्देशकों के लिए भी बहुत महत्त्व रखती है। संगीत निर्देशकों के लिए यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि वह गीत की संरचना श्रोताओं की अभिरूचि को ध्यान में रखते हुए करें और इसका सबसे परखा हुआ प्रयोग गीत में लोक संगीत को शामिल करना है। भारत विविध संस्कृतियों की भूमि है तथा यहां के प्रान्तों में लोक संगीत बहुत ही विशाल है। हिन्दी चित्रपट संगीत में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोक संगीत का प्रयोग अति कुशल रूप में हुआ है और यह शोध–पत्र इसी प्रयोग के अवलोकन एवं कुछ अविस्मरणीय गीतों पर आधारित संक्षिप्त चर्चा है।

मूल शब्द : *हिन्दी चित्रपट संगीत, लोक संगीत, हिन्दी चलचित्र गीत, भारतीय प्रांत, संगीत निर्देशक।*

शोध प्रविधि : *इस शोध–पत्र के लेखन हेतु प्राथमिक एवं माध्यमिक स्रोतों का प्रयोग किया गया है।*

शोध क्षेत्र : *प्रस्तुत शोध–पत्र हिन्दी फिल्म संगीत एवं लोक संगीत के समीक्षण का अवलोकन है। इसमें भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोकसंगीत के प्रयोग से संरचित हिन्दी फिल्मी गीतों का निरीक्षण है। प्रथम सवाक् चलचित्र 1931 से लेकर 2015 तक के बहुत लोकप्रिय गीतों की सूची दी गई है, जो भारतीय प्रांतों के लोक संगीत से प्रेरित है।*

भूमिका

भारत में फिल्म संगीत का एक अपना स्थान है। हिन्दी चित्रपट संगीत सामान्य जनता में बहुत लोकप्रिय है। हिन्दी चित्रपट संगीत के मुख्यतः दो प्रारूप है पृष्ठभूमि संगीत एवं फिल्मी गीत। विदेशी चलचित्रों के विपरीत हिन्दी चलचित्र में प्रथम सवाक् चलचित्र 'आलमआरा' (1931) से ही गीत शामिल हो गए। गीतों का प्रयोग न केवल चलचित्र के लिए सफल रहा, बल्कि इस प्रयोग से हिन्दुस्तान में एक नवीन संगीत शैली का जन्म हुआ। आगे चलकर हिन्दी चित्रपट संगीत की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई एवं अन्य संगीत–शैलियों के साथ–साथ हिन्दी चित्रपट संगीत भी एक मुख्य शैली के रूप में उभरा और तब से लेकर आज तक हिन्दी फिल्म संगीत अपना स्थान बनाए हुए है। हिन्दी चित्रपट संगीत के प्रारूप को स्पष्ट रूप से निर्धारित करना बहुत मुश्किल है क्योंकि इसकी शैली कथानक, दृष्टान्त, निर्देशक, निर्माता, गीतकार, संगीतकार एवं जनरूचि पर निर्भर करती है। हिन्दी फिल्म संगीत में अनेक शैलियाँ स्वभाविक ही शामिल करनी पड़ती है। चलचित्र की कहानी, दृश्य, जनरूचि आदि अन्य कारकों के अनुसार हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की बंदिशें, उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैलियाँ, लोकसंगीत, सुगम संगीत और पश्चिमी सांगीतिक शैलियों का प्रयोग गीतो में किया गया मिलता है। प्रथम सवाक् चलचित्र 'आलमआरा' (1931) में पारसी नाटक के गीत, 'बैजूबावरा' (1952) में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत से प्रेरित गीत, डिस्को डांसर (1982) में पश्चिमी डिस्को शैली पर आधारित गीत, उपरोक्त कथन के सर्वोपरि उदाहरण हैं। हिन्दी चित्रपट संगीत शैली की उत्पत्ति अन्य शैलियों को मूलाधार रख, सीमित समय की विशेषता लिए हुए है। फिल्मी गीतों की मुख्य विशेषता 3 से 7 मिनट के अन्तर्गत एक भाव–विभोर रचना द्वारा दर्शकों को तन्मयलीन कर चरित्रों के भावों के साथ साम्य स्थापित करना है। इसी दिशा में संगीत निर्देशकों एवं संगीतकारों ने हिन्दी चित्रपट संगीत के साथ अनेकानेक प्रयोग किए हैं तथा बाह्य संगीत का उपयोग करने के

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, फैकल्टी ऑफ म्यूजिक एण्ड फाइन आर्ट्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लिए कोई संकोच नहीं किया है। यदि हिन्दी चित्रपट संगीत के इतिहास एवं विकास को गौर से देखा जाए तो यह विदित होता है, कि समय–समय पर विभिन्न संगीत शैलियों का प्रभाव प्रबल रहा है तो कभी मध्यम रूप में निहित रहा है। जहाँ प्रारंभिक दौर में शास्त्रीय संगीत की बंदिशें ही हिन्दी फिल्मों के गीत बने, वहीं दूसरी ओर लगभग (1965) के बाद से अन्य संगीत शैलियों का प्रयोग अधिक होने लगा, परन्तु अनेक संगीत शैलियों में से भी लोक संगीत का प्रयोग निरंतर देखा जा सकता है। लोक संगीत का प्रयोग सवाक् चलचित्रों के पहले दशक से लेकर आज तक निरंतर बढ़ता आया है और ऐसे अनेक गीत हिन्दी फिल्म संगीत के इतिहास में सदाबहार गीतों की सूची में अंकित हो गए हैं, इसलिए हिन्दी चित्रपट संगीत में लोक संगीत का प्रयोग एक विशेष स्थान रखता है। लोक संगीत मानवीय भावों को बहुत ही सरलता एवं सहजता से व्यक्त करता है। लोक संगीत को पारम्परिक संगीत भी कहा जा सकता है क्योंकि यह सदियों से चला आ रहा है। लोक संगीत मानव के सभी भावों, दुख एवं सुख का सारथी है। मानव के समस्त संस्कार लोक संगीत के साथ ही साकार होते हैं। सहज अभिव्यक्ति, प्रादेशिक भाषा एवं सरल धुन व लय आदि विशेषताओं के कारण लोक संगीत मानवीय मनोभावना के साथ आसानी से जुड़ जाता है। इसी कारण हिन्दी फिल्मी गीत, जो लोकसंगीत पर आधारित होते हैं, श्रोताओं के साथ संबंध बनाने में सफल होते हैं।

अवलोकन की चर्चा

हिन्दी चित्रपट संगीत में लोक संगीत का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया, यह कहना बहुत कठिन है। पूर्व के संगीतकारों के गीतों में उनके प्रादेशिक संगीत का प्रभाव देखा जा सकता है। अपितु प्रत्यक्ष रूप में लोक संगीत का प्रयोग बॉम्बे टॉकीज के चलचित्र ''कंगन'' (1939) में रामचन्द्रपाल द्वारा किया गया मिलता है।[1] इस चलचित्र में बंगाल के नाविकों का गीत भटियाली पर आधारित संगीत की संरचना प्रत्यक्ष होती है। सन् 1941 के चलचित्र 'खंजाची' में गुलाम हैदर ने पंजाबी लोक संगीत का प्रयोग कर हिन्दी फिल्मों के गीतों में एक जीवन्तता भर दी। इस चलचित्र का गीत 'दीवाली फिर आ गई सजनी' में पंजाबी लय का प्रयोग अति सफल रहा जिसमें ढ़ोलकी पर ताल का वादन पंजाबी शैली में किया गया मिलता है।[2] 'खानदान' (1942) के गीतों में भी गुलाम हैदर ने इसी शैली का प्रयोग किया। तत्पश्चात् नौशाद द्वारा संगीतबद्ध चलचित्र रतन (1944) के गीतों में उत्तर प्रदेश के लोक संगीत का प्रयोग भी बहुत सफल रहा।[3] कश्मीरी, हिमाचली एवं बंगाली लोक संगीत का प्रभाव भी इसी दौर में सम्मिलित हो गया था।[4] आगे चलकर अन्य प्रांतों के लोक संगीत का भी कुशल प्रयोग शामिल हुआ।

चित्रपट के शुरुआती दौर से ही लोक संगीत का प्रयोग बहुत प्रभावशाली रहा है। लोक संगीत पर आधारित गीतों की सफलता के कारण वर्तमान में भी हिन्दी चित्रपट संगीत में लोक संगीत का प्रयोग निरंतर बढ़ रहा है। संगीत समीक्षकों के अनेक लेख हिन्दी फिल्मी गीतों की सफलता का श्रेय लोक संगीत को मानते हैं। ''हिन्दी फिल्मों में माधुर्य की बढ़ती मांग के लिए लोक संगीत टिकने का माध्यम है। लोक संगीत हृदय से निकली हुई भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति है जो दर्शकों को अपनत्व का आभास कराती है तथा सहज ही आनंदित कर देती है, इसी कारण लोक संगीत का प्रयोग संगीतकारों के लिए सुरक्षा कवच के रूप में देखा गया मिलता है।''[5] एक अन्य संगीत समीक्षक द्वारा दिया गया निम्नांकित कथन हिन्दी चित्रपट संगीत में लोक संगीत के प्रयोग का एक अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनके कथनानुसार– 'गंगा जुमना' से ''नैन लड़ जईहैं'' भोजपुरी संगीत का पर्याय बन गया, बॉबी में ''झूठ बोले कौआ काटे'' मछुआरों के कोली गीत का, ''मैं तो भूल चली बाबुल का देस'' गुजराती गरबा का, ''वहाँ कौन है तेरा'' बंगाल के लोक संगीत का, मधुमती ''चढ़ गयो पापी बिछुआ'' असमी बिहु का, ''केसरिया बालमा पधारो म्हारे देस'' राजस्थानी मांड का, 'राम तेरी गंगा मैली' से ''सुन सायबा सुन'' पहाड़ी धुन का, 'मिशन काश्मीर' से ''बुमरो' कश्मीरी लोक संगीत का और 'दिल्ली 6' से ''सुसराल गेंदा फूल'' छत्तीसगढ़ी लोक संगीत का विशाल भारद्वाज की 'इश्कियाँ' और 'ओमकारा' ने हिन्दी फिल्मों में लोक संगीत को और अधिक बढ़ावा दिया। हिन्दी चलचित्रों के उपरोक्त गीत इतने प्रसिद्ध हुए हैं कि उन्हें संबंधित प्रदेश के लोक संगीत से ही जोड़ के देखा जाने लगा।

हिन्दी चित्रपट संगीत एवं लोकसंगीत के सुमेल से उत्पन्न अनेक सदाबहार गीत आज भी प्रचलित है। हिन्दी चित्रपट संगीत में सन् 1939 में सर्वप्रथम 'कंगन' में लोक संगीत का प्रयोग प्रादेशिक प्रभाव के रूप में देखा

जा सकता है तथा हिन्दी चित्रपट संगीत के इतिहास में संगीत से प्रेरित अनेकों लोक गीतों की सूची है जो श्रोताओं के मन पर अमिट छाप छोड़ गए। भारत के विभिन्न प्रांतों के लोक संगीत के प्रयोग से रचित हिन्दी फिल्म गीतों के कुछ अविस्मरणीय उदाहरण निम्नांकित हैं–

1. उत्तर प्रदेश के लोक संगीत पर आधारित गीत

झुमका गिरा रे	–	मेरा साया, 1965
चलत मुसाफिर	–	तीसरी कसम, 1966
मै आई हूँ यू. पी.	–	शूल, 1999
नमक इश्क का	–	ओंकारा, 2006
बीड़ी जलइले	–	ओंकारा, 2006
मुन्नी बदनाम हुई	–	दबंग, 2010
फेविकाल से	–	दबंग, 2010

2. बिहार और झारखण्ड के लोक संगीत पर आधारित गीत

चिं ता ता, चिता चिता	–	राउडी राठौर, 2012
वुमानिया	–	गैंग्स ऑफ वासेपुर, 2012

3. भोजपुरी लोक संगीत पर आधारित गीत

हे गंगा मैया तोहे	–	गंगा मैया तोहे पिथरी चढ़रको, 1963
लुक छुप बदरा में	–	गोदान, 1963

4. पंजाबी लोक संगीत पर आधारित गीत

लेके पहला पहला पहला प्यार	–	सी. आई. डी., 1950
की मैं झूठ बोलेया	–	जागते रहो, 1956
रेशमी सलवार	–	नया दौर, 1957
उड़े जब–जब जुल्फें तेरी	–	नया दौर, 1957
ये देश है वीर जवानों का	–	नया दौर, 1957
मेरी जाँ बल्ले–बल्ले	–	कश्मीर की कली, 1964
डोली चढ़ते ही हीर वे	–	हीर रांझा, 1970
छल्ला	–	क्रुक, 2010
बारी बरसी खटन गयासी	–	बैंड बाजा बारात, 2010
जुगनी	–	तनु वेड्स मनु, 2011

5. राजस्थानी लोक संगीत पर आधारित गीत

सुनियो जी	–	लेकिन, 1990
केसरिया बालमा	–	लम्हे, 1991
मोरनी बागां मां	–	लम्हें, 1991

गलती म्हारे से	–	करन अर्जुन, 1995
नीम्बुडा नीम्बुड़ा	–	हम दिल दे चुके सनम, 1999

6. गुजराती लोक संगीत पर आधारित गीत

हे नाम रे सबसे	–	सुहाग, 1974
ढोली तारो	–	हम दिल दे चुके सनम, 1999
काई पो चे	–	हम दिल दे चुके सनम, 1999
राम जी की चाल	–	गोलियों की रासलीला रामलीला, 2013

7. असमी लोक संगीत पर आधारित गीत

दिल हुम हुम करे	–	रूदाली, 1993

8. पहाड़ी लोक संगीत पर आधारित गीत

हुस्न पहाड़ों का	–	राम तेरी गंगा मैली, 1985

9. बांग्ला लोक संगीत पर आधारित गीत

सुन मेरे बंधु रे	–	सुजाता, 1959
मेरे साजन है उस पार	–	बंदिनी, 1963

10. मराठी लोक संगीत पर आधारित गीत

मला ज्याऊ दे	–	फरारी की सवारी, 2012
चिकनी चमेली	–	अग्निपथ, 2012
इंग्लिश विंग्लिश	–	नवराई माझी, 2012

11. दक्षिण भारतीय लोक संगीत पर आधारित गीत

मुतु कोड़ी कवाड़ी हडा	–	दो फूल, 1973
जिया जले	–	दिल से, 1998
ढ़िका चिका	–	रेड्डी, 2011
लुंगी डांस	–	चेन्नई एक्सप्रेस, 2013

निष्कर्ष :

हिन्दी चित्रपट संगीत में लोकसंगीत का प्रयोग शुरूआत से ही निरंतर चला आ रहा हैं। उत्तर प्रदेश के लोक संगीत का प्रयोग 1944 से लेकर आज तक निरंतर जारी है और इसे कई आइटम नंबर्स के लिए भी किया जाने लगा है। राजस्थानी, मराठी व गुजराती के लोक संगीत से प्रेरित चलचित्रों के गीत अल्पमात्रिक मिलते हैं, परन्तु उनका प्रभाव एवं लोकप्रियता इतनी अधिक है कि उसकी तुलना संख्या से करना उचित नहीं है। गुजराती लोक संगीत के गरबा और डांडिया नृत्य प्रकारों का भी प्रयोग मिलता है और राजस्थान के लोकसंगीत का प्रयोग तो चलचित्र की पटकथा हेतु बहुत सुन्दरता से किया गया। एस.डी. बर्मन द्वारा बांग्ला संगीत मुख्यतः प्रयोग किया गया। दक्षिण भारत के लोक संगीत के विपरीत वहाँ के चित्रपटीय संगीत का प्रयोग अधिक देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त लोक संगीत का प्रयोग आवश्यकतानुसार चलचित्र की पटकथा के अनुरूप संबंधित प्रांतों पर आधारित होने के कारण किया गया, जिसके आभाव में चलचित्र की सार्थकता स्थापित नहीं हो सकती

थी। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि पंजाब के लोक संगीत का प्रयोग स्वावलंबी रूप से बड़े पैमाने पर हो रहा है। पंजाब के लोक संगीत की कई गायन–शैलियों, जैसे–टप्पे, जुगुनी, हीर, छल्ला आदि से प्रेरित हिन्दी चलचित्र के गीत बहुप्रचलित हुए हैं और इनकी संख्या निर्धारित करना बहुत कठिन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी चित्रपट संगीत में भारत के विभिन्न प्रांतों के लोक संगीत का प्रयोग बहुत कुशलता से किया गया मिलता है। यह प्रयोग न केवल हिन्दी चित्रपटीय गीतों की लोकप्रियता बढ़ाने में सहायक साबित हुआ है बल्कि कहीं–न–कहीं लोकसंगीत की पारंपरिक धुनों को उजागर करने में सक्षम दिखता है। अतः यदि हिन्दी चित्रपटीय संगीत निर्देशक, भारत के प्रांतों के लोक संगीत को और अधिक सावधानी से मौलिक रूप में ही प्रयोग करें तो यह लोक संगीत के संरक्षण हेतु बहुत ही बौद्धिक प्रयास होगा और दोनों ही शैलियों को लाभान्वित करेगा।

सन्दर्भ सूची :

1. भार्गव, अनिल, हिन्दी फिल्म संगीत 75 वर्षों का सफर, वाङ्मय प्रकाशन, वाङ्मय हाउस, ई–776/7, लाल कोठी योजना जयपुर–302015 (द्वितीय संस्करण : 2011)
2. राग, पंकज, धुनों की यात्रा (हिन्दी फिल्मों के संगीतकार), राजकमल प्रकाशन, नेता जी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली (द्वितीय संस्करण)।
3. विमल (डॉ.), हिन्दी चित्रपट एवं संगीत का इतिहास, सोमनाथ दल संजय प्रकाशन, 437884–वी, 209 जे. एन. डी., हाउस गली मुरारीलाल, अंसारी रोड़, दरियागंज नई दिल्ली–110002 (प्रथम संस्करण : 2010)
4. Evolution of Hindi Film Song, Part 2, http://www.uperstall.com/content/evolution-hindi-film-song-part-2.
5. डे, दीपा राणा, Sounds of the soil, the Tribune, Specturm Sunday, September (2012)

'संगीतरत्नाकर' के स्वरगताध्याय की प्रासंगिकता

डॉ0 दीप्ति श्रीवास्तव*

शोधसार

शारंगदेव का 'संगीतरत्नाकर' संगीत के अत्यन्त विशाल व्यापक क्षेत्र विषय के स्पष्ट निरूपण तथा प्रमाणिकता की दृष्टि से अप्रतिम स्थान रखता है। गीत वाद्य तथा नृत्य संगीत के इन तीनों अंगो का विस्तृत निरूपण इस ग्रंथ में सप्ताध्यायों में विभाजित है, अतः यह सप्ताध्यायी के रूप में भी विख्यात है। इन सप्त अध्ययों में स्वरगताध्याय में स्वरगत विषयों, नाद स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, जाति गीति, वर्ण अलंकार सभी विषयों की शारंगदेव ने तत्कालीन लक्षण के अनुसार व्याख्या की है। ये सभी आधारभूत लक्षण आज भी संगीत में कुछ संज्ञा भेद से प्रयुक्त है। साथ ही, कुछ में सादृश्यता भी दृष्टिगोचर होती है।

शारंगदेव एवं उनका संगीत रत्नाकर भूत वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों के लिए सदैव समसामायिक है। स्वरगताध्याय में वर्णित में संगीत के मूलतत्व नाद, श्रुति, स्वर वर्तमान संगीत में भी उतने ही प्रयोजनीय है जितने प्राचीन संगीत में। ग्राम, मूर्च्छना, तान के रूप में प्राचीन भारतीय संगीत के आधार भूत सिद्धांतो का निरूपण, साथ ही वर्ण अलंकार जाति गीति इन सभी विषयों को वर्तमान संगीत के संदर्भ में निष्प्रयोज्य नहीं कहा जा सकता।

बीजशब्द : *स्वरगताध्याय, संगीतरत्नाकर, लक्षण, लक्ष्य, संगीत*

प्रविधि : *ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है ।*

संगीत के अथाह सागर में एक आकर के रूप में अवस्थित संगीतरत्नाकर में मध्यकालीन संगीत (तेरहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध) का सर्वागींण एवं विस्तृत वर्णन मिलता है। संगीतरत्नाकर एक वृहद विश्वकोष की भाँति वृहदाकार ग्रंथ है। इस ग्रंथ में संगीत के तीनों अंगो गीत, वाद्य एवं नृत्य का समावेश है और सभी का सागोंपांग निरूपण है। शारंगदेव ने तत्कालीन लक्ष्य को ध्यान में रखकर संगीत की पहले से चली आ रही लक्षण परम्परा को लगभग, 40 पूर्वाचार्यों के मतों का सार निकालकर संगीतरूपी सागर के रत्नों के आकर संगीतरत्नाकर में निबद्ध किया है।

संगीतरत्नाकर संस्कृत में लिखे गये संगीत शास्त्र ग्रंथो में एक मात्र ऐसा गंथ है जिसका पाठ शुद्ध अविकल एवं अखण्डित रूप में मिलता है।

'गीत वाद्य तथा न त्रं त्रयं ंसगीत मुच्यते'

संगीतरत्नाकर 1/1/21/

संगीत के इन तीनों अंगो का लक्षण ग्रंथ संगीतरत्नाकर है। इन तीनों अंगो की व्याख्या के आधार पर यह सप्त अध्यायों में विभाजित है एवं सप्ताध्यायी के रूप में भी विख्यात है। इसके सप्ताध्याय–स्वरगताध्याय, रागविवेकाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय, वाद्याध्याय, नर्तनाध्याय है।

नये देशकाल के नये प्रश्नों तथा जिज्ञासाओं के आईनें में किसी भी टेक्स्ट (Text) के पुनर्पाठ की जरूरत पड़ती है। लेखक के आभामण्डल के बाहर जाकर उसके दृष्टि की पड़ताल करनी पड़ती है, किन्तु शार्दव एवं उनका संगीतरत्नाकर भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों के लिये सदैव समसामयिक हैं। अतः संगीतरत्नाकर के सभी अध्याय इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं परिपूर्ण है तथापि स्वरगताध्याय सप्ताध्यायों में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

स्वरगताध्याय में वर्णित संगीत के मूलतत्त्व नाद, श्रुति, स्वर वर्तमान संगीत में भी उतने ही प्रयोजनीय है जितने प्राचीन संगीत में। ग्राम, मूर्च्छना तान के रूप में प्राचीन भारतीय संगीत के आधारभूत सिद्धान्तों का जो निरूपण है, साथ ही वर्ण अलंकार, जाति गीति इन सभी विषयों को वर्तमान संगीत के सन्दर्भ में निष्प्रयोज्य नहीं कहा जा सकता। स्वरगताध्याय में वर्णित इन सभी विषयों का समग्र अध्ययन अन्य षष्ट अध्यायो के विषयों को समझने में सहायक है। अतः स्वरगताध्याय संगीतरत्नाकर के प्रथम अध्याय के स्थान पर उचित ही प्रतिष्ठित है। इन शास्त्रवर्णित सिद्धान्तों के समग्र अध्ययन के आधार पर प्रयोग की सार्थकता को और समझा जा सकता है।

संगीत एक प्रयोग शिल्प है जिसमें हर क्षण शनैः शनैः परिवर्तन होता रहता है। एक शास्त्रकार अपने समय

*वाराणसी

के प्रयोग की प्रवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर कुछ सामान्यीकृत धारणाओं को लक्षण के रूप में स्थापित कर देता है। शास्त्रकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में परिवर्तन एवं परिवर्धन भी होता रहता है साथ ही कुछ लक्षण ऐसे भी होते हैं जो शाश्वत ही रहते हैं, काल भेद से उनके लिए प्रयुक्त शब्दों में एवं लक्षण में कोई परिवर्तन संभव नहीं होता। संगीतशास्त्र परम्परा में शार्दव एक ऐसे शास्त्रकार हैं जिन्होंने अपने पूर्वाचार्यों की समृद्ध चिन्तन परम्परा का अध्ययन करके संगीतरत्नाकर के स्वरगताध्याय में स्वरगत जिन विषयों का निरूपण किया है उन सभी विषयों में कुछ वर्तमान संगीत में संज्ञा भेद से प्रयुक्त है साथ ही कुछ में सादृश्यता भी दृष्टिगोचर होती है।

पदार्थ संग्रह में ग्रंथकार द्वारा द्विविध मंगलाचरण, पूर्वाचार्य स्मरण, वंशवर्णन परम्परानुसार हैं। प्राचीन संगीतशास्त्र ग्रंथों में परम्परानुसार अपने ईष्ट स्मरण की परम्परा रही है एवं शारंगदेव भी उनके अनुगामी रहे है। संगीत के लक्षण के रूप में 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं' अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्त या नृत्य इन तीनों का सम्मिलित रूप वर्तमान में भी 'संगीत' के अर्थ को व्याख्यायित करता है एवं इन तीनों के सम्मिलित रूप से ही संगीत में लालित्य आता है। मार्ग देशी की व्याख्यानुसार आज का हमारा संगीत मार्ग और देशी की सीमा में रहकर प्रवाहित है इसमें भिन्न नहीं। गीत प्रशंसा में संगीत को धर्म, अर्थ, काम मोक्ष का साधन बताया है जो यह इंगित करता है कि ग्रन्थकार के पूर्व का संगीत जो सिर्फ मोक्ष प्रदायी था अब वह धर्म, अर्थ, काम का साधन बन चुका था। आज भी 'संगीत' प्रत्यक्ष रूप से धर्म, अर्थ, काम का साधन तो है ही संगीत में साधना के उच्च स्तर पर यह आज भी मोक्ष प्रदायी है निःसंदेह।

पिण्डोत्पत्ति रत्नाकर की एक अद्वितीय विशेषता है। इसके अन्तर्गत वर्णित चक्रों में गीतादि की संसिद्धी योग व अनुभव द्वारा धीरे–धीरे प्राप्त हो सकती है। संगीत साधना के उस स्तर पर क्रियात्मक रूप से अनुभव सिद्ध होने से पूर्व सम्पूर्ण शरीर संरचना का ज्ञान संगीत साधक को होना अपेक्षित है। नाद प्रशंसा, दो भेद एवं नाद की पंचविधिता संगीतशास्त्र में अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। ग्रन्थकार 22 श्रुतियों को परम्परा सम्मत 22 ही मानते हुये इनके अन्तर्गत शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना कर उसके आद्य प्रवर्तक कहे गये हैं एवं परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा शार्दव के ही स्वरों का अनुसरण किया गया है। स्वर की परिभाषा 'स्वतो रॉयति श्रोतृचितं' आज भी वैसे ही स्थापित है एवं इसके अर्थ में कोई परिवर्तन संभव नहीं है। बाइस श्रुतियों के अन्तर्गत ही तीन ग्रामों की रचना हुयी जिनमें षड्ज एवं मध्यम एवं गांधार को परम्परानुसार प्राप्त कर गांधार को स्वर्गलोक में प्रयुक्त बताया है।

आज हमारी आधार स्वरावली षड्जग्राम से जुड़ी हुयी है एवं आधुनिक ग्राम प्राप्ति के लिये षड्ज ग्राम के 'म' को 'सा' मानकर आरोहावरोह करने पर आज का आधुनिक ग्राम शुद्ध सा, रे, म, प, ध, नि प्राप्त होता है किन्तु आधुनिक ग्राम के शुद्ध नि की स्थापना शड्जग्राम के अन्तर गान्धार पर है।

इन्हीं ग्राम के स्वरों के आधार पर मूर्च्छनाओं का उद्भव हुआ। मूलरूप से मूर्च्छना का उद्देश्य स्थान प्राप्ति था। मूर्च्छना के वैचिटय से ही राग वैचिटय की सृष्टि संभव है। वर्तमान में मूर्च्छना के प्रयोग को अनेक विद्वान एवं कलाकार स्वीकार करते हैं साथ ही कुछ विद्वान वर्तमान सन्दर्भ में इसके प्रयोग को सिरे से नकारते भी हैं। मूर्च्छना का प्रयोग आज भी गाने–बजाने की क्रिया में किया जाता है किन्तु मूर्च्छना संज्ञा वहाँ अभिहित नहीं है। विशेष रूप से शास्त्रीय, उपशास्त्रीय एवं सुगमसंगीत में इसका प्रचुरमात्रा में प्रयोग होता है। प्राचीन गायक–वादक इस क्रिया को 'ग्राम बाँध' कर गाना कहते थे। एक प्रकार से आविर्भाव एवं तिरोभाव को इसी के अन्तर्गत माना जा सकता है। मूर्च्छना वैचिटय के अन्तर्गत यदि वर्तमान समय में शुद्ध स्वरों के मध्य सप्तक के गान्धार को सा मानकर तार सप्तक के गांधार तक आरोह–अवरोह करने पर पूर्णरूप से भैरवी के स्वर प्राप्त होते हैं।

वर्तमान संगीत में 'तान' राग विस्तार का सूचक है। गणित सिद्ध विधि के आधार पर स्वरों के उलट–पटल क्रम से उनकी संख्याओं को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है, इस संदर्भ में 'खण्डमेरू' वर्तमान संगीत में भी प्रयोजनीय है।

वर्ण के चार प्रकार आज भी संगीत की गायन–वादन क्रिया में प्रयुक्त हैं एवं इनसे भिन्न कोई व्यवस्था नहीं है जिनमें काल भेद से कोई परिवर्तन नहीं दिखता साथ ही स्थायी, आरोह–अवरोही एवं संचार वर्ण के अन्तर्गत वर्णित सभी अलंकारों का प्रयोग आज भी

संगीत में करते हैं किन्तु उन्हें उनकी विशिष्ट संज्ञा द्वारा नहीं पहचानते। आधुनिक काल में भी संगीत विद्यार्थीयों को संगीत शिक्षा में प्रारम्भ में अलंकारों का अभ्यास कराया जाता है जिसका उद्देश्य स्वर का सही प्रयोग विभिन्न क्रमों में स्वरों का अभ्यास होता है। तदन्तर अभ्यास के फलस्वरूप रागों में भी उसके सौन्दर्य को बढ़ाने राग विस्तार एवं स्वर माधुर्य में अलंकार उपयोगी होते है। तत्कालीन लक्ष्य में शार्ङदेव के पूर्व ही जाति गायन का लोप हो चुका था किन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं यह उल्लेख किया है कि राग या राग के अवयव जाति में प्रछन्न हैं। अतएव राग गायन को समझने के लिये जाति गायन के सम्बन्ध में एक प्रकार की धारणा आवश्यक है।

गीति के अन्तर्गत हमारे वर्तमान संगीत में भी मागधी गीति के समान एक–एक शब्द या अक्षर की बारम्बार जो आवृति होती है उसका मूल पदाश्रित मागधी गीति से तुलनीय है साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ठीक वैसा ही प्रयोग आज दृष्टिगत नहीं होता परन्तु प्राचीन लक्षण में विभिन्न मार्गों में लय आदि के प्रयोग का ज्ञान हमें इससे होता है।

अतः इस अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वरगताध्याय में वर्णित विषयों में से कुछ वर्तमान संगीत के संदर्भ में निष्प्रयोज्य नहीं कहे जा सकते। संगीत में परिवर्तन हो गया है किन्तु उनके मूल सिद्धान्तों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता।

सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची :

1. Ayyangar, R. Rangarmanuja. 'Sangeeta Ratnakaram' of 'Nissanka' Sarangadeva. Bombay: Wilco Publishing House, 1978.
2. Ramanathan, N., Musical Forms in Sangitaratnakara. Chennai: Sampradaya, 1999.
3. Brihaddesi of Sri Matanaga muni. ed Sharma Prem Latha. New Delhi: Motilal Banarsidas, 1992.
4. Desai, P., Chaitanya. ed. Bharatabhasyam of Nanyabhupal part-1. Khairagarh : Indira Kala Sangita Viswavidyalaya, 1961.
5. Desai, P., Chaitanya. ed. Bharatabhasyam of Nanyabhupal part-2. Khairagarh : Indira Kala Sangita Viswavidyalaya, 1976.
6. Kallinath. Sangeetratnakar of Sharangdev. Varanasi: Chaukhamba Surlhari Prakashan,
7. कपूर, मंगला. संगीत मांगल्य. वाराणसी : गोपीचन्द्र कपूर, 2006.
8. कलिन्द. अनु. संगीत–पारिजातः. हाथरस : संगीत कार्यालय, 1956.
9. दीक्षित, कुमार, प्रदीप. स 'रस' संगीत. वाराणसी : किशोर विद्या निकेतन 2016.
10. चक्रवर्ती, इन्द्राणी. संगीत मंजुषा. दिल्ली : मित्तल पब्लिकेशंस, 1980.
11. चटर्जी, गौतम. संगीत–विमर्श. वाराणसी : अभिनवगुप्त अकादमी, 2009.
12. चौधरी, सुभद्रा. भारतीय संगीत में ताल और रूप–विधान. अजमेर : कृष्णा ब्रदर्स, 1984.
13. चौधरी, सुभद्रा. सं. संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र. अजमेर : कृष्णा ब्रदर्स, 1988.
14. चौधरी, सुभद्रा. अनु. संगीतरत्नाकर. (द्वितीय खंड). नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 2006.
15. चौधरी, सुभद्रा. अनु. संगीतरत्नाकर. (प्रथम खंड). नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 2006.
16. चौधरी, सुभद्रा. अनु. संगीतरत्नाकर. (तृतीय खंड). नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 2006.

महाकवि विद्यापतिरचित ऋतुगीतों का सौन्दर्यात्मक पक्ष

डॉ0 जगबन्धु प्रसाद*

सार

लगभग 13वीं सदी में विद्यापति का अभ्युदय मिथिला के पवित्र भूमि पर हुआ। विद्यापति के पूर्वज व गुरुजन पूर्व से ही अपने विद्वता के कारण मिथिला के राज दरबार में अपना स्थान बना चुके थे। वे कई प्रकार की रचनाएँ मिथिला के राजा–महाराजाओं के सम्मान में लिख रहे थे। विद्यापति ने भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लगभग 12 संस्कृत ग्रंथों एवं 2 अवहट्ट भाषा में रचनाएं की। इतना ही नहीं, उन्होंने लगभग 2000 से अधिक गेय पदों की रचना की। उनसे कोई भी विषय चाहे श्रृंगार हो, भक्ति हो, करुण हो, प्रेम हो अथवा हास्य, अछूता नहीं रहा।

विद्यापति ने प्रकृति के प्रेम को दर्शाते हुए कई रचनाएं की। मौसमी गीतों के रचनाओं को उन्होंने बहुत अधिक महत्त्व दिया और उन्होंने सामयिक अथवा ऋतुपरक गीतों की कई रचनाएँ की। ऋतुगीतों में कवि ने वसंत, वर्षा, बारहमासा, चैत, पूस सभी मौसम से संबंधित गीत रचे। वसंत ऋतु के वर्णन में उन्होंने हमेशा प्रेम, विभोर, फूल, बिहरइ, किशोर, कालिन्दी, कुंजबन, शोभन आदि शब्दों के प्रयोग से ऋतु की एक जीवन्त छवि का परिचय दिया। पदावली में शिवसिंह एवं लखिमा देवी के आपसी संबंधों को, वसंत ऋतुगीतों जो ''भावोल्लास'' के नाम से भी जाना जाता है, बहुत कुशलता से वर्णित किया। वर्षाऋतु में घन, गरजन्ति, मत्त–दादुर, तिमिर आदि शब्द के प्रयोग से ऋतु की सुन्दरता का बखान किया। वर्षा ऋतु में उठने वाली विरह वेदना को विद्यापति ने कुछ इस प्रकार व्यक्त किया–

सखी हे हमर दुखक नही ओर
इ भर बादर, माह भादव, सून मंदिर भोर.....

इसी तरह चैत, बारहमासा, होरी, झूमर आदि गीतों में भी विद्यापति के काव्य में प्रकृति सौन्दर्य का स्पष्ट दर्शन हो पाता है।

संकेत शब्द : *ऋतुगीत, मैथिली, लोकगीत, वसंत, बारहमासा*

प्रविधि : *सम्पूर्ण अध्ययन के लिए पुस्तकों के अध्ययन को माध्यम बनाया गया है ।*

विद्यापति : जीवन एवं व्यक्तित्व

मैथिल कोकिल विद्यापति का जन्म 1000 वर्ष पूर्व मिथिला के 'बिसफी' गांव में हुआ था। वे अपनी विद्वता के दम पर सहस्र वर्षों तक न सिर्फ भारत बल्कि पूरी दुनिया में नाम कमाने में पूर्ण रूपेण सफल हुए।

विद्यापति के पिता ''गणपति ठाकुर'' एवं उनके पूर्वज मिथिला के राज दरबार में 'सभा पण्डित'' हुआ करते थे। मिथिला के राजा गणेश्वर ठाकुर एवं उनके सुपुत्रों का विद्यापति के पिता एवं स्वयं विद्यापति से बहुत सौहार्दपूर्ण संबंध था। 'गणेश्वर ठाकुर' के पुत्र कीर्तिसिंह के दरबार में विद्यापति का अच्छा स्थान था। विद्यापति ने 'राजा कीर्तिसिंह' की आज्ञा से 'कीर्तिपताका एवं कीर्तिलता' ग्रंथों की रचना की। उसके बाद कीर्तिसिंह के पुत्र ''शिवसिंह'' के सान्निध्य एवं आश्रय में उन्होंने कई पदों की रचना की। राजा शिवसिंह के साथ विद्यापति का सखाभाव था। इसलिए राजा शिवसिंह के संबंध में रचित अधिकतर रचनाएँ विद्यापति ने बहुत ही स्वतंत्रता एवं निजता से रचा। विद्यापति ने राजा शिवसिंह एवं रानी लखिमा देवी के प्रेमपूर्ण संबंध पर भी पद लिखें। विद्यापति जी ने पदों की भणिता (पद नाम) में 'शिवसिंह' का नाम लिया है। साथ ही रानी लखिमादेवी नाम से भी कई पद प्राप्त होते हैं। महाकवि विद्यापति एक महान कवि, साहित्यकार, संगीत विद्, कथाकार एवं संस्कृत, हिन्दी एवं मैथिली इन तीनों भाषा के ज्ञाता थे। इन्होंने

*एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्रृंगार, भक्ति, हास्य इन सभी भावों से युक्त कई काव्यों की रचना की। महाकवि के अद्भुत काव्य सौंदर्य के कारण ही इनकी गणना हिन्दी के महान कवियों में की जाती है। हिन्दी साहित्य में उन्हें वही स्थान प्राप्त है, जो संस्कृत में महाकवि जयदेव को प्राप्त था। उन्होंने महाकवि जयदेव कृत गीत गोविन्द से प्रेरणा ली और अपनी निजी मौलिकता बनाये रखते हुए 'पदावली' की रचना की।

विद्यापति के प्रमाणिक गीत कितना उपलब्ध है यह कहना कठिन है। परन्तु कुछ पांडुलिपियों के रूप में इन गीतों का संकलन किया गया। ऐसे प्राचीन पांडुलिपियां आठ हैं (1) रामभद्रपुर–तालपत्र, (2) नेपाल–तालपत्र, (3) तरौनी तालपत्र, (4) भाषा गीत संग्रह, (5) रागतरंगिणी, (6) हरगौरी विवाह नाटक, (7) गोरक्ष विजय नाटक, तथा (8) नानारागगीत।[1]

महाकवि ने कुल 14 ग्रंथों की रचना की। ये सभी ग्रंथ किसी–न–किसी महत्वपूर्ण विषय से संबंधित थे। इन ग्रंथों के नाम है (1) कीर्तिपताका, (2) कीर्तिलता, (3) गोरक्ष विजय, (4) भू–परिक्रमा, (5) पुरुष–परीक्षा, (6) लिखनावली, (7) शैव–सर्वस्वसार, (8) गंगा वाक्यावली, (9) विभागसार, (10) दान वाक्यावली, (11) दुर्गाभक्ततरंगिनी, (12) गया पत्तलक, (13) वर्ष–नृत्य, (14) मणिमंजरी।[2]

इसके अतिरिक्त उन्होंने 'वैष्णव–पदावली'' की रचना की जिसमें राधा–कृष्ण के प्रेम–संबंधों को साधारण नायक–नायिका के रूप में वर्णन किया गया है। इसमें राधा के रूप–सौन्दर्य का नख–शिख वर्णन मिलता है। ये गीत पूर्णरूपेण श्रृंगारिक हैं। यद्यपि ये वही गीत हैं जिसे सुनकर स्वयं महाप्रभु चैतन्य देव अभिभूत हुए बिना नहीं रह सके और इन गीतों को ही वे कीर्तन की तरह गाया करते थे।

विद्यापति ने पदावली के साथ ही, लगभग 2000 ऐसे गीत लिखे जो लोककंठ में प्रचलित हुए। इन गीतों के अंतर्गत संस्कार, भक्ति, श्रृंगार, ऋतु परक गीत आदि सम्मिलित होते हैं। विद्यापति गीतों की विशेषता यह है कि इन्होंने प्रकृति संबंधित शब्दों का व्यवहार अपने काव्यों में बहुतायत से किया। इनके गीतों में प्रकृति–संबंधित शब्दों यथा वृक्ष, चंदन, चंद्रमा, फूल, कोकिल, अंबर, नवजल, बिजुरी, कनकलता, ससि, अंगनमा, गछिया, कनक–कदलि, रबि–ससि शब्दों का प्रयोग मिलता है जो इनके प्रकृति–प्रेम का सूचक है।

प्राचीन काल से ही हमारे भारतीय संगीत में ऋतुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के सभी क्षेत्रों में ऋतु आधारित कई सारे लोकमय गीतों का प्रचलन भी रहा है। अनेक ऋतु आधारित लोकधुनों एवं लोकगीत भारतीय शास्त्रीय संगीत में भी ग्रहण की गई है। साधारण रूप में भारत में तीन प्रकार के मौसम पाये जाते हैं– गर्मी, सर्दी एवं बरसात। परन्तु मुख्य रूप से छः प्रकार के ऋतुओं की चर्चा संगीत एवं साहित्य इन दोनों में मिलती हैं। ये ऋतुएँ भारत में प्रचलित त्योहारों से भी जुड़ी हुई हैं। इसलिये जब हम इन ऋतुओं में प्रचलित लोकगीतों या साहित्य की बात करते हैं, तो कहीं ना कहीं संबंधित त्योहारों की भी चर्चा हम उन गीतों में पाते हैं। छः ऋतुएं ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शीत, वसंत इन सभी से संबंधित गीतों को गाने का प्रचलन हरेक लोक संस्कृति में पाया जाता है। इन ऋतुगीतों में ऋतु से संबंधित परिस्थितियाँ उस समय के मनोभावों और उस समय प्रचलित पर्व त्योहारों की भी चर्चा गीत के बोलों में मिल जाती है। कभी लू से तपती दुपहरी का वर्णन ग्रीष्म ऋतु में, तो कभी माघ–पूष की ठंड की चर्चा शीत ऋतु में मिलती है। इस प्रकार कभी मयूर नृत्य और दादुर के शोर की चर्चा वर्षा ऋतु में मिल जाती है तो कभी वसंत में उमंग, उल्लास और फूल के खुश्बू का वर्णन मिल जाता है। शरद ऋतु में जहाँ पत्ते झरने, नवरात्री, दशहरा का वर्णन मिलता है तो वहीं हेमंत ऋतु में पेड़–पौधे हरे–भरे होने का, सुबह के कोहरे वाले धूप के आनंद का और दिवाली के त्योहारों का वर्णन भी मिलता है।

विद्यापतिरचित पदों को देखने से ज्ञात होता है कि ऋतु अथवा सामयिक गीत से कवि का विशेष रूझान था। कारण इन गीतों में कवि का प्रकृति प्रेम और खुलकर सामने आया है। इन्होंने सभी प्रकार के ऋतुओं पर गीत लिखे। ऐसे गीत विशेष ऋतु पर गाई जाती है। इन्हें 'ऋतुगीत' कहते हैं। ये गीत बड़े ही भावपूर्ण और सरस होते हैं। इनमें जीवन की माधुरी और सुन्दरता का बड़ा रमणीय चित्रण होता है। इन गीतों में मानव हृदय के आन्तरिक उद्‌गारों की अभिव्यंजना होती है और साथ ही ऋतु वर्णन भी।

ऐसे गीतों में वसंत,वर्षा, चैतावर, होरी, झूमर, बारहमासा आदि आते हैं।

वसंत–

ऋतु वसंत पर विद्यापति ने अनेकानेक पद

लिखे। उन्होंने अपनी पदावली में 'वसंत' को बालक के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति वसंत को जीवंत रूप में प्रस्तुत किया अर्थात् उसका मानवीकरण किया है–

सुखसन बेरा सुकुल पख हे।
दिनकर उदित समाई हे।।
सोरह संपुन बतिस लखन सह।
जन्म लेल रितुराई है।।

इस प्रकार 'वसंत' का जन्मोत्सव बड़े आनन्द के साथ मनाया जाता है। आगे के पद में कवि लिखते हैं कि सभी युवती एवं जन खुशी से नाच रहे हैं और मधुर गान गा रहे हैं

नाचये जुबीत जना हरखित मन
जनमल बाल मधाई हे।।
मधुर महारस मंगल गावये।
मानिनि मान उड़ाइ हे।।
... मधुलय मधुकर बालक दयेहल[3]
कमल पंखुरि लाई
पओनारि तोरि सूत बांधल कटि
केशर कएल बधनाई
नव नव पल्लव सेज ओछाओल
सिर देल कदम्ब नाल।।

अर्थात् जब शिशु का नामकरण हुआ तो भौरों ने उसे कमल पंखुरिओं से मधु लाकर दिया। पद्मनाल को तोड़कर बालक की कमर में 'सूत' की तरह बांधा गया। केसर ने नवजात शिशु को बाधनख पहनाया। नये–नये पल्लवों से सेज बिछाया गया और सिर के नीचे कदम्ब के मालाओं को तकिया रखा गया। इस प्रकार 'वसंत' ऋतु में होने वाले सभी क्रिया–कलापों को विद्यापति ने वसंत के महोत्सव के रूप में वर्णित किया।

विद्यापति ने वसंत ऋतु से संबंधित अन्य कई गीत लिखे– जिनमें से कुछ गीत इस प्रकार हैं–

नव–वृन्दावन नव–नव तरूगण, नव–नव विकसित फूल, नवल वसंत नवल मलयानिल, मातल नवअलि कूल
बिहरइ नवल किशोर
कालिन्दि पुलिन कुंजवन शोभन नव–नव प्रेम विभोर।।[4]

इस प्रकार ''वसंत–ऋतु'' की छटा को कवि के काव्य शब्दों से ही समझा जा सकता है। जिसमें वसंत ऋतु में नये–नये फूल के खिलने और नवल किशोर (अर्थात् युवक–युवती) के बिहरने या घूमने का वर्णन मिलता है।

इसी प्रकार एक अन्य रचना है जो भावोल्लास के नाम से प्रचलित है।

''सरस वसंत समय भलपाओल, दक्षिण पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भाखिअ, मुख सत्रोदूर करू चीरे।।[5]
...भनहि विद्यापति सुनबर जउवति इसम लक्ष्मि समाने।
राज शिवसिंह रूप नारायेन, लखिमा देइपति जाने।।

वर्षा ऋतु–

विद्यापति के समय ऋतु–परक रचनाओं में वर्षा ऋतु गीत का अपना महत्त्व है। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए महाकवि ने कई महत्वपूर्ण गीत लिखें, जिसमें वर्षा सम्बन्धित शब्दों यथा घन, गरजन्ति, मत्त–दादुर, तिमिर आदि का प्रयोग मिलता है। एक गीत इस प्रकार है–

गगन गरज मेघा उठलि धरणि मेघा
पचशर हिय गेल सालि।
से धनि देखलि खिन जिउति आजुक दिन
के जान कि होइल कालि।।[6]

इसी प्रकार विद्यापति ने एक गीत में वर्षा ऋतु में विरह से दग्ध नायिका के अपने सखी के साथ हुए वार्तालाप का अनोखा वर्णन किया है। यथाः–

सखी हे हमर दुखक नहि ओर
इ भर बादर माह भादर
सून मंदिर मोर
झपि घन गरजन्ति संतति
भुवन भरि बरसन्तिया
कन्त पाहुन काम दारून सघन खर सर हंतिया।[7]

आगे,

तिमिर दिग भरि घोर यामिनी अधिर बिजुरक पांतिया
विद्यापति कह कइसे गवाओल हरि बिना दिन रातिया।।

अर्थात् हरि बिना दिन रात कैसे बिताया जाये, जबकि घनी वर्षा हो रही है, भरि बारिश में जबकि मिलने की इच्छा तीव्र है ऐसे में हरि बिन कैसे रहा जाए।

एक अन्य गीत में विद्यापति लिखते हैं–

जलद बरिस जलधार सर पओ पकए पहार
काजरे रांगलि राति, बाहर होइते साति सजनि
अइसनि निसि अभिसार तोहि तेजि करए के पार
भमए भुअंगम भीम, पंके पुरल चौसीम
जलधर बीजुऊजोर तखने, गरज घन घारे
सुकवि विद्यापति गाब, महघ भदन परथाव[8]

अर्थात् मेघ धाराप्रवाह बरसी जा रही है, रात्रि काजल रंग सी काली है, भयानक सर्प चारों तरफ घूम रहे हैं, बिजली चमक रही है, बाहर आना भी पराभव ही है, विद्यापति कहते हैं कि यह प्रेम–प्रसंग बहुत दुर्लभ और कष्टसाध्य है।

चैतमास

चैतमास पिया भेल जोगिया हो रामा
जो हम जनितौ पिया होता जोगिया
बन्हितो रेशमक डोरिया जो रामा
रेशमक डोरिया टुटि फटि जइते
बन्हितौं मैं अचरा लगाये हो रामा
भनहि विद्यापति सुनु हे सहेली सब
फिर घुमि अहोताह राम हो रामा[9]

चैतमाह में पिया जोगी बन बैठे हैं। अगर मैं जानती कि पिया जोगी बन जायेंगे तो उन्हें रेशम की डोरी से बांधकर रख लेती। अन्त में विद्यापति कहते हैं कि पिया कहीं भी जाए अन्ततः घूम फिर कर वापस तो यही आयेंगे।

चैतावर गीतों में 'रामा' टेक की परम्परा होती है।

होरी एवं झूमर

ऋतु संबंधित गीतों में वैसे गीत जो ऋतुओं के समकालीन समय परक गीत थे वे गीत भी शामिल हुए।

यथा वसंत से समीप होरी एवं वर्षा से समीप 'झूमर'। विद्यापति ने 'होरी' कुछ इस प्रकार लिखा–

होरी

कतनझोरी सिन्दूरे भरलि भरूमे भरू बोकान
बसह केसिर मजूर गुसा चारूहु पलु पलान।।
डिमिकि डिमिकि डमरू बाजये इसर खेलय फागु।
भसमे सिन्दूरे दुअओ खेड़ा एकहि दिवस लागु।
संझाए सिन्दूरे भरू सरूसति लाछीहि भरलि गोरी
इसरे भसमे भरू नरायेन पिअर वसन बोरी
एक तओ नाङतक अओके उमत इसर धुतुर खाए।
अओके उमिति खेड़ि खेलाबए किछु न बोलल जाए।
गरुड़वाहन देव नरायेन बसह चढु महेस।
कवि विद्यापति कौतुके गाओल संगहि फिरथि देस।।[10]

कवि होरी का वर्णन करते हैं– कि कितनी सारी झोली सिन्दूर से भरी है, कितनी ही भस्म से भरी है। सिंह, बैल, मयूर और चूहा चारों पर जिन्नआ गया है। डिमिक–डिमिक डमरू बज रहा है। महादेव होली खेल रहे हैं। सरस्वति, गौरी, लक्ष्मी सिन्दुर से भर गयी हैं और महादेव एवं नारायण भस्म से खेल रहे हैं। गौरी भी मस्त होकर होरी खेल रही हैं। नारायण गरूड़ पर हैं, महादेव बैल पर सभी साथ में घूम रहे हैं। विद्यापति पूरे क्रीड़ा का वर्णन करते हैं।

साथ ही, वर्षा ऋतु में निकट झूमर गीत गाने की भी परम्परा रही है–

झूमर

गगन बलाह के छाड़ल रे बरिस काल अतीत।
करिअ बिनति तन्हिं आओब रे जन्हि बिनु तिहुतन तीत।।1।।
अब सुमति संगधातिनि रे बाटर निहारए जाओ।
कुदिन सब दिन नहि रह रहे, सुदिबए गमन हर खाओ।।2।।
विद्यापति कवि गाविहा रे, रस मानए रसमन्त।
मन्ति महेरार सुन्दर रे, रेनुका देवि सुकन्त।।[11]

बारहमासा

बारहमासा, सदृश गीतों में बैसाख, जेठ, अषाढ़, सावन, भादो, आसिन, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ, फागुन, चैत इन सभी मास का विवरण होता है। प्रस्तुत गीत में अलग–अलग मास में नायिका के विरह का विवरण दिया गया है।

विद्यापति ने बारहमास का विशद वर्णन अपने गीत में कुछ इस प्रकार किया है–

मास अखाढ़ अनत नब मेघ पिया बिसलेख रहओ निरथेध।
कओन पुरुख ससि कौन से देस करब तहां नओ जोगिनी भेस।।[12]
मोर पिया सखि गेल दूर देस, जौबन दए गेल साल सनेरा।
साओन मास बरिस घन बारि, पन्थ न सूझए निसि अन्धि पारि।।
पौदिस देखिअ बीजुरि रेह। तें सखि कामिनी जिबन सेन्दस।

मादब मास बरिस घर घोर। सभी दिए कुहकए दादुर मोर।।
चेहुंकि चेहुँकि पिया कोर समाये। गुनमति सूतलि अंगम लगाये।
आसिन मास आस धर चीत। नाह निकारून नहि मेल हीत।।
सरब खेलए चकबा हॉस। बिरहिनी बैरि भेल आसिन मास।
कातिक कन्त दिगन्तर बास। पिअ पथ हेरि हेरि भेलाहु निरास।।
सुख सुखराति सबहुंका भेल। हम दुख साल सोआमि दये गेल।
अगमन मास जीव के अन्त अबहु न आओल निरदय कन्त।।
एकसरि हमे धनि सूतओ जागि। नाह न आओत खाएत मोहि अगि।।
पूस खीन दिन दधिरि राति। पिता परदेस मलिन भेल कांति।।
हेरओ चौदिस झांखओ सेए। माह बिछोह काहु जनु होए।।
माघ मास घन पड़ये तुसार। झिलमिल केचुआ उन्त थन भार।।
पुनमति सुतलि पिअतम कोर, बिधिवस दैब बाम भेल मोर।।
फागुन मास धनि जीब उचार, बिरह बिखमि मेलि हेरओ बार।।
आतुर मत पिक पञ्चम गाब, से सुनि कामिनी जिबहु सताब।।
चैत चतुर गुन पिया परबास, माली जानए कुसुम विकास।।
भमि भमि भमरा कर मधुपान, नागर भए पहु भेल अज्ञान।।
बैसाख तन खर मरन समान, कामिनी कन्त हतये पंचबान।।
न जुड़ि छाहरि नहि बरसये बारि, हम जे अभागिनी पापिनि नारि।
जेठ मास उपर जब रंग, कन्त चाहये कलु कामिनी संग।।
रूपनारायेन पुरथु आस, भनइ विद्यापति बारह मास।।

बिरहणी बारहोमास का उत्तेजक परिवेश में अनुभूति कर अपनी सखी को बता रही है।

निष्कर्ष :

विद्यापति ने वर्षा ऋतु, वसंत, चैतावर, बारहमासा संबंधित कई महत्वपूर्ण गीत लिखे। ये गीत न सिर्फ ऋतु वर्णन से संबंधित थे वरन् इन गीतों में ऋतु का मानवीकरण भी किया गया। ऋतुओं में सम्पादित हुए क्रियाकलापों का भी पूर्ण विवरण भी इन गीतों में प्राप्त होते हैं। बारहमासा सदृश गीतों में हर माह से जीवन के कई सुन्दर प्रसंगों की चर्चा मिलती है। विद्यापति के इन ऋतु गीतों से प्रियतम से बिछोह एवं समाज के उस व्यवस्था की भी जानकारी होती है जब प्रायः घर के पुरुष धन अर्जित करने अथवा किसी भी कारणवश अपनी पत्नी (प्रेमिका) को छोड़कर जाते थे, तो पत्नी अथवा प्रेमिका की क्या दशा होती है अर्थात् समाज में हो रहे पलायनवाद की भी जानकारी इन गीतों में मिलती है। अन्तिम बारहमासा ऋतुगीत में बेमेल विवाह जैसी सामाजिक विवशताओं का पता चलता है जहाँ जानते–समझते हुए भी कन्या का हाथ उससे अधिक उम्र एवं बाह्य रूप से अति सुन्दर न होते हुए भी, वर के हाथ में सौंपना पड़ता है। यद्यपि अन्त में उस वर को 'शंकर त्रिभुवननाथ' बताकर उस विवाह को पूर्ण समाज से स्वीकृति की बात भी की जाती है। इस प्रकार ये सभी गीत हमारे ही समाज के ताने–बाने से बुनकर लिखे गए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है।

संदर्भ सूची :

1. झा, पं. गोविन्द, विद्यापति गीत समग्र, पृ. IX (प्रस्तावन)
2. विद्यापति पदावली (संकलन), पृ. 75
3. सिंह, डॉ. शिव प्रसाद, विद्यापति, पृ. 34
4. विद्यापति पदावली (संकलन), पृ. 58
5. ग्रिर्यसन (संकलन), पृ. 475
6. झा, सं. उमानाथ, विद्यापति गीत शति, साहित्य अकादमी, पृ.–36
7. विद्यापति संगीतांजली, पृ. 68
8. झा, पं. गोविन्द, विद्यापति गीत समग्र (संकलन), पृ. 8
9. आनन्द विभूति, गीतनाद, ज्योत्सना आनंद, पृ. 110
10. झा, पं. गोविन्द नाथ, विद्यापति गीत समग्र (संकलन), पृ. 254
11. वही, पृ. 523
12. वही, पृ. 533

संदर्भ ग्रंथ :

1. झा, गो॰ (2012), विद्यापति गीत समग्र, मैसूर, भारतीय भाषा संस्थान
2. झा, उ॰ (1993), विद्यापति गीत शति (तृतीय संस्करण), नई दिल्ली, साहित्य अकादमी
3. सिंह, शि॰प्र॰ (1957), विद्यापति, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
4. झा, क॰ (1999), मिथिला व्रत आ पाबनि तिहार, पटना, उर्वशी प्रकाशन
5. सिंह, डॉ॰ अ॰ (1993), मैथिली लोकगीत संकलन, दिल्ली, साहित्य अकादमी
6. झा, डॉ. रा. (2017), विद्यापति चेतना (संकलन), पटना, चेतना समिति
7. झा, म.म.प. मिथिला तत्त्व विमर्श (1949), मैथिली अकादमी, पटना

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में 'राग' की अवधारणा

श्रीप्रकाश पाण्डेय*

शोध–पत्र सार

भारतीय संगीत की चर्चा होते ही सर्वप्रथम 'राग' शब्द ध्यान में आता है, क्योंकि स्वर, ताल आदि गुण विश्व की सभी संगीत प्रणालियों में विद्यमान रहते हैं, किन्तु राग भारतीय संगीत का एक विलक्षण गुण है। भारतीय संगीत के अन्तर्गत 'राग' हमारे ऋषियों–मुनियों और तपस्वियों की विलक्षण प्रतिभा का प्रतीक है। राग मानव की सूक्ष्मतम् सरलतम् और कोमलतम् भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। इससे हृदय की सुख–दुःखमयी, रागात्मक वृत्तियों, भावों अथवा अनुभूतियों की सरस अभिव्यंजना होती है। भारतीय दर्शन साहित्य और संगीत में राग का एक विशिष्ट स्थान है।

कुंजी शब्द : *राग, राग गायन, जाति परम्परा, राग संगीत।*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र के लिए द्वितीयक माध्यम उपयोगी हुए हैं ।*

'राग' भारतीय संगीत का एक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। इसी पर सम्पूर्ण संगीत आधारित है। राग–गायन भारतीय संगीत की अपनी एक प्रमुख विशेषता है। प्राचीन काल में जो स्थान जाति–गायन को प्राप्त था, आधुनिक काल में वही स्थान राग–गायन को प्राप्त है।

'राग' शब्द का प्रयोग संगीत के ग्रंथकारों ने अनेक अर्थों में किया है। राग भारतीय संगीत की वह विशेषता है जिसकी कल्पना पर सम्पूर्ण शास्त्रीय संगीत आधारित है। यह संगीत के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करने वाला एक ऐसा उत्कृष्ट माध्यम है जिसमें स्वर, लय, ताल, भाषा, भाव, साहित्य, कल्पना तथा कलाकार की कुशलता इन सभी का सुचारू रूप से सामंजस्य प्रतीत होता है। राग भारतीय संगीत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्वों में प्रमुख है। रागों का स्वरूप, उनके लक्षण और नियमों पर ही आधारित है तथा उन्हीं के कारण सभी राग एक दूसरे से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। राग का अस्तित्व उसके स्वर उच्चारण से अर्थात् कौन सा स्वर किस प्रकार लगाया जाएगा, इसी नियम से बनता है। राग नियम ही राग स्वरूप को स्थूलतः व्यक्त करते हैं। यदि राग के स्वरूप को अच्छी तरह से समझ लिया जाय तो उसके नियमों को बरकरार रखते हुए राग–गायन में पूरी स्वतंत्रता रहती है। एक ही राग को कई तरह से नियमानुसार गाया और बजाया जा सकता है।

समस्त विश्व में हमारा राग–सिद्धांत अद्वितीय है। रागों की भारतीय अवधारणा में विभिन्न सुरों के लगाव की विशिष्ट शैली, गायन–वादन का समय, उन से उत्पन्न होने वाली भावनाएं और मनोदशाएँ सभी राग के कारण उत्पन्न हो पाती हैं। अनेक रागों में ऐसी भावनात्मक स्थितियाँ अंतर्निहित होती हैं, जिन से सभी रसों का बोध होता है।

प्रारम्भ से ही ग्रंथकारों ने 'राग' को ध्वनि की विशेष रचना ही कहा है। भारतीय संगीत का प्रमुख अंग ही राग है तथा राग ही भारतीय संगीत की नींव है, जिस पर भारतीय संगीत का विशाल भवन प्रतिष्ठित है। रागों के माध्यम से कलाकार की प्रतिभा, कल्पना एवं साधना स्वरात्मक सौंदर्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। राग के कुछ अन्य अर्थ इस प्रकार हैं– रंग, रंजक, वस्तु, माधुर्य इत्यादि। संगीत में केवल उन अर्थों को ही मान्यता दी गई है जिनका संबंध रचनात्मकता से है जैसे रंजक भाव, संवेदना, माधुर्य, लालित्य इत्यादि।

'राग' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु, 'रञ्ज' से हुई है जिसका अर्थ है– रंजन अर्थात् रंजकता ही राग का आंतरिक तत्व है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में राग शब्द को रंजकता के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा है–

"यथा वणोदूते चित्तं न शोभोत्पादेन भवेत्।
एवमेव बिना गान नाट्यम रागम् न गच्छति।।"[1]

अर्थात् जिस प्रकार रंगों के बिना कोई चित्र शोभायमान नहीं होती, उसी प्रकार गान या संगीत के बिना नाट्य रंजकत्व को प्राप्त नहीं होता। जहां राग शब्द

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, दयानन्द वैदिक कालेज, उरई

का प्रयोग रागत्व के रूप में करते हुए उन्होंने कहा है–

"अपटाक्षेपकृता चेदात्ययिका हर्वरागशोकाधाः।
विच्छेदस्त्रम समः कार्यस्तज्ञैः प्रवेशे तु।।"[2]

अर्थात् पर्दा उठने पर हर्ष, राग, शोक आदि भावों का एक संतुलित मात्रा में प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार राग शब्द का प्रयोग नाट्य शास्त्र में अनेक बार व अनेक अर्थों में किया गया है। जिस प्रकार रंग या रंगों का समन्वय भिन्न भावों को प्रदर्शित कर विशिष्ट रस की निष्पत्ति करने में सक्षम होता है उसी तरह राग अपने सांगितिक तथा साहित्यिक अर्थ में समन्वित होकर रस–निष्पत्ति में सक्षम होता है।

'नाट्यशास्त्र' से पूर्ववर्ती काल में राग के अस्तित्व पर यदि विचार किया जाय तो साम सप्तक का विकास, स्तोभाक्षर आदि के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि राग में प्रयुक्त होने वाले तत्वों का विकास वैदिक युग में हो चुका था। डॉ० शरच्चंद्र श्रीधर परांजपे ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि कैशिक राग का उल्लेख 'नारदीय शिक्षा' तथा भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध है।

विभिन्न ग्रंथों में राग का उल्लेख– पुराणों में संगीत का एक विशेष महत्व है यह कहना कठिन है कि पुराणों की रचना कब, कैसे हुई परन्तु वेदों के पश्चात् ही पुराण आए, यह कहना उचित होगा। 'हरिवंशपुराण' में रागों का वर्णन मिलता है। इस संबंध में ग्रंथकारों ने कहा है कि छालिक्य–गान के वर्णन में ग्राम–रागों का वर्णन निम्न शब्दों में हुआ है–

"जग्राह वीणामथ नारदस्तु षड्ज्ग्रामरागादिसमाधियुक्ताम् ।
हल्लीसक तु स्वयमेव कृष्णः सवंशघोष नरदेव पार्थः ।।''

अर्थात् नारद के हाथ में वीणा थी जिस पर षड्जग्राम के राग बजाये जा सकते थे। स्वयं श्रीकृष्ण के साथ हल्लीसक नृत्य कर रहे थे तथा अर्जुन मृदंग बजा रहे थे। यह छालिक्य विविध ग्राम रागों के अन्तर्गत विविध स्थान तथा मूर्च्छना के साथ गाया जाता था। विद्वानों के अनुसार, वायुपुराण में भी सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, उन्चास तानों का उल्लेख किया गया है।

ग्रंथकारों के अनुसार वायुपुराण भारत के प्राचीनतम पुराणों में से एक हैं। प्राचीन ग्रंथों मे राग का उल्लेख देखने से यह स्पष्ट होता है कि राग पर आधारित परम्परा का विकास पौराणिक समय तक हो चुका था। इस समय राग की परम्परा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। वायुपुराण में गांधार ग्राम का भी उल्लेख किया गया है। 'राग' शब्द का प्रयोग 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में भी अनेक बार हुआ है।

रामायण भारतीय महाकाव्यों का प्रमुख स्रोत है। महर्षि वाल्मीकि के अनुसार, रामायण का निर्माण गेय काव्य के रूप में हुआ है। उस काल तक संगीत का प्रचुर मात्रा में विकास या पर्याप्त प्रचलन हो चुका था। रामायण–गायन सप्त शुद्ध जातियों पर आधारित था जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल में षड़ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम का प्रचार था। इसके पश्चात् महाभारत काल में 'संगीत' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता बल्कि इसके स्थान पर गान्धर्व शब्द का प्रयोग अधिकतर मिलता है। महाभारत में गीत और गान्धर्व का उल्लेख कई स्थान में मिलता है। गेय प्रबन्धों के अन्तर्गत सामगाथा तथा मंगलगीतियों का प्रमुख रूप से उल्लेख पाया जाता है। इन गाथाओं का गान गान्धर्व द्वारा किया जाता था।

जाति–गायन तथा जातियों का प्राचीन काल में विशिष्ट स्थान रहा है। उनका प्रचलन मध्यकाल से बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। 'राग' शब्द के उद्भव में जाति शब्द का महत्वपूर्ण स्थान है। रागों का उद्भव 'जातियों से माना जाता है। मार्गी संगीत में स्वरों की उत्पत्ति श्रुतियों द्वारा होती थी। स्वरों से ग्राम निर्मित होते हैं। ग्रामों से जातियों का निर्माण होता है तथा जातियों से राग निर्मित होते थे। जातियों का उल्लेख रामायण में भी प्राप्त होता है। जाति की परिभाषा का उल्लेख सर्वप्रथम मतंगकृत 'वृहदेशी' में प्राप्त होता है। आचार्य मतंग जाति को ही राग की जननी मानते हैं।

कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि जाति राग की ही पूर्व संज्ञा थी। मतंग ने यह भी कहा है कि संसार में जो कुछ भी गाया जाता है, वह जातियों के ही अन्तर्गत है। भरत समेत अन्य आचार्यों ने शुद्ध और विकृत समेत कुल 18 जातियों का उल्लेख किया है। राग जाति का ही विकसित रूप हैं इसलिये भरत द्वारा निर्धारित जाति लक्षण रागों के लिये चरितार्थ होते हैं। यह लक्षण मुख्यतयः दस हैं। ग्रह, अंश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, सन्यास, विन्यास, बहुत्व तथा अल्पत्व।

भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में ग्राम राग और

जाति राग के रूप में 'राग' शब्द आया है। जातिराग के विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि अल्प गान्धार–निषाद वाली जातियों में अवरोह में अन्तर गान्धार और काकली निषाद नामक 'साधारण' स्वरों का प्रयोग किये जाने पर 'जातिराग' बनते हैं। इस प्रकार, भरत के 'नाट्यशास्त्र' में जाति, जातिराग तथा ग्रामराग तीनों का उल्लेख मिलता है।

जातियों के बारे में पता लगता है कि वे अट्ठारह थीं जिनमें सात शुद्ध और ग्यारह विकृत थीं। इन जातियों के अलावा सात ग्राम–रागों का भी प्रचार था जिनके नाम थे मध्यम ग्राम, षड्ज साधारित, पंचम, कैशिक, षाडव तथा कैशिक मध्यम। जाति–गान को उस समय उच्चस्तर का संगीत माना जाता था क्योंकि उनके नियम कठोर थे और उनका प्रयोग लोक संगीत में नहीं होता था। जाति के लक्षण भी राग के तरह दस माने गये थे– ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडव । बाद में चलकर, जाति के यही दस लक्षण राग के दस लक्षण बने। ये विशेष लक्षण रागों के भी थे परन्तु धीरे–धीरे इनमें भी काफी परिवर्तन हुआ।

'जाति' को रागों की जननी कहा गया है परन्तु रागों का प्रचार उस युग में नहीं था। 'राग' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ था। मतंग ने अपने ग्रंथ में रागों के सात गीतियों के बारे में बताया है– शुद्धा, भिन्ना, गौडी, राग, साधारणी, भाषा, विभाषा।

भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में ग्रामरागों का प्रयोग नाद के अन्तर्गत पंच सन्धियों में किये जाने का विधान है। राग कतिपय विशिष्ट ध्वनि–स्वरूपों को ही कहा गया है, जो परम्परागत रूप से प्राप्त एवं शास्त्रों में उल्लिखित होते हैं। मतंग से पूर्व भी राग का उल्लेख कई ऐतिहासिक ग्रंथों में प्राप्त होता है जैसे– रामायण, महाभारत, नारदीय शिक्षा, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा भरतकृत 'नाट्यशास्त्र'।

'राग' शब्द का पारिभाषिक रूप से प्रयोग सर्वप्रथम मतंगकृत 'वृहदेशी' में प्राप्त होता है, जिसमें मतंगमुनि ने राग गीति के संदर्भ में कश्यप की परिभाषा को प्रमुखता दी है–"चतुर्णामपि वर्णनाम यो रागः शोभनो भवेत्। स सर्वो कृश्यते येषु तेन राग इति स्मृताः।।"[3] अर्थात् चारों वर्णों से युक्त शोभनीय स्वरों का प्रयोग करने से जो स्वर–लहरी उत्पन्न होती है, वह राग कहलाती है। इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए मतंग ने भी राग की परिभाषा को भिन्न–भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है। मतंग के अनुसार राग की परिभाषा इस प्रकार है–

"स्वर वर्ण विशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः।
रज्यते येन यः कश्चित् स राग सम्मतः सताम।।"[4]

अर्थात् विशेष स्वर, वर्ण या ध्वनि भेद के द्वारा जिसमें जन–चित्त–रंजन का सामर्थ्य हो, वह राग कहलाता है। स्वरों तथा वर्णों से विभूषित ध्वनि की वह विशिष्ट रचना जो मनुष्य के चित्त का रंजन करने में समर्थ हो, उसे राग कहा गया है। इसी प्रकार कल्लिनाथ, दामोदर तथा पार्श्वदेव आदि ने भी इसी अर्थ को केवल शब्द रूपांतर के साथ राग को परिभाषित किया है।

राग के इतिहास को देखते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि इतिहास के विभिन्न कालों में सभी राग प्रचलित नहीं रहे। रागों का क्रम लोकवृत्ति के अनुसार सदैव बदलता रहा है। किसी युग में रागों का एक क्रम प्रचलित था तो दूसरे युग में दूसरा क्रम प्रचलित हो गया। इसी प्रकार क्रम बदलते रहने से वर्गीकरण पद्धति भी बदलती रही। कभी रागों का वर्गीकरण गीतियों (गायन शैलियों) के आधार पर किया गया तो कभी लिंग के आधार पर स्त्रीराग, पुरुष राग आदि की संज्ञा दी गई। कभी रागों को विभिन्न मूर्च्छनाओं के नाम से पुकारा गया तो कभी जातियों, संस्थान, मेल और थाटों की रचना की गई। कभी प्रातः, दोपहर और सांयकाल में गाए जाने वाले रागों की अलग–अलग श्रेणियाँ बनाई गई तो कभी ग्राम राग और देशी राग के नाम से विभाजित किया गया।

मध्यकालीन ग्रंथकारों के अनुसार, 'रसकौमुदी' में श्रीकंठ ने सभी वर्गों से सुशोभित रम्य ध्वनि से युक्त मानव मन को रंजित करने वाली ध्वनि को 'राग' कहा है। ध्वनि की रंजकता को ही विशेष महत्व देते हुए पंडित सोमनाथ, पंडित व्यंकटमखी तथा अहोबल आदि ने राग को परिभाषित किया है।आधुनिक काल के ग्रंथकारों में पं. भातखंडे ने ध्वनि विशेषस्तु को ही महत्व देते हुए 'श्रीमल्ललक्ष्यसंगीतम्' में राग को स्वर वर्ण से विभूषित ध्वनि की विशिष्ट रचना के रूप में स्वीकृत किया है।

आधुनिक ग्रंथकारों में श्री पोपले के अनुसार, राग इस प्रकार परिभाषित किया गया है–"Raagas are

different series of notes within the octave, which from the basis of all Indian melodies and are differentiated from each other by the prominence of certain fixed notes and by the sequence of particular notes"[5]

शास्त्रकारों के अनुसार रूप या आकार के साथ रंग का अविच्छेद संबंध है। रूप अग्नि का गुण है अतएव अनल और अनिल के योग से उत्पन्न नाद से स्वाभाविक रूप से राग या रंजकता अर्थात् रंगने की शक्ति से निहित है, जो इस प्रकार से विशेष है क्योंकि उसका एक निजी भावमय रंग है और उसे दूसरों से पृथक् करता है। संगीत में उस स्वर समूह को राग कह सकते हैं जिसमें रंग देने की शक्ति हो।

आधुनिक ग्रंथकारों में फाक्स स्ट्रैंगवेज राग के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते है– "Raga is an arbitrary series of notes characterised as far as possible is individuals, by proximity to our remoteness from the note which markes the tessitura, by a spacial order in which they are usually taken , by the frequency or the reverce with which they occur, by grace or the absence of it, and by relation to tonic usually reinforced by a dron"[6]

आधुनिक काल में राग में लगने वाले स्वरों की संख्या के अनुसार राग की 'जाति' बनायी गई है। राग के नियमानुसार राग में कम से कम पाँच स्वर और ज्यादा–से–ज्यादा सात स्वर होने ही चाहिए। पाँच स्वरों से कम होने से वह 'राग' नहीं बनता। अब जातियों, राग के आरोह, अवरोह के अनुसार बंटकर नौ हो गई।

इसका कारण यह है कि राग के आरोह–अवरोह में समान स्वरों का प्रयोग न होना। जैसे एक राग के आरोह में पाँच तथा अवरोह सम्पूर्ण हो सकता है तो अवरोह षाडव भी हो सकता है और आरोह सम्पूर्ण, अवरोह संपूर्ण भी हो सकता है। इस प्रकार जातियाँ नौ हो गई। स्वर सप्तक के अथाह सागर से असंख्य रागों की उत्पत्ति हुई और हो रही है। पं० व्यकंटमखी ने गणित के आधार पर एक स्वर सप्तक से 34,848 रागों की उत्पत्ति का परिचय दिया है और यदि इन रागों के वादी, संवादी स्वर बदलते जाएँ तो यह संख्या असंख्य का रूप धारण कर सकती है।

निष्कर्ष :

राग की अनेकानेक परिभाषाओं में वर्ण सौन्दर्य, स्वर सौन्दर्य, विशिष्ट रचना, वैचिर्त्यपूर्ण प्रयोग, अलंकारादि के प्रयोग आदि के माध्यम से उत्पन्न रंजकत्व को विशेष महत्त्व दिया गया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार स्वर, वर्ण तथा अंलकारादि से परिपूर्ण वह सौन्दर्यात्मक विशिष्ट रचना जो नित नूतन वैचित्र्य से भी परिपूर्ण हो, राग कहलाती है, क्योंकि राग–विस्तार में कल्पनात्मक विहार तथा नूतन रचनात्मक प्रक्रिया का विशेष महत्त्व ही राग को प्रवाह प्रदान करता है। इसीलिए स्वरों, वर्णों तथा अलंकारों आदि से विशिष्ट आकार ग्रहण करते हुए सौन्दर्यात्मक तत्वों के अन्तर्गत निरन्तरता, समता, विरोधाभास, समतुल्यता आदि की प्रक्रिया के माध्यम से रचित रचना ही 'राग' है, यदि ऐसा कहा जाय तो सम्भवतः अनुचित नहीं होगा।

संदर्भ सूची :

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अध्याय 32, श्लोक–425, पृष्ठ संख्या–389
2. वही, श्लोक–413, पृष्ठ संख्या–389
3. वृहदेशी, मतंगमुनि, पृष्ठ संख्या–81
4. वही, श्लोक संख्या–280, पृष्ठ संख्या–81
5. Popely, H.M., The Music of India, Page - 40
6. Trangwyas, A.H. Foxs, Music Of Hindustan, Page- 107

संदर्भ ग्रन्थ :

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र 28वां अध्याय, टीकाकार–आचार्य बृहस्पति, बृहस्पति पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002
2. मतंगमुनि, बृहदेशी, अनुवादक–कपिला वात्स्यायन, इंदिरा गांधी नेशनल सेंटर फॉर आर्ट्स, नई दिल्ली, 1994
3. पाठक, डा0 सुनंदा, हिंदुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989
4. सक्सेना, डा0 मधुबाला, संगीत मधुबन, अभिषेक पब्लिकेशन, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण, 2001
5. राजन, रेणु, हिंदुस्तानी संगीत में राग लक्षण, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1996
6. जैन, डा0 रेणु, स्वर और राग, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली
7. Popely, H.M., The Music of India, Y.M.C.A. Publishing House, Calcutta, Second Edition, 1950
8. Strangways, Fox, Music of Hindostan, Shubhi Publications, Gurgaon, First Edition, 2005

विज्ञापन कला एवं कम्प्यूटर तकनीक माध्यम पर विमर्श

संजीव किशोर गौतम** **चारू यादव***

सारांश

समकालीन दौर में विज्ञापन ने आवश्यकता का रूप ले लिया हैं। विज्ञापन की चकाचौंध भरी जादुई दुनिया ने हर तरफ अपना अस्तित्व कायम कर लिया हैं। विज्ञापन के स्वरुप के जन्म लेने से लेकर प्रकाशित होने तक अनेक तकनीकी माध्यम सहायक के रूप में कार्य करते हैं, उन्ही में से सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम कम्प्यूटर तकनीक माध्यम हैं। विज्ञापन कला का लक्षित उपभोक्ता पर प्रभाव उसके कलात्मक गुण पर आच्छादित होती हैं और यह कलात्मक गुण विशेषतः कम्पूटर तकनीक के माध्यम से नाना प्रकार के सॉफ्टवेयर के प्रभावों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। कम्प्यूटर तकनीक के विभिन्न सॉफ्टवेयर द्वारा ही विज्ञापन कला अंकुरित, पुष्पित एवं फलित होकर एक आकर्षक स्वरुप धारण कर समाज व उपभोक्ता के बीच अपनी पहचान बनाता है। तकनीक एवं कला के इसी तारतम्यता द्वारा एक कुशल डिजाइन की प्राप्ति होती है।

मुख्य बिन्दु– *विज्ञापन कला, कम्प्यूटर तकनीक माध्यम, ग्राफिक सॉटवेयर, डिजाइन निर्माण प्रक्रिया, कोरल ड्रा, फोटो शॉप।*

शोध प्रविधि– *प्रस्तुत शोध–पत्र हेतु शोधार्थी द्वारा व्याख्यात्मक शोध–प्रविधि का प्रयोग किया गया है, पुस्तकों के अध्ययन एवं स्वानुभव के बाद इस पत्र को तैयार कर प्रस्तुत किया गया है।*

समकालीन समय विज्ञापन की जादुई दुनिया का है, विज्ञान और तकनीक के सम्मिश्रण ने विज्ञापन एवं मानव कल्याण के हित में अभूतपूर्व योगदान दिया है। विज्ञापन के विभिन्न माध्यमों को नवीन रूप देने में विज्ञान और तकनीक ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। तकनीकी महत्ता को आज हर क्षेत्र में महसूस किया जा रहा है।[1] जिस प्रकार से तकनीक के नए–नए विकास से प्रत्येक प्रक्रियाओं में बदलाव हो रहे हैं उसी प्रकार विज्ञापन में भी तकीनीकी विकास का प्रभाव पड़ रहा है एवं माध्यमों के नवीन रूप उभरकर सामने आ रहे हैं। विभिन्न तकनीकी विकास व माध्यमों की नवीनता से विज्ञापन दिन–प्रतिदिन तेजी से अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अग्रसर हो रहा है। विज्ञापन के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम देखते हैं कि शुरुआती दौर के विज्ञापन के कार्य हाथों से किये जाते थे, धीरे धीरे तकनीक के विकास ने विज्ञापन के निर्माण में सहायता प्रदान की एवं विभिन्न माध्यमों से सहायता प्राप्त कर विज्ञापन पूरी दुनिया पर छा गया। विज्ञापन कला के कार्य को संपन्न करने में बहुत से माध्यम एवं तकनीकी युक्तियाँ सहायक होती है *(चित्र संख्या 01)* जिनमें मुख्य मुद्रण तकनीक माध्यम, कम्प्यूटर तकनीक माध्यम, फोटोग्राफी तकनीक माध्यम हैं, विभिन्न तकनीकी माध्यमों में इस शोध–पत्र में कम्प्यूटर तकनीक पर विशेष प्रकाश डाला गया हैं–

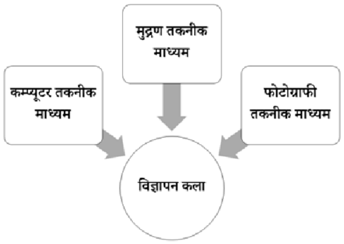

चित्र संख्या 01. विज्ञापन कला को सफल बनाने में सहायक तकनीकी माध्यम

कम्प्यूटर तकनीक माध्यम–

समकालीन दौर विज्ञापन और कम्प्यूटर का दौर है। विज्ञापन के निर्माण को कंप्यूटर ने अधिक प्रचलित, सरल एवं तीव्र बनाया है। कम्प्यूटर के माध्यम से ही विज्ञापन के निर्माण एवं मुद्रित होकर अनेक प्रतिलिपि में प्रकाशित होने में सहायता मिली। कम्प्यूटर के तकनीकी माध्यम से विज्ञापन की दुनिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। प्राचीन समय में विज्ञापनों का हाथों से निर्माण होता था जो बहुत ही धीमी गति से संचालित होता था और न हि उनकी तमाम प्रतिलिपियाँ प्रकाशित की जा

*'असिस्टेंट प्रोफेसर, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा, पंजाब एवं शोध छात्रा, कला एवं शिल्प महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविघालय, लखनऊ
**शोध निर्देशक, एसोसिएट प्रोफेसर, कला एवं शिल्प महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविघालय, लखनऊ

सकती थी, कम्प्यूटर के विज्ञापन क्षेत्र में योगदान से विज्ञापन के निर्माण एवं प्रकाशन दोनों ही समस्या का समाधान हो गया। कम्प्यूटर ने विज्ञापन–निर्माण को इतना सरल बना दिया है कि डिजाइनर विज्ञापन ग्राफिक डिजाइन को किसी भी चाहे गए आकार में बना देता है, कम्प्यूटर द्वारा डिजाइन में किसी भी समय सॉटकॉपी द्वारा बदलाव व सुधार भी किया जा सकता है एवं मुद्रित भी किया जा सकता है बिना ग्राफिक डिजाइन के पिक्सेल या अवयव को खराब किये हुए। कम्प्यूटर में डिजाइन का निर्माण विभिन्न बिन्दुओं के संयोजन से होता है जो पिक्सेल या अवयव कहे जाते हैं। ये अवयव कम्प्यूटर के स्क्रीन के अंदर होते हैं जो आयताकार होने के साथ प्रकाश के सभी वर्णों को व्यवस्थित करते हैं। दृश्य का स्पष्ट दिखना पिक्सेल पर ही निर्भर करता है क्योकि जितनी अधिक संख्या में पिक्सेल मौजूद होंगे उतनी ही स्पष्ट छवि स्क्रीन पर दिखेगी।[2]

कम्प्यूटर की प्रक्रिया को पूर्ण करने में विज्ञापन डिजाइन के निर्माण के लिए विभिन्न हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर की आवश्यकता होती है जिसमें हमारा मुख्य ध्यान सॉफ्टवेयर एवं डिजाइन–निर्माण–प्रक्रिया पर केन्द्रित रहेगा।

सॉफ्टवेयर–

सॉफ्टवेयर वह प्रोग्राम है जिनके द्वारा कम्प्यूटर पर कार्य कर पाना संभव होता है। आज के तकनीकी युग में सॉफ्टवेयर की गिनती रखना बहुत मुश्किल है। यहाँ हम विज्ञापन कला के डिजाइन में प्रयुक्त होनेवाले कुछ ग्राफिक सॉफ्टवेयर के बारे में जानेंगे।

ग्राफिक सॉफ्टवेयर–

ग्राफिक सॉफ्टवेयर को समझने से पहले हम ग्राफिक डिजाइन क्या है, यह समझ लेते हैं, ग्राफिक डिजाइन विज्ञापन सम्बंधित डिजाइन हैं जिसे समाज देखता है, पढता है व जानकारी लेता है। इन्हीं डिजाइन के निर्माण में विभिन्न सॉफ्टवेयर की सहायता ली जाती है जो ग्राफिक सॉफ्टवेयर के अंतर्गत आते हैं। विज्ञापन के निर्माण एवं प्रकाशन में डेस्कटॉप पब्लिशिंग (D.T.P.) की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। D.T.P. का तात्पर्य हैं– एक ही डेस्क या मेज पर प्रकाशन की सारी सुविधा होना।[3] D.T.P. के लिए प्रयुक्त होनेवाले मुख्य सॉफ्टवेयर का विवरण निम्न है–

एडोब पेजमेकर– इस सॉफ्टवेयर द्वारा पुस्तक के सेटिंग से सम्बंधित विभिन्न कार्य किया जाता है जैसे पृष्ठ संख्या, अक्षरों व लाइनों के बीच का स्पेस सेट करना, टाइप व चित्रित सामग्री का संशोधन आदि। पेजमेकर में अलग–अलग प्रभाव डालने के लिए भी विभिन्न विकल्प होते हैं जो मीनूबार में स्थापित होता है। पेजमेकर में लगभग 14 टूल्स होते हैं जिनकी सहायता से इस सॉफ्टवेयर को कार्यान्वित किया जाता है।

Type Tool- टूल को सेलेक्ट कर स्क्रीन पर जहाँ भी क्लिक किया जाये वहां टाइप किया जा सकता हैं व सेलेक्ट कर उसके फॉण्ट साइज, स्टाइल आदि को भी बदला जा सकता है।

Pick Tool- इस टूल से किसी भी लिखित एवं चित्रित मैटर को चुनकर परिवर्तित या उस पर कार्य किया जाता है।

Crop Tool- इस टूल से कार्य का जो हिस्सा काटना हो उसे काटा जा सकता है व आवश्यकता पड़ने पर पुनः जोड़ा जा सकता है।

Rotation Tool- इस टूल की सहायता से कार्यक्षेत्र पर क्लिक कर उसपर बननेवाले चारों तरफ के नोड्स से उसे किसी भी दिशा में घुमाया जा सकता हैं।

Horizontal/Vertical line Tool- इस टूल की सहायता से क्षैतिज व लम्बवत रेखा बनाई जाती है।

Freehand line Tool- इस टूल से जिस भी आकार की आवश्यता हो उसके अनुसार रेखा खींच सकते हैं।

Zoom Tool- इस टूल से कार्य–क्षेत्र के किसी भी हिस्से को बड़ा या छोटा करके देखा जा सकता हैं।

Hand Tool- इस टूल से कार्य–क्षेत्र को किसी भी दिशा में खिसकाया जा सकता है।

Box Tool- इसके द्वारा कार्य–क्षेत्र में आयात/वर्ग बनाया जाता है।

Box Frame Tool- यह बॉक्सटूल की तरह ही कार्य करता है पर उसके साथ ही इसमें फ्रेम भी बनाया जा सकता है जिसमें अलग से लिखित या चित्रित सामग्री डाल सकते हैं।

Ellipse Tool- इस टूल का उपयोग गोल आकृति बनाने के लिए किया जाता है।

Ellipse Frame Tool- इस टूल द्वारा गोल आकृति का फ्रेम बनाते हैं जिसमें लिखित व चित्रित सामग्री डाली जा सकती है।

Polygons Tool- इस टूल द्वारा त्रिभुज, चतुर्भुज आदि विभिन्न प्रकार के शेप बनाए जाते हैं।

Polygons Frame Tool- इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के शेप के फ्रेम बनाए जाते हैं व उनमें चित्रित सामग्री को डाला जा सकता है।[4]

एडोब फोटोशॉप–

यह सॉफ्टवेयर इमेज एडिट करने के लिए सबसे उत्तम माना जाता हैं। इसमें चित्रों के निर्माण से लेकर चित्रों की एडिटिंग तक किये जा सकते हैं। इस सॉफ्टवेयर में कार्य करते समय हर डिजाइन के लिए अलग–अलग लेयर लिया जाता है जिसकी सहायता से हम कभी भी डिजाइन में परिवर्तन एवं संशोधन कर सकते हैं। फोटो शॉप में लगभग 21 मुख्य टूल्स होते हैं और इन मुख्य टूल्स के विभिन्न सहायक टूल्स होते हैं जिनसे बहुत ही सूक्ष्मतम व यथार्थ प्रभाव डाला जाता है *(चित्र संख्या 02)*।

Move Tool- इस टूल के द्वारा कार्यक्षेत्र के किसी भी भाग को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित करते हैं।

Rectangular Marquee Tool- इस टूल के द्वारा आयताकार, गोलाकार आकार बनाया जाता है।

Lasso Tool- इस टूल के द्वारा कार्यक्षेत्र के किसी भी भाग को स्वतंत्रता के साथ चुनाव कर अलग किया जा सकता है।

Magic Wand Tool- इस टूल के द्वारा कार्यक्षेत्र के किसी भी भाग में रंग के अवयव को सेलेक्ट किया जाता है।

Crop Tool- इस टूल के द्वारा कार्य क्षेत्र के किसी भी अनावश्यक हिस्से को काटने व पुनः जरुरत पड़ने पर जोड़ा जाता है।

Frame Tool- इस टूल के द्वारा किसी भी आवश्यक हिस्से का चुनाव कर फ्रेम बनाकर वास्तविक इमेज की जगह कोई और इमेज को लगाया जा सकता है।

Eyedropper Tool- इस टूल के द्वारा कार्यक्षेत्र में प्रयुक्त किसी भी रंग का चुनावकर किसी अन्य जगह उसी रंग को भरा जा सकता है।

Healing Brush Tool- इस टूल के द्वारा कार्यक्षेत्र के किसी भाग या स्पॉट पर विभिन्न प्रकार के ब्रश से कार्य करते हैं।

Brush Tool- इस टूल के द्वारा विभिन्न प्रकार के ब्रश एवं पेंसिले आदि का उपयोग किया जाता है।

Clone Stamp Tool- इस टूल द्वारा कार्यक्षेत्र के किसी भाग को ठीक वैसा ही दूसरी जगह बनाया जा सकता है।

History Brush Tool- इस टूल द्वारा किसी डिलीट हुए हिस्से को दुबारा प्राप्त किया जा सकता है।

Eraser Tool- इसकी सहायता से कार्य–क्षेत्र के किसी भी हिस्से को आवश्यकतानुसार मिटाया जा सकता है।

Gradient Tool- इस टूल के द्वारा इमेज में ग्रेडिएंट प्रभाव द्वारा एक साथ दो–तीन रंगों के प्रभाव को भरा जाता है।

Smudge Tool- इस टूल के द्वारा चित्र में मिलान लाने का कार्य किया जाता है जिससे कोमल प्रभाव प्राप्त किया जाता है इसमें ब्लर करने का भी विकल्प आता है।

Burn Tool- इस टूल द्वारा दो–तीन विकल्प खुलते हैं जिनमें से इमेज को हल्का या गाढ़ा किया जाता है।

Pen Tool- इस टूल द्वारा पॉइंट और एंकर द्वारा विभिन्न शेप बनाया जाता है।

Type Tool- इस टूल के द्वारा लिखने का कार्य किया जाता है। इसी के द्वारा विभिन्न भाषाओं एवं फॉण्ट स्टाइल व साइज में लिखा जाता है एवं विभिन्न प्रभाव भी डाले जाते हैं।

Path Selection Tool- इसके द्वारा कार्य–क्षेत्र में स्वतंत्रता के साथ पाथ रेखा लगायी जाती है व चयनित भाग का स्थान परिवर्तित किया जा सकता है।

Custom Shape Tool- इस टूल के द्वारा विभिन्न प्रकार के आकार बनाये जाते है जैसे आयत, गोल, वर्ग, पेड़–पौधे, फूल–पत्तियां, जानवर आदि।

Rotate View Tool-इस टूल के द्वारा पूरे कार्य–क्षेत्र या सिलेक्टेड हिस्से को घुमाया जा सकता है।

Zoom Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र के किसी भी हिस्से को जूम इन या जूम आउट करके देखा जा सकता है।

Foreground and Background Colour- इस टूल के द्वारा रंगों का चयन कर बैक ग्राउंड या फोर ग्राउंड में भरा जाता हैं।[5]

चित्र संख्या 02. फोटोशॉप द्वारा निर्मित डिज़ाइन

एडोब इलस्ट्रेटर– यह सॉफ्टवेयर फोटोशॉप से मिलता–जुलता ही वेक्टर ग्राफ़िक एडिटर है। इसके टूल भी ज्यादातर फोटोशॉप से मिलते–जुलते हैं, इसमें फोटोशॉप के टूल के अतिरिक्त कुछ अन्य टूल भी हैं जिनके द्वारा डिज़ाइनर अपनी सृजन–शक्ति का और अधिक प्रभावी ढंग से प्रयोग कर सकता हैं।[6]

Reflect Tool- इस टूल के द्वारा चयनित ऑब्जेक्ट के जैसी हु–ब–हू प्रतिबिम्ब चित्र बनायी जाती है।

Gradient Mash Tool- इस टूल के द्वारा चयनित कार्य–क्षेत्र में रंगों के अनुक्रम प्रभाव को डाला जाता है।

Free Transform Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र के किसी भी भाग को स्वतंत्रता से दायें–बाएँ ऊपर नीचे परिवर्तित किया जाता है।

Scale Tool- इस टूल के द्वारा चयनित क्षेत्र का आकार स्केल के माध्यम से सटीक निर्धारित किया जाता है।

Graph Tool- इस टूल की सहायता से ग्राफ का निर्माण किया जाता है।

Rotate Tool- इस टूल के द्वारा चयनित हिस्से को घुमाया जाता है।

Scissor Tool- इस टूल के द्वारा चयनित भाग को स्प्लिट डॉट के अनुसार काट के अलग किया जाता हैं।

कोरलड्रा– कोरलड्रा सॉफ्टवेयर के द्वारा कोई भी मनचाहा डिज़ाइन एवं आर्ट वर्क का सृजन किया जा सकता है। इसमें फोटोशॉप की तरह अलग–अलग लेयर पर कार्य नहीं किया जाता बल्कि इसमें हर एक आर्ट वर्क को अलग–अलग सिलेक्ट करके कार्य किया जा सकता है *(चित्र संख्या 03)*। इसमें विभिन्न कलर मोड के साथ ही साथ विभिन्न प्रभाव व टेक्सचर भी होते हैं जैसे RGB, Gray Scale, Uniform Color, Linear Fill, Radial Fill, Council Fill आदि)।

Shape Tool- इस टूल द्वारा विभिन्न प्रकार की लाइनों, चित्रों व अक्षरों में मनचाहा बदलाव किया जा सकता है, उन्हें किसी भी आकार में मोड़ा जा सकता है।

Pick Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र के किसी भी भाग को सिलेक्ट करके उसमें परिवर्तन किया जा सकता है, जैसे उसे छोटा–बड़ा करना, उसके स्थान में परिवर्तन करना आदि।

Zoom Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र के किसी भी भाग को बड़ा करके देखा जाता है।

Rectangle Tool- इस टूल के द्वारा विभिन्न प्रकार के आकार, जैसे वर्ग व आयत बनाये जाते है।

Freehand Tool- इस टूल के द्वारा स्वतंत्र रूप से किसी भी प्रकार की ड्राइंग बनाते हैं, यह पेन्सिल के जैसा कार्य करती है।

Ellipse Tool- इस टूल के द्वारा गोल आकृति बनाई जाती है।

Basic Shapes Tool- इस टूल के द्वारा विभिन्न प्रकार के शेप बनाये जाते हैं जिनमे लो चार्ट, कई प्रकार के एरो आदि होते हैं।

Text Tool- इस टूल के द्वारा टाइप किया जाता है।

Fill Tool- इस टूल के द्वारा कर्य–क्षेत्र के विभिन्न भागों में रंग भरा जाता है।

Spiral Tool- इस टूल के द्वारा विभिन्न प्रकार के शेप व ग्राफ बनाए जाते है जिनमें सर्पिल आकृति, त्रिभुज, चतुर्भुज आदि होते हैं।

Interactive Fill Tool- इस टूल के द्वारा चित्र व आकारों में रंगों के द्वारा छाया–प्रकाशवाले प्रभाव डाले जाते हैं।

Interactive Transparency Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र के चयनित भाग के रंगों में पारदर्शी प्रभाव डाला जाता है।

Eyedropper Tool- इस टूल के द्वारा कार्य–क्षेत्र में प्रयुक्त किसी रंग का चयन किया जाता है जिससे किसी अन्य भाग में आवश्यकतानुसार सटीक वही रंग दिया जा सके।

Outline Tool- इस टूल के द्वारा किसी भी आकार में आउटलाइन दिया जाता है व आवश्यकतानुसार उसे मोटा या पतला भी किया जाता है।[7]

चित्र संख्या 03. कोरलड्रा द्वारा निर्मित लोगो डिज़ाइन

कम्प्यूटर द्वारा डिज़ाइन निर्माण की प्रक्रिया–

डिज़ाइन बनाने की शुरुआत कम्प्यूटर में एक पेज का खाका बनाकर किया जाता है, जिसके स्वरुप में सम्पूर्ण डिज़ाइन होनी चाहिए । पहले उसका खाका संयोजित रूप से लिया जाता है। इसके पश्चात् लिखित सामग्री को टाइप कर खाके में व्यवस्थित या संयोजित किया जाता है। लिखित सामग्री के बाद चित्रित सामग्री को व्यवस्थित किया जाता है, इसमें अब इस बात का निर्धारण किया जाता है कि चित्रित सामग्री स्वयं बनानी है या फोटोग्राफ का उपयोग करना है। इसके निर्धारण के बाद आवश्यकतानुसार फोटो है तो स्कैन करके कम्प्यूटर में डाला या सम्मिलित किया जाता है अथवा डिज़ाइन तत्त्व का निर्माण करना है तो उसे विभिन्न सॉफ्टवेयर द्वारा निर्मित किया जाता है। अब चित्रित तत्व को खाके में व्यवस्थित किया जाता है। तत्पश्चात् चित्रित, लिखित व अन्य सभी तत्वों को पूर्ण रूप से संयोजित कर सम्पूर्ण रूप दिया जाता है और डिज़ाइन तैयार किया जाता है। अब सम्पूर्ण रूप से निर्मित डिज़ाइन को सॉफ्ट और हार्ड कॉपी में ध्यान से बारीकी के साथ जांचा जाता है किसी संशोधन की आवश्यकता होने पर सॉफ्ट कॉपी द्वारा संशोधन किया जाता है। उसके उपरांत डिज़ाइन के पिक्सेल, मात्रक की संख्या, कलर मोड व साइज़ आदि चीजों को बारीकी से जाँच कर मुद्रण के लिए भेजा जाता है *(चित्र संख्या 04)*। इन चीजों को मुद्रण से पहले जाँच करना आवश्यक है अन्यथा मुद्रित छवि की गुणवत्ता पर असर पड़ता है। डिज़ाइन के रीजोल्यूशन या मात्रक की सही गणना से ही सुस्पष्ट डिज़ाइन का निर्माण होता है जो डॉट पर इंच (DPI) अर्थात् इमेज के प्रति इंच में कितने डॉट प्रयुक्त हुए हैं, पर निर्भर करता है। रीजोल्यूशन डिज़ाइन का आकार बढ़ाने के साथ–साथ बढाई जाती है 300 से 500 सामान्य आकार के लिए उचित मानी जाती हैं।[8]

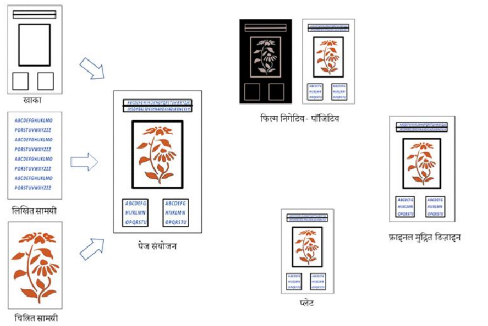

चित्र संख्या 04. कम्प्यूटर द्वारा डिज़ाइन निर्माण की प्रक्रिया

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विभिन्न माध्यमों के योगदान से ही विज्ञापन अपना जादुई प्रभाव बनाये हुए है और समय व तकनीकी विकास से यह प्रभाव दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इन माध्यमों के अभाव में विज्ञापन का इतनी तीव्रगति से विकास काल्पनिक मात्र रह जाता। अगर कम्प्यूटर की सुविधा न होती तो आकर्षक डिज़ाइन का निर्माण असम्भव हो जाता। मनचाहे प्रभावों व माध्यमों का अभाव होने से लोगों का ध्यान विज्ञापन की ओर बनाये रखना मुश्किल होता। दृश्य–सामग्री के माध्यम से सन्देश समझाना व संप्रेषित करना बहुत आसान होता है एवं सन्देश लोगों को आसानी से याद भी रहता है। अगर हम बिना दृश्य सामग्री के विज्ञापन की कल्पना करें तो विज्ञापन देख के रुक कर उसे पढ़ते ? जहाँ तक मेरा विचार है इस भागदौड़ की दुनिया में कोई भी व्यक्ति रुक कर विज्ञापन के लिखित संदेशों को पढ़ने में समय जाया नहीं करता। पूरी दुनिया पर छा जाने की विज्ञापन की क्षमता तकनीक और अन्य माध्यमों के प्रयोग द्वारा ही पूर्ण हुयी है। इन तकनीकों के माध्यम से ही विज्ञापन गुहा चित्रों से डुगडुगी होती हुई फिर कागज–कपड़ो, रेडियो दूरदर्शन, फिर मोबाइल स्क्रीन और vc3D के रूप में हमारे सामने खड़ा है। यह तकनीकी योगदान ही है जिस कारण विज्ञापन

आज हर रूप में हम तक पहुच रहा है और यह पहुच निरंतर बढ़ती ही जा रही है।

सन्दर्भ सूची :

1. मुखर्जी, प्रदीप कुमार; फरवरी, 2013. विज्ञान, प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण, संपादक– शर्मा प्रदीप, विज्ञान प्रगति, सी.एम.आई.आर. प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21
2. जैन, प्रो. रमेश, शर्मा, डॉ. कैलाश; 2009. मीडिया एवं सूचना प्रोद्योगिकी कोश, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ. 323
3. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, डीटीपी और पेजमकर, संपादक, योगेन्द्र प्रताप सिंह; 1998. कम्प्यूटर संचार सूचना, इंडिया पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 25, 27
4. यादव, नरेन्द्र सिंह; 2010. विज्ञापन तकनीक एवं सिद्धांत, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 273
5. मेरे द्वारा फोटोशॉप सॉटवेयर उपयोग करने के व्यक्तिगत अनुभव से
6. यादव, नरेन्द्र सिंह; 2010. विज्ञापन तकनीक एवं सिद्धांत, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 285
7. मेरे द्वारा कोरलड्रा सॉटवेयर उपयोग करने के व्यक्तिगत अनुभव से
8. मेरे द्वारा कम्प्यूटर से डिज़ाइन निर्माण करने के व्यक्तिगत अनुभव से

Ideal Institute for Performance Oriented Education in Classical Music : A Layout

Dr. Monika Soni*

Abstract

India has been known worldwide as Jagadguru for its wisdom, virtues and high standards of imparting knowledge. However, the situations have changed in the present times.

The objective of this paper is to present the layout of an ideal institute which can impart performance oriented education for classical music. Since music is a performing art, so it's essential that the educational institutes must provide lessons in such a manner that if the student wishes to become a performing artist in the future, he/she may get benefit from the institutional education itself. But the today's system of education does not support the performance-oriented style of teaching. The aspirants have to go to a Guru or Ustad for performance oriented education and it's not essential that he/she will find all the favorable circumstances over there. So this layout of mine is about an institute which can provide the students with eminent performing artists as Gurus in the campus of an institute and they can also get a degree or diploma of this training to suit the need of the hour.

Key Words: *Baithak - an informal get together of musicians; Gharanedar - the gurus associated with a gharana; Khas-ul-khas - the senior disciples; Seena-ba-seena - one to one system of teaching; Taleem - the class or giving lesson; Thaat - the parent octave of a raga; Ustad - the Guru or teacher*

Research Methodology: *I have been a part of all kinds of educational institutes e.g. college, university, a private tuition class and a gurukul. So I have taken into consideration my personal experiences and observations as a student of music. To authenticate my point, I conducted a survey on numerous students of music. I interviewed several performing artists and professors of the same field. A* ***comparative***, ***analytical*** *and* ***survey-based*** *method has been used to mention the merits and demerits of the existing system. I also took the help of the books, journals and articles on the topic.*

Preface: Every year thousands of students take admissions in the colleges, universities, private institutes and the gurukulas to learn classical music. It is a matter of fact that 50% of them just want to complete the degree while the other 50% is of those who really want to pursue music as a full time profession. They dream to have the best studies through these institutes and become performing artists of classical music.

Most of the education today is based on the mass education system i.e. schools, colleges and universities where music is being taught as any other subject by following the forty minutes or one hour or somewhere two hours span of lecture; the fixed syllabus of a few ragas; a certain schedule of exam and a complimentary degree in the end! That seems to be the happy ending like a movie which is usually too different from the real life story.

The Merits Guru-Shishya Parampara v/s Mass Education System:- From the ancient times till now, there have been two kinds of education system. One being the one to one system and the other is mass education system. In musical terms, the former is known as *seena-ba-seena taleem** and the later known as just *taleem**. The guru-shishya Parampara and the universities both claim to have contributed tremendously for music

*Assistant Professor, I.B. PG College, Panipat, Haryana.

education and it is agreed by all. But on the same time, it is also agreed by all that both these systems have their own merits, advantages or benefits and both have their own sort of drawbacks, disadvantages and faults. Here the researcher has given a comparative analysis of the merits and demerits of guru-shishya Parampara and the university-colleges.

The subtleties of swar, the minute aspect of Shruti can only be observed under the guru's guidance and that too, in the one to one taleem of guru-shishya parampara. In a class of 25-30 students of a college/university, it is impossible to listen carefully each student's swar.

The soul concept or structure of a raga, especially the comparative ragas, is best possible to understand when a single raga is taught for years together that's possible only in gurukulas. On the other hand, the students in colleges have to 'learn' 10-15 ragas in session. So they end up writing and cramming the alap-taan in the notebooks without having the clear observation of any raga.

The Guru-shishya tradition is free from the syllabus related issues and the Guru can select which raga is to be taught according to the level of the students. On the other hand, in the colleges-universities, the students who haven't learnt bhairav and yaman have sometimes a direct encounter with bhatiyar and shuddha kalyan.

The ragas which are sung in some specific shrutis like **darbari, Miyan Malhar** and **jaunpuri** about which my respected Guruji Pt. Mani Prasadji used to say '*beta ye to ustadon ki raga hain'*[1], such ragas are taught to the graduation students of the colleges. And not only this, in just a 'forty-minute' lecture. Tell me can they justify? This is why Bharat Ratna Bismillah Khan said, "*Darbari bade khatare mein hai, koi bachaiye*."[2]

Apart from the taleem, the tutelage under a guru also teaches the 'sangeet sanskar', the mehfil technique and the patience to keep moving on the slow and steady path of music where no shortcuts work. Colleges provide no such vision.

Pt. M Venkatesh Kumar is a performing artist himself, he learnt under the guru Shishya Parampara and he is a professor at a degree college in Dharwad. So I interviewed him and asked what is the basic difference did you find in that system and this. He gave a very honest answer- "*hum logo ko ek do saal tak to sirf gala taiyyar karvaya jata tha; sirf alankar, palte or svarabhyas. Koi raga ya bandish to gala taiyyar hone ke baad sikhaya jata tha. Par yaha to hum chaah kar bhi aisa nahi kar sakte. Direct raga pe aana padta hai. Gala taiyyar karvane baithe to poora semester nikal jayega or fir admin kahega ke apka syllabus poora nhi hua! Fir hamko ek raga mein 10-15 bandishein batayi jati thi, yaha humko ek ek hi poora karvane me mushkil hoti hai*"[3]

Contributions of the Present Education System v/s the Shortcomings of Guru-Shishya Parampara:- Even after analyzing the above para, we can't say that guru Shishya Parampara is perfect in all means and the universities are contributing nothing. Here are a few points manifesting the situation vice-versa.

The teachers say "*we atleast provide the basic knowledge of swar and the basic concepts of raga and tala. We make a totally non-musical student capable to seek the tutelage of a guru or Ustad. On the other side, renowned ustads don't accept the freshers or beginners as their disciples. Infact they choose the best ones. So what*

about the beginners and mediocre! They seek refuge in the colleges."[4]

Other thing is, gharanedar* ustads keep their emphasis on practical knowledge only, then what about the theoretical portion?

To keep the home fire burning, every artist looks for a permanent source of income but gurus don't provide them any degree or certificate. Hence, even the best shishyas are found ineligible for job in an academic institute. On the other hand, the academicians enjoy a fabulous package in ten lakhs!

There are evidences about the gharanedar gurus and their family member's intentionally harassing the shishyas. I would like to quote Shri Tulsiram Devangan's words- "उस समय के उस्तादों से सीखने वालों को उस्ताद के जागने से पूर्व उनका हुक्का भरना, पीने की व्यवस्था करना, घर बुहारना, गुरू पत्नी की भली–बुरी डांट सहना, इतने पर भी उठते–बैठते दुर्वचन सहने के लिये तैयार रहना व ज्ञान के नाम पर कुछ भी पाने के लिये वर्षों मुँह निहारते रहना। बाल कृष्णबुआ इचलकरंजीकर 700 मील पैदल चलकर इंदौर पहुँचे रामकृष्ण परांजपे के पास। वहाँ गुरूगृह में गुरू की कर्कशा पत्नी के अपमान सहते हुए 4 वर्ष ही रह पाए। अंत में आत्महत्या की धमकी देते हुए उन्हें निकाल दिया गया।"[5] Universities are atleast away from these hassles.

Even after accepting any aspirant as a Shishya, some gurus were not honest in imparting education among their shishyas. There used to be 3 categories of shishyas-

1. **General**:- they had to learn the cheez only by listening what the guru and senior disciples sing.
2. **Scholars**:- those who have spent 8-10 years under guru's guidance and have become familiar with the nuances of that gharana. They are sometimes given direct taleem by Guruji.
3. **Khas-ul-Khas*[6]:-** only the descendants, blood relatives and a very few close shishyas known as the पट्ट शिष्य. This category had the privilege to get daily classes or the seena ba seena taleem from Guru. The universities have no bias of this kind.

Once again, the opposition rises! The highest degree of a university is PhD. But there is no guarantee that a PhD holder will be able to sing straight octave of ten thaats* or not! Is such a degree, anyhow helpful for a student who has dreamed of becoming a performing artist?

Consequent Results in the form of an Innovative System:- Observing this confusion to the deepest, the researcher has come to a conclusion that there is a need for such an institute that must be a compilation of the merits and advantages of the guru-shishya Parampara and the mass education system. This ideal institute must fulfill all the requirements to prepare the best performing artists of the young generation along with the provision of a formal degree to present wherever needed.

The Layout of an Ideal Institute for Performance Oriented Education in Classical music:-

The musicians, who took part in the survey conducted by the researcher, undoubtedly believe that this ideal institute should follow the ancient Gurukul system. But it should also make a few amendments to keep pace with the modern trends and the need of the today's society. So it can be something which a mixture of the qualities of a university as well as a gurukul. So the following points must be taken into consideration for such an institute.

The Building and Infrastructure:-

The institute should be away from the hassles of city-life but it must be accessible easily and the frequent availability of the means of transport to and from the institute

to the main city should be there.

It must be residential as well as day boarding. Separate houses for Gurus and shishyas (boys/girls) should be there. Students' room should be single-seating, nearby their Guru's house and must be sound proof, so that one's riyaaz should not disturb the other.

An auditorium must be there to prepare the shishyas for stage performance and to organize *baithaks** every now and then.

A kitchen and mess hall, a faculty house for visiting faculty, quarters for the accompanists and non-teaching staff must be there.

Electricity, water supply and other basic necessities are must in every room and house.

Selection of Shishyas and Rules:-

There are hundreds of scopes for the 'already good' singers, but to provide good taleem to the deserving candidates must be the aim of this institute. So there must be two branches. 1. Scholars 2. Beginners.

Children of age group above 12 may apply for beginners, but for scholars, 15-30 should be the limit.

Both categories must send a CD and pass an audition of two rounds.

In first round, their choice raga must be listened. For second round, a class session should be conducted and they must be asked to follow the guru and show their grasping ability.

Separate sections, classes must be there for both. Scholars to be taught by the Gurus and Beginners to be taught by junior gurus who were guided by senior gurus till they become worthy to learn under the senior gurus.

An agreement to stay in the campus for minimum 5 and maximum 10 years must be signed by the Shishya.

An annual or biannual audition for gradation of improvement must be there.

No formal education should be a criteria but he/she must be able to read and write in his/her her mother language.

Shishyas must be provided free meals and free boarding lodging.

Only 5-8 shishyas must be there under each guru.

The day scholars must spend atleast 10 hours in the premises so that the rules of riyaaz and class can be applied on them also.

The Appointment of Gurus, Accompanists, Administrator and other Staff:-

Guru:-

There must be two ranks- Senior and Junior Gurus, for scholars and beginners respectively.

Since the institute is to prepare performing artists, so it's mandatory that the Gurus must be performing artists themselves. But for the regularity of classes, it should be noticed that they are not too busy in their own concert schedules only.

Eminent male and female artists of various gharanas should ornate the post of Senior Gurus, while, junior Gurus can be young artists or the senior disciples of the senior Gurus.

Accompanists:-

Every Guru should be provided with a tabla and harmonium/sarangi accompanist who will also help the shishyas while practice and Manch Pradarshan.

Administrator:-

A musician or music lover of good qualification and management skills who can understand the requirements of the

Shishyas and Gurus and can take steps for the development of the institute.

He should actively take part in arranging concerts in the campus and development programs for the shishyas.

He must take the responsibility of financial, administrative and legal matters of the institute.

Office Staff, Kitchen and House-Keeping Staff and Security Guards must be there for miscellaneous works.

Syllabus, Class-Schedules and Pattern of Teaching:-

Ideal class timings are two hours in the morning and one hour in the evening. But the Gurus must be at liberty to adjust the timings accordingly. Classes must be taken on a regular basis.

Syllabus must be left fully to the right of gurus. They can choose any raga according to the level of students, their own choice and according to their gharana preferences.

It should be left to the gurus that they will take the classes in groups or one to one system. It's up to Gurus and shishyas to decide it according to their need and plan.

Either the administrator or the Guru must look after the regularity of shishya's riyaaz. They should make sure that apart from the classes, shishyas must spend 5-7 hours in riyaaz.

Stage Performance and Practice classes:-

To overcome the stage fever and develop a performing artist's confidence, there must be a period of stage performance by shishyas. It may be daily/weekly or on alternative days.

Accompaniment and audience must be there. Gurus should also attend this session to assess the progress.

There must be 1-2 hours practice sessions for the students. This session should be accompanied by the tabla and harmonium accompanists.

Listening Session:-

To observe the raga-treatment style of various gharanas, listening sessions must be scheduled. A guru should be there and after listening a rendering, there must be discussion about the specifications of that cheez/raga.

Theory and Tala Classes:-

The institute must care for the all round development of shishyas. Hence, theoretical part must not be overlooked. Special classes of tala and layakari portion must be a part of the curriculum.

The Provision of a Degree or equivalent diploma[7]:-

Though music is a performing art and the degree itself glitters when the singer sings good. But even then, in the competitive world of today, it's hard to find a source of income without a formal degree. So there must be a provision that all the passed out students will be awarded with a degree or a certificate equivalent to degree. The Shishya who spends 5 consecutive years in the institute be given a certificate equivalent to Masters degree and those who spend 10 years should be given some degree equivalent to PhD. The institute should get recognition from UGC. Special treatment should be given to the Shishyas of such institute so that others may get inspired to learn music.

Visiting Faculty Lectures & Visiting Artists' Programs:-

Once in a month, the special lecture of any eminent artist must be organized for the shishyas. Any artist visiting this place for his

concert engagement should be requested to come and give a recital or motivational lecture for the institute students. The shishyas must be taken to attend the programs nearby.

Arranging Scopes and Opportunities for the shishyas:-

Before the completion of 10 years, the administrator should tie up and collaborate with the concert organizing committees to give opportunities for the students of the institute. Student exchange programs can be organized by collaborating with the other prestigious institutes.

Conclusion:- All the above mentioned points are just a layout for the smooth and successful working of the institute. Apart from this, suggestions and advices must be taken from the eminent musicians and musicologists for the further development of the institute. A committee should be there to present a report about the yearly progress as well as the tentative program of the institute.

Since India is a land of mystical arts and rich cultural heritage, so it's the duty of every individual to protect and conserve this heritage. Classical music is one such thing that if steps for its development are taken in the near future, it may lose its originality. However, it is eternal; it has always been and will forever be, but our contribution for its development, progress and prosperity is necessary to hand over it in the safe hands of the coming generations. Young generation is full of infinite energy and this energy just needs to be directed in a specific direction to bring miracles. I hope this layout be not only a factory of young performing of artists but also a mine of the original and authentic structure of classical music.

References :

1. Pt. Mani Prasadji, Eminent vocalist of Kirana gharana and former Guru at Dr. Gangubai Hangal Gurukul, Karnataka.
2. Said by Smt. Sangeeta Katti Kulkarni, young vocalist of Jaipur Gharana during her address after receiving the Mallikarajun Mansoor Award at Dharwad, Karnataka.
3. Pt. M Venkatesh Kumar, eminent vocalist, interviewed by the author on 19-11-2014 at Dharwad, Karnataka.
4. A professor of music (name not disclosed) interviewed by the author.
5. पलनीटकर, अलकनंदा, शास्त्रीय संगीत शिक्षाः समस्याएं एवं समाधान (मूल लेख श्री तुलसीराम देवांगन), पृ.1–2,
6. चौबे, अमरेश चन्द्र, संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली, पृ. 8–9
7. Padmabhushan Dr. N Rajam, eminent violinist expressed her views several times on the topic while her stay at Dr. Gangubai Hangal Gurukul in Karnataka.

The Ancient Art Form of Puppetry and its different types in India

Dhananjay Kumar*

Abstract

Puppetry is one of India's oldest art forms. Today, it seems a quite neglected art. India is the origination place of puppetry. Puppetry is mentioned in ancient Indian literature. In the Bhagavata Purana, God is likened to a puppeteer who, with three strings– Sattva, Rajas, and Tamas–manipulates all human beings. Natyasastra, Cilapadikaram, the Ramayana, and the Mahabharata are all strong evidence of puppetry art in India. There are four types of puppetry in India. These are rod puppets, glove puppets (sleeve, hand, or palm puppets), shadow puppets, and string puppets. Odisha and Kerala are the two states in India where all four types of puppeteers are present today. The goal of this paper for theatre artists is for them to read, learn, and apply it in society to change their mindset about artistic vision. This art form has a positive impact on creative abilities, and using puppetry in the classroom has improved emotional intelligence and social thinking. It can be concluded that better utilization of puppetry art in society, education, and entertainment would be beneficial. It is also used in therapeutic art.

Keywords: *Puppetry Art India; Traditional; Ancient Art Form; Bhagavata Gita; Natyasastra;*

Methodology - *The descriptive evaluative method has been used in this paper. This paper based on study is supported by secondary source of data e.g- books, journals and web sources.*

Introduction

A Puppet is an inanimate object or representational figure animated or manipulated by an entertainer, who is called a Puppeteer. The word puppet has derived from the Latin word pupa which means girl, doll or other agency that controls your own hands or fingers. This is the most ancient form of theatre in India. Today it seems a quite neglected art. India is the origination place of puppetry art. There are many epics and literary evidence to prove that puppetry reached great heights in India more than thousands of years ago. Many scholars believe that puppetry originated in India and migrate to other Asian countries along with epics them. Richard Pischel in The Home of the puppet theatre (1902) says < it is not importable that the puppetry theatre is in reality everywhere the most ancient dramatic representation. Without any doubt this is the case in India.) Ancient Hindu philosophers the greatest tribute to puppeteers. Shrimad Bhagavad Gita in the story of the god lord Krishna says that within 3 strings like Sattva (essence), Rajas (action), and Tamas (vice) the God manipulates each object in the world. Tamil Classical Literature Cilappadikaram, written by Ilango Adikal, also mentions this art. There is a clear reference in the Natyasastra by Bharata Muni to mechanically operated animals (sajeeva), which adds to the historic records that inanimate figures were operated by ancient puppeteers. In the Ramayana and Mahabharata, there is also a mention of puppets. Kamsutra and Arthashastra are full of terms denoting puppets, and there are metaphorical references to puppets.

It is also said that King Vikramaditya in the 7th (seventh) century AD proposed 32 puppets and had early patrons of the art.

*Assistant Professor, Department of Education, Mahila College, Chaibasa, Jharkhand

'God as Puppeteer, Man as Puppet

The Sanskrit language also takes a deeper view in calling puppets Puttalika or Puttika, both of which mean little son. This meaning has sunk so deeply into the minds of traditional puppeteers. Similarly, in the Indian theatre, the narrator was called Sutradhar, or the 'holder of strings'.

Almost all types of puppets are found in India. Puppetry has, throughout the ages, held an

important place in traditional entertainment. Puppet theatre is mostly based on epics and legends. Puppets from different parts of the country have their own identities. Many performance stories are adapted from literature, local myths, or social issues. In the puppet performances, many people worked together off-stage, and some people performed on stage. The puppeteers, being inherent artists, were always there in the village markets at fairs on occasions of religious festivals and important events in the family. A generally unscheduled visit by a puppet troupe was always welcomed by the village community, which took care of the puppeteers. the puppeteers are ready to plan the performance of the next day. Presenting the stories of gods and epic heroes.

Some expectations

The puppet theatre has broad social aspects. They have a great capacity to absorb society's life, customs, and beliefs. The puppet tradition awaits the attention of sociologists and anthropologists. The puppet performance is related to religious and ceremonial events. Puppet theatre is an integral part of performance in India. In the art form, humans experience the beauty of life through artistic expression Xdance, song, ritual, sculpture, painting, etc. Most puppeteers are effective communicators and traditional storytellers using communicative means such as magic of voice, speech, music, storytelling, etc. Puppets have brought variety and enriched many countries today. Television has been used both for advertising and entertainment. In Japan and Indonesia, puppets are used for good attractions with culture. Several Western countries use modern puppetry, like television shows. Many countries have abandoned this art form, while others have preserved puppet performances. In modern times, educators all over the world have realized the potential of puppetry as a medium for good communication. Many institutions, especially in India, communicate educational concepts.

Types of Puppets

There are four types of puppetry in India. These are 1. rod puppet; 2. glove puppet (sleeve, hand, or palm puppet); 3. shadow puppet; and 4. string puppet. Odisha and Kerala are two states in India where all four forms of puppeteers are present today.

1. *Rod Puppets :* This is an extension of glove puppets, but often much larger and supported and manipulated by rods from below. This form of puppetry is now found mostly in West Bengal and Odisha. In both Tamil Nadu and Karnataka, there is a puppet form that uses both strings and rods and is a kind of mixed form. It is a traditional art form of Bengal, known as "puppet dance" or Putul-Naach. It is more developed and has a living tradition. Nadia district was very famous for this art, where the puppets were the size of humans, like the Bunraku puppets of Japan. In this form, episodes from the Ramayana and local legends like Mansa Devi and Sati Behula are performed. The form is about 3.5 to 4 feet in height and is costumed like a Jatra costume. Generally, these puppets have three joints. The heads, supported by the main rod, are the neck and shoulders attached to the rods. The technique of manipulation is highly theatrical. The puppeteer used a bamboo-made hub that is tied to the waist. These are all sub-rods attached to the main rods. The performance,

with loud orchestral music, was high-end. A group of musicians, usually three to four in number, sits at the side of the stage. Musicians use instruments like drums, harmoniums, and cymbals. This music and dialogue are very close to Jatra theatre.

Odisha rod puppets are smaller than Putul Naach. Odisha rod puppet called Kathikundehei- Naach (rod doll dance) is usually 12 to 18 inches tall. In this form, the puppeteer mixed rod and string puppet elements, and the manipulation technique was also different. The puppeteer performs by sitting and manipulating the puppets from below. The majority of dialogues are sung, and the music tone blends folk with classical Odissi tones and short pieces of ritual. Performance story from the Ramayana, with Durga killing the demon Mahishasura

2. *Glove Puppets:* Glove puppets are also known as sleeve, hand, hand or palm puppets. A glove puppet is a small figure with a movable head and arms wearing a long, flowing skirt that the puppeteer wears like a glove. The manipulating technique is simple; the movements are handled by the man's hand, the first finger touching the head, the middle finger touching the thumb, and the two arms of the puppets. When the puppeteer mixed three fingers, the glove puppet came alive. The tradition of glove puppets is very popular in India. In Odisha, Uttar Pradesh, Kerala, Maharashtra, and Tamil Nadu. In Odisha, glove puppets are called Kundhei-Nach (Kundhei-doll, Nach-dance). Glove puppet performance based on social themes, in Odisha, Kundhei Nach puppets danced. It is the loving environment of Radha-Krishna. Two puppeteers sang a song and played folk drums (dhol or dholak). The beat of the dhol or dholak and the delivery of the dialogues are both synchronised. In Uttar Pradesh, the glove puppet form is named Gulaboo-Sitabo. In performance 2, type characters present domestic quarrels. Pava-kathakali is the traditional glove puppet play of Kerala in the Palakkad district. Pava-kathakali originated in the 18th century A.D. This form is influenced by Kathakali, the famous classical dance drama of Kerala. 1 or 2 feet of Pavakathakali. In form, the puppeteer's head and arms are curved out of wood and joined together with cloth. The puppeteer uses headdresses, facial make-up, and costumes similar to those in Kathakali plays. Chenda, Ilathalam, and Shankha's musical instruments were used during the performance.

3. *Shadow puppets*: India has a rich tradition of shadow theatre and different styles of puppets. They are made of cut-out leather and flat figures. The earliest reference to shadow theatre in the Tamil Sangam era is the term Sutradhara. Shadow puppets survive in Odisha, Maharashtra, Tamil Nadu, Andhra Pradesh, Karnataka, and Kerala. The process of regionalism may be related to the making of puppets. It is a highly crafty work. Normally, figures are painted identically on both sides of the leather. In Odisha and Kerala, themes come from the Ramayana, and in Andhra Pradesh and Karnataka, they come from the Mahabharata and local legends. Odisha puppets are about 6 to 8 inches long and are made of deer skin. Karnataka's shadow theatre, Togalu Gombeyatta, is mostly small. Andhra Pradesh's Tholu Bommalatta puppet is large and jointed at the waist, elbows, knee, and shoulder. The theme of puppet play from the Ramayana, Mahabharata, and Puranas In Odisha, Ravanchhaya has no joint and more theatrical performance. They create a lyrical shadow and are not larger than 2 feet. The songs from God Rama's legend and music belong to Odissi music. In Kerala, the Thol Pava Kuthu story is always taken from Rama, and the performance house name is Koothumadam. The puppeteers use mandalas and musical instruments like Ilathalam, Ezthupara, Shankha, Chenda, and cymbals. In this performance, a white screen is illuminated with the help of oil lamps, and the

shadows of these figures are projected.

4. *String String Puppets*: String puppetry is widely practised in India and has a variety of themes and techniques. Strings allow for far greater flexibility and are the most articulate of the puppets. Rajasthan is known for its Kathputli (wooden doll) arts. String puppetry has flourished in the regions of Rajasthan, Odisha, Karnataka, Tamil Nadu, West Bengal, and Maharashtra. String puppets provide more scope for manipulation. Kathputli is a highly dramatised version of regional music. The costume and headgear are designed in Rajasthani style. The majority of Rajasthani puppets use the high-pitched voices of puppeteers and usually perform musically very richly.

Odisha string puppets are known as Sakhi-Kundhei (companion doll), Sakhi-Nata, or Kandhai-Nata. This form is especially popular in the Kendrapara district of Odisha and utilises the Gopa-Lila (story based on the Krishna legends) with a height of 9 inches and a length of 2 feet made of paper or wood. Mostly figures without legs. Five or seven strings are attached to the puppet, and the costume of the puppet is like Jatra folk theatre. Tamil Nadu's famous puppet, Bommalattam (doll dance), is a combination of rod and string puppets. They use wood and string for manipulation. Puppeteers wear crowns, and the height of puppets is 4.5 feet, weight 10 kilogrammes.

Gombeyatta (puppet dance) or Sutrada-gombe or Sutrada-bombe string puppet of Karnataka The Gombeyatta puppet figures are highly stylized, and all characters are in the Yakshagan theatre form style. Puppets are manipulated by 5 or 7 strings, and stories are based on epics and Puranas. an interesting string puppet form of Maharashtra called Kalasutri-Bahulye (Kalasutri-string and Bahulya-puppet) or Threadskill doll. This form is in Pinguli village in Ratnagiri district, bordering Goa. The small puppets, finely sculpted from wood, wear turbans, ornaments, headdresses, etc. A single musician sang and played table cymbals. The performance started with God Ganesha and ended with Lord Shiva.

Some arts of puppetry and states

1. Glove puppet, Pavakathakali, Kerala
2. Krishna and Duryodhana, Pavakathakali, Kerala.
3. Panchali, Pavakathakali, Kerala
4. Duryodhana, Pavakoothu (Kathakali), Kerala
5. Bhima, Pavakoothu (Kathakali), Kerala
6. Rama, Tholapavakoothu, Kerala
7. Sita, Tholpavakoothu, Kerala
8. Ravana, Tholapakoothu, Kerala
9. Shiva, Tholpavakoothu, Kerala
10. Manipulation, Tholpavakoothu, Kerala
11. Hanuman, Togalu Gombeyatta, Karnataka
12. Ganesh, Togalu Gombeyatta, Karnataka
13. Ravana, Togalu Gombeyatta, and Karnataka
14. Ravana and Sita, Togalu Gombeyatta
15. Rama, Vibhishana, and Hanuman, Tholu Bommalatta, Andhra Pradesh
16. Sita and Lakshmana, Tholu Bommalatta, Andhra Pradesh
17. Ravana, Sita, and Hanumana, Tholu Bommalatta, Andhra Pradesh
18. Manipulation, Tholu Bommalatta, Andhra Pradesh
19. Rama, Sita, Lakshmana, Ravanachhaya, and Odisha
20. Ravana and Sita, Ravanachhaya, Odisha
21. Ravana and Sita, Ravanachhaya, Odisha
22. Bali and Sugriva, Ravanachhaya, and Odisha
23. Hanumana, Ravanachhaya, Odisha.
24. Manipulation, Ravanachhaya, Odisha.

25. String Puppet, Kathputli, Rajasthan
26. Snake Charmer, Kathputli, Rajasthan.
27. Amar Singh Rathore with courtiers, Kathputli
28. Court dancer, Kathputli, Rajasthan
29. Manipulation, Kathputli, Rajasthan
30. Krishna, Gombeyatta, Karnataka.
31. Arjuna, Gombeyatta, Karnataka
32. Krishna and Arjuna, Gombeyatta, Karnataka
33. Bhima, Gombeyatta, Karnataka.
34. Ravana, Gombeyatta, Karnataka.
35. Ravana's Court, Gombeyatta, Karnataka
36. Manipulation, Gombeyatta, Karnataka.
37. Dancer, Bommalattam, Tamil Nadu.
38. Manipulation, Bommalattam, Tamil Nadu
39. Draupadi, Bommalatta, Andhra Pradesh.
40. Krishna, Sakhi-Kundhei, Odisha
41. Radha, Sakhi-Kundhei, Odish
42. Rama and Lakshmana, Putul-Naach,West Bengal
43. Ravana, Putul-Naach, West-Bengal
44. Dancer, Ptul-naach,West-Bengal
45. Manipulation, Putul-Naach, West-Bengal
46. Man riding a horse, Yampuri, Bihar
47. Mother and Zamindar, Tarer Putul Naach, West Bengal
48. Manipulation, Tarer Putul Naach, West Bengal

Conclusion :

As per the discussion in this Paper you can understand that there are many types of puppet in India. I have found that puppetry is the world's oldest form which belongs to Indian culture. It is rich material in art form in india. We have to need to preserve this art in our society. Arts always give the same message of unity. Puppetry art is very useful for education and art in education, especially in NEP-2020 it has been emphasize many times that art is useful for every students. Also helps an artist to maintain his existence in the society.

References :

Rubin, Don. (1998). The World Encyclopaedia of Contemporary Theatre, Routledge, Taylor, and the Francis Group

Meher R. Contactor (2011), Creative Drama and Puppetry in Education, New Delhi, National Book Trust

Meher R. (1968) Contractor Puppets of India; Bombay Marg.

Kumar, Sunil (1989). Puppetry: A Tool of Mass Communication; Varanasi, National Council of Development Communication

Jiwan Pani, Living Dolls (1986) Story of Indian Puppets, New Delhi Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting

Devi, Tandra (1938). Village Theatres, Srinagar

Lal, Ananda, (2004). The Oxford Companion to Indian Theatre, Oxford University Press

Theatre Studies, 2015; Class 11, Central Board of Secondary Education, Delhi

Sharma, Rajendra Prasad, Pradhan, and Shyam Narayan (2016) Bhartiya Sanskriti, Spectrum books publication, New Delhi, 178;V184

Learning Curve, 2012; Azim Premji University; Issue 18th

Kumar, Anurag, Jha, and Chandramohan; Indian Art and Culture; Arihant Publications; Meerut

Awasthi, Suresh (2001). Performance Tradition in India, New Delhi, National Book Trust, India, P. 38-52

The Art of Puppetry, Booklet 01, Centre for Cultural Resources and Training, Delhi, India

The Art of Puppetry, Booklet 02, Centre for Cultural Resources and Training, Delhi, India

Varadpande, M.L,(2007). Concise Dictionary of Indian Theatre, Abhinav Publication, New Delhi, P-249-252

Naik, Meena (2004), A Handbook of Puppetry, National Book Trust, India, India; P- 20-39

किन्नौर के देवी–देवताओं के गीत

डॉ. सरिता नेगी*

सार

किन्नौर हिमाचल प्रदेश में स्थित एक जनजातीय प्रदेश है। 'किन्नौर' जिले की अपनी अलग पहचान है। यह क्षेत्र देवी–देवताओं, ऋषि–महर्षियों, साधु–संतों की तपोभूमि रही है। स्थानीय बोली में इसे 'कन्नोरिङ्' कहते हैं। किन्नौरी सभ्यता हिमालय की प्राचीन सभ्यता है, यह एक पर्वतीय लोकक्षेत्र है, इसीलिए यहाँ का जनजीवन प्रकृति एवं संस्कृति के अत्याधिक निकट है। किन्नौर के लोकगीत प्रायः विशेष घटना, उत्सव, पर्व, धार्मिक कार्यक्रम ऐतिहासिक प्रसंग, संस्कार तथा सामाजिक क्रियाकलापों पर आधारित हैं। लोककवि ने इनके विजय, उत्पत्ति, चमत्कार, शक्ति, स्थान एवं चुनाव से सम्बन्धित गीतों की रचना की है। 'किन्नौरी' लोकगीत राग पहाड़ी, राग दुर्गा, राग भूपाली, राग वृंदावनी सारंग, राग मधमाद सारंग आदि रागों पर आधारित होते हैं। इन लोकगीतों में प्रयुक्त तालें विभिन्न संख्याओं के आधार पर मानी गई हैं। 'किन्नौरी लोकगीतों के साथ बारह मात्रा, सात मात्रा, छः मात्रा जितनी भी मात्रा की ताल प्रयुक्त की गई है। उनके अनुरूप उन्हें क्रमशः एकताल, रूपक ताल, दादरा ताल आदि के अनुरूप माना जा सकता है। इन लोकगीतों का निश्चित रचनाकाल के विषय में बताना कठिन है। यहाँ हम–देवती–देवता सम्बन्धी लोकगीतों के विषय में चर्चा करेंगे।

मुख्य शब्द : *किन्नौर, लोकगीत–संगीत स्वरलिपि, राग, ताल*

शोध माध्यम : *इस लेख के लिए द्वितीयक स्रोतों एवं लोक कलाकारों से संपर्क द्वारा सामग्री एकत्रित की गई।*

किन्नौर के देवी–देवता यहाँ के निवासियों के लिए रक्षक व पालनहार हैं। देवताओं पर लोगों का अथाह विश्वास प्राचीन समय से चला आ रहा है। इसलिए देवताओं के प्रति भावना से ओत–प्रोत होकर लोककवि ने इनके विजय, उत्पत्ति, चमत्कार व शक्ति से सम्बन्धित गीतों की रचना की है। इन गीतों में देवता के स्थान एवं चुनाव का भी वर्णन किया गया है। देवी–देवताओं सम्बन्धी कथाओं को काल्पनिक मानना स्थानीय लोगों के लिए संभव नहीं है क्योंकि प्राचीन समय से ही किन्नौरों में अपने देवी–देवताओं के प्रति दौड़ती श्रद्धा और भक्ति की लहर चली आ रही है। इन लोकगीतों के निश्चित रचनाकाल के विषय में बताना कठिन है परन्तु इतना कहा जा सकता है कि देवता की उत्पत्ति के कुछ समय पश्चात् इन गीतों की रचना हुई होगी। इसमें संदेह नहीं है कि प्रत्येक देवी–देवता की उत्पत्ति गीत का रचनाकाल अलग–अलग है उनमें से कुछ गीतों का वर्णन इस प्रकार है–

बेरिङ् नाग देवता–सम्बन्धी गीत

गायिका – संतोष नेगी
उद्गम स्थान – सांङ्ला
लोकभाषा – हामस्काद (मूल किन्नौरी)

बेली बे होना हाया बे होना दंगोल्यो दङ् शौङ् बोरालो कोमो।
बोरालो कोमो तीश युङ् रीङ्जा।
तीशल्यो रिङ्जानु शैङ्गोश यैनदैन ज़ोलारिङ्।
ई युङ्जे पङ् शैङ्गोश यैनदैन ज़ोलारिङ्।
आई दु शैङ्गोश सुन्यो सापनी।
दैनची दायङ् रानङ्गोश कैलासु यठङ्।

कैलासु यठङ् सामतान माटयाङ् दैन मैदानो साङ्ला।
मैदानो साङ्ला माजङ् सानताङो इ तेङ्गो कोठी।
इ तेङ्गो कोठीयु डेलङु इष्ट हाद तोश।
डेलङु ईष्ट लोन्ना जैई बैरिङ् नागेस
जैई, बैरिङ् नागेस की गोटयो माइक्योंई।
की गोटयो माइक्योंई उपचांदो लागो।

उपचांदो लागो मैदाना साङ्ला।
रौनचीसी नीरई कौनसाङीसी जैशमाङ्।
कौनसाङीसी जैशमाङ् सैयानो सी यानो।
गोटयो था चालरांई जु नागेसु गीथाङ्

*असिस्टेंट प्रोफेसर संगीत, कन्या गुरुकुल कैम्पस, देहरादून

जैई बैरिङ् नागेस बोरालो खानङ्
बोरालो खानङ् कीसी थोम्याझोईं
कीसी थोम्याजोंई जु सातपानु माटयाङ्।

भावार्थ

यह गीत सांङ्ला (स्थान का नाम) बेरिङ् नाग देवता की स्तुति में गाया गया है। किन्नौर के साङ्ला घाटी में बौराल नामक एक स्थान में सात (नाग) भाई–बहन एकत्रित हुए। दो बहनों को निचले क्षेत्र की तरह बीतीङला नामक स्थान पर भेजा गया। अन्य दो बहनों को ताङनु (रोहडु) तथा एक बहन को लारेन तथा एक भाई को सुनहरी वादी सापनी भेजा गया। स्वयं ज्येष्ठ नाग इन सभी देवी–देवता को स्थान सौंपने के पश्चात् कैलाश की पीछे सांङ्ला घाटी पहुँचे तथा इसी पवित्र भूमि पर इनकी उत्पत्ति मानी गई है।

रोनचो सीयाली नीरांई याले
कीशो नागेसु गीथाङ् ले

प	प	प	म	रे	म	प	म	रे	स	–	
रौ	न	चो	सी	या	ली	नी	राँ	इ	याँ	लेऽ	
पम	प	म	रेस	ऩिस	प़	ऩिस	रे	पम	प	प–	
रौऽ	न	चो	सीऽ	याली	नि	राँई	याँ	लेऽ	की	शोऽ	
म	रे	म	–	म	रे	रे	स	–	–	–	
ना	मे	सु	ऽगी	था	डगँ	ऽ	ले	ऽ	ऽ	ऽ	
सानि़	रेस	नि़	म़	नि़	–	प़	–	–	पप	–	
कीऽ	शोऽ	ना	गे	सु	ऽ	गी	ऽ	ऽ	थाऽ	ऽङ्	
धीं	टाँ	टाँ	धीं	टाँ	टाँ	धीं	टाँ	टाँ	धीं	कड	कड

इस लोकगीत में प्रयुक्त ताल 12 मात्रा की है। यह लोकताल किन्नौरी लोकगीतों के साथ ही बजाई जाती है। उपरोक्त लोकगीत सारंग राग पर आधारित है इस राग का आरोहं, अवरोह और पकड़ इस प्रकार है–

आरोह	–	नि़	स,	रे	म	प	नि़	सं
अवरोह	–	सं	नि	प	म	रे	स	
पकड़	–	रे	नि़	स,	रे	प	म1	

श्री बद्री नारायण (कामरू) देवता सम्बन्धी गीत

गायिका – मायुम नेगी

उदगम स्थान – कामरू

गीत के बोल – हामस्काद (मूल किन्नौरी, टुकुपा शैली)

गोली गो होना हायाबे होना।
गोटयो था चा़लराई बौद्री नारायणु गीथाङ्

जु तोरोक्चु मानी सोती जुगम्याक्चु।
हामची उपचै़जोश ज़ी बद्री नारायाण।
दोक्च़ी उपचै़ज्ञोश मथूरा बिन्द्रो कोमोच।

मथुरा बिन्द्रो कोमो नारायणु रानझिश सोनयारू पाशङ्।
दोक्ची रानझोश बौद्रीस्थानु कोमो।
तिश प्रोलु कोमो महादेव पार्वती।
पार्वती देवी बैरिङ् था दौरीं।
बैरिङ् था दौरीं इ छै़लमाङ् बतो।
इ छै़लमाङ् हाचौ महादेव बीझोश गंगाऊ दैन।

आस्नान ची लानो ओमलायेगु बेरङ् गोयनीङ् ता बीज़ो।
युमलायो बेरङ् गोयनीङ् बादुला।
तीशप्रोल, बीराङ् संगमरमरू पानच़ानो।
इ आएनङ् छाङ्ा वां–वां च़ी लोदो।
पार्वती देवी टौब सारशिस बीझोश।
टौब सारशिस बीझोश तिशप्रोल बैरिङ्
संगमरमरू पानच़ानो, च़ौब थो–थो काझोश।
तीश प्रोलु कोमो महादेवु पलङ् दैन।
दायलैयो माजङो तिश प्रोलो में बीझो।
तीश प्रोले कोमो आगलङ् च़ी बीझोश।

पार्वतीस लोतोश जु बद्रीयु कोमो,
हातु पापी बौसे फाफरा न पोज़ो।
महोदेवीस लोतोश पार्वती देवी फाने रीङ्शिद तोके इ छ़ौल बतो।
महादेवीस लोतीश फाफरा ता पौज़ो।
चार धामु कोमो आङ् सोतीङ्सी पौज़ो।
पार्वती रङ् महादेव केदारनाथ बीझोश
बद्रीस्थान कोमो।
ठाठ बाठ बैशालैश बद्रीनारायण हाचेश आने।
इ मुखाङ् हाचीस तोपुर बौद्री।
आइ मुखाङ् हाचिस आनपुर टीरी गढ़वालु कोमो।
टीरी राजा आने ली बीझोश सोतीङ्
आने बीझोश आनेनु आमो दा।

भावार्थ

यह गीत कामरू गांव के देवता श्री बद्री नारायण की उत्पत्ति के विषय सम्बन्धी है। ऐसा कहा गया है या मान्यता है कि सर्वप्रथम वे मथुरा में पाए गए, तत्पश्चात् केदारनाथ से बद्री आए, जैसे कि नाम से स्पष्ट होता है बद्री में छोटे से बालक के रूप में निवास किया तथा अन्त में कामरु (किन्नौर) मंदिर में इनकी उत्पत्ति हुई।

देवता जय बद्रीनाथ कामरू (गांव) सम्बन्धी गीत

गीत के बोल – गोली गो होना याले हालयाबे होना
गोटयो था च़ालरांई याले बौद्री–नारायणु गीथाङ्।
जु तोरोक्चु मानी सोती जुगङ्म्याक्चु गीथाङ्।

प	ध	सं	–	प	–	म	पध	सं	रेंसं	ध	प
गो	लो	ली	ऽ	ऽ	ऽ	गो	ऽ	हो	नाऽ	या	ले
म	ध	म	–	स	रेम	रे	–	–	–	सध	–
हा	ल	या	ऽ	बे	ऽऽ	या	ऽ	ले	हो	ना	ऽ
धा	गी	ता	धी	क्डाँ	ऽन	धीं	क्डाँ	ऽन	टाँ	टाँ	टाँ

इस लोकगीत में प्रयुक्त ताल बारह मात्रा की है। यह लोकताल किन्नौरी लोकगीतों के साथ ही बजाई जाती है। उपरोक्त लोक गीत दुर्गा राग पर आधारित है। इस राग का आरोह–अवरोह एवं पकड़ इस प्रकार है–

आरोह – सा रे मप, ध सं

अवरोह – सं ध पम, रे स

पकड – मप ध प, म रे, स रे ध़ स

इस गीत की शेष पंक्तियाँ भी इन्हीं स्वरों में गाई जाती हैं।[2]

भावार्थ

यह गीत कामरू गांव के देवता श्री बद्री नारायण की उत्पत्ति के विषय सम्बन्धी है। ऐसा कहा गया है या मान्यता है कि सर्वप्रथम वे मथुरा में पाए गए, तत्पश्चात केदारनाथ से बद्री आए, जैसे कि नाम से स्पष्ट होता है बद्री में छोटे से बालक के रूप में निवास किया तथा अन्त में वे कामरू (किन्नौर) मंदिर में इनकी उत्पत्ति हुई।

चंडिका देवी

थूचाला शौड़ा हिरमा देवी ने लो।
ज़ाय हेना शौड् चौनी से मौनी लो।
ज़ाय हेना ग्वारबारङ् आगो लो।
आने सौरयागो जाङ् याङ् हाचिस लो।

ज़ाय हेना कोनसाङ् युङ्जे लो।
ज़ाय हेना तिश रिङ्जे लो।
तिश युङ् रिङ् रारङ् पानुङ्गो लो।
उल्टो डोल्यो ताम्बयो पाशङ् लो।

ली पाशा खेली दानात्यो पाशङ् लो।
नुस ता मानी गाङ्गी चु जैस्टे लो।
हातु नीतो ग्रोसनाम थानङ्गो लो।
हातु नीतो बाबे थानङ् लो।

नु ता मानी गाङ्गी चु जैष्टे लो।
ली हातु नीतो ज़ाङु खाईनिङ् लो।
ली नुस ता मानी गाङ्गी चु जैस्टे लो।
होतु नीतो नालचे़ माटयाङ् लो।

ली नुस ता मानी गाङ्गी चु जैष्टे लो।
ली माङ् माङ् ताझोश ङाराक साराकु लो।
माङ् माङ् ताझोश बैष्टोरू यठङ् लो।
रिङ्–रिङ् बीझोश यीशु डानीयु दैन

यीशु डानीयु दैन डैस मा डैस रैबझोश।
दो डैन–डेन बन्ना ब्रैङ नाई टोन्नाङ्चे लो।
दो लो लो बन्ना कागो जोन्नाङ्का
जौन्नङ्का द्वान्ना लाम्बयो कोटाङ्।

ली लाम्बयो कोटाङ् मालोन माजङ् सेरिङ्गो लो।
लाम्बयो कोटारिङ् लोन्ना राक्षसारिङ् कुरिङ्।
चीने लोन्ना राक्षसारिङ् माटिङ् लो।
ठायम ठायाझोश राक्षसारिङ् कुरिङ्

ज़ोग ज़ोग बझो तेझो राज़ासा लो।
दो लो लो बन्ना गोठङ् नालङु दैन।
सुङुल–मुङुल राज़ासा गोठाङ् लो।
इ बाल शुबझोश साय बाल दौफनाझोश।

ली डूबैन ली डुब्याझोश लो कोनाङु कुमो।
दुस्ती कुश्याझोश मारकालिङ् दौबयाझोश।
मारकालीङ्सि लोतोश मालिकु छुक्शिमु बीरंई ठोलङ् देशाङो।
माजङ् सानताङ्गो सानताङ्गो मा नीमा देवलङ् बीरंई।

देवलाङ् मानीमा कोइलासो बीरंई।
बीमली बीझोश कोइलासु कोमो।
मौमा शैसमू वाले कुलऊ ठेपाङ्।
दौली मानीमा गार पिगारे नीतो।

मारकालिङ्स लोतोश मोमा या मोमा।
कीनु प्राल कैरेश कीनु आरयाचिमु ताङेस।
बीमली बीझोश आनेनु युङ्जे।
आनेनु युङ्जेस वारक्योश ताङ्झोश

वारक्योश ताङ्झोश कुनीङु कोमो।
युङ्ज़ेसी लोतोश रिङ्जे या रिङ्जे।
योवाल्यो ठ ख्यातीं थ्वाल्यो ख्याचीं।
रिङ्जे या रिङ्जे भौंरासु कोमो।

सान ली साझोश भौंरासु साझोश
फीमली फीझोश रावनु चीमैद।
रावनु चीमैद माजो कोष्टाम्पी।
धौरम रानझोश तीशल्यो धौरम
कीनु स्वलैङ् राए दयारो राय रातिङ्।

भावार्थ

यह गीत चंडिका देवी सम्बन्धी तथा हामस्काद मूल किन्नौरी में है। जब हिरमा देवी गर्भवती थीं और वह प्रसव के लिए 'ग्वारबारङ्' नामक गुफा में गई तभी चंडिका देवी योगमाया में जान गई थी कि हिरमा देवी किन्नौर के

श्रेष्ठ देवताओं को जन्म देने वाली हैं। इसलिए स्वयं ज्येष्ठ बनने के लिए वह मक्खी बनकर हिरमा देवी की नासिका में प्रवेश कर पुनः शिशु के रूप में प्रकट हो गई। उसके बाद ज्येष्ठ भाई सुङ्रा (गांव का नाम) महेश्वर ने जन्म लिया। मजले भाई और छोटे भाई (चंगाव) महेशु ने जन्म लिया। सभी के जन्म के बाद जब स्थान बंटवारे की बारी आई तो देवी चंडिका ने चतुराई से सायराक नामक श्रेष्ठ स्थान अपनी वेणी के पीछे छिपा लिया तथा वह उस गांव की ग्राम्य देवी कहलाने लगी।[3]

ईश्वर नारायण एवं शक्ति नाग (पूर्बनी)

योयाँले कीता बीतोंई हो, कोइलासु
कोमो कीता बीतोंई।
योयाँले नीङ्ा हाला नीतोच हो,
राक्सारिङ् बोन्निङ।
नीङ्ा हाला नीतोच।
योयाँले कोइलासु कोमो हो, जोमकीचा।
जोमशो कोइलासु कोमो।
योयाँले फाम–फाम शेरंई हो, शंकरा
मौनशिरा नु फाम फाम शेरंई।
योंयाँले ज्ञाल–ज्ञाल जारंई हो,
नागा नारेनानु ज्ञाल–ज्ञाल जारंई।
योंयाँले बोरांङ् कारंई हो, शारङु कान
ज़मीयु आनङ् बोराङ् कारंई।

भावार्थ

यह गीत पूर्बनी गांव के देवता ईश्वर नारायण एवं शक्ति नगर पर आधारित है। गीत के बोल हामस्काद (मूल किन्नौरी) में है। इस गीत को मकर संक्रान्ति के दिन गाया जाता है, किन्नौर के निचले क्षेत्र में इस दिन से नव वर्ष का प्रारम्भ होता है। इस दिन जब दोनों देवता बीस दिन के लिए कैलाश की ओर प्रस्थान करते हैं तो गांव की स्त्रियों द्वारा यह गीत गाया जाता है तथा कहा जाता है कि यह बीस दिन हमारे लिए (गांववासियों) के लिए कष्टपूर्ण होंगे। 20वें दिन जब आप दोनों का वापस आगमन होगा, हम उस दिन की प्रतीक्षा करेंगे तथा वह दिन हमारे लिए प्रसन्नता से भरपूर होगा।[4]

रामणी गांव के देवता नारेणास जी का गीत

गोली गो होना हायाबे होना।
दङगोल्यो दङ् शौङ् दो शौङ्–शौङ् बीमा।
दो शौङ् शौङ् बीमा यालि खोनाचो मैल्लाम।
खोनाचो मैल्लाम यालि माजङ् सानताङो।
माजङ् सानताङो यालि शुम डोम्बर ज़ोमशिस।
शुम डोम्बोर ज़ोमशिस गिसिब–गिसिब याशो
यालि बायङो दैन हिल्याशो।
नु शुमल्यो माजङो यालि हात जैशमाङ्हात कौनसाङ्।
जैशमाङ् ता लोन्ना यालि ज़ाबलु नारेणास
नु शुमल्यो डोम्बोरू ज़ौरमिग हाम दुङो।
ज़ौरमिग ता लोन्ना यालि जाङ्ती चो नङ्को।
जाङ्तीचो नङ्को शु थानङु माटयाङ्
शु थानङु माटायाङ् यालि ई नमूना लोशो।
ई नमूना लोशो थासमिगी मा चालशे
थासमिगी मा चालशे यालि क्यालमाङु बालदैन।
क्याल माङु बालु दैन शुर बोठङ्।

भावार्थ

यह एक प्राचीन गीत है जिसमें मैल्लाम गांव नारेणास की उत्पत्ति स्थान के विषय में बतलाया गया है। गीत के बोल हामस्काद यानि मूल किन्नौरी में है। किन्नौर का मैल्लाम गांव पहाड़ के झरने के समीप बसा है। गांव के मध्य देवता का मंदिर है। इस मंदिर में तीन देवता जाबलु नारेणस, मैल्लाम नारेणस तथा अनुज गोसकी नारेणस विराजमान है। इन देवताओं का उद्गम स्थल पवित्र जल के किनारे 'शुथानङ्' नामक स्थान है।

देवता परका शांकरस (पोवोरी गांव)

गोली गो होना हायाबे होना।
दङ् गोल्यो दङ्ा शोङ् राङ्तीचु रैगे।
राङतिचु रैगे प्याला डोखाङ् दैन।
प्याला डोखाङु दैन सामतान माटिङु दैन।
डेल्योश पोवारी, डेलीङु इष्ट हात तोश।
डेलीङु इष्ट लोन्ना ज़ै परका शाङ्करस।
की गोटयो माइक्योंई कीसी थोम्याङ्गोंई
ज़ै परका शाङ्करैस।
माजो सानताङो गिसिब–गिसिब याशो।

कोइलासु पीठार रानो।
शाङ्करसिस लोतोश आङ्
लाखदार कामदार।
आङ् दा जैरिच इ हुकुम लानतोक।
आनेनु लाखदार कामदार, फानयानु
गोलदार रण बहादुर बज़ीर।
नीश गुद हाथ जोड़यो, किन ठ दु हुकुम
नीङ् खुसियो रौनचिच।
शाङ्करिस लोतोश पाइरङ् सीक्यातोक
शुम नीज़ागु पोरमे बीमीगु तैयारी।
सोमपोरू बेरङ् सी प्रोलु बेरङ्,
सातपानु माटिङु दैन।
नङारो छारयो, पन्नम में लोशो हातु
डोम्बोरू बोरदयाझोश।
हातु डोम्बोर मानी ज़ैई परका शांङ्करस।
दो रीङ् रीङ् बीमा नङरया हो रीदाङ्
मौलडुङ् छौस्तैन दैन।
गुई नीज़ागु गोएने।
इ गुदो दुपाङ् रङ् आई गुदो कोरिङ्।
दो शोङ्–शोङ् बीमा द्रमाङ् सानताङो।
योटङ् डोम्बोरे मिलाकार लानो।
योटङ् डोम्बोरे लोन्ना कासु राजेस डोम्बोरे।
रङ् परका शाङ्करस डोम्बोर।
गिसिब–गिसिब याशो कोइलासु पीठार लानो।

भावार्थ

यह एक प्राचीन एवं लोकप्रिय गीत है। गीत मूलतः हामस्काद यानि मूल किन्नौरी में है। प्रस्तुत गीत 'परकाशांङकरस' (शिव देवता) पर आधारित है जो पोवारी नामक गांव के देवता हैं। इस गीत की पंक्तियां यह दर्शाती हैं कि किस प्रकार शिव देवता ने एक भयानक राक्षस से गांववासियों की रक्षा की तथा अन्य पंक्तियां दर्शाती हैं कि वे रिब्बा गांव जाते हैं और देवता कासु राजेस से भेंट करते हैं तथा उनके आगमन पर वहाँ स्त्रियां उनका स्वागत हाथ में 'डोङोर' नामक फूल एवं धूप–दीप से करती हैं।[5]

निष्कर्ष :

किन्नौर भौगोलिक दृष्टि से पर्वतीय, दुर्गम क्षेत्र होते हुए भी सांगीतिक दृष्टि से यह सुगम एवं समृद्ध है। यहाँ लोकगीतों का विषय एक ओर प्रकृति तथा रीति–रिवाज सम्बन्धी सुंदर सार्थक गीत हैं तो वहीं दूसरी ओर देवी–देवता सम्बन्धी धार्मिक गीत भी मिलते हैं। ये लोकगीत रागों पर ही आधारित होते हैं। प्रत्येक क्षेत्र के लोकगीतों में किन्हीं विशेष राग की झलक दिखाई देती है। किन्नौरी लोकगीत राग पहाड़ी, दुर्गा, भूपाली, वृंदावनी सारंग, मधमाद सारंग और कहीं–कहीं जोग आदि रागों पर आधारित होते हैं। इन लोकगीतों में प्रयुक्त तालें विभिन्न संख्याओं के आधार पर मानी गई, जैसे कि बैरिङ् नाग देवता की गीत (उपर्युक्त स्वरलिपि) बारह मात्रा में निबद्ध है। लेकिन इस ताल के बोल प्रसिद्ध एकताल के अनुरूप नहीं है। इसी प्रकार जैसे–जैसे गीतों के साथ बारह मात्रा, सात मात्रा, छः मात्रा, जितनी भी मात्राओं की ताल प्रयुक्त की गई है, उनके अनुरूप उन्हें क्रमशः एकताल, रूपक, दादरा ताल आदि के अनुरूप माना जा सकता है। सांगीतिक तकनीक से दूर होते हुए भी किन्नौरी संगीत जहां एक ओर किन्नौरी लोक हृदय में स्थान रखता है, वहीं दूसरी ओर सामान्य जन को भी उतना ही लुभाता है।

संदर्भ सूची :

1. साक्षात्कार
2. साक्षात्कार
3. नेगी, छेरिङ् टाशी–किन्नौरी सभ्यता और साहित्य : संकलन तथा हिन्दी अनुवाद, साहित्य अकादमी, दिल्ली 2005, पृ.सं. 202
4. नेगी, सरिता, किन्नौर के विभिन्न लोकभाषाओं में गाए जाने वाले लोकगीतों का सांगीतिक अध्ययन, नैतिक प्रकाशन, गौतमबुद्ध नगर, उ.प्र. 2020, पृ.सं. 74–75
5. वही, पृ.सं. 77–78

The Carving and Relief Sculptures of The Northeast: Special Emphasis on Unakoti in Tripura as A Site of Historical Significance

Debabrata Das*

Abstract

Little was known about Indian rock-cut art, either ancient or historic, a century ago. India, like many other nations today, can look back on a lengthy history of progress. Contrary to first impressions, this rock-cut art or sculpture is found in similar geographical settings in Gujrat-Rajasthan, Bihar, Orissa, and if it comes to the North East region, then of course historical examination of Unakoti relief and Stone carving Sculpture of Tripura comes as normal because of the enormous Siva face and numerous stone carvings and reliefs. Myth in rock-cut art has a venerable antiquity. Unknown artisans created the original stroke on rock by etching the contour of various animal and geometric designs. (Petroglyphs) are a very effective way of portraying the mastery of ancient art, yet this historic site in the northeast is solely based on Indian religion. The Stone sculptures and carved reliefs can be seen in Unakoti, Tripura. When one thinks of stone carvings, reliefs, and sculptures, Ajanta, Ellora, Khajuraho, Konark, Udaygiri, Khanadagiri, etc. come to mind. That perspective makes Tripura's stone sculptures and reliefs practically impossible to analyse. This essay aims to examine the historical background of the stone carving and relief from Unakoti. Sculptures in Tripura's northeast.

Keywords : *relief, Stone carving, geometric motifs, rock-cut, petroglyphs.*

Methodology : *The research paper draws support from secondary sources.*

Introduction

Tripura was formerly referred to as *Sukshma Desh* or *Kirata Bhumi*. Tripura, also known as Tippra, once controlled a far larger region than it does today. The State of Tripura was described as consisting of a vast land with the rivers Tri Ranga on the north, Rasanga (Arakan) in the south, Mekhle or Manipur on the east, and Banga on the west in the Rajmala (Chronicle of the Manikya King), which is thought to have been written about five hundred years ago during the period of Dharma Manikeya (1407-1458 A.D.). Historical Highlights: According to records from Rajmala, Tripura was governed by 184 kings. And the Tripura era began in 590 AD. The third-smallest state in India is called Tripura. Location: NER lies in the south-east latitude 22.56 N and 24.32N longitude -91.10E and 92.21E bounded by Bangladesh on the west, south and north, Assam on the north-east, and Mizoram on the east. Igneous rocks make up every part of Unakoti. In addition to this, sedimentary rocks like sandstone, limestone, sandstone, shale, conglomerate, mudstone, etc. may be found in the hills of Tripura. Lignite rocks are metamorphic rocks. Tripura, which has produced some highly intriguing Stone Age

*Assistant Profesor, Govt. College of Art & Craft, Agartala, Tripura (W)

enterprises centered on using fossil wood as a raw material, is still doing research into its prehistory. This is in contrast to Anything of Burma. Assam, Nagaland, Mizoram, and Tripura have not yet been reported as having Paleolithic culture artefacts.

Rock cut relief and stone carving:

Every feature of tradition that has concurrently changed human artistic prowess and cultural activities in society has a major impact on rock-cat art. The mountains have been sculpted with rock reliefs and sculptures. Rock Art Prehistoric or historical Indian stone carving and rock-cut relief art were poorly understood a century ago. Wakankar's excavations and those of Dr. V. N. Misra definitely demonstrate that people have lived in these rock shelters continuously for the past 100,000 years or so. The earliest forms of art would date to around 5,000 B.C., based on data from rock shelters. With this specific time frame, we have started a more in-depth, meticulous, and thorough investigation of the rock art at Bhimbetka. Having replicated more than 350 paintings from only Bhimbetka, Sri Y. D. Mathpal, Researchers estimate that Unakoti's stone sculptures and rock cut reliefs date to the eighth or ninth century. All of these historical, social, and cultural occurrences were documented at different points in time on Unakoti Tirtha Tripura, an important ancient archaeological monument. These stone sculptures and reliefs are all based on various Indian mythological tales. Myths are not straightforward narratives that educate people about the historical development of art. Myths describe how new historical, cultural, and religious truths appear; art and architecture are accurate windows into society. Imaginings of mythology based on psychological analysis. *Kamadeva* (Figure 1) Hindu mythology is a synthesis of incidents resulting from numerous old customs and influences. Hindu mythology forms a mixture of events born from various ancient traditions and various influences, which Indian society unfolds over the course of its history.

Rock-Cut Art This art style has prevalence in the modern world regardless of geographical boundaries. In almost all countries, this type of art style has various historical excellence and aesthetic, research data, archeology history of immense importance. In that sense, the art tradition of rock-cut art in India has long explored the inner experiences and creative energies of man. According to the principles and statements of Shukracharya, the main characteristic of the artist's creation is to be attracted to his inner self and contemplation. Art in the Indian concept was an all-embracing discipline, capable of maintaining a connection with the world as a whole, the ultimate reality of the soul. Indian heritage was the foundation of aesthetic enjoyment. And the goal was the artistic experience that resulted in the excellence of architectural art. On the stone hill there are Indian mythological books in the sculpture art, in which the artists have given many forms like Shiva, Ganesha, Nandi Bull, Vishnu, Gaur, Yaksha, Yakshi. Some of the strangest representations created by the artists of ancient India, such as human figures and animals, include the '*Kamadhenu'* sculpture of Unakoti in Tripura (Figure 2).

There are many differences on this with western countries but later the role of writers was major and important. E. V. Hebel, Heinrich Zimmer and A. K. Kumaraswamy, for example, played an important role in elucidating the concept of Indian sculpture to the Western mind. Although the Rock-cut relief and stone carving Sculptures of Tripura have not received much publicity, but the rock cut reliefs and stone carvings of Tripura are also not behind in historical and aesthetic aspects. Today's sculpture is about simplification, individuality. Which is can reflect Tripura effortlessly. It is

rich in many archeological resources like Pilak and Chabimura.Prominent writers and researchers are of the opinion that the main sculpture of Unakoti has many similarities with the sculptures of Shiva in Cambodia's Dev Cult. Cambodian sculpture, however, is composed of face carvings by placing blocks of stone together. But the main sculpture of Unakoti is carved into a single stone *(Siva head)* with a height of about 13.50 m x 9 m 20 cm or from ear to ear and forehead 5 m 20 cm (Figure 3).

Unakoti's Sculpture in Aesthetic and Historical context

Rock-cut architecture is the practice of creating a structure carved out of solid natural rock. Indian rock-cut architecture is more varied and abundant than any other type of rock-cut architecture in the entire world. From that point of view, the Unakoti reliefs and stone carvings of Tripura also have ample evidence. There is no doubt about it. Indian rock-cut art style is mostly religious in nature. Unakoti's sculptures are no exception. There are more than 1500 architectural sculptures in India. Most of these are of fine art style in stone. But Unakoti's reliefs and stone carvings are a slightly different kind of artwork. There is no doubt that the artists have given the masterpieces a gigantic shape according to the quality of the stone. But there is an aesthetic and historical fascination in all those sculptures. Since then, ancient and medieval art and engineering represent remarkable achievements. Needless to say, it amazes almost all visitors.The Unakoti hilltop sculptures were carved between the 7th and 9th centuries, representing the Shaiva-Ganapatya-Shakta-Vaishnava religions. However, no sculptures of Buddhist deities were found there. Especially the stories of Ramayana and Mahabharata have been visualized. Not only beautiful from a spiritualist point of view, it is also a famous tourist destination resplendent in architectural and sculptural magnificence. Unakoti is an important place after Pilak from the archaeological point of view. Assam's hill sculptural art is much more extensive and varied. According to geologists, covered by limited graceless or sedimentary rocks, Unakoti Hills is about ten lakh years old. (Baidya, 2007) According to the information of Dr. Nihar Ranjan Roy's "bangalir Itihas" book, Unakoti may be in the 8th century during the rule of the Pala period. According to Dr. Dinesh Chandra Sen, hundreds of broken, half-broken carved sculptures indicate antiquity. Unakoti's sculpture of Kinnari is a mythical creature of semi-divine character carved in colossal stone, a hybrid form of Kinnari with a four-legged animal body and human face carved into the stone wall. (Bhattacharyi, 2016) The style of the rock-cut carving at Unakoti betrays a rudimentary and crud Conception of the art illustrates in a remarkable way the canons of the different part of the body are treated only in their broadest aspect, without any attempt to harmonize the whole.it is extremely difficult fix the period of rock-cut carving , as no material for comparison with them exists in Northeast India. On the whole, judging by the extant remain at Unakoti, It may be conclude with some certainty that site has been seared to the worshippers of Siva at last from the 8th-9th Century, if not same Centuries earlier (chauley-2007). Simplification in the sculpture of Unakoti has not resulted in any deviation of the sculptural form anywhere. Indian sculpture does not fully adopt but an aesthetic quality is preserved in Unakoti's sculptures. If we analyze the ornamentation and form of Kinnari sculpture discussed earlier, it can be seen that there is an aesthetic form. A colossus figure of *kinnari,* a mythical being of a semi-divine character, plays a secondary part in religious complex of Unakoti as accessory to different deities carved on the rocky walls. The hybrid form of *kinnari*with the four legged animal body and a human face, Unakoti Specimens. In the rock-cut sculpture

of Unakoti appear, however, not one but various styles mixed-up from two sources. The amalgamation of Indian main culture stream and the alien culture influence might have immigrated to Unakoti in which indigenous style of the tribal art of Tripura have emerged.

Some Information on Historical Sculpture

Some of rock-cut relief and stone carving sculpture of Tripura from prehistoric time have been documented. Simplistic art style presented in Unakoti's Sculpture in these image or figure bears ample evidence of primitive sculpture style and simplification. Consider as the best of the archeological and historical site of northeast region. A good number of rock-cut relief and stone carving sculpture of Siva (Figure 4) and *parvati, Vishnu* (Figure 5), Kartikaya (Figure 6), hanuman (Figure 7), and *Chaturmukhlingas* (Figure 8) were carved.

Conclusion

About the earliest humans in India, we are continuously learning. There is a vague outline of the evolution of his material civilization. Typically, stone sculptures and reliefs chiselled into rocks. The monumental rock-cut relief and stone carving sculptures are the most significant of Tripura's archaeological sources for history because they shed light on the history of the tribal religion Brahmanism, its iconography, and the various stages of the development of culture and civilization during the Middle Ages of Tripura. Technically impressive relief sculptures in Tripura represent the state's art by unmistakably expressing the psyche and creative impulse of the native population during the Middle Ages; further study of these sculptures is anticipated to shed a great deal of light on both local history and India's history as a whole.

Figure 1 *Kamdev*, Unakoti, kailasahar photography from Wikipedia

Figure 2 *Kamdhenu*, Kailasahar, Tripura Photography from Wikipedia

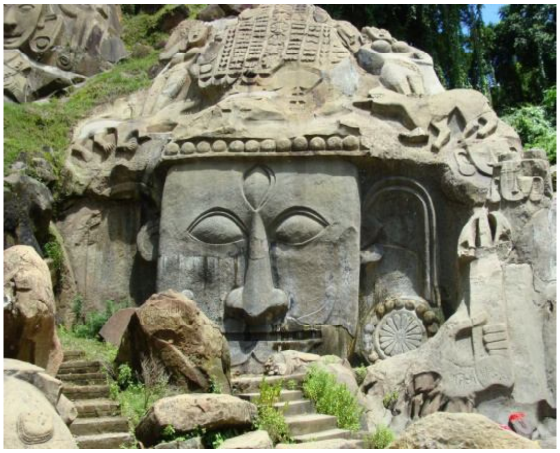

Figure 3 *Siva Head*, kailasahar, Tripura Photography from Wikipedia

Figure 4 *Gangadhara*, Siva head, kailasahar Photography from Wikipedia

Figure 5 *Vishnu*

Figure 6 *kartikya*

Figure 7 *Hanuman.*

References :

1. Bahattacharjee, P. (2016). The Glorious Rock-Cut sculptures of Unakoti, Published in Nabachandana Prakashani Agartala, Tripura, Pp. 29-49
2. Baidya, D, A. K. (2002). Tripura Pratna sampad-2 Unakoti O Devatamura Bhaskorjyoer Ruprekha, Published in Swagtam Prakashani, Pp.11-37
3. Debbarma, P. (2017). A Regional Study of Tripura and North East India, Published Eastern book House, Assam (India), Pp. 16-23.
4. Sankalia, H. D. (1978). Pre-Historic Art in India, vikas Publishing House Pvt.Ltd. New Delhi. Pp. 4-5.
5. Mago, R. N. (2001).Contemporary Art in India. Published National Book Trust of India.Pp. 4-5.
6. Chauley, G. C.(2007). Art Treasures of Unakoti, Tripura. Published Agam kala Prakashani, New Delhi. Pp. 23-45.
7. http://en.m.wikipedia.org.wiki,Indian Rock-cut architecture.
8. N. R. Ramesh.GEOSEAV proceedings vol.11. Geol. soc. Malaysia, Bulletin 20 August 1986. Pp290- Discovery of Stone age tools from Tripura and its relevance to the Pre-History of South Asia G.S.I Shillong, India
9. District Survey Report : Unakoti District, Tripura RSP GREEN Devolopment and Laboratories pvt. Ltd. Weast Bengal. India, October-2018. Pp. 7
10. Debbarman, P. (1921). Unakoti-Tirtha, publication Saikat Prakashani, Agartala, Tripura. Pp. 56.
11. Bhattacharjee, D. (2007). Unakoti, Publication jnanbichitra Prakashani, Agartala, Tripura. Pp. 18-24

Digital Literacy and its influencing characteristics for human resources working in the fashion industry

Suranjan Lahiri*

Abstract

ICT (Information and Communications Technology) application and their widespread usage is emerging everywhere and becoming particularly visible in all innovative industries, including the fashion industry. Be it in creative designing, technology-based manufacturing, or even online-based e-commerce business, digitalization is penetrating every sphere of the design and fashion business. Nonetheless, to what extent our current human resources are ready to take on this challenge is still not clear in the Indian fashion industry. This research is hence an attempt to study digital literacy and it's influencing characteristics for human resources working in the fashion industry, in this case, the Delhi NCR fashion industry. 60 fashion industry human resources from Delhi-NCR were asked to respond to a self-assessment survey on digital literacy. The answers were statistically analyzed to study the influence of various demographic and organizational characteristics on the achieved digital literacy level of the participating respondents.

Keywords: *Digital Literacy, Fashion industry, Human Resources, ICT applications, Digitalization*

1.0. Introduction

Lately, there has been a lot of emphasis on digital innovations in every creative industry, including the fashion and apparel industry. Researchers like Rathore (2021) who calls this digital transformation of the clothing industry Fashion Transformation 4.0, point out that digital fashion practices like digital marketing, digital communication, digital e-commerce, website optimization, social media campaigns, mobile applications, and other digital strategies in the fashion industry are getting increasingly popular. However, what is imperative from this digitalization is the need and requirement for trained human capital who can manage this challenge effectively.

India has also emerged as a major contributor to the global fashion and apparel industry. But to what extent our present apparel industry human resources are upgraded in this new digital need is not very clear. This present study is therefore an effort to study the digital literacy of human resources from Indian fashion industry, in this case the Delhi NCR fashion industry, which is a popular apparel manufacturing cluster in India. But before proceeding further it is important to perceive the current meaning and definition of digital literacy.

Paul Gilster (1997) first used the word 'digital literacy' in his book with the same name and goes on to explain that just as the word literacy means the ability to read with understanding, digital literacy means an understanding of what we see in the computer screen as we use the networked medium. So, it is more than just another skill, but the ability to make judgments based on what we see on the computer screen. Many other researchers contributed to its meaning and definition hence forth. Finally, the UNESCO Institutes of Statistics (Law et al, 2018) summed up the digital literacy framework of around 47 countries from different geographical locations

*Deputy Director, Amity School of Fashion Technology, Amity University, Kolkata

across the world and defined digital literacy as 'the ability to access, manage, understand, integrate, communicate, evaluate, and create information safely and appropriately through digital technologies for employment, decent jobs, and entrepreneurship. It includes competencies that are variously referred to as Computer Literacy, ICT Literacy, Information Literacy, and Media Literacy.' To further monitor digital literacy, UNESCO also proposed a framework viz; 'A Global Framework of Reference on Digital Literacy skills for Indicator 4.4.2' with 7 broad competence areas, and 24 broad competencies. Various researchers and policy-making bodies throughout the world have utilized this framework to study digital literacy for a group of people. In fact, there are several methods to study digital literacy for a group of people.

Lahiri et al. (2022), like many other researchers utilized the UNESCO framework through a survey-based self-assessment questionnaire to identify and further analyze the digital literacy competencies of university students studying fashion design programs in Kolkata, India.

Similar research work has been carried out to study the digital literacy of students from other disciplines, or for the general population at large. But significant work seems to be missing to study the digital literacy of an existing workforce of any industry, especially for the fashion industry in India. It is therefore important to study the digital literacy level of apparel industry human resources from a popular fashion manufacturing cluster in India. The Delhi NCR cluster, being one of the oldest apparel manufacturing clusters, has therefore been chosen for this study with the following Research Objectives:

1. To find out the factors of digital literacy for Delhi NCR fashion industry human resources
2. To determine the effect of human and organizational characteristics on achieved digital literacy of Delhi NCR apparel industry human resources.

A survey was first carried out among the Delhi NCR workforce, and the extracted data from the survey was utilized to first carry out an Exploratory Factor Analysis, followed by ANOVA analysis to determine the above Research Objectives. The following null hypotheses were framed to carry out the ANOVA test:

1. H1= There is no significant difference in digital literacy values among different factors of apparel industry human resources, across different (micro, small, medium, and large) sectors.
2. H2= There is no significant difference in digital literacy values among different factors of apparel industry human resources, across different genders.
3. H3= There is no significant difference in digital literacy values among different factors of apparel industry human resources, across different (design, merchandising, and production) departments.
4. H4= There is no significant difference in digital literacy values among different factors of apparel industry human resources, across different income levels.
5. H5= There is no significant difference in digital literacy values among different factors of apparel industry human resources, across different age groups.

2.0. Research Methodology

The instrument for this empirical study has been adapted from the research work on digital literacy carried out by Lahiri et al. (2022) for fashion students. Data has been collected

with the help of a structured questionnaire having two parts. Part I has been framed to collect demographic information about the respondents, whereas Part II has been created to collect data on the digital literacy of the respondents (apparel manufacturing human resources of Delhi NCR area). Part I has 5 questions (based on the 5 hypotheses already made in the previous chapter), and Part II has 23 statements. Responses to the given statements of the survey were scored on a five-point Likert scale with a self-reported truth response against the items (1 = strongly disagree, 5 = strongly agree). The final Survey form (Part I and Part II altogether) is given in Annexure 1. This was electronically forwarded to the respondents through a Google Form via WhatsApp link in March-April 2022.

The sampling frame comprised of designers, merchandisers, and production technologists from the apparel industry of the Delhi NCR cluster. These human resources have been chosen from both MSME as well as non-MSME organizations from the cluster. This survey has been carried out in the months Feb-Mar 2022.

2.1.Sample size

Generally, a minimum of 30 is considered sufficient to conduct significant statistics. However, since there are 2 apparel sectors (MSME and non-MSME sectors), the sample size for this empirical study has been kept at 60.

As per KPMG (2016) data, employment generated by MSME as a percentage of overall employment in India is 28%. So, based on a proportionate stratified sampling strategy, 17 respondents are taken from the apparel industry belonging to the MSME sector, and the rest 43 respondents are taken from the non-MSME sector.

3.0. Result and interpretation

The survey data in Excel format was first downloaded from google forms. This Excel sheet was then pasted into SPSS software for further analysis. The statistical methods along with their results are as follows:

1. Exploratory Factor Analysis (EFA) and the emerged Factors

Since there are 23 variables in the current survey, Exploratory Factor Analysis (EFA) using standard practices was first carried out to reduce data. Six factors emerged from this test. These factors were suitably named based on their component variables as given in the following Table 1:

Table 1

Emerged factors of digital literacy

New Dimensions	UNESCO Items	Factor Loading	Factor Title
1	3	.856	Online information searching and its utility competency
	8	.844	
	4	.785	
	9	.726	
	2	.584	
2	12	.756	Netiquette competency
	10	.751	
	14	.620	
	22	.558	
	11	.557	
	23	.522	
3	19	.844	

	20	.705	Digital communication, collaboration, and its problem-solving competency
	7	.640	
	6	.582	
4	16	.775	Digital security and content formatting competency
	13	.746	
	15	.610	
5	17	.847	Digital safety competency
	18	.838	
6	1	.887	Hardware competency
	16	.574	

2. ANOVA analysis

Finally, a one-way ANOVA test was carried out to find the relationship between the digital literacy levels of the emerged factors (competencies), as against the organizational and human resource characteristics to determine whether any significant difference exists between the groups of each of these characteristics. Thus, the dependent variables, in this case, are digital literacy levels of the emerged factors, whereas the independent variables are the following groups (as also previously noted down as hypotheses) given below in Table 2:

Table 2

Independent variables and their groups

S.No.	Independent variables (characteristics)	Groups
1	Sectors	(a) Micro, (b) Small, (c) Medium, and (d) Large sector
2	Genders	(a) Male, (b) Female, and (c) Others Category
3	Departments	(a) Design, (b) Merchandising, and (c) Production department
4	Income levels	(a) Up to 2.5 lahks, (b) 2.5 lakh to 5 lahks, (c) 5 lakh to 10 lahks, (d) More than 10 lakh
5	Age	(a) 16-25 years, (b) 26-40 years, (c) 41-56 years, (d) 56 and more years

For each of the independent variables, the groups may be considered $\mu 1$, $\mu 2$, $\mu 3$…, μn.

The data has been analyzed in SPSS at a 95 % confidence level. In case the significant value is more than 0.05, then it is assumed that the test failed to reject the null hypothesis; and the groups $\mu 1$, $\mu 2$and $\mu 3$…, μn are all equal. Otherwise, they are different.

In case any group has significant values less than 0.05, then Post Hoc Multiple Comparison (LSD method) has been also carried out to find out which pair of groups are significantly different. If a significant difference exists, a mean analysis has been further seen to compare the average digital literacy between the groups.

ANOVA analysis regarding the hypotheses made, and independent variables created are as follows:

1. Sector-wise groups (First hypothesis testing)

As already stated, sector-wise ANOVA analysis in SPSS has been carried out to determine significant differences between the sector-wise groups, i.e., between micro, small, medium, and large sectors. ANOVA analysis table along with Post Hoc Multiple comparison tables are given below in Table 3:

Table 3

ANOVA test result

Factor name	Factor 1	Factor 2	Factor 3	Factor 4	Factor 5	Factor 6
F value	.176	3.714	.489	.620	.960	.154
Significance(0.05)	.912	.017*	.691	.805	.418	.927

Note:* indicates the corresponding factor has sig. value less than 0.05

The result shows that Factor 2 (Netiquette competency) significantly changes (0.017) with a change in the sector. Other Factors do not significantly change with change in sector-wise groups and their significant values are all greater than 0.05.

A Post Hoc Multiple Comparison (LSD method in SPSS) was then carried out between the sector-wise groups to find out which pair of groups are significantly different i.e., less than 0.05 for Factor 2.

The result points out significant differences between the three groups (micro /medium, micro/large, and small / medium). They are further subjected to mean analysis to compare the level of digital literacy between the groups. The SPSS analysis is given below in Table 4:

Table 4

Mean Analysis Report

Kindly choose your organization's sector		10. (Netiquette)	11.(Digital footprint)	12. (Create)	14. (Referencing)	22. (Training1)	23. (Career)
Micro	Mean	3.5860	3.3464	2.4000	3.2000	3.0000	2.8000
	N	5	5	5	5	5	5
	Std. Deviation	.53568	.48373	1.14018	1.30384	1.22474	1.30384
Small	Mean	3.8000	4.1464	3.8000	3.4000	3.4000	3.2000
	N	5	5	5	5	5	5
	Std. Deviation	.83666	.49106	1.09545	.89443	1.14018	1.30384

Medium	Mean	4.5714	3.8571	4.2034	4.1429	4.1429	4.4286
	N	7	7	7	7	7	7
	Std. Deviation	.53452	1.21499	1.15776	.89974	.89974	.78680
Large	Mean	3.8805	3.7085	3.3721	3.2645	3.9767	3.8140
	N	43	43	43	43	43	43
	Std. Deviation	1.05102	1.21977	1.21544	1.23569	1.03483	1.20031
Total	Mean	3.9298	3.7321	3.4237	3.3729	3.8667	3.7500
	N	60	60	60	60	60	60
	Std. Deviation	.97180	1.12733	1.23787	1.19176	1.06511	1.21606

The above result points out that micro-sector employees have the lowest Factor 2 competency as compared to other sectors. As we move from micro to small and then medium sector, Factor 2 digital competencies increase. But when we further move to the large sector, digital competency doesn't seem to significantly vary anymore. Therefore, we can conclude that as the organization's size increases, day-to-day internet usage and the management-related competency of its related workforce also improve. This competency reaches its peak with medium sector human resources who probably use the internet and its related services as much as the large sector workforce. Thus, Netiquette competency for large and small sector workforce in Delhi NCR apparel industry doesn't significantly vary.

2. Gender ((Second hypothesis testing)

Next, the ANOVA analysis was carried out to determine significant differences between the gender-wise groups, i.e., between the male, female, and other category groups. Since there was no respondent from the other category, there were only two groups, viz. male and female. ANOVA analysis table along with Post Hoc Multiple comparison tables are given below in Table 5:

Table 5

ANOVA test result

Factor name	Factor 1	Factor 2	Factor 3	Factor 4	Factor 5	Factor 6
F value	.357	4.922	.250	.081	.320	1.780
Significance(0.05)	.553	.030*	.619	.778	.574	.187

Note:* indicates the corresponding factor has sig. value less than 0.05

Like in the previous case, Factor 2 (Netiquette competency) significantly changed between the groups. The rest of the Factors do not significantly change.

Since there are only 2 groups, Post Hoc analysis is not required. A mean analysis of Factor 2 variables was carried out to find out the level of digital literacy between the groups. The SPSS analysis is given below in Table 6:

Table 6

Mean Analysis

Report

Please specify your gender		10. (Netiquette)	11. (Digital footprint)	12. (Create)	14. (Referencing)	22. (Training1)	23. (Career)
Male	Mean	3.9757	3.8340	3.5197	3.4122	4.0213	3.9574
	N	47	47	47	47	47	47
	Std. Deviation	.98887	1.14131	1.21125	1.15301	.94384	1.10252
Female	Mean	3.7638	3.3640	3.0769	3.2308	3.3077	3.0000
	N	13	13	13	13	13	13
	Std. Deviation	.92556	1.03334	1.32045	1.36344	1.31559	1.35401
Total	Mean	3.9298	3.7321	3.4237	3.3729	3.8667	3.7500
	N	60	60	60	60	60	60
	Std. Deviation	.97180	1.12733	1.23787	1.19176	1.06511	1.21606

The above result points out that Factor 2 (Netiquette competency) digital literacy level for the female workforce is comparatively lesser than that of the male workforce. Be it in online communication, availing digital e-services, or upgrading oneself in various domain-related digital tools, the male workforce performs better than the female workforce in the Delhi NCR apparel industry.

3. Department /Income level/Age

Next, ANOVA analysis was carried out (a) department-wise, (b) income level-wise, (c) and age-wise to test the third, fourth, and fifth hypotheses. Since the emerging significant values from ANOVA analysis are more than 0.05 for all six factors, it can be inferred that (a) departments, (b) income levels, or (c) age do not have any influence on the digital literacy level of Delhi NCR human resources. These independent variables are therefore not taken up for any further analysis.

4.0. Discussion and Conclusion

This study was an attempt to examine the current digital literacy level of the apparel industry workforce from a popular cluster-the Delhi NCR cluster.

Apparel industry human resources of design, merchandising, and manufacturing background from MSME and Large-scale organizations were therefore approached and asked to respond to a self-assessment survey covering all areas of digital literacy, which are relevant to the apparel industry. The responses were then subjected to Exploratory Factor Analysis (EFA) in SPSS to reduce the number of variables to some common factors. 23 UNESCO variables on digital literacy were reduced to 6 common factors which are somewhat like UNESCO's 7 broad competence areas. Though some newer competence areas like Netiquette Competency emerged from this factor analysis, other conventional Factors like

information searching, digital communication, digital problem solving, or digital safety and hardware competency, which are somewhat like UNESCO 7 broad competence area also emerged as digital literacy factors from the statistical factor analysis.

ANOVA tests also gave some additional insight in this regard. Though human resources from different departments (like design, merchandising, and manufacturing) have varied exposure and usage of online tools and equipment, their digital literacy competency remained the same between the groups. This may be because digital literacy competencies are more generic competencies indirectly related to productivity enhancement for day-to-day working. Similarly, the income levels and age of the respondents do not seem to have any influence on the final digital literacy level of the respondents. Popular digital devices like desktops, laptops, or mobile phones with internet connections (commonly used with Android apps) are no more expensive and are equally available amongst the rich, poor, young, and adults, thereby making everyone equally competent in using them. The group characteristics that really influenced digital literacy are gender and organization size, but that too only for areas of newer digital competencies, like the 'netiquette competency'. For the female workforce, competency in this factor (factor 2) is comparatively lower than its male counterparts. This necessitates the importance of giving more exposure and responsibility to the apparel industry female workforce for managing newer digital competencies like the 'netiquette competency'.

Netiquette competency (factor 2) also increases for the general workforce as we move from micro and small sector with a handful, or no internet-based tools, to medium-sector apparel organizations with a substantial scope of internet-based technological proficiency in day-to-day working. However, this proficiency stagnates and remains unchanged as we move on to a large-scale apparel organization with multiple domain-related internet-based digital tools. The reason may be again because digital literacy is more of using generic internet-based digital tools for upgrading one's day-to-day work on the internet. Thus, general internet usage of the medium sector workforce plays an important role in enhancing general digital literacy competencies as compared to the large sector workforce. All these digital competencies, also called digital literacy in total, should play an important role in enhancing workforce productivity and building human capital for the apparel sector.

This empirical research may be further verified by involving a larger workforce in a similar study. The influencing characteristics for digital literacy may also be explored to improve the current digital literacy levels of the fashion industry workforce. Like the fashion industry, other similar creative industries involving digitalization may also be considered for future study.

References :

- Gilster, P., 1998, Digital Literacy. *Wiley*. ISBN 0471249521
- KPMG., 2016,The New wave Indian MSME –an action agenda for growth . accessed 22nd March, 2020 from https://assets.kpmg/content/dam/kpmg/pdf/2016/03/The-new-wave-Indian-MSME.pdf
- Lahiri, S., Deb Roy, A. and Jana, P., 2022. Digital literacy: an empirical study for fashion design students in India. Research Journal of Textile and Apparel.
- Law, N.W.Y., Woo, D.J., de la Torre, J. and Wong, K.W.G., 2018. A global framework of reference on digital literacy skills for indicator 4.4. 2.
- Rathore, B., 2021. Fashion Transformation 4.0: Beyond Digitalization & Marketing in Fashion Industry. Eduzone: International Peer Reviewed/Refereed Multidisciplinary Journal, 10(2), pp.54-59.

Annexure 1

Survey statements based on UNESCO's DLGF (adapted with minor modifications). It consists of 2 parts, Part I & Part II.

A. Part I :

1. Kindly choose your department.
   a) Design
   b) Merchandising (Design/Sampling / Production)
   c) Production /Manufacturing
2. Kindly choose your organization sector.
   a) Micro sector (Investment in Plant & Machinery is less than 1 Crore)
   b) Small sector (Investment in Plant & Machinery is between 1 Crore-10 Crore)
   c) Medium sector (Investment in Plant & Machinery is between 10Crore-20Crore)
   d) Large sector (Investment in Plant & Machinery is more than 20 Crore)
3. Kindly choose your annual income bracket.
   a) Upto 2.5 Lakh b) 2.5 Lakh-5 Lakh
   c) 5 Lakh-10 Lakh d) More than 10 Lakh
4. Kindly choose your age bracket.
   a) 16-25 years b) 26-40 years
   c) 41-56 years d) 56 and more
5. Please specify your gender.
   a) Male b) Female
   c) Prefer not to isclose

B. Part II (Responses to the below statements are to be numbered between 1 to 5, with 1= strongly disagree, and 5= strongly agree)

1. I have basic knowledge of hardware, like turning on/off, charging, and locking devices.
2. I have basic knowledge of software, such as user account and password management, login, and how to do privacy settings.
3. I can use different search engines to find information.
4. I can compare different sources to assess the reliability of the information.
5. I can classify information in a methodical way using files and folders to locate it. I usually do backups of information or files I have stored.
6. I can use advanced features of several communication tools (e.g., using voiceover IP and sharing files).
7. I can use collaboration tools and contribute to documents others have created (e.g., using shared documents).
8. I can use various features of online services (e.g., public services, e-banking, online shopping).
9. I can pass on or share knowledge using online platforms like social networking or online communities.
10. I am aware of the rules of online communication, also called 'netiquette'.
11. I can shape my own online digital identity and keep track of my digital footprint.
12. I can produce complex digital content in different formats (e.g., text, tables, images, and audio files). I can use tools/editors to create webpages and blogs using editors.
13. I can apply basic formatting (e.g., insert footnotes, charts, and tables) to the content others have produced.
14. I know how to reference and reuse content covered by copyright.
15. I can install security programs on the device(s) that I use to access the Internet (e.g., antivirus, firewall). I run the programs periodically to update them.
16. I use different passwords to access equipment, devices, and digital services, and modify them on a periodic basis.
17. I understand the health risks associated with the use of digital technology (e.g., risk of addiction, ergonomy).
18. I understand the positive and negative impacts of technology on the environment.
19. I can solve most of the frequent problems that arise when using digital technologies.
20. I can use digital technology to solve non-technical problems. I can select a digital tool that suits my needs and assess its effectiveness.
21. I can solve technological problems by exploring the settings and options for programs or tools.
22. I regularly update my digital skills. I am aware of my limits and try to fill up those gaps.
23. I can use specialized hardware/software pertaining to the fashion industry.

The Progress and Obstacles of The Fashion Industry in India Post-colonial Rule; The Opportunity to Embrace Sustainability in its Operations and The Recent Scenario Post-Pandemic

Srijana Baruah*

Abstract

India has always been one of the biggest players in the production of Fashion Apparel and Textiles and has been producing them at indigenous levels since time immemorial in the forms of weaves, embroideries and crafts, etc. Being an economy adept at being self-sufficient in most spheres, India has always been able to offer skilled hands to the global market. As such major Fashion labels li ke Christian Dior, Versace, etc, and other manufacturers have looked up to India tofulfill their needs for quality craftsmanship and skills, textiles, cheap labor, art, and indigenous crafts. The Liberalization policy in 1990 opened the doors for major brands to invest and explore the Indian market and contributed to unprecedented growth of the Fashion Industry in India. The present paper aims to study the development of the Fashion Industry in India after the British Raj; its significant milestones in a concise manner. The environmental impact of the Fashion Industry and the eminent need to include sustainability in its production chain and practices in these highly unpredictable circumstances. The uncertainty and challenges brought about by the recent pandemic and how the fashion industry rose to meet them by changing important aspects of its operations. In addition, this paper also leaves scope for further discourse and discussion on the same. A secondary method of data collection has been used for this paper.

Keywords : *Obstacles, Progress, post-pandemic, sustainability, Indian fashion Industry*

Methodology *: The secondary data-collection method was adopted in this paper. References from research papers, articles on the internet, newspapers, journals, and books have been used for the purpose of this paper.*

INTRODUCTION

India's rich culture, customs, languages, weaving traditions, and cuisine make it a unique global destination, showcasing its long-standing role in fashion.

-Indian Fashion post-Colonial Rule

During British rule, Indian fashion faced challenges due to low-quality synthetic fabrics. However, the Khadi movement embraced Khadi as a symbol of the Swadeshi Movement. After independence, British style influenced Indian fashion, with pantsuits for men and petticoats for women. This led to Indo-Western fashion, featuring Western influences and unique Indian styles like puffed-sleeved blouses and polka-dotted sarees. (Kumar, M. 2022).

-The Indian fashion industry started to form post-independence

After independence, the Indian textile sector grew and the Indian fashion industry developed gradually. The Nehru Jacket, was popularized by then Prime Minister Pandit Jawaharlal Nehru which combines Indian and

*Assistant Professor, ASFTK, Amity University, Kolkata

Western silhouettes. Artist Amrita Sher-Gil mixed Indian and Western styles in her dressing, representing post-independence Indian women. RajmataGayatri Devi's unique style posed as a major influence and still continues to inspire Indian designers. Former Prime Minister Indira Gandi promoted indigenous textiles by including handloom sarees in her wardrobe.

-Indian Film Industry and its Influence on Fashion

The Indian film industry significantly influenced Indian design preferences, with actors like MeenaKumari, Madhubala, and Nargis popularizing the anarkali style of kurtis. Actors like Sharmila Tagore revolutionized Indian fashion in the late 60s, wearing swimwear and transparent sarees. The long kurta silhouette continued to develop in the 1970s, with costume designers like BhanuAthiya experimenting with fashion. Ritu Kumar, an Indian fashion designer, revived traditional handblock printing and developed Indian textiles and embroidery techniques like zardozi. NGOs and organizations worked to revive traditional embroideries, crafts, prints, and weaves. Post-independence, there was a strong emphasis on reviving local textiles and styles, leading to the creation of "ethnic chic." Handicrafts and handlooms were primarily unorganized, decentralized, and dispersed among rural homes and small enterprises.

- Design education commences in India.

In 1961 establishment of top design colleges like NID transformed India's fashion industry, training first-generation designers like RohitKhosla and Satya Paul. In 1986, the National Institute of Fashion Technology (NIFT) was established in Delhi, leading to numerous new institutions offering high-quality design education.

- Expanding textile industry in India

India's textile industry contributes significantly to the economy, contributing 20% of industrial production, 9% of excise revenue, 18% of industrial sector employment, 20% of export revenue, and 4% of GDP. However, during colonial rule, the industry faced significant challenges. The first modern textile mill was established in Calcutta in 1818, and the cotton industry began in Bombay in 1850. The industry's growth was primarily attributed to Parsi merchants' trading activities in India, Africa, and China Chellasamy, P(2006).The partition of India significantly impacted the cotton textile sector, with 423 textile mills temporarily closed, leaving 409 remaining in the Indian subcontinent and 22% in Pakistan. India had to import cotton from Pakistan and other nations for years. The All India Handloom Board was established in 1952 to promote handloom weaving and textile trades. The number of spindles doubled between 1951 and 1982, reaching over 26 million by 1989-1990 (www.vam.ac.uk).

India's textile industry, valued at $152 billion in 2021, is projected to grow by 12% annually to reach $225 billion by 2025, with top manufacturers in jute, cotton, silk, and hand-woven textilesRathee,B(2023). India's textile industry, second-largest after agriculture, contributes significantly to exports and creates 60 million indirect jobs and 40 million direct ones. With over 1800 mills, it produces a variety of fibers and yarns, making it a profitable sourcing hub. India's abundant raw material resources and skilled workforce make it a vital economic hub (P. Raichurkar and M. Ramachandran. 2015).

- The expansion of the fashion industry following liberalization

The 1991 liberalisation policy initiated significant economic reforms by allowing

foreign investment, leading to significant growth potential for the Indian Apparel and Textile Industry, establishing it as a key export center and attracting international brands. (S. Kasi and P. Balamurugan. 2016).

Global brands have increasingly targeted Indian markets due to the growing urban population. Indian designers, like Rahul Mishra, SuketDhir, and Manish Arora among others, have been able to establish their brands globally and gained international recognition. High-end international companies like Versace, LoroPiana, and Tommy Hilfiger heavily rely on India for their manufacturing, with needlework being a key component of their products. India is now a major center for clothing and textile production, with Delhi and Mumbai being key fashion hubs.

- The current state of the Indian fashion industry

India's economic liberalization in 1990 significantly boosted the fashion sector, leading to a boom in the following decade. Designers like SuneetVerma established their mark, while Western brands entered the market, enabling expanded manufacturing capacity and advanced methods to meet international quality standards.

In order to be able to cater to the domestic market, designers like Manish Arora and MonishaJaisingh started reinventing their brand's strategies by adding prêt-à-porter lines to their collections. The Fashion Design Council of India was established in 1998 to promote India's design expertise and organize India Fashion Week. Bollywood and fashion designers like Manish Malhotra popularized trends like cocktail *sarees* and*lehengas(flared long skirt)*. The Indian Fashion Industry was valued at 2.9 billion in 2009. However, the global community has led to concerns such as artificial demand, overproduction, fast fashion, resource overutilization, worker exploitation, and environmental pollution. The internet and smartphones have also contributed to the rise of online influencers and fashion bloggers.

-Pandemic-related challenges and opportunities

The 2020 coronavirus pandemic, the world's worst, disrupted business and human activities worldwide. India was severely affected, affecting the apparel industry as well. Design houses cancelled shows and production plans, while plant closures and lockdowns left many manufacturing workers jobless and caused them to flee to their hometowns. The economic consequences of the pandemic are still felt today. (Mani et al., 2016; Mani & Sharma 2015; Mani et al., 2018). The informal sector faced a significant lack of social security, leading to workers leaving without transportation or money, and production activities in Asia were halted due to cancelled orders and raw material shortages. (Khurana, K.2022).

The export garments sector suffered a significant setback, with over 83% of orders partially or completely cancelled, resulting in unsold orders being stored in warehouses, particularly affecting daily wage earners. (Majumdar et al.,2020). The cancellation of Fashion Weeks and the closure of malls have severely impacted designers and small and medium-sized clothing companies, leading to increased losses. On the positive side, the pandemic disrupted the garment industry's production stream, reducing air quality and environmental pollution. The cessation of Chinese imports from the Indian market provided local firms with opportunities to expand. The pandemic also accelerated digitalization, with more firms selling online and more shoppers shopping for clothing.

- Importance of embracing sustainability

Indian culture places a high priority on

sustainability, particularly among rural and indigenous groups. Traditionally, up-cycling and mending have been common practices among rural communities, however, these practices are dwindling. The rise of fast fashion companies as a result of liberalization has resulted in forced labour and the exploitation of valuable natural, human, and other resource resources. Despite the benefits, these practices are waning in popularity in rural areas. (Baruah S., 2023). India, a major global producer of fashion apparels and textiles, is increasingly turning into a fast fashion producer, employing low-wage workers in hazardous conditions. EU countries like the UK are sourcing cheap labor from developing countries like India and Bangladesh. The global fashion industry has caused numerous injustices, inequalities, and environmental damage. The Rana Plaza Tragedy in Bangladesh highlights the disastrous consequences of fast fashion and human exploitation, with garment workers buried alive under collapsed buildings and forced to work long hours. The industry's detrimental impact threatens to reach a point of no return. (D'AMBROGIO, E. 2014). To ensure a sustainable future for future generations, it is crucial to incorporate sustainability into every step of the fashion chain for traceability and accountability.

THE EIGHT MOST IMPORTANT ISSUES IN SUSTAINABLE FASHION

The Centre for Sustainable Fashion at the University of the Arts London employs eight core problems to comprehend the connection between sustainability and fashion (CSF Factsheet, 2018).

1) **Climate Change -**The fashion industry's rising CO_2 emissions pose a significant threat to global climate, potentially increasing the frequency of extreme weather events and causing displacement (CSF Factsheet, 2018).

2) **Water Stress-** 1.1 billion people do not have access to clean water, despite the fact that the fashion business uses water in the production process, fibre growth, and garment care. It can take up to 2700 litres of water to create one cotton t-shirt, which could offer up to 3 years of drinking water for one person (CSF Factsheet, 2018).

3) **Hazardous Chemicals and Pollution-** Textile manufacturing contributes to 20% of water pollution, with synthetic fibers releasing nitrous-oxide emissions, which are 310 times more hazardous than carbon dioxide (CSF Factsheet, 2018).

4) **Biodiversity and Land use-**The fashion industry is causing biodiversity loss due to land use, habitat degradation, cotton cultivation, livestock husbandry, and mismanagement, resulting in the destruction of fertile soil.

5) **Depleting Resources -** Fashion production, transportation, and consumption rely heavily on fossil fuels, while hand-based skills and indigenous crafts are disappearing due to faster, cheaper manufacturing methods. For instance- Jacquard looms are replacing many handlooms in Assam, India.

6) **Consumption and Waste -**Since 2000, global apparel production has increased, but average individuals only maintain clothes for half as long, with only 20% of waste clothing being repurposed or recycled while a major part ending up in landfills.

7) **Modern Day Slavery -**Modern slavery persists, including forced work, human trafficking, and child exploitation. Victims face assault, threats, coercion, punishment, or fraud. Due to sector inefficiency, 77% of UK-based businesses suspect modern slavery in their supply chains.

8) **Wellbeing-** The fashion industry's current state and pace pose a threat to the welfare of employees, consumers, pets, and the environment. Workers are paid half of the living wage in most countries, and marketing initiatives drive consumer behavior in shopping encouraging them to buy more.

THE FOUR AGENDAS OF SUSTAINABLE FASHION

The Centre for Sustainable Fashion (CSF) identifies sustainability themes and sectors within the fashion industry, including sustainable fashion initiatives, and outlines specific challenges. (www.arts.ac.uk/research/research-centers/centre-for-sustainable-fashion).

The interconnected agendas provide a structured or perspective for studying and understanding sustainability.

1) **SOCIAL-**The Social Agenda posits that all humans are born with equal rights and freedoms, regardless of their race, creed, or economic status. However, this is not the case in the clothing industry, which is characterized by injustice and exploitation. The globalization of fashion brands has led to a supply chain that works across borders, creating jobs in various industries. However, this has also led to severe social injustices, violence, carelessness, and oppression, particularly among women. Clothing businesses often seek cheaper labor and raw materials in countries like India, Bangladesh, and Pakistan, but workers endure long hours, poor working conditions, and unsafe conditions. The Social Agenda aims to address the issue of human interactions causing dignity loss, social inequality, and employment crises, addressing the crisis in society due to unequal treatment of all people. This agenda calls for improved working conditions, fair pay, and stronger harassment regulations, requiring fashion to change.

2) **ECONOMIC-** The agenda argues that financial development without considering environmental and social costs is untenable. It calls for a new economic perspective on fashion, redefining wealth beyond current business practices and considering environmental and human costs. The fashion industry must transform to ensure sustainable prosperity in terms of the environment, society, and finances.

3) **ECOLOGICAL-** The Ecological Agenda focuses on planetary boundaries and the importance of a safe environment for people and living things. It addresses how luxury fashion can honor nature and address the irreversible loss of nature due to human actions. The agenda addresses issues such as our interaction with nature, learning from nature's systems, and respecting and learning from nature's resources.

4) **CULTURAL -**The Cultural Agenda advocates for equal rights and liberties for all people, recognizing the planet's boundaries as a safe haven for all living things. It examines cultural factors based on science, technology, reason, art, human, and intuition, focusing on fashion's contribution to culture. The agenda addresses the lack of equality in accepted practices and the impact of fashion on the perception of luxury. By modifying its definition, goals, aesthetics, and viability, fashion can help create sustainable cultures. (Mazzarella, F., Storey, H., & Williams, D. 2019).

Indian designers like Anita Dongre and NehaKabra among others are promoting sustainable practices in their production chains, while companies like Srujan, Eco Kari, and B Lanbel are focusing on providing employment and fair salaries to women and rural artisans. (Pariani, S.2017)

LITERATURE REVIEW

Despite the fact that there is a tonne of

research on handloom, textiles, craft traditions, and the history of Indian costumes, the emergence of the Indian fashion sector has not been extensively researched in academia. (Ananthakrishnan and Jain Chandra's 2005) study examines the impact of the removal of textile and clothing quotas and the changes in India's textile and apparel industry due to the 1991 Liberalisation Policy, highlighting structural flaws and offering policy recommendations for strengthening these industries. Kumar M's 2022 book explores the history of Indian fashion, its impact on the British Raj, western silhouettes, the Indian film industry, and its recovery post-independence. (Rathee, B. 2023) highlights India as a top textiles and apparel producer globally, highlighting its financial standing, future growth potential, exports, and GDP contribution, while also highlighting the potential for growth in the cotton sector. In addition, (Khurana, K. 2022) explores the impact of the pandemic on the Fashion and Textile Industries, highlighting the challenges they faced and suggesting necessary steps for recovery. On the other hand, (Kumar, M. 2022) explores the growth and development of Indian fashion, examining its impact on the British Raj, Western silhouettes, Indian film industry, and its post-independence reform. Again, (Baruah, S. 2023) highlights the negative impact of the fashion industry on the environment and advocates for the widespread adoption of sustainable practices.Chellasamy, (P., and Karuppiah, K. 2005) studies the growth and development the textile sector in India has experienced due to its role in job creation, foreign exchange profits, and industrial output. Tereza Kuldova's 2016 book *Luxury Indian Fashion: A Social Critique explores the history of Indian luxury fashion*, highlights its roots and inspiration from the Mughal Empire, Gulf monarchies, and Indian Maharajas. Kuldova examines the labor requirements of rural artisans and their exploitation in upscale design studios.

The Indian fashion industry has undergone significant development and evolution, with few academic studies focusing on its evolution since gaining independence. This study aims to organize fragmented data on the industry's growth, highlighting key turning moments and causes that have influenced its growth. It also provides room for further debate and discussion on the subject, highlighting the importance of understanding the Indian fashion industry's unique identity.

RESULTS AND DISCUSSION

This paper analyzes the significant turning points the Indian fashion industry has undergone to establish itself as an organized sector in the global fashion scene. It discusses topics such as the development of Indian fashion after independence, the textile sector, the influence of Indian film on fashion, the effects of liberalization policy on textile and fashion sectors, the pandemic, online sales, sustainability challenges in fast fashion, and the need to integrate sustainability into production and distribution chains. The analysis helps understand the adjustments and actions needed to ensure the Indian fashion industry's long-term viability. The industry must become transparent and conscious producers to ensure long-term growth. The constraint, however, is that the information has been gathered from secondary sources that were dispersed over multiple sources. To give a comprehensive picture of the stages of the industry's growth, however, and to leave room for additional discussion on the subject, care has been taken to arrange and structure the information in a simple and lucid manner.

CONCLUSION

In our multicultural Nation, fashion has always played a significant role in the lives of

its inhabitants. Major brands like Versace, Loro Piana, Tommy Hilfiger, etc., and manufacturers in Europe and throughout the world rely on India for its skilled labor, raw materials, workmanship, and resources. The recent pre-fall fashion show held at the Gateway of India in Mumbai by Christian Dior under the aegis of its creative director Maria Grazia Chiuri that paid homage to its long-standing ties with Indian craftsmanship has been proof of this (Mower, S. 2023). India is a leading producer of quality textiles and apparel, with prominent designers like Rahul Mishra, SuketDhir, and Manish Arora establishing themselves on major fashion weeks and international platforms. They have played a significant role in the resurgence of traditional crafts, prints, and embroideries. This paper explores the Indian fashion industry's development since independence, highlighting its growth stages and setbacks. It emphasizes the industry's potential for the future and the need for sustainability in operations for stability over time, highlighting the industry's resilience and adaptability.

References:

Ananthakrishnan, P., & Jain-Chandra, S. (2005). *The impact on India of trade liberalization in the textiles and clothing sector*. Washington, DC: International Monetary Fund.

Baruah, S. (2023). Sustainable Development: A Holistic Review (1st ed., Vol. 1) [English]. ADHYYAN BOOKS.

Chellasamy, P., &Karuppiah, K. (2005). An analysis of growth and development of textile industry in India.

CSF Factsheet, (2018), University of Arts London

D'AMBROGIO, E. (2014). Workers' conditions in the textile and clothing sector: just an Asian affair? Issues at stake after the Rana Plaza tragedy.

Khurana, K. (2022). The Indian fashion and textile sector in and post COVID-19 times. *Fashion and Textiles*, *9*(1), 15.

Kumar , M. (2022), Modern Indian Fashion: After Independence, Retrieved from https://www.tutorialspoint.com/modern-indian-fashion-after-independence

Majumdar, A., Shaw, M., & Sinha, S. K. (2020). COVID-19 debunks the myth of socially sustainable supply chain: A case of the clothing industry in South Asian countries. *Sustainable Production and Consumption*, *24*, 150-155.

Mani, V., Gunasekaran, A., & Delgado, C. (2018). Enhancing supply chain performance through supplier social sustainability: An emerging economy perspective. *International Journal of Production Economics*, *195*, 259-272.

Mazzarella, F., Storey, H., & Williams, D. (2019). Counter-narratives towards sustainability in fashion. Scoping an academic discourse on fashion activism through a case study on the centre for sustainable fashion. *The Design Journal*, *22*(sup1), 821-833.

Mower, S (2023), Retrived from https://www.vogue.in/content/christian-diors-mumbai-show-spotlights-the-extraordinary-craftsmanship-of-indians-artisansandbsp/amp

Pariani, S (2017) Retrived from https://consciousfashions.co/india-sustainable-fashion-brands

Raichurkar, P., & Ramachandran, M. (2015). Recent trends and developments in textile industry in India. *International Journal on Textile Engineering & Processes*, *1*(4), 47-50.

Rathee. B(2023), Retrived from https://www.investindia.gov.in/sector/textiles-apparel

Retrieved from https://en.wikipedia.org/wiki/Fashion_in_India

Retrived from http://www.vam.ac.uk/content/exhibitions/the-fabric-of-india/textiles-in-a-changing-world/

Rocca, F. (Ed.). (2009). *Contemporary Indian Fashion*. Damiani.

S, Kasi&Periyakaruppan, Balamurugan. (2021). Liberalization and Indian Textile Industry.

उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत प्रमुख गायन–शैलियों का सौन्दर्य पक्ष एवं प्रयोग

डॉ. स्मृति त्रिपाठी*

सार–संक्षेप

भारतीय संगीत भावाभिव्यक्ति का एक अमूर्त साधन है जो विभिन्न रसों का पान कराने में सक्षम है। प्राचीन समय से आधुनिक काल तक हिन्दुस्तानी संगीत आध्यात्मिक एवं भावात्मक जीवन का अनिवार्य अंग रहा है। भारतीय संगीत की दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं प्रथम, धार्मिक जो धर्म से जुड़ी है, द्वितीय, लौकिक जो लोगों के मनोरंजन से जुड़ी हैं लेकिन सभी का उद्देश्य रसास्वादन या आनन्दानुभूति है। संगीत हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति है। सभी मनुष्य के हृदय में भाव विद्यमान हैं जिसे जागृत करने के लिए संगीत में विभिन्न गायन–शैलियाँ प्रयोग की गयी है। प्रत्येक गायन शैली अलग–अलग रंग में प्रस्तुत होती है, कहीं संयोग, कहीं वियोग, कहीं ऋतुओं का आवागमन तथा कहीं पर्व के द्वारा कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हमें देखने को मिलता है अर्थात् संगीत एक अथाह सागर है जिसमें रस, भाव, साहित्य, संस्कृति आदि सभी का समावेश है। उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत ठुमरी, टप्पा, दादरा, सादरा, कजरी, चैती, झूला, बारहमासा, होरी आदि गायी जाती है जिसमें हमारी विभिन्न भाषाएँ व संस्कृति भी परिलक्षित होती हैं जिसे नियमों में नहीं बांधा जा सकता सिर्फ भावों से प्रदर्शित किया जा सकता है और रसानुभूति करना इसका मुख्य ध्येय है।

मुख्य शब्द – *रंजकता, सौन्दर्या, भावाभिव्यक्ति, रसानुभूति, विशिष्टता, उपशास्त्रीय।*

प्रविधि – *प्राथमिक एवं द्वितीयक माध्यमों द्वारा यह शोध–आलेख तैयार किया गया है।*

प्राचीन ग्रंथों में संगीत को गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों का समग्र रूप माना गया है। शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार 'गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते' अर्थात् गीत, वाद्य तथा नृत्य को संगीत कहते हैं। प्राचीन संगीत प्रणाली प्रबंध पर आधारित थी फिर मार्गी व देशी रूप में प्रयोग की जाने लगी और धीरे–धीरे यह शास्त्रीय संगीत के रूप में गायी जाने लगी जिसकी शाखाएं विभिन्न गायन शैलियों के रूप में प्रयोग की जाती हैं। भारतीय संगीत में शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत एवं लोक संगीत को स्थान दिया गया है। प्राचीन समय के मार्गी एवं देशी संगीत में परिवर्तन कर आधुनिक विद्वानों ने इस प्रकार वर्गीकृत किया है और इन्हीं के अंतर्गत गायन शैलियों का विभाजन किया है।

शास्त्रीय संगीत जिसमें नियमों का प्रमुखतः पालन होता है, में ख्याल, ध्रुपद, धमार, तराना, त्रिवट, चतुरंग गाया जाता है।

उपशास्त्रीय संगीत में, ठुमरी, दादरा, टप्पा, होरी, कजरी, बारहमासा, चैती आदि गाते हैं।

सुगम संगीत में ग़ज़ल, भजन, कीर्तन, सूफ़ी, गीत, कव्वाली आदि गाते हैं।

तथा लोक संगीत, जो लोगों का लोगों के लिए संगीत गाते हैं और संस्कृति को दर्शाते हैं, यह भी हमारे संगीत का अहम हिस्सा बन चुका है। प्रस्तुत विधाओं में शब्द–प्रधान एवं भाव–प्रधान गायकी ही सर्वोपरि है। भाव प्रधान गायकी जिसमें शास्त्र पक्ष एवं लोक रंग दोनों का रूप मिलता है वह है उपशास्त्रीय क्योंकि इसमें पंजाबी, अवधी, हिन्दी जैसे अन्य भाषाओं का भी प्रभाव मिलता है। राग का स्वरूप, अविर्भाव–तिरोर्भाव सौन्दर्यात्मक तत्वों जैसे–मीड़, खट्का, मुर्की, गमक, तानों आदि का प्रयोग भी किया जाता है।

उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय पक्ष से अधिक भाव–सौन्दर्य एवं रस–माधुर्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भाव–पक्ष पर बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम स्वर ही है। ऐसे संगीत में श्रृंगारिक भावना अधिक होती है और तालें भी चंचल प्रकृति की प्रयोग करते है। इन शैलियों में स्वर–लगाव की चमत्कारिकता पर अधिक बल दिया जाता है।[1]

*सहायक प्राध्यापक, संगीत विभाग, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उपशास्त्रीय गायन शैलियाँ–

ठुमरी – मनुष्य के हृदय की जटिल भावनाओं को चित्रित करने के लिए छोटे–छोटे रागों की योजना बनाई गई है जिसमें भाव, अविर्भाव, तिरोभाव से शैली की अलग ही मिसाल प्रस्तुत हुई है। 'ठुमरी' शब्द और स्वर की कई नई–नई भावनाओं को प्रस्तुत करती हुई विभिन्न रागों की छटाएं बिखेरती हैं।[2]

प्रमुखतः ठुमरी गायन विधा उत्तर प्रदेश की श्रृंगारिक गायन शैली है। ठुमरी नाम से ही ठुमकने जैसी भावना मन में आने लगती है। सामान्यतः ठुम और री, इन दो शब्दों के योग से ही 'ठुमरी' शब्द बना है। आचार्य बृहस्पति के अनुसार 'ठुमरी शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश हैं। 'ठुम' ठुमकने का द्योतक है और 'री' शब्द सभी से अपनी अंदर की बात कहने का है।'[3]

श्री सुनील कुमार बोस का विचार है कि 'ठुम' और 'री' इन दो शब्दों के योग से 'ठुमरी' बना है। 'ठुम' शब्द 'ठुमकत चाल' अर्थात् राधा जी की चाल और री शब्द 'रिझावत' अर्थात् भगवान कृष्ण के मन को रिझाने की ओर इंगित करता है । अतः ठुमरी शब्द में राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है।[4]

'ठुमरी' शब्द के संबंध में विस्तृत रूप से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यह मूलतः हिन्दी के ब्रजभाषा का स्त्रीलिंग शब्द है। डॉ शत्रुघ्न शुक्ल के अनुसार, व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के 'स्तुम्भ' धातु से विकसित 'ठुम' के साथ मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय के स्त्रीलिंग रूप 'री' (र +ई) के संयोग से बना 'ठुमरी' साध्यमा तद्भव श्रेणी का शब्द है जिसका अर्थ नृत्य के साथ गाई जाने वाली गेय रचना है। अतः व्युत्पत्तिगम्य अर्थ से ठुमरी के मूलतः नृत्यगीत होने का आभास मिलता है।[5]

इसके इतिहास पर अगर दृष्टि डालें तो यह मुख्य रूप से दरबार में गाया जाता था लेकिन संगीत के कुछ विद्वानों ने ठुमरी गायन–शैली के प्रचार व प्रसार में बहुत सराहनीय कार्य किया है। ठुमरी में वाजिद अली शाह, सादिक अली खाँ तथा लखनऊ घराने के बिन्दादीन महाराज का नाम सर्वोपरि आता है। 18वीं शताब्दी से आरम्भ होकर यह आज प्रचलित गायन–शैली के रूप में गायी जाती रही है जिसमें कलाकारों ने परिवर्तन व विशिष्ट गायकी द्वारा इसे और भी प्रचलित कर दिया। ठुमरी को पूरब एवं पंजाबी दो रूपों में गाते है। पूरब अंग के अंतर्गत लखनऊ एवं बनारस घराने के कलाकारों की गायकी मानी जाती है जिसमें ब्रज, अवधी, उर्दू भाषाओं का प्रभाव रहा। गायकी के अंदाज के आधार पर बोलबांट तथा बोलबनाव की ठुमरी पूरब अंग जाना जाने लगा। पूरब अंग की ठुमरी में वाजिद अली शाह की ठुमरी 'बाबुल मेरा नैहर छूटो जाए' बहुत प्रसिद्ध रही और धीरे–धीरे रसूलन बाई, अख्तरी बाई, केसरबाई एवं गिरिजा देवी जैसे प्रमुख कलाकारों में पूरब अंग की गायकी में विशिष्टता प्रदान की। बोलों को नजाकत व नफासत एवं भावुकता के साथ कहना ही इसकी विशेषता है। वहीं पंजाब अंग की ठुमरी में विशेष अंग का अविर्भाव तथा गायकी का प्रभाव, तानें, खट्का, स्वर वैविध्य प्रमुखतः प्रयोग किया जाता है। इसके कलाकारों में बड़े गुलाम अली खाँ, बरकत अली खाँ एवं अफजल हुसैन खाँ आदि है, जहाँ पटियाला घराने का विशेष प्रभाव भी दिखता है अर्थात् पंजाबी, सिंधी भाषा के साथ टप्पा गायकी का रंग भी मिलता है। वर्तमान में ठुमरी गायन–शैली का प्रयोग गायन, वादन तथा नृत्य तीनों में प्रयोग होता है।

टप्पा – टप्पा गायकी उपशास्त्रीय संगीत की जटिल विधा है जिसके आविष्कारक लखनऊ के गुलाम नबी शोरी थे। पंजाब के लोकगीतों से प्रभावित होकर टप्पा गायन–शैली का आविष्कार किया। टप्पा अर्थात् उछलना या कूदना माना जा सकता है और वही प्रयोग गायकी में किया जाता है। शास्त्रीय संगीत एवं पंजाबी भाषा का प्रयोग कर एक नयी गायन–शैली का प्रयोग आधुनिक समय में बहुत प्रचलित है क्योंकि यह गायकी गाने में जितनी जटिल है सुनने में उतनी ही ज्यादा प्रभावित करती है। इसका स्वरूप चपल है और चपल रागों का प्रयोग भी किया जाता है। एक भारतीय विद्वान ने टप्पा का अर्थ 'पड़ाव (मुकाम) या ठहराव की जगह' लगाते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि चूँकि टप्पा में ऐसे चार ठहराव होते हैं इसलिए इसका नाम टप्पा पड़ा। Tappa literally means a stage or a halting place on a journey and since there are four such stages in the Tappa measure. The style is named as Tapa itself.[6]

टप्पा का सौंदर्य उसकी गायकी में है जिसे निभाना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इसमें सीधी सपाट तानों की जगह, टेढ़ी या वक्र तानें प्रयोग होती है। विशेश रूप से छोटी–छोटी दानेदार तानें, बोल तानें, मुर्की, खटका, जमजमा आदि से सुशोभित होती हैं। अधिकतर अवरोह

प्रधान छोटी–छोटी तानों का प्रयोग स्वरों के विशिष्ट प्रकार के समुदायों के साथ होता है। अत्यंत कठिन स्वर–समुदायों की तानें लेकर सम पर आना टप्पा की विशेषता है। इसी गायकी के आधार पर टप्पा, अद्धा, पश्तो जैसी तानों का प्रयोग किया जाता है। मिश्र काफी आधारित टप्पा के बोल– 'वे मियां वे जाने वाले तैनूं अल्लाह दी कसम' प्रचलित टप्पा है जिसे कलाकार विशेष दक्षता व नवीन कल्पनाओं के साथ प्रस्तुत करते हैं।

दादरा – ठुमरी की तरह गायी जाने वाली गायन–शैली दादरा को भी भावात्मक एवं रसात्मक माना जाता है। छः मात्राओं के दादरा ताल के साथ बोल–बनाव करना व कहन में पिरोना आसान नहीं है। ठुमरी के रागों का विशेषतः चयन कर उसमें रंजकता उत्पन्न करना ही प्रमुख उद्देश्य है। यह ठुमरी की अपेक्षा लय में भी चपल होती है अर्थात् द्रुत या मध्य में इसका सौन्दर्यीकरण होता है। श्रृंगार रस के संयोग या वियोग इसके केन्द्र स्थान हैं। छोटी–छोटी स्वर संगतियों, मुर्की, खट्का, मीड़ आदि इसके प्रमुख सौन्दर्यात्मक तत्व हैं।

कजरी एवं झूला – कजरी नाम से पता चलता है कि वस्तुतः सावन के काले कजरारे बादलों के कारण इसका नाम कजरी पड़ा। सावन में काले बादल, रिमझिम फुहार में कजरी और पेड़ों पर झूला पड़े तो झूला गायन का भी प्रचलन रहा है। विशेष रूप से संयोग एवं वियोग रस का भाव प्रदर्शित होता है। कजरी का संबंध एक धार्मिक तथा सामाजिक पर्व के साथ जुड़ा हुआ है। भादों के कृष्ण पक्ष की तृतीया को कज्जली व्रत पर्व मनाया जाता है। ये प्रमुखतः स्त्रियों का त्यौहार है। वास्तव में 'कजरी' या 'कजली' शब्द संस्कृत के 'कज्जल' से निष्पन्न है और वर्षा ऋतु का प्रमुख उत्सव है जिसे रातभर मनाया जाता है।[8] कजरी उत्सव मुख्य रूप से बनारस और मिर्जापुर में मनाया जाता है। प्रारम्भ में लोकगीतों के रूप में गायन होता था लेकिन विशिष्ट कलाकारों ने इसमें ठुमरी जैसी गायकी की विशेषताओं का प्रयोग कर उपशास्त्रीय गायन–शैली में प्रयोग किया। झूला भी विशेषकर इसी प्रकार प्रचलन में आया जिसमें झूला तथा वर्षा ऋतु का वर्णन साथ में मिलता है। प्रस्तुत गीतों में वर्षा–ऋतु विरह वर्णन, राधा–कृष्ण लीलाओं और राम–सीता का वर्णन आदि मिलता है।

चैती – होली के बाद भारतीय पंचांग के अनुसार चैत मास शुरू होता है और उसी समय चैती गायन शुरू हुआ। यह मुख्यतः उत्तर प्रदेश के बनारस में गाया जाता है। इसे भी उपशास्त्रीय गायन शैलियों में प्रयोग कर एक नया रूप दिया गया। कलाकारों की कल्पनाओं से प्रस्तुत गायन शैलियाँ आज उत्सव और कार्यक्रमों के माध्यम से प्रस्तुत की जा रही हैं। चैती की विशेषता है कि उसमें 'अरे रामा' शब्द का बार–बार प्रयोग होता है। इसमें अधिकतर पूर्वी भाषा का प्रयोग होता है।

होरी – होली त्यौहार भारतीय संस्कृति की पहचान है और यह धमार गायन शैली का एक रूप है लेकिन लोक संगीत से उद्धृत होरी या होली गीत ही उपशास्त्रीय विधा की पहचान बनी। मूलतः यह ब्रज शैली का गायन है और इसमें राधा–कृष्ण और कृष्ण–गोपियों की लीलाओं का वर्णन मिलता है।

निष्कर्ष :

वस्तुतः उपशास्त्रीय संगीत का सौन्दर्य, भाव पक्ष है। भाव जितना होगा रसानुभूति उतनी होगी और यही उपशास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों का उद्देश्य है। उपशास्त्रीय विधा की विशेषता यह है कि विशेष अवसरों पर इसके अनेक रूप व रंग हमें सुनने को मिलते हैं। यह रस, रंग और भाव–प्रधान है और इन शैलियों का समयानुसार गायन कर रसविभोर करने का प्रचलन है। अतः इसके सौन्दर्यीकरण पर विशेषतः ध्यान रखना आवश्यक है और सौन्दर्यात्मक तत्वों का उचित प्रयोग कर रसवृष्टि करना ही उपशास्त्रीय संगीत का उद्देश्य है।

संदर्भ सूची :

1. सहगल, डॉ. सुधा, डॉ. मुक्ता, बेगम अख़्तर व उपशास्त्रीय संगीत, राधा पब्लिकेषन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2001
2. पोहनकर, अंजली, सफ़र ठुमरी गायकी का, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003
3. बृहस्पति आचार्य, ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व, संगीत चिंतामणि, पृ.सं.–103
4. Bose, Sunil, Thumari & Love Lyrics on Radha and Krishna, page-1
5. शुक्ल, डॉ. शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास एवं शैलियाँ, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1983, पृ.–15
6. सिंह, प्रो. ऊषा. भारतीय संगीत समिधा, साहित्य संगम प्रयागराज, प्रथम संस्करण–2013, पृ.–101
7. वही, पृ.–105
8. सिन्हा, डॉ. ज्योति, कजरी गीतों में विषय–वैविध्य–एक दृष्टि, IJSIRS / Vol.5. No.6, June-2017, पृ.–25

अमूर्त कला के प्रतीकों का महत्व

डॉ0 सुनील कुमार पटेल*

सारांश

कला संस्कृति का वह महत्वपूर्ण अंग है जो मानव मन को सुन्दर तथा सुव्यवस्थित बनाती है। भारतीय कलाओं में धार्मिक तथा दार्शनिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति सरल ढंग से प्रस्तुत हुई है। भारतीय चाक्षुष कलाओं में दार्शनिक तत्वों को प्रतीक रूप में संजोया गया है और धार्मिक प्रसंगों को विस्तृत रुप से प्रतिबिम्बित किया गया है। प्राचीन काल से ही कला के द्वारा संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान आदि का प्रवाह होता रहा है और मानव सभ्यता के विकास के साथ ही साथ निरन्तर कला का भी विकास होता रहा। विद्वानों के अनुसार भारतीय कला की उत्पत्ति एवं विकास का श्रेय प्रतीकों से ही माना गया है। प्रतीकों की अपनी एक अलग भाषा होती है, जिसकों प्रस्तुत करने हेतु कलाकार विविध प्रतीकों, चिन्हों और संकेतों का सहारा लेता रहा है। प्रतीकों की रचना कलाकार के चेतन, अवचेतन व विशिष्ट चेतन मन पर पड़ने वाले प्रभाव के द्वारा होती है जिसकी अभिव्यक्ति वह किसी चिन्ह या सूक्ष्म रूपों द्वारा करता है तो प्रतीक स्वतः ही नवीन रूप में जन्म लेने लगता है।

मुख्य शब्द : *कला, प्रतीक, संस्कृति, रचना*

शोध प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों से आवश्यक सामग्री संग्रहीत कर प्रस्तुत शोध–पत्र तैयार किया गया है ।*

प्रतीक एक ऐसा चिन्ह या शब्द है जो किसी विचार, वस्तु या सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करने के रूप में इंगित करता है या दर्शाता है जिसे शब्दों, ध्वनियों, विचारों, अदृश्य व दृश्य छवियों को सम्प्रेषित करने के लिए उपयोग किया जाता है। ''प्रतीक शब्द फ्रेंच पुलिंग संज्ञा 'सिम्बोल' से निकला है जो 1380 ई0 के आस–पास एक धर्मशास्त्रीय अर्थ में प्रकट हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार प्रतीक शब्द 'लैटिन' से निकला है लेकिन यह शब्द ग्रीक के 'सिंबलान' से निकला है।''[1]

संस्कृत भाषा में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग चिन्ह या संकेत के अर्थ में होता है। वर्तमान में प्रतीक शब्द को अंग्रेजी में 'सिंबल' कहते हैं। पर संस्कृत भाषा में प्रतीक शब्द प्रती + इक से बना है। सामान्यतः प्रतीक शब्द का अर्थ संकेत, चिन्ह, प्रतिरूप इत्यादि समझा जाता है। जैसे– किसी अदृश्य वस्तु अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए किसी दृश्य वस्तु का प्रयोग उस अदृश्य (वस्तु अथवा भाव) का प्रतीक होगा अर्थात् साहित्य में अमूर्त, अदृश्य, श्रव्य, अप्रस्तुत (अप्रस्तुत का अर्थ है–अनुपस्थित, जैसे–ईश्वर) विषय का प्रतिनिधित्व मूर्त, दृश्य, श्रव्य एवं प्रस्तुत द्वारा किया जाना ही प्रतीक है। उदाहरणार्थ किसी देश का ध्वज उस देश की राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण राष्ट्र के सम्मान एवं गौरव का प्रतीक होता है लेकिन यह गौरव दिखाई नहीं देता, वह अमूर्त है। इसी अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए ध्वज का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार तिरंगा ध्वज हमारे राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है अर्थात् – प्रतीक का साधारण अर्थ है किसी अमूर्त वस्तु, दृश्य अथवा व्यक्ति को साकार रूप देने के लिए उसके स्थान पर मूर्त अथवा दृश्य चीजों का प्रयोग करते हैं। जिन्हें हम देख सकते हैं उसे प्रतीक या सिम्बल कहते है अर्थात् प्रतीक ऐसा शब्द हैं जो किसी सूक्ष्म, भाव, विचार या अगोचर तत्व को साकार करने के लिए प्रयुक्त होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतीक का उद्भव सर्वप्रथम मस्तिष्क पर होता है। ''इसलिए जर्मन मनोवैज्ञानिक सिग्मण्ड फ्रायड[2] ने अपनी मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से प्रतीक को देखा और उसके महत्व का आकलन करते हुए स्पष्ट किया है कि प्रतीक दमित वासनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। यही दमित इच्छाएँ संवेगात्मक (मनोवग) रूप में वेष बदलकर प्रतीकों के रूप में अपने स्वरूप का स्पष्ट करती है।''

इस प्रकार प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है अवयव,

*सहायक अध्यापक, एस.ए.एम. इण्टर कॉलेज, सहारनपुर, उत्तर प्रदेश

अंश व चिन्ह, अर्थात् वह चिन्ह जो अपने मूल बिन्दु का परिचय देती है। कलाकार मानस पटल पर कल्पना द्वारा आने वाले सूक्ष्म विचारों, भावाभिव्यक्तियों और अनुभूतियों के दृश्य या श्रव्य संकेत या चिन्ह प्रतीक द्वारा प्रस्तुत करता है। ''प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य या अप्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करती है अथवा यह कह सकते हैं कि किसी स्तर पर समान रूप से वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।''[3]

प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समय अर्थात् 21वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक विभिन्न कलाओं में मूर्त व अमूर्त का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और भविष्य में भी रहेगा। कला में पहली बार प्रतीकात्मकता का संकेत प्रागैतिहासिक चित्रों में परिलक्षित होता है। कलात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रतीकात्मक विचारधारा का आरम्भ पूर्व–पाषाण काल से ही हो चुका था लेकिन प्रतीक योजना का पूर्ण विकास उत्तर पाषाण काल के बने चित्रों में दिखाई देता है। ''जिनका समय विद्वानों ने लगभग 50,000 से 10,000 ई0 पू0 के बीच रखा है।''[4] जिसमें अतिमानवीय (ऐसी घटनाएँ या चित्र जो मनुष्य के लिए असम्भव प्रतीत हो), ज्यामितीय (ज्ञान की सबसे प्राचीन शाखाओं में से एक है जिसमें बिन्दु, रेखा, वक्र, त्रिकोण इत्यादि शामिल हैं) तथा कल्पनायुक्त आकृतियों का सृजन अत्यधिक रूप से किया गया है।

चित्र सं0 1

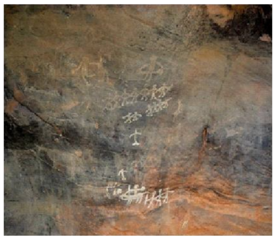

चित्र सं0 2

प्रागैतिहासिक गुफाओं में मिले अवशेषों व चित्रों के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि भारत में कला एक विद्या के रूप में आदिकाल से प्रचलित रही है जिसमें मुख्य रूप से ज्यामितीय आकारों का प्रयोग कर भाव को चित्रित किया गया है। प्रागैतिहासिक काल की कला में प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति है क्योंकि वह अभिव्यक्ति प्रधान कला थी। र0 वि0 साखलकर[5] की पुस्तक यूरोपीय चित्रकला के इतिहास में लिखा गया है– ''मध्य पाषाण कालीन रूढ़िबद्ध व प्रतीकात्मक कला से नव पाषाण कालीन वस्तुनिरपेक्ष कला के समरूपी कला का स्वाभाविक व क्रमशः विकास हुआ।''

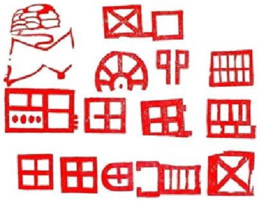

चित्र सं0 3

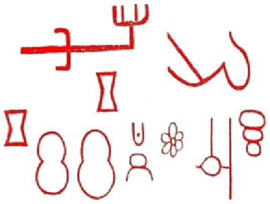

चित्र सं0 4

प्रागैतिहासिक काल के आदिमानव ने सामान्यतः अपने भावों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए पत्थर के औजारों, कोयला तथा मिट्टी के रेखांकन, शब्द चिन्ह तथा प्रतीकों आदि को माध्यम बनाकर समझाने का प्रयास किया, जिसके उदाहरण हमें गुफाओं और चट्टानों की भित्तियों पर देखने को मिलते हैं। ''जिसमें रंगो तथा आकृतियों के रूपात्मक सौन्दर्य से वास्तविक आनन्द उत्पन्न होता है। रूपात्मक सौन्दर्य का अर्थ यह नहीं है जो सधारणतया समझा जाता है बल्कि यह ज्यामितीय आकृतियों का सौन्दर्य है। जैसे– रेखा, त्रिभुज, वर्ग तथा वृत्त आदि रूप सुन्दर वस्तुओं के प्रतीक है।''[6]

कला समीक्षक व इतिहासकार के मतानुसार प्रागैतिहासिक काल के आदिमानव की चेतना जागृत हुई होगी तो उसी के उपरान्त वह प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति (प्राकृतिक सुन्दरता के अवलोकन एवं विवेचन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान या अनुभव) के प्रति आकर्षित हुआ होगा जिसमें विश्वास, रीतिरिवाज, जादूटोना, नृत्य, आखेट व अन्य भावों को रेखांकित करने की मानवीय कलाएं विकसित होती गई जिसके माध्यम से उस स्थान की सभ्यता व संस्कृति का पता चलता है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्तिकरण मानव का सहज स्वभाव है जिसमें वह अपनी अभिव्यंजना को ''सूर्य व स्वास्तिक''[7] जैसे प्रतीकों के साथ ही साथ ''त्रिभुजाकार, आयताकार, वर्गाकार, वृक्ष, जानवर, पहाड़ व अन्य मनगढ़न्त ज्यामितीय आकारों''[8] शब्द, ध्वनि संकेत व सूक्ष्म चिन्हों को चित्रांकित किया। उनके रेखांकनों को ध्यानपूर्वक देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें

अदृश्य भाषा की लयात्मकता दिखाई देती है।

चित्र सं0 5   चित्र सं0 6

प्रागैतिहासिक चित्रों के बाद सिन्धुघाटी सभ्यता में दो प्रकार के प्रतीकात्मक चिन्ह पाये जाते हैं। प्रथम–ज्यामितीय रेखा चित्रों पर आधारित और दूसरा–प्राकृतिक दृश्य में पशु–पक्षी, मानव व अन्य प्राणियों को प्रतीकों के रूप में संयोजित किया गया है। जिसका आगे हमें क्रमिक विकास देखने को मिलता है।

भारत में प्रतीकों का अस्तित्व हमारे धर्म और रीति रिवाजों में है जिसमें सामान्यतया आठ प्रतीकों का प्रयोग हुआ हैं, जैसे– ओम, स्वास्तिक, कमल, फूल, श्रीचक्र, त्रिशूल, शंख, सर्प और वीणा आदि शामिल है। वैदिक काल में भी प्रतीकात्मक रूपों से देवताओं को व्यक्त किया गया। जिन देवताओं का मुख्य रूप से वर्णन हुआ है वे हैं– अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य, पृथ्वी आदि। ये वैदिक देवता आज भारतीय हिन्दू धर्म में व्यक्ति आधारित देवता जैसे– राम, कृष्ण, हनुमान, शिव, लक्ष्मी, गणेश, विष्णु आदि से अलग है। इसी क्रम में मौर्यकालीन कला में प्रयुक्त प्रतीक अत्यधिक सराहनीय है, जिसका सर्वोत्कृष्ट रूप अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ स्तम्भ में दृष्टिगोचर होता हैं। जिसकी व्याख्या अलग–अलग विद्वानों ने अपने–अपने तर्को के साथ की है। 'पूर्व दिशा का 'सिंह' शौर्य और स्फूर्ति का प्रतीक है। पश्चिम दिशा कां 'गज' विचारशीलता और ऐश्वर्य का प्रतीक है। उत्तर दिशा में 'वृषभ' भूमि की उर्वरता का प्रतीक है और दक्षिण दिशा का 'अश्व' गति का प्रतीक है।'[9] यही पर 24 तीलियों वाला धर्मचक्र बना है जो समय के 24 घण्टे का प्रतीक है। इसलिए सारनाथ सिंह स्तम्भ की प्रतीकात्मकता देखते हुए ''बेंजामिन रौलेण्ड ने स्तम्भ की कल्पना ब्रह्माण्ड के प्रतीक के रूप में किया है।''[10] साथ ही ''वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं कि सारनाथ स्तम्भ में अंकित चार चक्र और चार पशु इसी लोकव्यापी भावना के प्रतीक है।''[11] बौद्ध धर्म में भी प्रतीकों का अपना विशेष महत्व था जिसके उदाहरण हमें शुंगकालीन स्तूपों और तोरण द्वारों में देखने को मिलते हैं। जहाँ अंकित प्रतीक बौद्ध धर्म के हीनयान (प्रतीक पूजा) सम्प्रदाय की विचारधारा को प्रस्तुत करता है। सॉची के तोरणद्वारों में ''स्तम्भ, हर्मिका, चरण–चिन्ह, धर्मचक्र, पद्चिन्ह, तोरणद्वार, कमल–पुष्प, छत्रावली, बोधिवृक्ष आदि''[12] प्रतीकात्मक चिन्ह शामिल है। इन्हीं प्रतीकों का और विकसित रूप कुषाण, गुप्त, अजन्ता, बाघ, बादामी आदि गुफा चित्रों से लेकर पोथी चित्रों व लघु चित्रों में देखने को मिलता है। जिससे हमें हिन्दू, बौद्ध व जैन धर्मो के प्रतीक पूजा का विकास तत्कालीन मूर्तियों व चित्रों में हुआ है। इन सभी काल के कलाकारों ने भक्ति–भावना के प्रचार–प्रसार हेतु सर्वप्रथम स्तम्भ, स्तूप, बोधिवृक्ष, हर्मिका, धर्मचक्र, पद्मचिन्ह, तोरणद्वार, छत्रावली, वेदिका, चरणपादुका, चक्र, पंचकोण, स्वास्तिक जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया है।

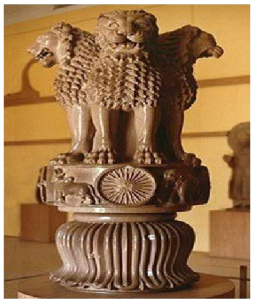

चित्र सं0 7   चित्र सं0 8

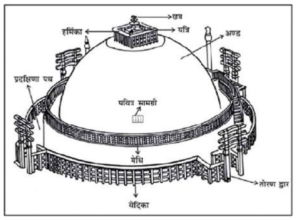

चित्र सं0 9

इन्हीं प्रतीकों से प्रभावित होकर 21वीं शताब्दी के अनेक कलाकारों ने सरल ज्यामितीय अमूर्त चित्र व गैर–ज्यामितीय अमूर्त चित्रों को जन्म दिया। कला इतिहासकार वासुदेवशरण अग्रवाल[13] कहते हैं– ''जो प्रतिरूप है उसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा ही की जा सकती है। प्रतीक ही अमूर्त की सच्ची मूर्ति है। प्रतीक में व्यक्तिगत रूपों का अभाव होने से वह प्रतिरूप के सब रूपों को प्रकट कर सकता है।''

कला इतिहासकारों, समीक्षकों व विद्वानों का मानना है कि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई व विभिन्न धर्मो में अत्यधिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। हिन्दू देवी–देवताओं में जैसे–विष्णु, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती इत्यादि की कल्पना भी प्रतीकात्मक रूप में ही किया गया है। जिसमें ज्ञान की देवी सरस्वती को सफेद वस्त्र में वीणा के साथ हंस पर आरूढ़ चित्रांकित किया गया है। जहाँ सफेद रंग 'ज्ञान' का प्रतीक है तथा 'हंस' बुद्धि का प्रतीक है और उनके हाथ में जो 'वीणा' है वह कला का प्रतीक है और पुस्तक 'ज्ञान' का प्रतीक है। भारतीय कला परम्परा पर नजर डाले तो कला अधिकतर धार्मिक ही रही है। जैसे–नरसिंह, गणेश, यक्ष, नाग, किन्नर, लक्ष्मी, शंकर, दुर्गा इत्यादि देवी–देवताओं में शक्ति, साहस और गम्भीरता के साथ कलाकारों ने प्रतीकात्मक रूपों में अंकित किया है। जैसे– चिन्ह प्रतीक (अक्षर, स्वास्तिक, त्रिभुज, चतुर्भुज, वर्ग, आयत इत्यादि), वृक्ष प्रतीक (पीपल, वट, बेल, आम, नीम, तुलसी, बरगल इत्यादि), प्राणी प्रतीक (हंस, मयूर, वृषभ, गाय, शेर, सर्प, हिरण, हाथी इत्यादि), वाद्य प्रतीक (शंख, डमरू, वासरी, सितार, वीणा, त्रिशूल इत्यादि), रंग प्रतीक (श्वेत, श्याम, लाल, पीला, नीला, हरा, नारंगी) इत्यादि ये सभी प्रतीक चिन्ह ऐसे हैं जो भारतीय अमूर्त भावनाओं को विकसित करने में सहयोगी बने। कलाकार इन प्रतीकों द्वारा अपने कल्पितः संसार में विचरण करने का आधार ही नहीं बनाता बल्कि आधुनिक कलाकार अपने अमूर्त अभिव्यक्ति को परिभाषित करने हेतु प्रतीक चिन्हों का सहारा भी लेता है। ये प्रतीकात्मक चिन्ह अमूर्त कलाकारों के विचारों की प्रमुख विशेषता रही है। प्रतीक चिन्ह न केवल विचारों को अभिव्यंजित करते हैं बल्कि सुन्दरता व मांगलिक भावनाओं को भी अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रतिकात्मक चित्र ही अमूर्त कला की आधारशिला है। प्रतीक चिन्ह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा अमूर्त कलाकार अपने विचारों व कल्पना के आधार पर भावों, अर्थों, सम्प्रेषण और ज्ञान में चमत्कारिक प्रभाव उत्पन्न करता है। आधुनिक भारतीय कला में इन प्रतीकों की महत्ता इतनी बढ़ गई है कि समकालीन कलाकारों ने एक नवीन शैली विकसित कर ली है जो अमूर्त शैली के नाम से जानी जाती है। जिसका महत्व परम्परागत कला से कहीं अधिक हो गया है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो प्रतीकों के आधार पर यूरोप में एक विशिष्ट शैली विकसित हो गयी जो प्रतीकवाद के नाम से जानी जाती है। यह 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध का कला आन्दोलन था जिसकी उत्पत्ति फ्रांस और बेल्जियम में हुई थी। इस शैली की उत्पत्ति सन् 1857 ई0 में चार्ल्स बॉडेलेयर के लेस प्लेयर्स डू माल के प्रकाशन से हुई। प्रतीकवाद शब्द पहली बार आलोचक जॉन मोरेओस द्वारा प्रयोग किया गया था। ''फ्रेंच कवि जॉन मोरेओस ने 18 सितम्बर 1886 ई0 को ''ले फिगारों'' में प्रतीकवादी घोषणापत्र 'ले सिम्बोलिज्म' प्रकाशित किया। द सिम्बोलिस्ट मैनोफेस्टों में आन्दोलन के तीन प्रमुख कवियों के रूप में चार्ल्स बॉडेलेयर, स्टीफन मल्लामें और पॉल वेरलाइन का नाम प्रमुख है।''[14] जॉन मोरेओस का कहना है कि प्रतीकवाद (सिम्बोलिज्म) ही ऐसा शब्द है जो कला में आजकल भी सर्जनात्मक पर्याप्त रूप से अभिव्यक्त कर सकता है।[15]

आधुनिक भारतीय कला के इतिहास में देखे तो यह स्पष्ट होता है कि प्रतीकात्मकता का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है लेकिन इसका मुखरित स्वरूप ज्यादातर समकालीन चित्रकारों के कृतियों में ही प्रदर्शित होता है। जिसमें वस्तु के स्वभाव को आत्मसात करते हुए चिन्ह, सूक्ष्मरूप व प्रतीक चिन्हों द्वारा चित्र प्रस्तुत करता है अर्थात्– अमूर्तन चित्रकार किसी वस्तु का यथार्थ अंकन नहीं करते और न ही उस वस्तु के साथ कोई लगाव रखते हैं बल्कि अमूर्त चित्रकार वस्तु के मूल तत्वों, प्रतीकों, भावों तथा रंगाघातों द्वारा चित्रों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। अतः हम यह कह सकतें है कि ''प्रतीक एक ऐसा साधन है जो हमें अमूर्तन का सामर्थ्य देता है।''[16]

वस्तुतः अमूर्त कला में प्रतीकों के महत्व को आधुनिक चित्रकार अपने अमूर्त चित्रण शैली में केवल संसार में देखे गये रूपों के आधार पर नहीं करता बल्कि लौकिक, अलौकिक, काल्पनिक एवं अनुभवों के सहयोग से आधुनिक चित्रों का सृजन करता है। यानी ''प्रतीक किसी वस्तु, चित्र, शब्द, ध्वनि या विशिष्ट चिन्ह को करते है, जिसका सम्बन्ध सादृश्यता या परम्परा द्वारा किसी अन्य या प्रतिनिधित्व करता है।''[17] आज के समकालीन कलाकारों ने अपनी अभिव्यंजना को प्रस्तुत करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेते है। इन प्रतीकों में चक्र, पद्म, स्वास्तिक, सूर्य, चन्द्रमा, शंख, बोधिवृक्ष, स्तूप, नाग, हाथी, त्रिभूज, वर्ग, आयत, वृत्त इत्यादि प्रतीक चिन्हों को माध्यम

बनाकर चित्रों में अंकित करने वाले भारत के विश्व प्रसिद्ध चित्रकारों में के0 सी0 एस0 पाणिक्कर, जे0 स्वामीनाथन, एस0 एच0 रजा, बिरेन डे0 जी0 आर0 संतोष, गोपी गजवानी, शोभा बरूटा, हेमराज व अन्य प्रसिद्ध प्रतीकवादी चित्रकार शामिल है।

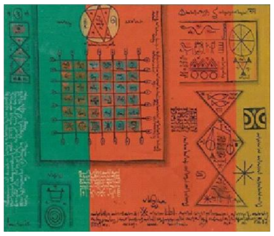

चित्र सं0 10

चित्र सं0 11

चित्र सं0 12

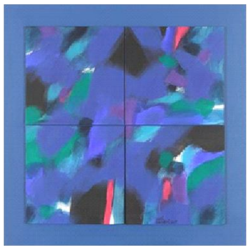

चित्र सं0 13

चित्र सं0 14

चित्र सं0 15

चित्र सूची :

1. प्रागैतिहासिक चित्र, 30000 ई0 पू0, खनिज रंग, शिलापट्ट, भीमबेटिका गुफा, भोपाल।
2. मेसोलिथिक नर्तक, प्रागैतिहासिक चित्र, 30000 ई0 पू0, खनिज रंग, शिलापट्ट।
3. उड़ीसा की गुडाहांडी रॉक कला, 11वीं शताब्दी ई0 पू0, खनिज रंग, शिलापट्ट, उड़ीसा।
4. उड़ीसा का योगीमठ रॉक कला, 10वीं शताब्दी ई0 पू0, खनिज रंग, शिलापट्ट, उड़ीसा।
5. स्वास्तिक मुहर, सिंधु सभ्यता, स्टेटाईट पत्थर, 2 ग 4 सेमी0, ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन।
6. हड़प्पा पात्र, सिंधु सभ्यता, 2700 ईसा पूर्व, टेराकोटा, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली।
7. सारनाथ का अशोक स्तम्भ, मौर्यकाल, 285 ई0 पू0, चुनार के लाल बलुआ पत्थर, सारनाथ संग्रहालय, वाराणसी।
8. उत्तरी तोरण के ऊपर नक्काशीकृत सजावट, सॉची स्तूप, शुंग काल, 184 ई0पू0, लाल बलुआ पत्थर, भोपाल, मध्यप्रदेश।
9. सांची स्तूप की लाईन ड्राईंग, शुंगकाल, 184 ई0 पू0, भोपाल, मध्यप्रदेश।
10. शब्द और प्रतीक, के0 सी0 एस0 पाणिक्कर, 1936, बोर्ड पर तैल रंग, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली।
11. शीर्षकविहीन, जगदीश स्वामीनाथन, 1983, कैनवास पर तैल रंग, 29 X 37 इंच।
12. शीर्षकविहीन, गुलाम रसूल सन्तोष, 1990, कैनवास पर तैल रंग, 23 X 29 इंच।
13. शीर्षकविहीन, गोपी गजवानी, 2015, कैनवास पर एक्रेलिक रंग, 29.75 X 29.75 इंच।
14. शीर्षकविहीन, शोभा बरूटा, 2005, कैनवास पर एक्रेलिक रंग, 60 X 60 इंच।
15. वॉयस ऑफ गॉड–37, हेमराज, 2017, कैनवास पर तैल रंग, 71 X 59 इंच, कैटलॉग, अन्यत्र धर्मत।

सन्दर्भ सूची :

1. https://en.m.wikipedia.org/wiki/symbol, Date - 10/12/2023, time- 9:46AM
2. Pratic Kya hai by Bhoopendra Pandey Hindi Chennel Date- 28/03/2023, time - 1:28AM
3. गुप्ता, निलिमा : कला और सौन्दर्य, लायल बुक्स, मेरठ, 2022, पृ0 41
4. गैरोला, वाचस्पति : भारतीय चित्रकला, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1990, पृ0 71
5. साखालकर, र0वि0 : यूरोपीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, छठा संस्करण, 2011, पृ0 8
6. सिंह, ममता : भारतीय चित्रकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2017, पृ0 177
7. सहाय, शिवस्वरूप : भारतीय कला, इलाहाबाद, प्रकाश बुक डिपो, अष्टम् संस्करण, 2011–2012, पृ0 137
8. वर्मा, अविनाश बहादुर : भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 1968, पृ0 18
9. कासलीवाल, मीनाक्षी : भारतीय मूर्तिशिल्प एवं स्थापत्य कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृ0 43
10. श्रीवास्तव, बृजभूषण : प्राचीन भारतीय प्रतिमा–विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, 2015, पृ0 255

11. अग्रवाल, वासुदेवशरण : भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, 1966, पृ0 116

12. कासलीवाल, मीनाक्षी : भारतीय मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृ0 53

13. गुप्ता, निलिमा : कला और सौन्दर्य, लायल बुक्स, मेरठ, 2022, पृ0 41

14. https://en.m.wikipedia.org/wiki/symbolism_(arts), date 08/12/2022, time -10.12pm

15. NOU21 HS63, Date- 30/03/2023, time- 3:48pm

16. http://ignited.in/p/24-2308, 23/11/2022, time- 12:13 PM

17. http://hi.wikipedia.org/wiki/izrhd, Date- 22/11/2022 time -12 : 20 AM

A Dialectics of Narrative Voices: (Re) Reading Nayomi Munaweera's Island of a Thousand Mirrors

Ms. Sisodhara Syangbo*

Abstract

Nayomi Munaweera's novel, Island of a Thousand Mirrors hauntingly evokes the pathos and tragedy of the fates of individuals caught in the fray of the ethnic polarization that rocked the island nation of Sri Lanka for decades. The major thematic thrust of the novel is the divisive civil war that split the nation along the registers of ethnic identity leading to contesting ideas of homeland. Using two different narrative voices, one Sinhalese and privileged, the other Tamil and marginalized, and by showing how they are still connected to each other by loss, death, displacement and the trauma of war, albeit in different circumstances, Munaweera tells the story of a nation and its peoples devastated by the most gruesome horrors of a long-drawn-out raging civil war. This paper seeks to engage in an analysis of the two narrative voices in this novel, identifying points of convergence and divergence and exploring the specific ways in which the narrative organization produces a coherent whole and how it enables Munaweera to present a comprehensive view of post-independence ethnic strife as well as achieve plurality.

Key words : *Narrator, Civil War, Trauma, Loss, Displacement*

Research Methodology : *This study is supported by secondary sources.*

Introduction

Sri Lanka is a nation with a troubled history and an uncertain future. The country has been home to diverse ethnic groups: the Sinhalese, Tamils, Muslims and the Eurasian community of Burghers, for centuries, and had a long history of colonial rule under three colonial masters, the Portuguese, Dutch and British, that spanned four and a half centuries. The colonial regime finally came to an end when the British granted independence to Sri Lanka in 1948. However, contrary to the belief, that the post-independence era would herald positive economic and political changes, the island nation was soon beset by insurgencies which were followed by the protracted ethnic conflict between the Sinhalese and the Tamils, the two prominent ethnic groups. The insurgencies were initiated by the disillusioned and dissatisfied Sinhalese youths of the nation while the ethnic conflict that lasted for almost three decades, was an inevitable consequence of the age-old animosities between the Sinhalese and Tamils, which were exacerbated by British colonial interference and the ensuing "Sinhalese Only Act" of the Sri Lankan government. The trauma and turbulence of this period of ethnic violence have been captured in a range of Sri Lankan literature written in English as well as in the vernacular that can be classified as war narratives.

Nayomi Munaweera's novel, Island of a Thousand Mirrors hauntingly evokes the pathos and tragedy of the fates of individuals caught in the fray of the ethnic polarization that rocked the country for decades. The major thematic thrust of the novel is the divisive civil war that split the nation along the registers of ethnic identity leading to contesting ideas of homeland. Using two different narrative voices,

*Assistant Professor, Department of English, Prasannadeb Women's College, Jalpaiguri

one Sinhalese and privileged, the other Tamil and marginalized, and by showing how they are still connected to each other by loss, death, displacement and the trauma of war, albeit in different circumstances, Munaweera tells the story of a nation and its peoples devastated by the most gruesome horrors of a long-drawn-out raging civil war. This paper seeks to engage in an analysis of the two narrative voices in this novel, identifying points of convergence and divergence and exploring the specific ways in which the narrative organization produces a coherent whole and how it enables Munaweera to present a comprehensive view of post-independence ethnic strife as well as achieve plurality.

Primary Narrative Voice

Yashodhara Rajasinghe, the Sinhalese narrator is the primary homodiegetic narrator whose narration provides the framework of the story. The novel begins and ends with her narration, which spans a period of a little over six decades, beginning from the day Sri Lanka gained independence from the British, to the day the leader of the Tamil tigers was killed, bringing to an end the bitter ethnic strife that ravaged the country for almost thirty years. She has been given greater narrative space and she intersperses her narrative with accounts of the crucial historical events that have led to the dystopian state of Sri Lanka. Her narration begins with a mention of the multi -ethnic fabric of the country which is followed by an anticipation of the civil war "But in the decades that are coming, race riots and discrimination will render the orange stripe inadequate. It will be replaced by a new flag… A rifle toting tiger. A sword gripping lion. This is a war that will be raged between related beasts" (Munaweera 10). She then, focusses on the delineation of her maternal and paternal family history and a description of her idyllic childhood in the city of Colombo. Besides important insights into the characters of the members of her extended family, we are offered vignettes of happy family gatherings, mischievous childhood escapades and blissful outings with her parents. This idyll is however soon rocked, as predicted earlier, by incidents such as the burning of the Tamil library in Jaffna and the insurgencies which unleash absolute mayhem and violent bloodshed in the streets of Colombo. The Rajasinghe family emigrates to America in order to escape these horrors and soon find themselves in an alien country struggling to cope with displacement, loss, alienation and nostalgia.

Secondary Narrative Voice

The narrative shifts to north Sri Lanka in the eighth chapter. Though the Tamil narrator Saraswati's role in the narrative is secondary to Yashodhara's, her voice and her interconnectedness to her Sinhalese counterpart, help to shape the narrative in symmetrical ways, offering a more rounded picture of the Sri Lankan dystopia. Saraswati's narration begins with a grim description of the camps meant for displaced people. Her family of seven has been reduced to four members after the death of her three brothers who were taken by the LTTE, the Tamil militant outfit fighting for a separate homeland. In contrast to Yashodhara's narrative with its intermingling of happiness and sorrow, Saraswati's narrative concentrates on the bleak description of the Tamil-populated north where the people are "subjected to living conditions that confer upon them the status of the living dead" (Mbembe 92). Her hatred of "roofless, bombed-out houses" (Munaweera 130) because they remind her of dead bodies and her anger at people who have been careless enough to step on landmines, and are therefore responsible for the foul ugly smell emanating from their rotten flesh, indicate the commonplaceness of the signs of war. After getting brutally gang-raped by Sinhalese soldiers, Saraswati is faced with two options, either to commit suicide or to join the

Tamil Tigers, and she chooses the latter.

As the novel moves towards its end and as the paths of the two narrators are about to cross, the narrative keeps alternating between the two of them. Chapter nine goes back to Yashodhara's narration while chapter ten is taken over by Saraswati. In chapters eleven and twelve both the narrators have alternating sections. The juxtaposition of their narratives seems to foreshadow the intertwining of their fates bringing them closer and closer till their stories overlap in the most unexpected way. Apart from the fact that their lives eventually intersect, though not directly, what binds these two women are their experiences of trauma, displacement and loss and the two become representative of the thousands of Sinhalese and Tamils whose lives were completely wrecked by the insanity of war. Narrating their stories with an uninhibitedness that renders their voices emotional and raw, they offer two different perspectives that merge together to produce a unified whole.

Narrative Devices

Foreshadowing is used as an important device in Yashodhara's narration, not only for the creation of suspense and the building of tension that culminates in the climax of the story, but also for the more important purpose of drawing the reader's attention to the intent of the author. It is through this narrative device that Munaweera consciously intervenes in the unfolding of the plot and forges a link between the two narrators. As an adolescent living in America, Yashodhara is exposed for the first time, to the image of a decapacitated head of a female suicide bomber lying on the steps of a building, while watching television. As the terrible image haunts her for days, she ponders almost sympathetically, over the motivation behind such a ghastly act. "What secret wound bled until she chose this most public disassembly of herself?" (118) She then starts having recurring dreams of a faraway place: "[O]f a small house, a glittering lagoon, a mango tree and a young girl. She stands before me and her large bruised eyes do not leave mine…. When she undoes her sari blouse, I see the grenades tucked like extra breasts under her own. It is grotesque. I wake trembling and her eyes stay with me for hours" (122). Chapter seven concludes with the above lines while chapter eight, introducing Saraswati's narrative, opens with a description of a lagoon, instantly linking the two protagonists. However, it is only in the last chapter when it turns out that Yashodhara's sister, Lanka was among the casualties of the bomb attack carried out by Saraswati, that the full significance of the tragic implications of their interconnectedness can be understood.

Flashbacks or analepses are used in Saraswathi's narration of her traumatic past, serving to intensify the stark horror of the Sri-Lankan civil war.

Points of Divergence

For a novel that has war as a looming presence, one of the major concerns of the author is to draw attention to the horrific brutalities of war, and the trauma that emerges from it. Yashodhara's accounts of violence and bloodshed mostly involve strangers. We get descriptions of irate mobs dragging out people from houses, shattering bones, cutting through flesh and burning houses, while she herself is tucked away safely behind closed doors. Her first brush with personal trauma is through the harrowing experience of her aunt during the anti-Tamil pogrom of July 1983, when her uncle is burnt alive by a Sinhalese mob, for trying to save a Tamil child on grounds of humanity. She paints a vivid picture of terror underlining the horror of the act. "A roar as the spark ignites, catches, bursts into flame. The men's voices roaring and falling in time to the dancing flames. A dancing circle of men... And what is it that my dark aunt sees at the moment? Too grotesque to be revealed

surely. Too horrific to be imagined" (86). But the overall impression that we get from Yashodhara's narration is that of an outsider who hasn't actually had a first-hand experience of trauma, and this is corroborated by her mother's comment that as spectators watching the war from a distance, they do not have "the privilege of indignation or anxiety." (117)

On the other hand, Saraswati's narrative compellingly conveys the terrible dangers and the enormity of loss and tragedy of someone "living inside a war" (124) It is heart-wrenching to hear her speculating about the various manners in which each of her brothers must have died. When it comes to narrating scenes of gore and violence, she adopts a detached, matter-of - fact tone. "A man's body sags forward, held against a lamp-post by arms tied behind and a thin piece of wire that bites into the mottled scarlet skin of the neck… A wooden tablet balances sideways on his stomach, hung from the knotted black string around his neck…. Under that his intestines burst forth, like an intricate exuberant flower. Flies buzz within the coils" (133). However, this impassive narration of the mindless atrocities and heart-breaking tragedies that Saraswati and her people are forever exposed to, only serves to enhance further, the sense of loss, trauma and vulnerability of the people who have been stripped of their basic rights.

Through her use of two narrative voices, one Sinhalese and the other Tamil, Munaweera intends to present an account of both sides of the ethnic strife. Each one tells her story from her vantage point but it is Yashodhara who has been given the more sympathetic voice, offering explanations, almost trying to justify the actions of the persecuted Tamil population. While describing the aftermath of the pogrom of July 1983, she comments that as the Tamils flowed out of the city of Colombo in droves, they left behind them, "[L]ooted, soot blackened houses, the unburied or unburnt bodies of loved ones, ancestral wealth, lost children, Belonging and Nationalism….They flee to ancestral villages abandoned decades ago, and it is in these Northern places that the events of that July will make them the most militant and determined of separatists" (Munaweera 89). But it would be unfair to say that Munaweera is biased towards her Sinhalese narrator. The diasporic author uses Yashodhara, who shares her background, education and her sensitive nature, to voice her views on the war that ravaged her country for ages. Saraswati lacks the exposure and education to develop such a perspective. Moreover, the brutal violence of rape, made worse by the stigmatization attached to it, has rendered her broken and bleeding. Consumed by her desire "to avenge the falling apart of her home, her family, and ultimately, that of her body," (Heidemann 9) she revels in her new role as predator and her narrative grows more and more condensed, as its focus becomes limited to her thoughts on and preparations for the catastrophic event.

Points of Convergence

The significance of home and homeland and how its loss affects the emigrant and the marginalized populace in different ways is conveyed hauntingly through the two different narratives. After losing a member of the family to the ethnic strife that engulfs the nation, the Rajasinghes emigrate to America in order to shelter themselves from further trauma and anguish. The diasporic concerns of home, displacement, alienation and identity are then explored through Yashodhara's account of the challenges faced by her family as they struggle with nostalgia on the one hand and on the other hand, desperately try to adapt themselves to their foreign environment. However, the sense of belonging is so strong, that eventually the two sisters return to their homeland, though this is met with tragic consequences. Saraswati is also

forced to leave home and join the LTTE after her brutal gang rape by Sinhalese soldiers. Unlike Yashodhara and her sister who long for their home and homeland, the trauma of rape and her subsequent abandonment by her family have hardened her to such an extent, that she has become estranged from her family and village. While Yashodhara and her sister heal by reliving their past on the island along with Shiva, their Tamil friend from childhood, Saraswati, for whom the past is too painful and the loss of home is permanent, finds solace and fulfilment in thoughts of martyrdom. According to Jenny Edkins all survivors "seek a way of resistance" (8). Martyrdom is Saraswati's act of resistance. Empowered and with a lethal weapon in hand, she realizes that "I am fearless. I am free. Now I am the predator." (176) As a militant she redefines herself: "No one will ever again speak of Appa's daughter spoilt by the soldiers. From now on, they will see me as I am, a Tiger with teeth and claws." (183) In her resolve to never be a weak prey she commits murder with a vicious brutality.

Another point that both the narratives call attention to, is the patriarchal structure of both the Sinhalese and Tamil communities as well as the militant movement that offers to avenge the pain of Saraswathi. Yashodhara's narrative touches upon issues of gender bias in its mention of how her mother Vishaka has to abandon her ambition of becoming a doctor in order to marry the engineer Nishan and rescue her family from bankruptcy while her brother pursues his studies abroad. Her paternal grandmother Beatrice invests so much time in her son's studies while she is content to obsesses over her daughter's complexion, completely ignoring her interest in cricket. Saraswathi's narrative highlights the fact that there is a special hell for girls even in that death-in- life situation. Though it seems that Saraswathi, unlike her friend Parvathi who was also a victim of gang-rape and who committed suicide, is able to transcend her victimhood by her act of revolutionary violence, the fact cannot be ignored that Saraswathi is still subservient to the patriarchal structures of the family that conveniently discards her and the LTTE who promise her revenge and liberation from her pain. Her suicide bombing can be seen as an act of desperation and frustration, as a "strategy of escape from a situation with no exit." (De Warren, 3)

Conclusion

In conclusion, it is to be stated that Munaweera successfully presents the complexities of the socio-political life of Sri Lanka during the decades of the civil war. By using two narrators who provide different yet converging views the novel is able to achieve polyvocality. Moreover, the interconnectedness of the two narrators shapes the narrative in symmetrical ways. Through the union between Yashodhara and Shiva, the novel posits a normative view of the possible emergence of a new nationhood based on love and harmony between the two warring communities. She thus, makes an attempt to disrupt power structures and racial prejudices and to point out the futility of war.

References:

De Warren, N. "The apocalypse of hope: Political violence in the writings of Sartre and

Fanon." Graduate Faculty Philosophy Journal, vol. 27, no.1, 2006, pp.1-35. https://www.academia.edu/14155770/ Accessed 14 Jan. 2023.

Edkins, Jenny. Trauma and the Memory of Politics. Cambridge University Press, 2003.

Heidemann, Birte. "The symbolic survival of the "living dead": Narrating the LTTE femalefighter in post-war Sri Lankan women's writing." The Journal of Commonwealth Literature, 2017, Sage, doi:10.1177/0021989417723414. Accessed 26 Nov. 2022.

Mbembe, Achille. Necropolitics. Duke University Press, 2019.

Munaweera, Nayomi. Island of a Thousand Mirrors. Hachette Book Publishing India Pvt. Ltd, 2013.

Indian Tribal Art and Its Application in Textiles

Dr. Deepti Pargai** **Ms. Anshu Singh Choudhary***

Abstract

The people, culture, and climate of India are all apparent examples of the diversity that exists there. This country has hundreds of ethnic groups scattered from north to south and east to west, each with its own art form representing its taste, needs, aspirations, aims, joys, sorrows and struggles. With regional peculiarities, nature around and a different pattern of day-today life apart, their art reveals each group's ethnic distinction and creative talent.

One of the most well-known forms of Indian tribal (Viswanadha Gupta, 2018) art used in textiles is the Kalamkari, which is kind of hand-painted or printed cotton material that originated in Andhra Pradesh. Kalamkari textiles are known for their intricate designs depicting Hindu mythological scenes, flora and fauna, and geometric patterns.

Another popular form of Indian tribal art used in textiles is the Warli art, which is a form of tribal art from the Warli tribe of Maharashtra. Warli art is characterized by its simple, yet expressive, stick-figure drawings depicting daily life and rituals of the tribe. Warli art is often used in textiles to create unique and colorful patterns.

Other forms of Indian tribal art used in textiles include Gond art, which is a form of tribal art from the Gond tribe of Madhya Pradesh, and Patachitra, which is a form of folk art from the state of West Bengal.

Indian tribal art used in textiles has gained popularity both within India and internationally due to its unique and vibrant designs. Today, many designers and textile manufacturers incorporate Indian tribal art in their designs to create unique and sustainable fashion products.

Keywords : *Tribal art, Style, textile, fusion, craft, colour etc.*

Methodology : *This topic was approached at various levels study of Indian Tribal art as well as a detailed study of Indian Textile as undertaken. After having done a detailed study of tribal art application on various traditional Indian textile art & craft catering to the fashion needs of the Indian consumer was undertaken as well. Various tribal arts of India were explored from secondary sources. Extensive literature review was carried out to obtain elaborate information about tribal art which are applied on textile for the purpose of their revival. Within the span research almost eight states were selected randomly to carry out research.*

1. Introduction

Tribal art is the visual art material created by tribal people. It is often ceremonial or religious in nature. Generally, these art forms originate from the rural areas. Each section of our country has its peculiar style and art forms which is known as folk art. Apart from the folk art, called as tribal art. The folk and tribal arts of India are very indigenousand straight for ward, yet colourful and vibrant enough to say a lot about the country's rich in heritance.Like the folk art, tribal art is also gaining popularity due to the constant developmental efforts laid by our Indian government and other groups.

*Assistant professor Amity University, Gwalior
**Assistant Professor, Mody University of Science and Technology, Raj

It is becoming increasingly clear that any philosophy or explanation of art that does not take aesthetic experience into consideration is insufficient and lifeless. The phenomenology of aesthetic perception has also been heavily influenced by this trend. The scientific notion of this directedness of awareness towards an object differs significantly from the discourse universe that is shaped by artistic experience and expression.

In India(Mahamunkar&Tulshyan, 2021), there are roughly 25 million tribal people residing in some regions of Madhya Pradesh (Central India), eastwards along the Bihar, Orissa, Assam, Arunachal Pradesh, Nagaland, Meghalaya, Manipur, Tripura and other north-estern areas of India. Some groups do also live, but in smaller numbers, in Rajasthan, Gujrat, Maharashtra, Tamil Nadu, Kerala, Mysore, Andhra Pradesh and West Bengal.

In some States, these tribal peoples are also referred as Adivasis. A large portion of the tribal people are descents of chiefs, warriors, artists, builders, musicians, priests, seers, and healers. The Gonds of Madhya Pradesh are thought to be decedents of legendary lords who ruled the forested regions. Most tribal members now work in agriculture. One of their most notable characteristics is the sense of equality as well as the strong sense of community togetherness and respect for the fundamental liberties of their people.

Tribal art refers to the works produced by these tribes, whereas folk art refers to a particular form of art produced by the local people of the area. Both share the same design aesthetic and ornamental themes. The styles of folk and tribal arts include wall painting (murals), decorations, jewellery, hand embroidery, wood carvings for masks and toys, floor designs, basketry, pottery, and toys and puppets. Every form of art has unique patterns or motifs that are based on the local geography or climate. But typically, these folk and tribal paintings are created using natural colours on materials like paper, linen, leaves, earthen posts, mud walls, scrolls, and more. This art has an admirable quality of freshness, spontaneity, sincerity, and simplicity. These art forms have a great value or importance in Indian Society as we can study the effects of the tribal art in current scenario:

Shows Artistic and Aesthetic sense of tribal : The tribal artists were completely self-reliant and content in their artistic endeavours, whether they were crafts people, painters, singers, dancers, or lay household ladies. All these individuals lived symbolically with their surroundings. These artistic expressions also reflect the original aesthetic sensibility.

Ceremonial or Ritualistic Value : Religious belief system continues to be the maturing force behind creating these art forms, such as-Sanjhi in utter Pradesh, kolam in Taminadu, Aipan in Gujrat, Alpana in Bengal and Rangoli in Nepal, India and Bangladesh, Mandana in Rajasthan and many more are being created on different Ceremonies for the ritualistic purpose mostly by the women. Triangles, squares, diamonds, circles, semicircles, polygons, the astadal and swastika, among other formal elements, are present in their paintings. There are symbols, although they appear to be mathematical forms, that interpret elemental forces, the phenomenal world, and its mortals.

Conductor of culture and heritage : Ancient Indian tribal & folk-art forms have been passed down from one generation to the next and are currently practised in many regions of India. Being a culturally diverse and district, many different art forms have

developed over time; some have remained unaffected by modernization while still adapting to new paint, colours, and materials. Despite this, they are still passing on our civilization and culture to the next generation because each of them depicts religious epics or gods and goddesses as well as naturally occurring objects.

A kind of Decoration: The handling of these tribal & folk paintings is gorgeous; they are exempt from the restrictions and beliefs of the old orthodoxy and ritualism. Paintings used for ceremonial purposes and other folk-art forms, such as the Madana, Rangoli, Alpana, Kolam, Madhubani, Santhal, Pithoro, warli, Godna, Gond, and Phad paintings, among others, are all purely decorative.

A Source of earning livelihood: People used to make a living by creating tribal art professionally in the past. Warli, Bhil, Mandana, and Kalighat paintings were the most popular art forms, and many well-known embroideries' designers were paid for their relations. However, because of recent technical advancements, tribal and folk artists were no longer taken seriously, and as a result, these art forms started to perish.

2. Tribal Arts of India

Indian tribal art (Dizaji, 2017a) is a diverse and vibrant form of art that has been practiced by various indigenous communities across India for centuries. The term "tribal" also refers to a community that consists of several families, in-groups, or generations, and whose way of life still exhibits a distinctive deep-rooted legacy and connection to a distant past. Art is the expression or application of human creative skill and imagination, so the visual artistic work created by the tribal people is called as tribal art.

Himanchal Pradesh:

Himachal Pradesh is home to a diverse range of tribal communities, each with their unique art forms and traditions. The tribal art of Himachal Pradesh (Richa, 2003) reflects their lifestyle, beliefs, and cultural practices.

Here are some of the prominent tribal art forms of Himachal Pradesh:

Kinnauri Shawls: The Kinnauri shawl is a famous handwoven (A. Sharma & Sharma, 2009) textile of Kinnaur district, made from pashmina wool or sheep wool. The shawls are adorned with intricate embroidery and motifs inspired by nature, such as flowers, birds, and animals.

Chamba Rumal: The Chamba Rumal (Dhiman et al., 2022) is a hand-embroidered piece of cloth from the Chamba district, known for its vibrant colors and detailed designs. The embroidery features images of mythological scenes, flora and fauna, and historical events.

Kullu Shawls: Kullu shawls are made from the wool of the Angora rabbit and sheep and are famous for their geometric patterns and bright colors. The shawls also feature traditional motifs such as the Kullu pattern, which symbolizes the local mountains.

Thangka Paintings: Thangka paintings are traditional Buddhist paintings that originated in Tibet but are also prevalent in Himachal Pradesh. These paintings feature religious iconography and portray various Buddhist deities.

Metal Craft: The tribal communities (Kapoor et al., 2008) of Himachal Pradesh are skilled metalworkers and create exquisite metal crafts such as utensils, ornaments, and idols. The metal crafts are made using copper, brass, and silver and feature intricate designs and motifs.

Wood Carving: The wood carving (Kapoor et

al., 2008) art of Himachal Pradesh is practiced by the artisans of Kinnaur and Chamba. They create exquisite wooden sculptures, doors, windows, and furniture with intricate designs and patterns inspired by nature.

These are just a few examples of the rich tribal art and culture of Himachal Pradesh. Each community has its unique art forms that have been passed down from generation to generation and continue to thrive today.

Bihar

Bihar, a state located in the eastern part of India, is known for its rich cultural heritage and diversity. The tribal communities (J Jaitley, 1990) of Bihar have a distinct artistic tradition(E. Sharma, 2015) that reflects their unique way of life, beliefs, and customs. The state is home to several tribal groups, including the Santhal, Oraon, Munda, Ho, and Kharwar.

Tribal art in Bihar is primarily expressed through various forms of handicrafts, such as basketry, pottery, weaving, and metal work. These crafts are often utilitarian and serve a functional purpose in the daily lives of tribal communities.

The Santhals, who are one of the largesttribal groups in Bihar, are known for their colorful wall paintings called Sohrai and Khovar. These paintings depict scenes from everyday life, mythology, and nature. The paintings are traditionally made during the harvest season and are believed to bring good luck to the community.

The Oraon tribe, also known as Kurukh, are skilled in the art of basketry and weaving. They create beautiful baskets, mats, and other items using natural materials such as bamboo, cane, and grass. These handicrafts are not only functional but also serve as decorative pieces.

The Munda tribe, on the other hand, are known for their brass and bell metal work. They create beautiful utensils, ornaments, and other decorative items using traditional techniques passed down through generations.

In addition to these traditional art forms (Cotton Mather & Karan, 2019), tribal communities in Bihar also participate in various cultural events and festivals that showcase their art and culture. The Chhath Puja, for example, is a major festival in Bihar that is celebrated by the tribal communities. It is a four-day festival that involves the worship of the sun god and includes various rituals and customs that reflect the unique cultural identity of the region.

Overall, the tribal art of Bihar is a unique and vibrant expression of the rich cultural heritage of the state's diverse tribal communities.

Rajasthan

Rajasthan is home to several indigenous tribes, each with its distinct art and craft traditions. The state's tribal art has a rich history and is characterized by its vibrancy, intricate designs, and use of bold colors.

One of the most prominent tribes in southern region of Rajasthan is the Bhil tribe (Anjali Khot, 2021), known for their intricate and colorful paintings. The Bhil art is traditionally created on mud walls and floors of homes, using natural colors derived from plants and stones. The paintings usually depict their daily life, festivals, and nature.

The tribal artwork of Garasia tribe is another important aspect known for their unique artwork, they are in the Gujarat districts of Sabarkantha and Banaskantha as well as the Rajasthan districts of Pali, Sirohi, Udaipur, and Dungarpur. The Garasia people are experts in the art of beadwork, embroidery, and weaving. Their embroidery work is known as 'Katab' and is characterized by intricate geometric patterns and vibrant colors.

The Meena tribe (Bhandari V., 2005) in the eastern Rajasthan is also an important tribe known for their traditional artwork, including paintings, pottery, and weaving. The Meena pottery is known for its intricate designs and the use of natural colors derived from plants.

The Sahariya tribe from baran district is known for their bamboo crafts and wood work. They make baskets, mats, and furniture using bamboo and wood, and their work is characterized by its simplicity and durability.

The Rabari tribe of Jaisalmer is another prominent tribe known for their embroidery work. The Rabari women create intricate embroidery (Shikha kala, 2018) work on clothes and bags, and their designs often depict animals and nature.

In conclusion, the tribal art of Rajasthan is diverse, colorful, and unique. Each tribe has its distinct style and technique, making it an essential part of Rajasthan's cultural heritage.

Madhya Pradesh

Madhya Pradesh, a state in central India is home to various tribal communities who have a rich cultural heritage of producing beautiful and intricate art forms. Some of the notable tribal art forms of Madhya Pradesh are:

Gond Art: Gond art is a beautiful form of tribal art (Bharadwaj & Ukande, 2014) that originated in the Gond tribal community of Madhya Pradesh. The art form is characterized by its use of vibrant colors and intricate designs. The art usually depicts nature and its various elements such as animals, trees, and hills.

Bhil Art: Bhil art is an ancient form of tribal art (Saxena, 2017) that has been practiced by the Bhil community of Madhya Pradesh for generations. The art form is known for its simplicity and bold use of colors. The Bhil art usually depicts religious themes and the daily life of the tribal community.

Pithora Art: Pithora art is a unique form of tribal art that is practiced by the Rathwa and Bhilala communities of Madhya Pradesh. The art form is characterized by its use of geometric patterns and bright colors. Pithora art is used in various ceremonies and rituals of the tribal community.

Wrought Iron Crafts: The tribal communities of Madhya Pradesh (Dizaji, 2017b) are also known for their excellent wrought iron crafts. These crafts are made using simple tools and techniques and are often used for decorative purposes.

Bamboo Crafts: Bamboo crafts are another popular form of tribal art in Madhya Pradesh. The tribal communities use bamboo to make various items such as baskets, mats, and even musical instruments.

Overall, the tribal art of Madhya Pradesh is a beautiful and diverse reflection of the state's rich cultural heritage.

Gujrat

Gujarat's culture is shown in its art, and it is one of India's gems. The Puranas, epics like the Ramayana and the Mahabharata, and other religious topics are frequently shown in Gujarati paintings. Using straight forward (Poonam Gandhi, 2013) bold strokes and a muted colour scheme, Gujarati tribal art depicts the routine village life. The Warli Painting, Mata Ni Pachedi, and Pithora tribal art traditions are the most well-known in Gujarat.

Mata in Pachedi : The nomadic Vaghari community has been using this 200-year-old cloth art technique to make Mother Goddess temporary shrines. Traditional maroon is made from alizarin and is associated with Mother Earth. It is also thought to have healing properties. Black, made from oxidised metal, wards off evil spirits and amplifies spiritual force. White has associations with purity and

communication with ancestor spirits. In Ahmedabad, at the Calico Museum, and in Vadodara at the Baroda Museum and Art Gallery, one can find such works. It's fascinating to look at this Gujarati art.

Pithora Art : Nayak, Rathwa and Bhil communities around Chhota Udepur (Poonam Gandhi, 2013) generally use this artform. It is a ceremonial wall painting to celebrate happy occasions like weddings, births, and festivals. Unmarried girls first use cow dung and mud to plaster homes before adding chalk powder on top. The creation of colours involves combining paint with milk and spirits derived from the benevolent Mahuda tree. The painting is a gift to the Baba intended to bring success, prosperity, and tranquilly.

Warli: The Warli tribe of southwest Gujarat and northwest Maharashtra (Dr. K. Mrutyunjaya Rao, 2022; E. Sharma et al., 2014) is the original maker of this artwork. Three fundamental design elements—a circle, a triangle, and a square—are used throughout the paintings. The triangle represents the mountains and sharp trees, while the circle represents the sun and moon. Every Warli artwork has a square as its main subject, which represents a sacred site or area of land. A cow dung paste is applied on the mud walls first, and then gheru (red dirt) is applied. Paintings of hunting, dancing, and agricultural scenes, as well as geometric patterns of trees, birds, and other creatures, are done with wooden sticks as brushes. When celebrating events like birthdays or marriages, Warlis decorate their homes with these images.

One of Gujarat's noteworthy artistic expressions is their tribal art.

<u>Maharashtra</u>

The sheer variety of traditional arts and crafts produced in Maharashtra demonstrates the depth of the state's cultural legacy. The options for buyers are endless, from exquisite fabrics and saris to the famous Warli mural paintings and Kohlapur's leather goods and exquisite jewellery. Originally from the Indian state of Maharashtra (Mahamunkar & Tulshyan, 2021)**, this tribal art is well-known for its simple wall paintings. It is among the best examples of folk art. This uses basic geometrical shapes including the square, circle, and triangle. On a background of dark red, these paintings are carved in white (with a bamboo brush). The picture features images from everyday life, including dancing, fishing, farming, festivals, and other activities.**

The Paithani Paintings : It is recognised as the Chitrakatha Community's Rich Story telling. This nomadic group uses vibrant paintings on leaves to portray tales from the Puranas, mythological mythology, and local traditions. At least 20 paintings, or "chitras," representing a single tale are collected in a pothi. The stories in the paithani paintings, or chitrakatha, differ according to the location the storyteller is from, and they frequently resemble puppets, particularly in terms of their expressions. In the Konkan region, Chitrakathi is frequently performed on important days; the oral histories are drawn from epics like the Ramayana, Mahabharata, and Puranas.

Garodi Community : The Garodis, also known as the Garodiya, are primarily found in Belgaum, Kolhapur, Sangli, Pune, and Miraj in northern Karnataka and Maharashtra. They are a nomadic group of snake charmers and jugglers who were once Scheduled Castes but have subsequently become Muslims.

Bahurupi Community : The community named Bahurupi, which means "various appearances," is the epitome of adaptability. The

artists there effortlessly changed their veshas, or outward appearances, mannerisms, and speech patterns to play out their characters along the road or at intersections. In the past, their performances were rife with melodrama, inflated speech, and entertaining social satire.

Warli Art : Most of these paintings are constructed (Meenu Shrivastava, 2019) around squares, or "chauks," which come in two varieties: lagnachauks and devchauks, the latter of which contains the goddess "palaghata," a symbol of fertility. The walls of the huts, which were constructed of branches, dirt, and cow dung, were typically painted with Warli artwork. Bamboo sticks with the ends chewed were used as brushes to paint these walls with a white pigment made of a rice paste and water mixture with gum to glue it together.

The Gond Community's Digna Art : The Gond community, which is dispersed throughout the Deccan peninsula, is one of the most diverse communities in South Asia, and the Gondi have an extraordinary sense of aesthetics. According to the creation story of the Gond people (Sodhi, 2016), the god Badadev created the earth and every living thing that lives on it. The interior and exterior walls of Gond houses are frequently elegantly decorated with bhittichitra, a combination of animals, flowers, and leaves, painted with handcrafted brushes made of neem or babul twigs, and a rag.

They display their creativity through the gudna, or tattoos, which are drawings of the sun, moon, and other natural elements on various body regions. These tattoos are thought to follow the wearer into the afterlife and beyond. The Gond ladies also have a unique sense of style when it comes to clothing; historically, they don't wear blouses, and their saris are draped differently. Additionally, they typically wear different kinds of hamshi, or necklaces.

The Potraj-Worship Tribe & Self-Flagellation (Kadak Laxmi): The Maharashtrian nomadic clan of Potraj worships a goddess known as "Kadak Lakshmi." The men dance and swirl to the beats while flagellating themselves with large, knotted whips made of jute, leather, or woven coir. The women mount their deities on a little platform perched on their heads and play the dhol. If you've ever witnessed one of these public performances, you certainly remember the thunderous sound the whips create as they land on their backs. The whips often weigh approximately 10 kilogrammes each. The Potraj community is nomadic, moving from city to city, and its members frequently live on the meagre wages they receive and the severe conditions they encounter while travelling.

This region has a very rich tribal art and culture.

<u>Orissa</u>

Orissa is primarily a tribally populated area. Although there are sixty-two tribes living there, just a dozen or so have a significant influence due to their size, numerical dominance, and unique cultural traits. We must investigate how their art manifested itself in many contexts, such as religion, social activity, belief, etc to determine the primitive nature of their cultural presentations in art. A tribe's religious practises are a striking example of how primitive they are because supernatural awe prevents them from changing.

There are numerous kinds of tribal paintings from Odisha that are still in existence, some of them are included below:

<u>Saura Painting</u>: Drawn upon the beliefs (Sambhani & Tewari, 2021) of tribal myths and ritualistic significance, the Saura wall paintings are also called italons or ikons. Ikons areprepared by extensive use of symbolic icons,

which mirror the quotidian responsibilities of the Sauras.

Painting of Kondh Community: Khonds wall paintings are called as 'Manji Gunda'. Tikangkuda's considered as a very effortless painting of Kutia Khond. Kutia Khonds and Dongria Kondhs are the subgroups among these community.

Painting of Kissans: These paintings signifysamlai deity and portray the signs of agricultural movement. The paintings of tribal humanity Paudi Bhuyan are known as "Jhanjira." Their attention to detail is especially keen when it comes to agriculture, which is seen in many of their works of art.

Painting of Juang: Juang village's wall murals feature flowers, animals, and birds. The Santhal culture does not have any paintings, but instead uses coloured mud to clean the walls and veranda of their homes.

Odisha's tribal arts and textiles can assist tribal livelihoods and have economic worth. Their tribal & folk art is exhibited in numerous ways of decorations which include tobacco boxes, combs, jewellery, musical tools, woodcarvings, head band, etc.

Assam

The people of Assam have a diverse ethnic mix of Aryan, Indo-Iranian, Indo-Burmese, and Mongolian descent. Most of the tribes (Geetashree Bori & Rupjyoti M. Neog, 2017) of Assam's steep terrain are descended from Mongolians. All these ethnicities are represented in the rich and unique fabric of Assamese culture, which has developed during a protracted assimilation process.

The Dimasa Tribe: The males carry a Sgaopha or a Phagri, which is significant to them as a badge of pride, in their name. While the grooms may also wear a white Sgaopha with red thread, it is often green or yellow in hue. They both Risha and Gainthao carry a small, variable-length silencer called rigdo. However, women's clothing is beautiful. They dress in Rigu, an item of clothing that is longer than Mekela and made of a more common material. Bathormai, which resembles a single-design version of a rigu and is worn in the summer, is comparable to rigu. Young ladies wear rijamphain, which is a white garment. Although their clothing is delicate, they handle themselves elegantly.

The Bodo Tribe: The men of this tribe (Nirada Baro, 2016) often cover their lower bodies with gamosa and their upper bodies with regular shirts and wear unique footwear named as "Khorom," which is constructed by wood. The women also dress themselves very distinct. They wear Dokhna, a garment very similar to a dress that runs all the way from the breast to the ankles, it is designed to ensure that just one body wrap is possible before it is secured around the waist. This Dokhna is constructed with Agor and a variety of vibrant hues. Without an Agor, a Dhokna is referred to as Salamatha which is a wedding gown. The natives have honed the technique of creating beautiful, exquisite clothing made from Eri fibres.

The Missing Tribe : Gonru Ugon dhotis are worn by the men of the specific tribe. They wear a garment like a shirt on their upper torso that is called Mibu Galuk. They also have the extremely important Gamosa Dumer. The women's fashion, on the other hand, is not particular. They dress themselves in "Yakan Age-Gasa," a black Mekhela Chador.

The Rabha Tribe: The members of this tribe diligently adhere to their customs, and they dress in a very distinctive way. The guys often choose a long Gamosa and a white dhoti. The Koum Kontong, (Geetashree Bori & Rupjyoti M. Neog, 2017) a skirt-like cloth with stunning tribal designs that is wonderfully crafted, is worn by the women. They use a kambang to covers

the top torso. The belt or Kamarb and that goes with this ensemble is made from lovely Labok shells and pearls, and it looks chic on the wearer.

The North east is a mysterious region with untold stories, distinctive styles, and unknown customs. It is also a place of wonder and enchantment. The exquisite stitching and designs on the cloth each have a unique narrative to tell, which can only be learned by exploring this magnificent realm of fantasy.

3. Studies related to Amalgamation and fusion of tribal art in Textiles:

Ekta Sharma (E. Sharma et al., 2014) attempted to introduce the fusion designs of two folk paintings i.e., 'Madhubani' and 'Warli'. New fusion designs have developed by integrating designs from the plethora of collections of "Madhubani" and "Warli" paintings. She had tried to disclose to the public the undiscovered treasures, the light of day by presenting the new avenues to transform them to Design.

The researchers (Gupta & Gangwar, 2016) used traditional motifs of Madhubani painting and attempted to apply them through hand painting on textile articles like cushion cover, folders and table covers. For applying on borders and centre designs of various articles, the motifs were modified, and 36 design sample were created. These initiatives may inspire people to pick up and improve their regional crafts.

The researchers (Negi, 2017) considered an increasing concern for textile waste build-up on earth and recognized the tribal folk painting "Aipan" as a source of rich designs for textile surface enrichment, so they planned their study to develop green fashion products (bags in this case) using discarded textile materials and their surface enrichment with aipan motif through appliqué technique.

This study (Saxena, 2017) throws light on endeavours of government agencies/ institutions to bring back Gond paintings to life and lift the conditions of the artisans associated with this art. Through this study she wants to disclose a training program run by the National Institute of Fashion Technology, Bhopal that focus on training the women of Dindori district to preserve the tribal artforms in its original form and expand their artefact collections. New products like shirt, kurta, scarf, dupatta, top, tunic, stole, shrug have been presented for todays educated customer. Making these ladies financially independent was another goal of this.

The researchers (Bora, 2017) selected screen-printing method to apply gond painting motifs/designs on apparel as an effort to revive this age-old art. According to their study "apparel is one thing which people usually change very fast use by using various motifs designing can be done on apparel in order keep alive motifs of gond painting and also enhance the income of artisans". For use on clothing, they blended Gond painting motifs with screen printing. The produced items (stole and kurtis) are an effort to revitalise Indian tribal arts through modernization and technological development.

The researcher (Shwetha, 2017) undertook this study to revive Rogan painting through their application on reversible jackets. Her primary intention was to create a reversible jacket for women between the ages of 25 and 35 by replicating Rogan paintings using fabric liners on denim. The reversible jacket was manufactured, according to their market study report, is widely embraced by the market. Approximately 95% of respondents valued the effort and approved for restoring the Rogan art on reversible jackets made of waterproof and denim fabric.

The researcher (Negi, 2017) intended

to use tie and dye technique with Aipan motifs for product development. While choosing motifs, care was taken to ensure that the tie-dye technique wouldn't damage the original pattern or design. Utilising computer-aided design (Coral Draw software), textile items were created. From the ten chosen motifs, two designs or motifs were merged to create a design combination. Five designs—a bed sheet, a cushion cover, a bolster cover, a stole, and a bag—were created as a result. Again, through the design of textile products, Aipan tribal art was being preserved in this study.

The researchers (Saikrishnan, 2018) took inspiration from paintings like saura, patachithra, gond and mural painting. They used block, screen, and hand painting to insert motifs in specific places on woven and knitted clothing. Products such as kurtas, stoles, t-shirt swag bags, purses, pillow covers, and wrap-around skirts were created. According to their findings, the customer demand was leaning more towards the fusion of ethnic and modern style apparel. The niche market segment of fashion product development and the garment retail industry would have a good and bigger opportunity for new inventive folk-art products.

The researcher (Singh, 2018) started with a concept to bring necessary alterations in Kalamkari prints to adapt it with for the present-day generation, market conditions and keeping it in tune with the current trends. The initial approach was not changed. It was discovered that the prices of the currently available kalamkari products were prohibitive for youths, designs were created specifically for youths while keeping prices low. To achieve this, she only used two or three colours, as adding more colours and requiring more detailing increases the cost of the finished products. This will help open new opportunities for our art form by educating them about the magnificence of our extensive cultural past.

The researchers (Shrivastava, 2019) found out the possibility of bringing about adaptation in religious art of Mandala painting. They modified mandala painting motifs for printing and discovered that they could be used on clothing, home goods, and other textile products. There are various other printing methods that can be employed. The investigation concluded that using mandalas from traditional folk art for application on textile surfaces is feasible.

(Tiwari, 2020) raises concerns that the newer generation of the families involved in Pichwai paintings don't want to continue their family profession because they do not receive proper remuneration for such labour-intensive job. This study presents the different initiatives taken by well-known designers like Anita Dongre, Prashant, and Neeta Lulla to incorporate these artworks into the creation of jewellery, clothing, and other fashion accessories. Anita Dongre's bridal dress collection, which features floral patterns from Pichwai Paintings, was also highlighted in the renowned Vogue Magazine.

The researchers (Babel, 2020) prepared cushion designs inspired from Rajasthan Sanjhi painting motifs. Researchers claim that "Sanjhi is traditional art used during the pirtapaksh at the doorsteps for the worship of the ancestors" Art silk was chosen as the base material for the design and development of the domestic item. By applying the coral draw software, patterns were created taking Sanjhi themes as inspiration.

4. Conclusion :

India is distinguished by its incredibly rich legacy of tribal arts and culture. Tribal art has played a crucial role in preserving the cultural heritage of various indigenous communities in India, while also contributing significantly to the country's economy. But because of modernization, the perceptions,

thoughts, eating habits, daily lifestyles, clothing, holidays, rules and rituals, eco-friendly, nature-related culture, etc of the tribal people are degrading. In the long run, there is a risk that tribal customs and distinctiveness would be lost as modernization enters tribal lifestyle.

Considering the current position in the domestic and international art markets, further promotion of these artforms in new avatar is mandatory. The new avatar can be achieved by amalgamation of tribal art with different traditional textiles without losing its original flavour. As this paper has presented various works done in this direction, we need to promote this techniqueto create a new plethora of design that can revolutionizes the design community.

References :

Anjali Khot. (2021). THE CREATIVE TRIBAL BHIL ART OF INDIA – NEED TO BE FOCUS. *International Journal of Textile and Fashion Technology (IJTFT)*, *11*(2), 1–8.

Babel, S. , & S. L. (2020). Designing Cushions Picking Inspiration from Traditional Folk Painting: Sanjhi. *International Journal of Science and Research*, *9*(1), 1106–1108.

Bhandari V. (2005). *Costumes, Textiles And Jewellery Of India: Traditions in Rajasthan*. 171–175.

Bharadwaj, K., & Ukande, A. (2014). COLORS IN GOND TRIBAL ART: AN INTERPRETATION AND CRITICAL EVALUATION OF COLORS IN GOND PAINTINGS OF MADHYA PRADESH. *International Journal of Research - GRANTHAALAYAH*, *2*(3SE). https://doi.org/10.29121/granthaalayah.v2.i3se.2014.3514

Bora, S. , & S. (2017). Designing of apparel using traditional gond painting motif. *International Journal of Home Science*, *3*(1), 304–309.

Cotton Mather, E., & Karan, P. P. (2019). The geography of folk art in india. In *India: Cultural Patterns and Processes*. https://doi.org/10.4324/9780429048678-9

Dhiman, V. K., Bandyopadhyay, B., Singh, J., Kumar, A., & Chaudhary, A. (2022). Himachal Pradesh's Gaddi Tribe: A Socio-Cultural Study. *ECS Transactions*, *107*(1). https://doi.org/10.1149/10701.10061ecst

Dizaji, F. M. (2017a). The Indian Tribal Art Market. *Journal of Social and Development Sciences*, *7*(4(S)). https://doi.org/10.22610/jsds.v7i4(s).1501

Dizaji, F. M. (2017b). The Indian Tribal Art Market. *Journal of Social and Development Sciences*, *7*(4(S)). https://doi.org/10.22610/jsds.v7i4(s).1501

Dr. K. Mrutyunjaya Rao. (2022). WARLI PAINTING: AESTHETICS OF INDIGENOUS ART FORM OF INDIA. *ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts*.

Geetashree Bori & Rupjyoti M. Neog. (2017). Emerging Trends in Woven Textile Fabrics Designs of Tribal Mising Community in Assam. *International Journal of Applied and Natural Sciences (IJANS)*, *6*(5).

Gupta, M., & Gangwar, S. (2016). ADAPTATION OF DESIGNS FOR TEXTILE PRODUCTS INSPIRED FROM MADHUBANI PAINTING. *International Journal of Research -GRANTHAALAYAH*, *4*(5). https://doi.org/10.29121/granthaalayah.v4.i5.2016.2687

J Jaitley. (1990). *The craft traditions of India*, .

Kapoor, A., Kanwar, P., & Sharma, N. (2008). Handicrafts heritage of Gaddi tribe of Himachal Pradesh. *Indian Journal of Traditional Knowledge*, *7*(1).

Lepcha, S. R., Gurung, R., &Arrawatia, M. L. (2012). Traditional Lepcha craft Sumok-thyaktuk (Lepcha Hat) and its conservation in Dzongu Tribal Reserved Area (DTRA), Sikkim, India. *Indian Journal of Traditional Knowledge*, *11*(3).

Mahamunkar, K., & Tulshyan, A. (2021). Amalgamation of art and fashion for product development. *International Journal of Home Science*, *7*(1), 12-16. https://doi.org/10.22271/23957476.2021.v7.i1a.1100

Meenu Shrivastava. (2019). *Warli art-A reflection of tribal culture of Maharashtra*.

Negi, M. , R. A. , B. R. , & S. A. (2017). New perspective in textile designing with aipan design through tie and dye technique. In T. Gupta, P. B. Mistry, & B. S. Gupta (Eds.), *.A Treatise on Recent Trends and Sustainability in Crafts & Design*, 167–175.

Nirada Baro. (2016). Tradition and Change of the Arts and Crafts of the Bodo Tribes of Assam: A Study. *International Research Journal of Interdisciplinary & Multidisciplinary Studies (IRJIMS)*, *II*(XI).

Poonam Gandhi. (2013). Tribal Art and Development: An Exploration of Pithora Art of Gujarat. *GRA - GLOBAL RESEARCH ANALYSIS*, *II*(II).

Richa. (2003). Anthropological reflections on imaging of women in Folkart and Folklore - An analysis of Himachal Pradesh. *Man in India*, *83*(3–4).

Saikrishnan, A. N. , & C. V. (2018). *Fashion Products Development by Inspirtion of Indian Folk Art and Craft Designs*. Https://Textilevaluechain.in/2018/06/22/Fashion-Products-Development-by-Inspiration-of-Indian-Folk-Art-and-Craft-Designs/.

Sambhani, R., & Tewari, S. (2021). Dots and Lines: Indian Folk and Tribal Art Inspired Activities for Kids. *Smart Innovation, Systems and Technologies*, *221*. https://doi.org/10.1007/978-981-16-0041-8_58

Saxena, A. (2017). An Account Of Dots And Lines – The Gond Tribal Art Of Madhya Pradesh, Their Tradition, Relevance And Sustainability In Contemporary Design Domain. *Indian Journal of Current Research*, 61128–61135.

Sharma, A., & Sharma, P. (2009). Handloom Weaving — State of Art of Tribes of Kullu Valley, Himachal Pradesh, India. *Studies of Tribes and Tribals*, *7*(2). https://doi.org/10.1080/0972639x.2009.11886601

Sharma, E. (2015). Tribal folk arts of India. *Journal of International Academic Research for Multidisciplinary*, *3*(5).

Sharma, E., Paul, S., & Sheikh, S. (2014). Fusion of Indian folk arts Madhubani and Warli for designing of apparels using CAD. *Eduved International Journal of Interdisciplinary Research ,1* (8).

Shikha kala, Dr. S. babel. (2018). Development of rajasthani folk motifs and its variations with computer aided designing. *Nternational Journal of Advances in Agricultural Science and Technology*, *5*(11), 43–51.

Shrivastava, N. , G. A. , & R. S. (2019). Adaptation of mandala art for development of design suitable for textile articles. *International Journal of Home Science*, *5*(3), 1–4.

Shwetha, R. G. (2017). Revival and Application of Rogan Painting on Waterproof Reversible Denim Jackets. *International Journal of Creative Research Thoughts*, *5*(4), 1890–1905.

Singh, S. (2018). Study of Hand Painted Kalamkari to Design New Motifs. *INTERNATIONAL JOURNAL OF COMPUTER APPLICATION*, *2*(8). https://doi.org/10.26808/rs.ca.i8v2.03

Sodhi, S. A. N. Y. (2016). Development of Designs by Adaptation of Warli Painting Motifs. *INTERNATIONAL JOURNAL OF SCIENTIFIC RESEARCH*, *5*(3), 179–181.

Tiwari, S. (2020). Design Intervention & Craft Revival with Reference to Pichwai Paintings: A Contemporise Approach. *Journal of Textile Science & Fashion Technology*, *6*(1). https://doi.org/10.33552/jtsft.2020.06.000628

Viswanadha Gupta, P. (2018). Tribal Development in India-Status and Strategies. *International Journal of African and Asian Studies Www.Iiste.Org ISSN*, *48*(March 2018).

पंजाब की प्रसिद्ध लोक कला 'फुलकारी'

डॉ. कमल जीत सिंह*

सारांश

कला मानवीय अन्तःकरण में अव्यक्त विचार को प्रस्तुत करने का प्रधान साधन रही है। शब्द प्रस्फुटन से पूर्व भी मनुष्य कलाओं के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता था। पंजाब आरम्भ से ही साहित्य, संस्कृति, संस्कार एवं कलाओं के लिए विश्वविश्रुत रहा है। पंजाब की लोकप्रसिद्ध लोक संस्कृत की लोक कला 'फुलकारी' अद्वितीय कला रही है। यह कला आज के समय में जीविकोपार्जन में भी बड़ी भूमिका रखती है। फुलकारी कला की अपनी विशेषताएँ है जिसके कारण इसकी पहचान होती है। फुलकारी कला में मुख्य रूप से नक्काशी और कढाई की जाती है। इसमें धागों का उपयोग कर चमकदार नक्काशी की जाती है जो फूलों, पत्तियों और अन्य ज्यामितीय आकृतियों को बनाती है। फुलकारी में फूलों का डिजाइन महत्वपूर्ण होता है। फूलों की आकृति, रंग, और प्रतिष्ठा के माध्यम से इस कला को खूबसूरत बनाया जाता है। यह 'फुलकारी' कला को पंजाबी खासियत देता है। फुलकारी कला अपनी परंपरागत डिजाइनों के लिए मशहूर है। इसमें पंजाबी संस्कृति और लोक तत्त्व दिखाई देते हैं। यह डिजाइन फुलकारी कला को अन्य कलाओं से अलग और पहचाने जाने वाली बनाता है। फुलकारी कला को गहन रूप में यहाँ प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द– *पंजाब, लोक, कला, संस्कृति, फुलकारी, नक्काशी*

शोध प्रविधि– *इस शोध–पत्र के लिए द्वितीयक माध्यमों से सहायता ली गई है ।*

प्रस्तावना–

प्राचीन काल से ही लोकधारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हम तक पहुँचती चली आ रही है। इसमें लोक साहित्य, लोकसंस्कृति, रीति–रिवाज, लोक मान्यताएँ, लोक मनोरंजन, लोक धंधे, लोक नृत्य, लोक नाट्य, चित्रकला, मूर्तिकला, एवं अन्य लोक कलाएँ प्रमुख हैं। इस लेख में हमारा प्रमुख उद्देश्य लोक कला का अध्ययन और संश्लेषण करना है। लोक कला का जन्म मानवीय गतिविधियों के प्रति समर्पण सरलता और कलात्मक गुणवत्ता से हुआ है। वह कला जो समान परम्परा वाली संस्कृति के लोगों के समूह की भावनाओं को अभिव्यक्त करती हो और विरासत में मिली हो, लोक कला कहलाती है। इसकी सरलता और सहजता ही इसकी विशिष्ट विशेषताएँ हैं। पंजाब की लोक कला निरन्तर बदलती या परिवर्तित होती रहती है, परन्तु फिर भी यह सदैव संवेदनशील, सरल एवं मानवीय गुणों से परिपूर्ण रही है। पंजाब की लोक कला की भी यही विशेषता है, जिसमें प्रयुक्त सामग्री द्वारा अपने ही परिवेश की शिक्षा प्राप्त करना है। जब भी लोक कला में ऐसी सरल वस्तुओं का उपयोग किया जाता है तो यह पंजाब की लोक कला की गौरवशाली उत्कृष्टता को दर्शाने का कार्य करता है।

फुलकारी कला

पंजाबी लोक कला का क्षेत्र बहुत विशाल है। लोक कला के क्षेत्र में मिट्टी, लकड़ी, मूर्तियाँ, रंगीन कागज के फूल आदि आमतौर पर देखे जा सकते हैं। इसमें दीवार पर की गई चित्रकारी, सोने के आभूषण और मिट्टी के आभूषणों पर की गई नक्काशी या मीनाकारी अपने आप में बहत कुछ कहती है। पंजाब में लोक कला घरों का बहुत ही खूबसूरत श्रृंगार है। मनुष्य जन्म से ही अपनी सुंदरता के लिए उत्सुक रहता है और लोक कला उसकी इसी चाहत को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह लोक कला बहुत ही सहजता से चलती है। मानव जीवन के हर श्रृंगार में लोक कला घरों में उपयोग में आने वाली वस्तुओं में अपना खुद स्थान पाती है। उदाहरण के लिए, फुलकारी, कालीन, गलीचे और पर्दे, लकड़ी की वस्तुओं में कलाकृति या नक्काशी, गहनों के विभिन्न डिजाइन, मिट्टी के बर्तनों में रंग और फूलों के पैर्टन, दीवारों पर बेल–बूटे और देवी–देवताओं के चित्र आदि,

*सहायक प्रोफेसर, दयाल सिंह कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), लोधी रोड, नई दिल्ली

मानव जीवन में संतुष्ट एवं चार चाँद लगाते हैं। लोक कला के अन्तर्गत रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिए जो भी चीजें बनाई गईं, वह कलाएँ और अधिक परिष्कृत होती गई और ये लोक कलाएँ कई रूपों और शैलियों में फलने–फूलने लगीं। पंजाब की लोक कला की पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो इसके कई अवशेष हड़प्पा और रोपड़ की खुदाई में देखे जा सकते हैं। इनमें घर की सजावट के लिए मिट्टी के बर्तनों और खिलौनों आदि का उपयोग देखा जा सकता है। यह अद्‌भुत लोक कला मिट्टी की बनावट कला के साथ मानव मन की भावनाओं को व्यक्त करती है। पंजाब में मूर्तिकला के अन्तर्गत गांधार शैली बहुत ही लोकप्रिय है। इस लोक शैली को बौद्ध काल में यूनानी और ईरानी शैलियों के प्रभाव से परिष्कृत किया गया। इस शैली के अन्तर्गत मूर्तियों के डिजाइन और अंगों की नक्कशी को बहत सुंदर रूप दिया जाता है। इस शैली की कुछ कलाकृतियाँ लाहौर और पेशावर के संग्रहालयों में मौजूद हैं।

पंजाब की कला में महिलाओं की विशेष रुचि आभूषणों और कढ़ाई वाले कपडों में रही है। यह कला उनके गहनों में चार चांद लगाने का काम करती रही है। इस लोक कला के अन्तर्गत शरीर के अंगों की सुन्दरता के लिए आभूषणों की एक बहुत ही सुन्दर जमात मौजूद है। हालाँकि यह लोक कला अपने आप में बहत लोकप्रिय और समृद्ध है, लेकिन सफर भी इसमें अक्सर बदलाव और सुधार की गुंजाइश बनी रहती है। भारत में मुसलमानों के आगमन के पहले, इन आभूषणों पर चंद्रमा, सूर्य और देवताओं की छाप देखी जाती थी। लेकिन चूंकि मुसलमान इस तरह के चलन के विरोधी थे, इसलिए इन आभूषणों पर बेल और फूलों ने जगह ले ली। इस प्रकार पंजाब की लोक कला पर भी बाहर के प्रभावों का असर पड़ा। हालॉकि, पंजाब की ये लोक कलाएँ किसी विशेष वर्ग या धर्म की कला नहीं हैं, बल्कि यह वहाँ रहने वाले लोगों और उनके द्वारा अपनाई गई जीवन शैली की ही अभिव्यक्त हैं।

जब हम लोक कला शब्द का विश्लेषण करते हैं तो यह Folk + Art के रूप में हमारे सामने आता है। स्पष्ट है कि Folk का अर्थ है लोक और Art का अर्थ है कला। भारतीय परम्परा में कला को भी इबादत माना गया है। लोक कलाएँ लोक संस्कृति में इस प्रकार गूँथी हुई हैं कि उन्हें अलग–अलग देखना बहत कठिन कार्य है। यह लोक कलाएँ जीवन को खूबसूरती से जीने का मार्ग दर्शन देते हैं। उदाहरण के लिए, घरेलू सामान, दीवारें, आभूषण, कपड़े, बर्तन आदि। लोक कला को परिभाषित करते हए डॉ. सोहिन्दर सिंह बेदी अपनी पुस्तक में लिखते हैं:–

"लोक कला, जीवन की जरूरतों से पैदा होने के कारण, लोगों के जीवन और संस्कृति के अनुरूप है। इसका आकर्षण और स्वभाव जाति की कलात्मक रुचियों का प्रतिबिंब है। लोक कला, गाँव के लोगों की अंतरतम इच्छाओं, भावनाओं और अनुभवों की स्वाभाविक अभिव्यक्त है और इसमें सदियों से चली आ रही कला–रुचियाँ सहज भाव से पनपती रही हैं।"[1]

पजाब की लोक कलाओं में से एक चर्चित एवं प्रसिद्ध लोक कला 'फुलकारी' है। 'फुलकारी' को पंजाब की महिलाओं ने बहुत ही प्रफुल्लित किया है। यह अपने आप में एक बहत ही खूबसूरत और आकर्षित करने वाली कला है। फुलकारी लोक कला में मोह और अपनेपन के भाव साफ तौर पर देखने को मिलते है। फुलकारी को बेटियों की शादी में विशेष रूप से बड़े ही चाव से दिया जाता है। फुलकारी पर प्रकाश डालते हए डॉ. जीत सिंह जोशी अपनी पुस्तक में लिखते हैं–

"फुलकारी' शब्द फूल और कारी से बना है। जिसका अर्थ है फूलों का कसाब यानी फूल लगाना, कढाई या फूलों की तरह सजाना । कढाई किए हए कपड़ों के लिए 'फुलकारी' शब्द रूढ़ हो गया है।"[2]

'फुलकारी' के अर्थ, विकास और इसके ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में जानकारी देते हए डॉ. जीत सिंह जोशी अपनी पुस्तक में लिखते हैं–

"फुलकारी की कला के विकास को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वाले विद्वानों का कहना है कि कश्मीर में रहने वाले ईरानी मुसलमान इस कला को अपने साथ लाए थे। ईरानी लोग इसे 'गुलकारी' कहते थे। ईरानी में 'गुलकारी' का वही अर्थ है जो पंजाबी में फुलकारी का है।"[3]

पंजाब की लोक कलाओं में कढ़ाई, बुनाई और छपाई जैसी समृद्ध कलाएँ बहत प्रसिद्ध हैं। इसमें पंजाब की स्त्रियाँ अपने हुनर के जरिए अपनी खूबसूरत कला का प्रदर्शन करती हैं। यह फुलकारी ही है जिसे हमारी लोक

कला की प्राणवायु कहा जा सकता है। फुलकारी खद्दर के ऊपर रेशम के सुनहरे पीले धागों से बनाई जाती है। वैसे भी यह फुलकारी से भाव फूलों की कढ़ाई करना ही है। फुलकारी में रंगों का चयन और डिजाइन तथा उसकी संरचना बहुत ही परिष्कृत और भव्यता के साथ की जाती है। जैसा कि पहले बताया गया है, इसके लिए खद्दर के कपड़े और महीन रेशमी धागे का उपयोग किया जाता है। यह कढ़ाई कपड़े के पीछे की तरफ की जाती है। फुलकारी में बेल–बूटे, पौधे और फूलों की कढ़ाई करने से यह फुलकारी अपने आप में फूलों की तरह महकने लगती है। फुलकारी के कुछ प्रकार के रूप में चोप, शुभर, सतल पत्रा, नीलक, घूंगड़ बाग और छपास आदि को देखा जा सकता है। फुलकारी लोक कला पंजाब में बहुत ही विकसित हुई है और इसने काफी लोकप्रियता भी हासिल की है। फुलकारी के लिए खद्दर का कपडा ढाई गज लम्बा और डेढ़ गज चौड़ा होता है लेकिन इसे जरूरत के हिसाब से बढाया या घटाया जा सकता है। इसकी खूबसूरत कढ़ाई कई बार कपड़े से भी ज्यादा खूबसूरत लगती है।

फुलकारी लोक कला का निखार कई रूपों और शैलियों में होता आया है। इन रूपों में बाग, चोप और शुभर आदि प्रमुख हैं। बाग के अन्तर्गत कपड़े पर फुलकारी निकालकर कपड़े की सतह पर कोई जगह छोड़े बिना कढ़ाई की जाती है। इसमें अधिकांश प्राकृतिक रूपांकनों जैसे फूल और पौधे की कढ़ाई की जाती है। चोप के अन्तर्गत केवल पल्ले के ऊपर ही कढाई की जाती है। वहीं, शुभर के अन्तर्गत कपड़े के ऊपर जगह छोड़कर कढाई करने का भी चलन है। विवाह के अवसर पर जब 'नानकी छक्क' दी जाती है तो शगुन के तहत इसमें शुभर और चोप की फुलकारियाँ दी जाती हैं।

फुलकारी लोक कला पंजाब की नदियों की खुश्बू और पंजाबियों के अमीर स्वभाव को चित्रित करती है। फुलकारी अपने आप में एक उत्कृष्ट संस्कृति और दृश्यों का प्रतिनिधित्व करती है। फुलकारी की कढाई करते समय महिलाएँ आमतौर पर एक साथ बैठती हैं और इसके साथ कोई–न–कोई गीत भी छेड़ लेती हैं। इसके साथ ही, उनकी भावनाएँ भी इस कला में उकेरी चली जाती हैं। ऐसी स्थिति का चित्रण करते हए डॉ. सोहिन्दर सिंह बेदी अपनी पुस्तक में लिखते हैं– "पंजाबनो ने अपने खाली समय को कुर्बान कर इस कला को बड़े जुनून और चाव के साथ पोषित किया है। फुलकारी उनके लिए धर्म–साधना रही है। यह शुद्ध और सच्ची लोक कला है, जिसके एक–एक धागे में उन्होंने अपनी भावनाओं को पिरोया है और प्रेम को रचा है। फुलकारी की कढ़ाई करने में लंबे धैर्य और हुब की जरूरत होती है, तभी तंदों में जान धड़कती है।"[4]

पंजाब की लोक कला के अन्तर्गत में फुलकारी के साथ–साथ रूमाल पर भी ऐसी कढ़ाई की जाती है। इस कला का सबसे अच्छा प्रमाण डेरा बाबा नानक में मौजूद है, जहां गुरु नानक देव की बहन बेबे नानकी द्वारा हाथ से कढ़ाई किया हुआ एक रूमाल मौजूद है।

पंजाब की लोक कला के अन्तर्गत इस प्रकार की कला की प्रस्तुति के माध्यम से सम्पूर्ण लोगों की भावनाओं और समृद्ध सोच की अभिव्यक्त आसानी से देखी जा सकती है। इस माध्यम द्वारा उनके रहन–सहन, रीति–रिवाजों, मान्यताओं आदि के बारे में भी जानकारी मिलती है। कढ़ाई शुरू करते समय सगुन के गीत भी गाए जाते हैं। पंजाबी लोकगीतों में भी कई जगह फुलकारी का जिक्र देखने को मिलता है। लोक कलाओं के ये उत्कृष्ट नमूने जीवन में आनंद और खुशिहाली लाते हैं। फुलकारी पर उकेरी गई इन लताओं या अन्य विभिन्न सजावटों को देखकर वहां के लोगों के आपसी मधुर सम्बन्धों की खुशबू महसूस की जा सकती है। यह खुशबू और सुन्दरता अपने आप में एक विशेष अर्थ रखती है। पंजाब की लोक कला का अपना एक विशेष महत्त्व है। यह जहां पंजाबी चरित्र को प्रस्तुत करता है, वहीं यह पंजाबी सुहानियों की भावनाओं को भी व्यक्त करता है। पंजाब की लोक कला की विशेषताओं के बारे में बात करने पर हमें पंजाब की लोक कला के समृद्ध गौरव के बारे में भी पता चलता है। ये लोक कलाएँ पीढ़ी–दर–पीढ़ी जीवित रहती हैं। उन्हीं राहों पर चलते हए ये हम तक पहुंचती हैं। लोक कलाओं में प्रयोग में लाई जाने वाली सामग्री पंजाबी सामाजिक संस्कृति के प्रसंगों की पेशकारी करती है लेकिन आजकल आधुनिकता के आगमन के साथ इन लोक कलाओं के चलन में कुछ कमी आई है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही मनुष्य कला को अपनी मानसिक संतुष्टि के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में उपयोग करता रहा

है। यह कला मनुष्य के लिए बहत आकर्षक होती है। इसके माध्यम से मनुष्य को अत्यधिक आनन्द भी मिलता है। इन लोक कलाओं से मनुष्य की प्राचीन परम्पराओं, ऐतिहासिक परिस्थितियों, मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। हालाँकि लोक कला–परम्परा पर ज्यादा मंथन नहीं हआ है, लेकिन फिर भी ये लोक कलाएँ अपने आप में महान, सुन्दर, अद्‌भुत और समृद्ध हैं।

निष्कर्ष :

अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पंजाबी लोक कला में फुलकारी का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। फुलकारी एक परंपरागत पंजाबी कढ़ाई कला है जिसमें रेशमी धागे का उपयोग करके भरी जाती है। यह एक नक्काशी या कढ़ाई वाली कला होती है। फुलकारी कला का महत्व पंजाबी सांस्कृतिक विरासत में महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से पंजाबी महिलाएँ अपने आपको सजावटी और परंपरागत रूप में व्यक्त करती हैं। यह उनके समृद्ध विवाह समारोहों, त्योहारों और अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। फुलकारी कला की विशेषता यह है कि इसमें मुख्य रूप से फूलों आदि की कढ़ाई का काम किया जाता है। इसके अलावा, फुलकारी कला पंजाबी सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा मानी जाती है और यह पंजाबी संगीत, गीत, और नृत्य के साथ एक मेल बनाती है। यह पंजाबी कला और संस्कृति की गरिमा और विविधता को दर्शाने में मदद करती है। फुलकारी कला न केवल पंजाबी संगठनों और शौकियों में लोकप्रिय है, बल्कि यह भारत और विदेशों में भी महिलाओं के बीच एक प्रमुख फैशन ट्रेंड बन गया है। इसके माध्यम से पंजाबी संगठनों और कला–प्रेमियों को सम्मानित किया जाता है और पंजाबी सांस्कृतिक विरासत को विश्व स्तर पर प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार, फुलकारी कला पंजाबी सांस्कृतिक विरासत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है जो पंजाबी महिलाओं की पहचान और समृद्धता को दर्शाती है। आज जीविका के क्षेत्र में इस कला का वैश्विक बाजार उपलब्ध है तथा रोजगार के अथाह अवसर इस कला में प्राप्त है।

सन्दर्भ सूची :

1. बेदी, सोहिन्दर सिंह, पंजाब दी लोकधारा, पृष्ठ–169
2. जोशी, डॉ. जीत सिंह, सभ्याचार अते लोकधारा दे मूल सरोकार, पृष्ठ–350
3. वहीं, पृष्ठ–351
4. बेदी, सोहिन्दर सिंह, पंजाब दी लोकधारा, पृष्ठ–174

सन्दर्भ–ग्रन्थ :

1. जोशी, डॉ. जीत सिंह, 'सभ्याचार अते लोकधारा दे मूल सरोकार', प्रकाशक– लाहौर बुक शॉप, लुधियाना, 2014
2. कैरों, जोगिंदर सिंह, 'पंजाबी साहित्य दा लोकधारायी पिछोकड', प्रकशक– पंजाबी अकादमी, दिल्ली, 2006
3. बेदी, सोहिन्दर सिंह, 'पंजाब दी लोकधारा', प्रकशक– नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2018
4. मठारू, डॉ. मनदीप कौर, 'पंजाबी लोकधारा विभिन्न परिपेख', प्रकाशक– रवि साहित्य प्रकाशन, अमृतसर, 2019
5. सोहल, डॉ. सरबजीत कौर, 'पंजाबी लोकधारा अते सभ्याचार वर्तमान चुनौतियाँ', प्रकाशक– ग्रेशियस बुक्स, पटियाला, 2019
6. पूनी, प्रोफेसर बलबीर सिंह, 'पंजाबी लोकधारा अते सभ्याचार', प्रकाशक– वारिस शाह फाउंडेशन, अमृसतर, 2012
7. डॉ. दरिया, 'पंजाबी लोकधारा अते सभ्याचार बदलदे परिपेख', प्रकाशक– रवि साहित्य प्रकाशन, अमृतसर, 2016
8. डॉ. दरिया, ''पंजाबी लोकधारा अध्ययन विभिन्न पासार'', प्रकाशक– रवि साहित्य प्रकाशन, अमृसतर, 2017

Cascading Whispers: Unveiling the Mellifluous Metaphor of the Slumbering River in When the River Sleeps - A Serendipitous Ecological Sojourn amidst Nature's Embrace.

Kanseng Shyam*

Abstract

Within the vast realm of literary expression, rivers have perpetually entwined themselves as omnipresent motifs, seamlessly interwoven into the intricate tapestry of human civilization. From the epic sagas penned by the illustrious Homer, where the ethereal currents of the Styx River reverberate, to the hauntingly enigmatic prose crafted by Joseph Conrad, wherein the profoundity of the Congo River is illuminated, these aqueous conduits have ascended to the status of potent protagonists, bearing the weight of human narratives upon their aqueous sinews. With masterful finesse, Easterine Kire adroitly navigates the beguiling waters of the riverine metaphor in her literary magnum opus, entitled When the River Sleeps, ushering forth an enthralling narrative that encapsulates the existential quest of a solitary hunter, relentlessly in pursuit of his ethereal riverine reverie. Imbued with an eloquent lyricality, Kire's narrative unfolds amidst the resplendent landscapes of the Naga Hills, where the harmonious convergence of awe-inspiring aesthetics and enigmatic riddles seamlessly interlace with the intricate tapestry of Naga culture. Anchoring the tale, Vilie, an Angami Naga hunter, plunges headlong into the wilderness, fervently embracing it as his enigmatic paramour. Entranced by the whispered legends of the somnolent river, Vilie embarks upon an arduous odyssey, ceaselessly traversing perilous terrain in pursuit of the fabled heart stone—a mystic relic shrouded in the river's abysmal depths. On this treacherous voyage, Vilie confronts an unyielding phalanx of natural and metaphysical tribulations, mirroring the tortuous trajectory of the very river he fervently seeks. Converging the sinuous trajectories of Vilie's sacrificial devotion with the ceaseless efflux of the riverine currents, 'When the River Sleeps' delves into the realms of selflessness, preservation, and the ethereal continuum of existence. Even in the throes of mortality, Vilie's spirit transcends the confines of corporeal limits, analogous to the relentless, unyielding current that navigates beyond its physical boundaries. This research endeavor endeavors to unravel the intricate semiotic significance ingrained within the riverine metaphor prevalent in Kire's literary masterpiece, meticulously disentangling the interplay between Vilie's treacherous pilgrimage, the metaphorical embodiment of the riverine entity, and the profound implications of sacrificial praxis. By plumb the unfathomable depths of Kire's resplendent prose, this scholastic inquiry illuminates the profound allure of rivers as metaphorical conduits within the vast expanse of literary expression, affording insight into the symbiotic interplay between mankind and the omnipotent forces of the natural world.

Keywords: *River, Naga Hills, pilgrimage, culture, voyage, tapestry etc.*

Research Methodology : *The selected research methodology integrates the principles of ecocriticism, amplifying our understanding of the profound significance of nature and the river as portrayed in Easterine Kire's When the River Sleeps. Ecocriticism, a critical lens rooted in environmental concerns, invites us to examine the intricate relationship between humans and the natural world. By employing ecocritical analysis, we delve deeper into the text, exploring how the Naga community's cohabitation with nature shapes their cultural practices, folklore, and customs. This approach illuminates the underlying ecological themes within the narrative, fostering a profound appreciation for the intrinsic value of nature and the river in shaping the lives of the characters and their broader cultural milieu.*

---

*Assistant Professor, English Department, N.N Saikia College, Assam

Introduction

Nature stands as an indispensable cornerstone upon which the very essence of culture flourishes. The symbiotic relationship between a culture and the natural world is paramount for its sustenance and survival. Such a profound interdependence is exemplified by the Naga community residing in the majestic Naga Hills, who have shared an intimate coexistence with nature since time immemorial. Uniquely, the river assumes a role of paramount importance, serving as their lifeblood unlike any other society across the globe. It intertwines itself intricately within their folklore, folksongs, superstitions, and customs, forming the nucleus of their existence. In the literary masterpiece titled *When the River Sleeps*, crafted by Easterine Kire, a visionary Naga poet and novelist, the author deftly weaves the strands of folklore with stark reality. Within the narrative, the protagonist Vilie embarks on a resolute quest to obtain a heart stone, which triggers a cascade of self-realizations and profound understandings. Initially, Vilie's sole purpose was to amass this coveted gem, yet in the course of his arduous journey, he unravels the profound significance embedded within the heart stone. It is through his encounters with Kani, Ate, and Zote that Vilie's perception of good and evil undergoes a profound transformation. As a result, Vilie's pilgrimage to the slumbering river culminates in his transcendence into an enlightened being. The essence of this discourse endeavors to unravel the profound significance of nature and the river as portrayed in Easterine Kire's *When the River Sleeps*.

Study Area

This study delves into the profound significance of nature and the river as depicted in Easterine Kire's novel, *When the River Sleeps*, through an ecocritical lens. By employing a multi-method approach encompassing qualitative and quantitative research methodologies, as well as a case study analysis, this research aims to uncover the intricate layers of understanding surrounding the Naga community's cohabitation with the natural world. The study seeks to explore the cultural practices, folklore, folksongs, superstitions, and customs of the Naga community, and how these intertwine with their relationship with nature and the river. Through an ecocritical perspective, this research aims to highlight the ecological themes within the narrative and foster a deeper appreciation for the intrinsic value of nature in shaping the lives and culture of the Naga community.

Discussion

Within the depths of Vilie's subconscious, reminiscent of the meandering passage of a majestic river, a profound transformation unfolded. In the captivating opening chapter entitled 'Walking Dreams,' Easterine Kire masterfully weaves a vivid tapestry of imagery and symbolism, as Vilie's nocturnal reverie unravels an extraordinary revelation (Kire 13). Immersed in the realm of slumber, Vilie found himself enmeshed in a vivid vision, where the dormant river stirred to life, mirroring his relentless quest for the elusive heart stone. However, the dream swiftly metamorphosed into a perilous ordeal as Vilie's feet approached the river's shore. In a crescendo of dramatic tension, the once calm waters surged and swelled, surpassing his waist, their forceful undercurrents ensnaring his legs and dragging him relentlessly into the watery depths. Vilie's struggles against the relentless torrent proved feeble, as the irresistible might of the rushing currents overwhelmed him. In the heart-pounding struggle for survival, Vilie's valiant attempts to breach the surface were thwarted, and a sense of suffocation gripped him. The burning ache in his lungs intensified, while his

mouth, yearning for precious air, became an unwilling receptacle for the very essence that engulfed him. The symphony of his muted screams faded into insignificance against the deafening roar of the river itself, drowning his pleas in its formidable presence. Yet, in the face of imminent darkness, Vilie's indomitable spirit refused to yield entirely to the consuming depths. Summoning a surge of unwavering determination, Vilie's limbs thrashed with ever-increasing desperation against the relentless currents, defying fate with a relentless defiance. In a primal instinctual cry, emanating from the core of his being, Vilie's guttural utterance resonated with the essence of his existence. And as if guided by a fortuitous hand, his outstretched palm collided with the solid edge of the riverbed, jolting him awake from the depths of the dream realm. In that crystalline moment of realization, the ephemeral nature of his nocturnal reverie was unveiled. Within the fabric of Easterine Kire's exquisite prose, Vilie's surreal encounter with the slumbering river transcends the boundaries of the dream realm, leaving an indelible imprint upon his consciousness. It is within these ethereal landscapes, where the line between reality and imagination blurs, that profound truths and enigmatic mysteries lie in wait, beckoning the intrepid seeker to unravel their secrets. In this mesmerizing narrative, Kire intertwines elements of dreamscape and reality, allowing Vilie's journey to serve as a metaphorical exploration of self-discovery and enlightenment. Through the transformative power of the river, Vilie's experience becomes a poignant allegory for the human quest for understanding and the revelation of deeper truths. The dream sequence encapsulates the inherent complexities of the human experience, reminding us that reality and perception often intertwine, illuminating profound insights and revelations. It invites readers to reflect on the enigmatic nature of dreams, their capacity to shape our perceptions, and the potential for self-realization that lies within these ethereal realms. By skillfully blending the realms of dreams and reality, Easterine Kire captivates readers, inviting them to embark on their own introspective journeys. Through Vilie's encounter with the sleeping river, readers are prompted to contemplate the transformative power of personal experiences, the interplay between conscious and subconscious realms, and the profound revelations that can emerge from the depths of our own being (Kire 13). Vilie's perception unveils the slumbering river's profound stillness, transforming the stones in its depths into potent charms. The audacious act of extracting a stone from this ethereal realm grants immeasurable blessings—cattle, companionship, warlike prowess, or hunting success. Thus, the river becomes a wellspring of untold power for Vilie. Spending a significant portion of his life amidst the forest, Vilie assumes the revered role of guardian, bestowed upon him by his clan—the protector of the gwi. Even the Forest Department recognizes his innate connection to the wilderness, appointing him as the official custodian of the elusive tragopan. In return, Vilie receives modest provisions and a stipend. Bound by a solemn vow of celibacy, Vilie once succumbed to love's embrace when he encountered Mechuseno, a tender-hearted maiden. Their affection blossomed amidst flower-plucking and tree-climbing, until nature's inscrutable elements tore them apart. Tragically, Mechuseno's fatal encounter with a mysterious figure while gathering herbs led to her untimely demise. Her family, inconsolable, laid her to rest outside the village, weeping over her humble grave while endeavoring to find solace in their toil (Kire 16). Vilie considers the forest his devoted spouse, feeling the weight of unfaithfulness at the thought of leaving its embrace. He muses on the solitude that often characterizes relationships, comparing it to marriage. In a

Nepali settlement, woodcutters exploit the forest's resources, while poachers and hunters pose a threat to wildlife. Vilie entrusts Krishna with safeguarding the tragopans and reporting any signs of harm to the Forest Department as he embarks on his quest for the slumbering river. (Kire 19) The perils of human-wildlife conflict come vividly to life in When the River Sleeps. During their slumber, Vilie, Krishna, and his family are jolted awake by a chilling, drawn-out yowl piercing through the night. The ominous voice draws closer to their shelter, prompting Krishna to exclaim "Jackals!" in an attempt to scare them away. With gun in hand, Vilie takes aim at the pack's leader, a formidable creature undeterred by Krishna's presence. Unexpectedly charging, Vilie swiftly fires, delivering a fatal shot that sends the leader crashing to the ground. The pack disperses in frenzy, their yelps echoing as Krishna hurls stones in pursuit (Kire 27). In *When the River Sleeps*, the neglect of employee safety is highlighted through Krishna, a woodcutter lacking basic protection. Vilie's offer to secure a weapon for Krishna is declined due to their forest-dwelling tradition. The Angami Naga tribe's respect for wildlife is evident as Vilie avoids using guns to kill tigers, instead relying on their sacred connection with the animals. Vilie's encounter with a weretiger showcases his invocation of fellow tiger-spirit individuals, ultimately leading to the creature's retreat (Kire 28, 34). Vilie's encounter with the angry spirit symbolizes nature's enigmatic power over humans. In his dream and reality, he faces the relentless pursuit and torment of the spirit. Despite efforts to resist, Vilie remains paralyzed and powerless, silenced by the weight on his chest and the inability to escape (Kire 85). The sleeping river held a deeper significance for Vilie beyond being a source of a heart stone. It represented the opportunity to attain spiritual knowledge. Vilie's desire to find the river stemmed from his longing to capture its essence while it slumbered, to obtain a river-heart-stone, and to gain the profound wisdom that the sleeping river could impart. This quest held personal importance for Vilie, as well as a sense of responsibility towards Kani, driving him to seek the river with even greater determination (Kire 97).

Result and Conclusion

The research findings underscore the multifaceted nature of the sleeping river metaphor in *When the River Sleeps*. It signifies the quest for spiritual enlightenment, exposes human vulnerability, and underscores the crucial role of storytelling and oral traditions in preserving cultural and ecological wisdom. The metaphor serves as a poignant reminder of the intricate connection between humanity and the natural world, urging us to prioritize conservation and deepen our understanding of our environment. The novel *When the River Sleeps* by Easterine Kire offers profound insights into the human condition and its relationship with nature. The metaphor of the sleeping river serves as a powerful symbol for self-exploration, spiritual enlightenment, and the ever-changing nature of life. The novel calls for a deeper appreciation of the natural world and the urgent need to protect it for future generations. Through the portrayal of the river's significance in nurturing both physical and spiritual aspects of human life, Easterine Kire encourages readers to reflect on the interconnectedness of all living beings and the importance of living in harmony with nature. The novel's timeless message underscores the value of ecological knowledge and cultural heritage, reminding us of the beauty and vulnerability of the natural world. In the grand tapestry of *When the River Sleeps*, the metaphor of the slumbering river emerges as a captivating prism through which the novel delves into the intricate depths of human existence. Like a

shimmering gem, the metaphor reveals not only the serene allure of nature's embrace, but also unveils the delicate vulnerability of rivers and the urgent call for their conservation. This paper, like a diligent explorer, has traversed the myriad dimensions of life, society, culture, tradition, and civilization, drawing inspiration from the gentle lull of the sleeping river and the timeless wisdom it imparts. The ardent journey undertaken by the protagonist, Vilie, mirrors the meandering flow of the river itself, echoing the quest for self-discovery, purpose, and enlightenment that courses through the currents of existence. The enigmatic beauty of the river, intertwined with Vilie's dreams and encounters, serves as a testament to the intrinsic connection between humanity and the natural world. Through the veil of the river's metaphor, Easterine Kire imparts a profound realization of the imperative role of storytelling and oral traditions, guardians of ecological knowledge and custodians of cultural heritage. The river, in its eternal ebb and flow, not only symbolizes the passage of life but also challenges our perception of progress and development. It offers a gentle reminder of the intricate interplay between humankind and the natural realm, urging us to reevaluate our relationship with the environment. With each ripple and bend, the river beckons us to ponder the true essence of progress, guiding us towards a deeper understanding of our place in the tapestry of nature. In the cadence of the river's song, we find solace and inspiration, as Vilie discovered in his quest for meaning and knowledge. The river's whisperings resonate through time, nurturing the livelihoods, culture, and traditions of our shared human civilization. Its ethereal presence serves as a gentle reminder of the profound interconnectedness between nature and our collective journey. In the symphony of conclusion, we stand in awe of the river's metaphorical prowess, awash with gratitude for the wisdom it imparts. We cherish the invaluable role of rivers as fountains of inspiration, conduits of creativity, and catalysts for spiritual awakening. The river's ceaseless embrace of life's currents illuminates our responsibility to protect and honor the sanctity of our natural world. As we bid farewell to the mesmerizing pages of *When the River Sleeps*, we carry with us the indelible image of the slumbering river, etched deep within our hearts. May its enduring presence remind us to tread lightly upon the Earth, for in the gentle embrace of rivers, we discover the true essence of our shared humanity and the sanctity of all life.

Works Cited :

A.P, Dhanya, and Sudakshina Bhattacharya. "The Praxis of the Wedded Mystic: a Divergent Reading of Easterine Kire's novel When the River Sleeps." *Rupkatha Journal on Interdisciplinary Studies in Humanities*, vol. 11, no. 3, 2019.

D'Souza, Alphonsus. *Traditional Systems of Forest Conservation in North East India: The Angami Tribe of Nagaland*. 2001.

Garrard, Greg. *Ecocriticism*. Routledge, 2011.

"Indigeneity, Forestry, and the State in C. K. Janu, Mahasweta Devi, and Easterine Kire." *India's Forests, Real and Imagined*, 2022.

Karmakar, Goutam. "Revisiting the Ideological Stance of Naga People: An Interview with Easterine Kire." *South Asian Review*, vol. 43, no. 3-4, 2021, pp. 366-372.

KIRE, EASTERINE. *Walking the Roadless Road: Exploring the Tribes of Nagaland*. 2019.

Kire, Easterine. *When the River Sleeps*. Zubaan, 2014.

Kóczy, Judit B. *Nature, Metaphor, Culture: Cultural Conceptualizations in Hungarian Folksongs*. Springer, 2017.

McMillin, T. S. *The Meaning of Rivers: Flow and Reflection in American Literature*. U of Iowa P, 2011.

Oppitz, Michael. *Naga Identities: Changing Local Cultures in the Northeast of India*. Hudson Hills, 2008.

Roy, Subhra. "Retracing Deep Ecology in the reorientation of Naga identity with special reference to the select works of Easterine Kire Iralu." *Rupkatha Journal on Interdisciplinary Studies in Humanities*, vol. 12, no. 5, 2020.

भारतीय वृन्द–वादन / कुतप का ऐतिहासिक विकास क्रम

डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य *

सारांश

भारतीय संगीत में वृन्दवादन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। यह एक प्राचीन शब्द है। वृन्द–वादन का तात्पर्य है, सामूहिक वादन। इसका ऐतिहासिक अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि आज के वृन्द–वादन के समकक्ष भरत के 'नाट्यशास्त्र' में 'कुतप' शब्द का प्रयोग हुआ है। आज संगीत में इस शब्द का प्रयोग नहीं है इसके अन्य शब्द है वृंदगान, वृन्दवादन, सामूहिक गायन या वादन। समूह में गाने या बजाने को 'कुतप' कहते हैं। अंग्रजी में इसे Chorus (वृंदगान), Orchestra (वृन्द–वादन) कहते हैं। 'कुतप' का प्रयोग मंदिरों में अथवा नाटकों में होता था। 'कुतप' एक महत्वपूर्ण शब्द है।

कुंजी शब्द : *वृन्दवादन, वाद्य वृन्द, ऑर्केस्ट्रा।*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र में द्वितीयक माध्यमों से सामग्री संकलित की गई है ।*

"कुतप की व्युत्पत्ति अभिनव गुप्त ने इस प्रकार की है। कु रंग तपति उज्ज्वलयति इति (ना. शा. 4, 28, 2) कु का अर्थ है रंग (रंगमंच, अभिनय, नाटक) कु (रंग) को जो चमका देता है वह 'कुतप' है।"[1]

कुतप एक विशिष्ट शब्द है। प्रायः लोगों की यह धारणा है कि भारतीय संगीत में ऑर्केस्ट्रा या वाद्य वृंद नहीं रहा है। 'कुतप' शब्द इस धारणा का निराकरण कर देता है। भारत में आर्केस्ट्रा शब्द का रूपान्तर वृन्दवादन अथवा वाद्य–वृन्द के रूप में किया गया है। वृंदगान या वादन की परम्परा भरत मुनि के काल से व्याप्त है। उसका विस्तृत वर्णन कुतप के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है।

भरत मुनि ने कुतप की व्याख्या अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य के अन्तर्गत नाट्य से पूर्व में की है। नाट्य प्रारंभ होने से पहले प्रेक्षक और रसिक समाज की नाट्य के प्रस्तुति के रूप में पूर्व रंग की विधि बताया है। नाट्यशास्त्र के अध्याय 33 के अनुसार कुतप ऑर्केस्ट्रा को संदर्भित करता है। पूर्व रंग में कुतप का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें नाट्य से पूर्व मंगल ध्वनि किसी अवनद्ध वाद्य से बजता है। उसके बाद तत् या सुषिर वाद्य से फिर गायन तथा अन्त में नृत्त का प्रयोग होता है। उसके बाद नाटक की भूमिका प्रस्तुत कर रंगभूमि का पूजन होता है। उसके बाद पात्रों का परिचय और फिर नाटक आरम्भ होता है। संभवतः वृन्द–वादन का स्वतन्त्र प्रयोग न होकर नाटकों तक सीमित रह गया। कुतप वादन के लिये कुछ निश्चित नियम होते थे। "संगीत रत्नाकर में वृन्द का लक्षण गायक–वादक संघात (समूह) कहा गया है। वृन्द के तीन भेद कहे हैं– उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। इनमें गायक–वादकों की संख्या क्रमशः घटती जाती है।[2]

उत्तम वृन्द में चार मुख्य गायक, आठ समगायक, (साथ गायन करने वाले), बारह गायनी (गायिका); चार वांशिक (बाँसुरी वादक) और चार मृदंग वादक कहे गये हैं। यहाँ पुरुषकंठ और स्त्रीकंठ का स्वतंत्र सन्निवेश और प्रयोग के स्वरांश के साथ वंशी का प्रयोग किया जाता रहा है।

मध्यम वृन्द में उत्तम की अपेक्षा प्रयोक्ताओं की संख्या आधी मानी गई अर्थात् दो मुख्य गायक, चार समगायक, छः गायिका, दो वांशिक और मार्दङ्गिक हैं।

कनिष्ठ वृन्द में एक मुख्य गायक, तीन समगायक, चार गायिका, दो वांशिका और दो मार्दलिक (मर्दल वादक) कहे गये हैं। ये गायको के वृन्द हैं। इसी प्रकार, गायिकाओं के वृन्द भी कहे गये हैं। उनके उत्तम वृन्द में दो मुख्य गायिका, दस समगायिका, दो वांशिक और दो मार्दलिक कहे गये हैं। मध्यम वृन्द में एक मुख्य गायिका, चार समगायिका, एक वांशिक और एक मार्दङ्गिक है। सम गायिकाओं की संख्या और भी कम होती है, वह कनिष्ठ वृन्द होगा।

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत गायन, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

"उत्तम वृन्द में जो संख्या कही गई है, उससे भी प्रयोक्ताओं की संख्या यदि अधिक हो तो उस वृन्द को 'कोलाहल' नाम दिया गया है।"[3]

वृन्द के छह गुण इस प्रकार कहे गये हैं–

"मुख्यानुवृत्तिर्मिलनंताललीनानुवर्तनम्।
मिथस्त्रटितनिर्वाहस्त्रिस्थानव्याप्तिशक्तिता।।210।।
शब्दसादृश्यमित्येते प्रोक्ता वृन्दस्य षड्गुणाः।"
('संगीत रत्नाकर', तृतीयः प्रकीर्णकाध्यायः)

अर्थात् मुख्य (गायक या गायिका) की अनुवृत्ति यानी अनुसरण, मिलन अर्थात् स्वर, पद, ताल में सब कुछ एक साथ या एक–सा प्रयोग करना, ताल, लय का अनुसरण, त्रुटियों को निभा लेना, तीनों स्थानों में व्याप्ति की कंठ की शक्ति और सबके कंठ स्वर का सदृश होना, ये छह गुण वृन्द के हैं।[4] स्पष्ट होता है कि गायक एवं वादक के समूह को 'वृन्द' कहा गया है।

आचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में वृन्दवादन का स्वतंत्र प्रयोग न होकर उसे नाटकों तक ही सीमित रख गया था। कुतप वादन का प्रारंभ संस्कार सहित होता था। प्रत्येक वाद्य के वादक किस क्रम से बैठेंगे, किस वाद्य के वादन से प्रारंभ होगा आदि निश्चित होता था। इसमें गायक भी होते थे किन्तु वादक का स्थान महत्वपूर्ण होता था। भरत मुनि ने नाट्य से संबंधित तीन समूह कहे हैं जिनकी 'कुतप' संज्ञा है। महर्षि भरत द्वारा नाट्य को प्रभावशाली बनाने के लिये कुतप के यथास्थान प्रयोग को विशेष महत्व प्रदान किया जाता था। महर्षि भरत ने वृन्द विशेष को कुतप संज्ञा दी है। कुतप शब्द के दो रूप हैं। 1. कु + तप अर्थात् रंगभूमि को दीप्त करने वाला। 2. कुत + पान शब्द रक्षण करने वाला वृन्द कुतप कहलाता है।

'कुतप' तत्, अवनद्ध तथा नाट्य इन तीन विभागों में वर्गीकृत था–

प्रयोगस्त्रविधो ह्येवां विज्ञेय नाट्याश्रमः।
ततश्चैववनदद्वश्च तथा नाट्यकृतोऽपरः।।

तत प्रयोग का अर्थ है नाटक की कथा से असम्बद्ध ततवाद्यों का मानव कंठ के साथ स्वतंत्र प्रयोग । इसी प्रकार अवनद्ध प्रयोग है। तत् और अवनद्ध वाद्यों का अभिनय पोषक और नाटक के पात्र के अनुकूल प्रयोग नाट्य कृत प्रधान कहा जाता है।[5]

1. **तत कुतप**– तते कुतप विन्यासो गायनः सपरिग्रहः।
वेवस्थिको वैणिकश्चं वंशवाद स्तथैव च।।[6]

'तत कुतप' विन्यास में गायक अपने सहयोगियों सहित वैपजिचंक, वैणिक तथा वांशिक होते है। 18 प्रकार की वीणाओं के साथ शंख, पाणिक, पाव, काहल, मुहरी तथा श्रृंगी वाद्यों के साथ वादक अपनी पत्नी सहित सहायक गायकों से युक्त प्रधान गायक तथा तालधारियों से युक्त बताया है। गायक–वृन्द प्रधान गायक को सहायता देता है, उसी प्रकार मत्तकोकिला वादक तथा वांशिक वैणिक को सहायता देता है।

2. **अवनद्ध कुतप** –

"मार्दगिंक पाणविक स्थता दार्दरिकोऽपरः।
अवनद्धविधावेष कुतपः समुदाहतः।।[7]

मृदंग वादक, पणव वादक तथा दर्दर वादक के साथ अवनद्ध कुतप होता है। पणव हुडुक्क के आधार का तंत्रीयुक्त वाद्य होता है तथा महाघट के आकार का दर्दर वाद्य होता है। झांझ, मंजीरा इत्यादि वाद्यों को भी अवनद्ध कुतप के अन्तर्गत समाहित किया गया है। प्रस्तुति में मृदंग वादक श्रेष्ठ तथा अन्य उसकी सहायता के लिये होते हैं। पणव, दर्दर, भण्डि हक्का, पटह, डक्कुली, ढक्का, करटा, घडस, ढवस, डमरू, हुडुक्का, कुडुवा, निवाण, त्रिवली, भेरी, तुम्बकी, बोम्बडी पट्ट, कॉस्य, घण्टा आदि वाद्य होते थे।

3. **नाट्य कुतप** – नाट्य कुतप विभिन्न देशीय अभिनय तथा नृत्य कला से सिद्धहस्त पण्डितों से युक्त है–

"उत्तमाधममध्याभिस्तथा प्रकृतिभियुतः।
कुतपो नाट्ययोगे तु नानादेशसमुदभवः।।"[8]

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के पात्रों से युक्त विभिन्न देशों में उत्पन्न कुतप नाट्य में प्रयुक्त होता है। विभिन्न देशों में प्रचलित सम्प्रदाय के स्तर भेद से नाट्य कुतप के उत्तम, मध्यम व अधम तीन भेद हुए जो अपनी–अपनी कोटि के सम्प्रदाय से दीक्षित हुए। नाट्य कुतप में गायक व वादक वृन्द के साथ विशिष्ट नट–नटियों को यथास्थान बैठाया जाता था। इन तीनों का सम्मिलित वृन्द "आलात–चक्र" अर्थात् चन्द्राकार रूप से सन्निविष्ट किया था।

भरत काल में वाद्य वृन्द का स्थान रंगभूमि पर नेपथ्य के दो द्वारों के बीच निर्धारित कर इनके प्रेक्षकों के

सम्मुख था। भरत मुनि की कुतप रचना से यह भी स्पष्ट होता है कि तत वादकों में विपंची वादक तथा चित्रा वीणा वादक दोनों का स्वतंत्र स्थान था। इससे यह भी विदित होता है कि उस समय वाद्य–वादन की कला पर्याप्त उन्नत अवस्था में थी।

कुतप का आयोजन इस प्रकार होता था– दो रंगद्वार होते थे एवं इनके दो भाग होते थे– पहला रंगशीर्ष तथा दूसरा रंगपीठ। दोनों रंगद्वारों के बीच कुतप बैठते थे। संभवतः इसकी छवि इस प्रकार थी–

<table>
<tr><td rowspan="4">रंगद्वार</td><td></td><td rowspan="4">रंगद्वार</td></tr>
<tr><td>कुतप</td></tr>
<tr><td>रंगशीर्ष</td></tr>
<tr><td>रंगपीठ</td></tr>
</table>

भरत ने कुतप के दो प्रयोजन बतायें हैं–

1. गान्धर्व– प्राचीन समय में नाट्य आरम्भ होने के पूर्व रंगभूमि–पूजन होता था तथा इसके बाद दर्शकों को संगीत सुनाये जाते थे जिसे 'पूर्वरंग' कहते हैं। पूर्वरंग की अहम् भूमिका है कुतप के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये।

2. गान– ध्रुवा गान के द्वारा नाटक के बीच में गान होता था।

कुतप के प्रारंभ में सबसे पहले मंगलध्वनि अवनद्ध वाद्यों से की जाती थी, फिर अन्य वाद्यों का वादन होता । ततपश्चात् नृत्य आरंभ होता था और अन्त में मुख्य पात्रों का परिचय करवाने के बाद नाटक प्रारंभ होता था।

बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में शंख, वीणा, ढोल आदि के सम्मिलित वादन की चर्चा की है।[9] आइना–ए–अकबरी में अबुल फ़ज़ल ने कुतप को 'नौबत' की संज्ञा दी है जिसमें दमामा, नक्कारा, ढोल, कर्ना, सूर्ना, नफीरी, सींग तथा झांझ इन वाद्य–यन्त्रों का वादन करने की प्रथा थी।[10] 'मुरसली और वरदास्त दो धुनें वृन्द द्वारा प्रस्तुत होती थीं। इस्रनाती, सिराजी, कलन्दरी, निगार कतर या नुखुद कतर इन धुनों के वादन लम्बी अवधि के होते थे।"[11]

पाणिनी–काल के वाद्यों की 'तूर्य' समूह की संज्ञा थी तथा इसमें भाग लेने वालों को 'तूर्यांग' कहा जाता था।

ऑर्केस्ट्रा शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ था और अठारहवीं शताब्दी में यह सन्तुलित समूह वाद्य–वृन्द के रूप में मान्य हो चुका था। भारतीय संगीत राग–प्रधान है। "सन् 1952 में जब ऑल इंडिया रेडियो ने वाद्य–वृन्द की स्थापना की। इस दिशा में पहली बार यह प्रयत्न प्रारंभ हुआ। इस वाद्य–वृन्द में 28 संगीतज्ञ थे।"[12]

निष्कर्ष :

स्पष्ट है कि भारत में वृन्द–वादन की परम्परा प्राचीन है। वर्तमान में वृन्द–वादन के पर्याय के रूप में 'आर्केस्ट्रा' शब्द का प्रयोग होने लगा है। वृन्द–वादन के प्रयोग से गीत में रंजकता आ जाती है। कुतप ऐसे प्रयोग का सूचक था जो नाट्य परम्परा को महत्वपूर्ण बनाता था। वर्तमान में भी वृन्द–वादन या आर्केस्ट्रा का विशिष्ट स्थान है।

सन्दर्भ सूची :

1. सिंह, ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडेमी कलकत्ता, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी, पृ.–304
2. ठाकुर, पं. ओंकारनाथ, संगीतांजलि भाग–3, पं. ओंकारनाथ ठाकुर एस्टेट मुम्बई, 1979, पृ.–42
3. तत्रैव, पृ.–43
4. तत्रैव
5. शुक्ला, डॉ. मधुरानी, कुतप वृंद तथा आर्केस्ट्रा भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में (आलेख), पृ.–18, ।
6. तत्रैव
7. तत्रैव
8. तत्रैव
9. तत्रैव, पृ.–19
10. तत्रैव
11. तत्रैव
12. गर्ग, श्री लक्ष्मी नारायण, भारतीय संगीत और वृंद वादन, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1978, पृ.–177

स्वतंत्रता पूर्व काल में संगीत की स्थिति

डॉ0 आकांक्षी*

सारांश

जब से भारत पर मुगल शासन प्रारम्भ हुआ, हिन्दू संगीतज्ञों की संख्या दरबारों में कम हो गयी थी। यद्यपि अकबर को मुग़ल बादशाहों में सबसे अधिक संगीत प्रेमी और विद्वान माना जाता है, फिर भी उसके दरबार के 36 संगीतज्ञों में से मात्र तीन ही हिन्दू संगीतज्ञ थे। शेष सभी मुसलमान थे। संगीत शास्त्र के आधार ग्रन्थ नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी, संगीत रत्नाकर सभी संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। चूंकि मुसलमानों को न संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता एवं इच्छा थी और न हि हिन्दू पण्डित उन्हें म्लेच्छ समझकर किसी भी शर्त पर पढ़ाने को तैयार थे। परिणामस्वरूप भातखण्डे काल तक आते–आते संगीत के लक्ष्य और लक्षण में भारी अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा था।

मुख्य शब्द : *राग–लक्षण, रागिणी, वीणा, अवनद्ध, ध्रुपद, शिक्षा।*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र को तैयार करने के लिए द्वितीयक माध्यमों से सहायता ली गई है ।*

स्वतंत्रता पूर्व काल के संगीत की स्थिति

संगीत की सामान्य रूप से विशिष्ट रूप की ओर आने की यात्रा बहुत लम्बी और रोचक है। हमारे देश की विशेषता रही है कि विशिष्ट की ओर आते–आते हमने जड़ों को नहीं छोड़ा। फलस्वरूप अतीत वर्तमान में मिल गया और वर्तमान भविष्य में। यह सांगीतिक निरन्तरता हमारे भारतीय संगीत की पहचान है।

प्राचीन संगीत परम्परा के अन्तिम ग्रन्थकार शारंगदेव माने जाते हैं। प्राचीन संगीत से तात्पर्य है– ग्राम, मूर्च्छनादि प्रणाली से सम्बन्धित संगीत। ''संगीत रत्नाकर'' एक ऐसा विद्वत्तापूर्ण विशाल ग्रन्थ है जो प्राचीन संगीत प्रणाली के आधार ग्रन्थ के रूप में सभी दक्षिणी एवं उत्तरी संगीत पद्धति के विद्वानों द्वारा मान्य हैं। इस ग्रन्थ की रचना के बाद का काल मध्ययुग कहलाता है। मध्ययुग के भारतीय संगीत ने बहुत सारे उतार–चढ़ाव देखे। इस काल में मुस्लिम शासन– सत्ता की सबसे अधिक अवधि रही, अतएव मुस्लिम दरबारों में संगीत खूब पुष्पित हुआ, अनेक साज़ों, रागों और गायन शैलियों का विकास हुआ, भारतीय सांगीतिक शब्दों पर उर्दू–फारसी और ईरानी भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा।[1]

''संगीत रत्नाकर'' ग्रन्थ के बाद के समय से प्राचीन ग्राम, मूर्च्छना आदि प्रणाली विच्छिन्न होने लगी थी। लगभग 100 वर्षों तक किसी बड़े ग्रन्थ की रचना न हो सकी। इसी ग्रन्थ के पश्चात् से ही भारत में दक्षिणी और उत्तरी संगीत पद्धति का भेद आरम्भ हुआ। संगीत पर विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से पुर्नविचार करना आरम्भ कर दिया। संभवतः इसी कारण मध्यकालीन अनेक ग्रन्थकारों ने ग्रन्थों में प्राप्त लक्षणों से तत्कालीन लक्ष्य का समन्वय न होने के कारण उन्होंने नवीन लक्षण देना आरम्भ कर दिया। जब से भारत पर मुस्लिम शासन प्रारम्भ हुआ, हिन्दू संगीतज्ञों का स्थान दरबारों में कम हो गया था। यद्यपि अकबर मुसलमान बादशाओं में न्यायप्रिय कहा जाता है, परन्तु फिर भी उसके दरबार के संगीतज्ञों में 36 में से मात्र तीन ही हिन्दू संगीतज्ञ थे[2]। शेष सब मुसलमान थे। संगीत शास्त्र के आधार ग्रन्थ (नाट्यशास्त्र, बृहददेशी, संगीत रत्नाकरादि) संस्कृत भाषा में हैं। मुसलमानों को न संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता एवं इच्छा थी और न ही हिन्दू पण्डित उन्हें म्लेच्छ समझकर किसी भी शर्त पर पढ़ाने को तैयार थे। इस प्रकार भातखण्डे काल तक आते–आते संगीत शास्त्र संप्रदाय की तो संभवतः कोई कल्पना भी नहीं करता होगा, क्योंकि क्रियाकुशल कलाकार अधिकतर अशिक्षित ही थे। इस कारण वे ग्रन्थों में दिये गये लक्षणों से प्रचलित लक्ष्य का समन्वय नहीं कर सकते थे। इसलिये लक्ष्य–लक्षण समन्वय का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। संस्कृतज्ञ ग्रन्थों को महत्व देते थे, तो संगीतज्ञ अपनी कला को ही प्रमाण मानते थे और इस प्रकार 19वीं शताब्दी के अन्त तक आते–आते संगीत शास्त्र एवं क्रियात्मक

*सहायक अध्यापक (गायन), मंच कला विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

संगीत ये दो धारायें एक–दूसरे से निर्लिप्त होकर बहने लगीं, जिससे लक्ष्य–लक्षण में बहुत अन्तर आ गया।

आगे चलकर, अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने अब तक अपने–अपने क्षेत्रीय और सतही स्वार्थों में जकड़े अधिकांश राजाओं–नवाबों को एक–एक कर अपनी जकड़ में ले लिया था। जिससे कलाकारों, संगीतकारों को प्रोत्साहन और आश्रय देने वाले लगभग सभी राजाओं, नवाबों की हैसियत एक पेंशनभोगी व्यक्ति की होकर रह गयी थी जिससे उनका अपना ही खर्च मुश्किल से चलता था फिर संगीतकारों पर लुटाने के लिये धन कहाँ से आता[3]।

मुस्लिम काल तथा ब्रिटिश साम्राज्य में ही गाने–बजाने वाले एक विशिष्ट सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिन्हें हम तवायफ के नाम से जानते हैं। ये तवायफें उच्चकोटि की कलाकार भी हुआ करती थीं तथा संगीत ही इनकी आजीविका का साधन था। ठुमरी–दादरा जैसी ओछी समझी जाने वाली गायन–शैलियों को इन गायिकाओं ने जिस ऊँचे मुकाम पर पहुँचाया है, वह उनके अटूट रिय़ाज, समर्पण–भाव और पुख्ता तालीम की निशानी पेश करती है। इनमें भारतेन्दु काल की हुस्नाबाई बड़ी प्रसिद्ध थीं। टप्पा–गायन की वह विशेषज्ञ मानी जाती थीं। भारतेन्दु ने उनसे ''गीत–गोविन्द'' के पद स्वरबद्ध कराये थे। इनके कई ग्रामोफोन रिकॉर्ड बने। इनका पहला ग्रामोफोन रिर्कार्ड सन् 1890 ई0 में बना था[4]। इसी क्रम में उस जमाने में संगीत की दुनिया में सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण एच.एम.वी. कम्पनी ने सबसे पहला गाने का रिकॉर्ड जानकी बाई का बनाया था[5]। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि इस काल में प्रायोगिक संगीत को संरक्षित तथा संग्रहीत रखने की पद्धति (ग्रामोफोन रिकॉर्ड) का भी विकास हो चुका था। हालाँकि इस कालावधि के अधिकतर रिकॉर्ड इन गाने वालियों के ही मिलते हैं, किन्हीं अन्य संगीतज्ञों के नहीं।

इन तवायफों के कोठों पर उपशास्त्रीय गायन–शैली ठुमरी, दादरा आदि का पूर्णरूप से विकास तो हुआ परन्तु यह गायन–शैली सभ्य समाज से दूर रही तथा शास्त्रीय गायकों में इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। इस समय सभ्य समाज में शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त नाट्य, भजन, लोकगीत तथा प्रांतीय भाषा के गीतों का ही प्रचलन था।

ज्ञातव्य है कि चंद गिने–चुने लोगों की मुट्ठी में कैद शास्त्रीय संगीत के आज़ादी की लड़ाई ठीक उस समय लड़ी जा रही थी, जब भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई अपने चरम पर थी। गौरतलब है कि अमर गीत 'वंदे मातरम्' के अमर गायक पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देते हुए समाज के कुछ धनी और संभ्रान्त लोगों के आर्थिक सहयोग से संगीत विद्यालयों की स्थापना और पुस्तकों का प्रकाशन कर संगीत को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, तो दूसरी ओर विष्णु नारायण भातखण्डे ने राजाओं, नवाबों, ताल्लुकेदारों एवं अंग्रेज अधिकारियों की मदद से इस कार्य को सफल बनाने में योगदान दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस समय पूरे देश में राजनीतिक उथल–पुथल मची थी उस समय भी भारतीय संगीत की त्रिवेणी मंथर गति से विकास की दिशा में बह रही थी[6]।

उथल–पुथल की इस घड़ी में ही जन–साधारण को सरकार ने मनोरंजन का एक मधुर माध्यम रेडियो मुहैय्या कराया। इसका प्रसारण 23 जुलाई 1927 से आरंभ हुआ। 1936 में भारत सरकार को इसकी जिम्मेदारी सौंपी गयी, और तभी आकाशवाणी और ऑल इण्डिया रेडियो जैसे नाम इसे मिले। आकाशवाणी के अस्तित्व में आते ही संगीत और संतीगज्ञों के प्रति लोगों को सोच बदलने लगी।

उन दिनों अपने घर में रेडियो सेट रखना संभ्रांत होने का परिचायक था। अतः रेडियो पर गाने–बजाने वालों के सम्मानित होने का सम्मान स्वतः मिल जाता था।[7]

इस शोध–पत्र में मैंने स्वतंत्रता से लगभग सौ–डेढ़ वर्ष पूर्व तक संगीत की क्या स्थिति रही, उसको समेटने का प्रयास किया है। इस कालावधि में संगीत–संबंधी बहुत सारे परिवर्तन आये जिसे आगे कुछ बिन्दुओं में प्रस्तुत किया गया है–

1. लक्ष्य–लक्षण में विभिन्नता होना–

इस काल में संगीत के क्रियात्मक एवं शास्त्र पक्ष दोनों में ही अव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही थी। जैसा कि पहले भी बताया गया है कि संगीतज्ञों को संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण वे प्राचीनोक्त लक्षणों का तत्कालीन लक्ष्य से समन्वय न कर पाये और उन्होंने नवीन लक्षण देना आरम्भ कर दिया। इस कारण रागों, बंदिशों, एक स्थान (सप्तक) में विकृत स्वरों की संख्या, राग–वर्गीकरण पद्धति, राग–लक्षण से जुड़ी शब्दावली, रागों के गायन–समय इत्यादि, बिन्दुओं पर एक वाक्यता नहीं रह गयी थी। दूसरे

शब्दों में हम कह सकते है कि लक्ष्य–लक्षण में समन्वय नहीं रह गया था क्योंकि जो लक्ष्य में गाया–बजाया जाता था, ग्रन्थों में उसका विवरण उससे भिन्न प्राप्त था।

2. राग–वर्गीकरण की राग–रागिणी पद्धति का ह्रास–

यूँ तो राग–रागिणी वर्गीकरण को मध्यकालीन संगीत की उपज माना जाता है किन्तु अनेक विद्वानों के मतानुसार शारंगदेव अर्थात् 13वीं शताब्दी से पूर्व ही राग और रागिणियों के वर्गीकरण हो चुके थे, जिसमें राग और रागिणियों के अतिरिक्त उनके पुत्र–पुत्रवधूएँ आदि के रूप में रागों के पारिवारिक वर्गीकरण के उल्लेख मिलते हैं।

डॉ0 सुभद्रा चौधरी के मतानुसार, रागों के पारिवारिक वर्गीकरण का सूत्रपात 'नारद' के ''संगीतमकरन्द'' ग्रन्थ से माना जाता है लेकिन इस ग्रन्थ और इसके ग्रन्थकार के सम्बन्ध में संदिग्धता है। अतएव 12वीं शती के शुरु में श्री भुवन देवाचार्य द्वारा लिखा गया ''अपराजितापृच्छा'' नामक ग्रन्थ में 6 रागों एवं प्रत्येक की छः–छः भाषाओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि राग–रागिणी के मूल बीज के रूप में 'राग–रागिणी' की परम्परा ''संगीत रत्नाकर'' से भी प्राचीन है। इसका विकास क्योंकि मध्य काल में हुआ, इसलिये राग–रागिणी वर्गीकरण को मध्यकालीन वर्गीकरण माना जाने लगा।[8]

लेकिन शनैः–शनैः राग–रागिणी के इस वर्गीकरण में दोष दिखाई देने लगे, राग–रागिणियों में न तो स्वर साम्य रहा और न ही स्वरूप साम्य। अतः छः राग और 36 रागिणियों के इस वर्गीकरण को अमान्य कर दिया गया। क्योंकि किसी भी राग को पुरूष, स्त्री, पुत्र या पुत्रवधू के रूप में मानने का कोई ठोस आधार नहीं दिखाई देता है।

चूँकि रागों के भावरूप को समझने के लिये उनके स्वर रूप का स्पष्ट होना आवश्यक है, किन्तु ग्रन्थों में राग–रागिणी वर्गीकण के रागों के स्वर रूप बिल्कुल अस्पष्ट हैं। ऐसी अवस्था में ग्रन्थकारों द्वारा दिये गये रागों के रुप में स्त्रीत्व और पुरुषत्व को अनुभव पाना असंभव है। संभवतः इसी कारण इस काल तक आते–आते भावरूप के सूक्ष्म आधार पर निर्मित राग–रागिणी पद्धति का ह्रास होने लगा।

3. ध्रुपद की लोकप्रियता का ह्रास और ख्याल गायन का प्रचलन–

मध्ययुग में ध्रुपद–शैली अत्यन्त समृद्ध रही। मुगल बादशाह अकबर के संरक्षण में यह शैली बहुत ही सुचारू रूप से पनपती रही। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में भी ध्रुपद का प्रचार–प्रसार रहा परन्तु प्रस्तुति स्थल के परिवर्तन के साथ संगीत की प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया और स्वरूप में भी काफी परिवर्तन आये। सामाजिक कारणों से ही ध्रुपद का जो रूप मंदिर, मठों में रहा वह राजदरबारों में नहीं रह पाया। धीरे–धीरे राजदरबारों में ध्रुवपद का स्थान ख्याल शैली ने ले लिया। ख्याल ने कितने परिवर्तन अपनी शैली में समेटे यह सब सामाजिक विकास की स्वाभाविक गति से जुड़े हुए हैं। संगीत के संरक्षक हों या श्रोतावर्ग सभी सामाजिक परिवर्तन से प्रभावित हैं। कोई भी श्रोता वर्ग बहुत समय तक एक ही गायन–शैली के उसी रूप से कलात्मक संतोष नहीं प्राप्त कर पाता है, इसलिये कुछ नये की खोज में कलाकार और श्रोता दोनों ही रहते हैं। परिवर्तन और नयापन जीवन का अभिन्न अंग है। इसी क्रम में ध्रुवपद के प्रस्तुति स्थल बदलने से उसके संरक्षक और श्रोता भी बदले, फलस्वरूप ध्रुवपद के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। नियमबद्धता ध्रुवपद का मूल मंत्र था।

परन्तु समाज में जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्ति की कल्पना का महत्व बढ़ता गया, तब ध्रुवपद के स्थान पर ख्याल शैली का विकास हुआ। ख्याल प्रस्तुति में कलात्मक स्वतंत्रता और कल्पना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी। अतः श्रोताओं को भी इस गायन–शैली ने आकर्षित किया। राज दरबार प्रस्तुति स्थल बने, इसलिये संगीतज्ञों ने अपनी कल्पना से ख्याल–शैली को विविधता प्रदान की।

4. प्राचीन वीणा (रुद्र वीणा) के स्थान पर सितार का प्रचलन–

वीणा पर जो वादन होता है उसको गतकारी अंग कहते हैं जिसमें क्रमशः आलाप, जोड़, गत तथा अन्त में झाला बजाकर समाप्त करते थे। बादशाह अकबर के दरबारी संगीतज्ञ मिश्री सिंह बीन (वीणा) के सर्वोच्च्य कलाकार थे। तानसेन के ध्रुपद गायन के साथ यही वीणा पर संगत किया करते थे।[9] इससे यह सिद्ध होता है कि वीणा पर ध्रुपद का ही वादन किया जाता रहा है। कालांतर में लोकरुचि में परिवर्तन होने के कारण ''वीणा'' का स्थान ''सितार'' ने ले लिया। इस प्रकार ''सितार'' का प्रचलन अधिक हो जाने के कारण शनैः–शनैः वीणा का स्थान गौण होता गया।

5. अवनद्ध वाद्यों में तबले का महत्वपूर्ण स्थान होना–

चूँकि ख्याल आदि गायन–शैली तथा सितार आदि वाद्यों के साथ तबले की ही संगत की जाती है। परिणामस्वरूप धीरे–धीरे पखावज के स्थान पर तबले का स्थान महत्वपूर्ण हो गया।

6. संगीत शिक्षा की स्थिति–

ब्रिटिश राज्य के समय में जो सामाजिक वातावरण पैदा हुआ उसमें घरानों के द्वारा संगीत के विकास की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। कुछ कलाकार इतने विवश हो गये कि अर्थ प्राप्ति ने विकृत रूप ले लिया। संगीत को भोग–विलास की वस्तु समझने वाले वर्ग पर कई कलाकार पूर्णतः आश्रित हो गये। यहीं से समाज में संगीत को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

ऐसे समय में संगीत उद्धारक और युग प्रवर्तक के रूप में पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे और पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने इस चुनौती का सामना करते हुए दृढ़ निश्चय किया कि संगीत शिक्षा के परिवर्तित रूप द्वारा समाज में संगीत की प्रतिष्ठा और सम्मान को पुनः स्थापित करेंगे।

क्रिया और शास्त्र में जो खाई पैदा हो गयी थी उसको विष्णुद्वय ने पाटना बहुत जरूरी समझा । ऐसे में संस्थागत शिक्षा को उन्होंने अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये एक सशक्त साधन मानकर उसके स्वरूप शिक्षण–विधि आदि सभी घटकों पर दूरगामी दृष्टि से विचार किया। संगीत के प्रचार–प्रसार हेतु संगीत के एक पक्ष को सरल बनाना भी जरूरी रहा और इसलिये दोनों ने अपने–अपने ढंग से स्वरलिपि का निर्माण किया, जिसके द्वारा बंदिशों को सुरक्षित भी रख सकें और शिक्षण में भी स्वरलिपि को एक साधन के रूप में प्रयुक्त कर सकें।

उनका ये उद्देश्य था कि प्रत्येक प्रतिभाशाली पात्र को संगीत शिक्षा का लाभ मिलना चाहिये, यह अधिकार किसी विशेष जाति, वर्ग या परिवार का नहीं है।

सन् 1901 में पं. पलुस्कर में लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय नामक संगीत शिक्षण संस्था की स्थापना की।

इसी क्रम में 1871 में क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने कोलकाता में एक संगीत विद्यालय की स्थापना की थी। 1906 में बनारस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कोठी में संगीत नायक पं0 दरगाही मिश्र ने काशी संगीत समाज नामक एक संगीत विद्यालय की स्थापना की थी जिसके वे प्रथम प्राचार्य भी थे। सन् 1881 में सौरीन्द्र मोहन टैगोर ने भी 'बंग संगीत विद्यालय' तथा 'बंगाल अकादमी ऑफ म्यूजिक' की कोलकाता में स्थापना की थी। इसी तरह जाम नगर में पं0 आदित्य राम तथा बड़ौदा में उ0 मौला बख्श उर्फ घिस्से खाँ द्वारा 1886 में एक संगीत शिक्षा केन्द्र की स्थापना की जा चुकी थी।[10]

1926 में पं0 भातखण्डे ने मैरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक नामक महाविद्यालय की नींव लखनऊ में रखी। इस महाविद्यालय ने अनेक महान संगीतकार हमारे देश को दिये हैं।

इस प्रकार, हमने स्वतंत्रता पूर्व उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की स्थिति का अवलोकन किया। इस काल में लक्ष्य–लक्षण में विभिन्नता आ जाने से, स्वरलिपि तथा शास्त्रों में लिखित रागों के स्वर–रूप के अभाव में रागों के रूप में एकरूपता नहीं थी। संगीत की शिक्षा प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर था। ऐसे युग में विष्णु द्वय का जन्म हुआ। पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे का जन्म सन् 1860 में तथा पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का जन्म सन् 1872 में हुआ। दोनों विष्णुओं ने उत्तर भारतीय संगीत को एक नवीन दिशा दी। संगीत शास्त्र तथा संगीत शिक्षा के क्षेत्र में एक निश्चित व्यवस्था प्रदान की जिसके लिये संपूर्ण संगीत जगत उनका चिरकाल तक ऋणी रहेगा।

संदर्भ सूची :

1. शर्मा, डॉ. महारानी, संगीत मणि भाग दो, पृ.सं. 117
2. टाक, डॉ. तेजसिंह, शोध प्रबन्ध, पृ.सं. 5
3. मिश्र, पं. विजयशंकर, मनके : भाव, सुर, लय के, पृ.सं. 191
4. नादार्चन, पत्रिका, 1992, पृ.सं. 30
5. वही, पृ.सं. 36
6. मिश्र, पं. विजय शंकर, मनके : भाव, सुर, लयके, पृ.सं. 201
7. वही, पृ.सं. 202
8. शर्मा, डॉ. महारानी, संगीत मणि भाग एक, पृ.सं. 65–66
9. परांजपे, डॉ. श्रीधर शरच्चन्द्र, संगीत बोध, पृ.सं. 141
10. मिश्र, पं. विजय शंकर, मनके : भाव, सुर, लय के, पृ.सं. 195

भोजपुरी लोकगीतों में साहित्य

डॉ. ऋचा वर्मा*

सारांश

लोकगीतों का सम्बन्ध जनजीवन से जुड़ा है। जीवन से जुड़े हरेक पहलू को गीतों या कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया जाता रहा है। भोजपुरी भाषा में भी अनेक लोकगीत रचे गए जो बहुत ही कर्णप्रिय हैं तथा उनके साहित्य भी उच्च कोटि के हैं। लोक साहित्य के अन्तर्गत सिर्फ लोक गीत नहीं बल्कि लोक–गाथा, लोक कथा, लोकनृत्य, कविताएँ, गीत, पहेलियाँ इत्यादि आते हैं।

जो भी लोकगीत हमें प्राप्त होते हैं वे या तो परम्परागत रूप से गाए जा रहे हैं, जिनके रचनाकार का पता नहीं है तथा कुछ रचनाकारों द्वारा भी रचित हैं। शब्दों का सुन्दर संयोजन तथा छन्दों में रचे होने के कारण ये गाने योग्य हैं जो भोजपुरी लोक साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं।

कुंजी शब्द : *लोक साहित्य, लोकगीत, लोकजीवन, भोजपुरी*

प्रविधि : *प्राथमिक एवं द्वितीयक माध्यमों का उपयोग किया गया है ।*

भोजपुरी लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है, इसका विश्वव्यापी फैलाव। विश्व के लगभग एक दर्जन देशों में भोजपुरी भाषा–भाषी सदियों से रहते आए हैं, जिस कारण विश्व स्तर पर भोजपुरी भाषियों के आदान–प्रदान, आवागमन और सांस्कृतिक यात्राओं के कारण भी लोक साहित्य को समृद्ध करने में अधिक बल मिला है।

लोक साहित्य जनता के हृदय का उद्गार है। साहित्य में धर्म, समाज, सदाचार आदि बातों का समावेश मिलता है। लोक–गीत, लोक–गाथा, लोक–कथा, लोक–नृत्य इत्यादि लोक साहित्य के अंग माने गए हैं। इसके अलावा लोक सुभाषित जिसके अन्तर्गत बच्चों के गीत, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ इत्यादि आते हैं जिनका व्यवहार प्रतिदिन लोक–जनजीवन में समान रूप से किया जाता है।

लोकगीत लोकजीवन से सम्बन्धित होते हैं। लोकगीतों का साहित्य भी लोकजीवन से प्रेरित होता है। भोजपुरी एक सुमधुर भाषा है तथा इसके गीत–संगीत में प्रयुक्त, लय और ताल भी उतने ही कर्णप्रिय और मधुर है।

भोजपुरी लोकगीतों में साहित्य के महत्व को हम निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं–

1. राष्ट्रीय महत्व :–

भोजपुरी क्षेत्र प्राचीन काल से ही अपने वीर योद्धाओं के कारण भी जाना गया। 1857 ई0 की क्रांति के दौरान शाहाबाद जिले के जमींदार बाबू वीर कुँवर सिंह की वीरता को कौन नहीं जानता, जिन्होंने अंग्रेजों की ईंट से ईंट बजा दी और कभी हार का सामना नहीं किया। वीर कुँवर सिंह की वीरता और बहादुरी का वर्णन कई लोकगीतों में मिलता है जिनमें से एक उदाहरण इस प्रकार है–

''लिख लिख पतिया के भेजलन कुँवर सिंह
ए सुन अमर सिंह भाय हो राम।।
बाबू कुँवर सिंह भाई अमर सिंह
दोनों अपन है भाय हो राम।।
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू
कोइलवर में रहे छाय हो राम।।''[1]

इस प्रकार इस गीत में कुँवर सिंह की सेना का दानापुर (पटना) से चलकर कोइलवर में आने का उल्लेख है।

इसके अलावा ऐसे भी गीत मिलते हैं जिनमें 1857 ई0 के समय अवध के नवाब को गद्दी से हटाने के पश्चात् उनकी बेगमों द्वारा विलाप करने का वर्णन है–

''गलियन गलियन रैयत रौवे
हटियन बनिया बजाज रे
महल में बैठी बेगम रोवै।
डेहरी पर रौवे खवास रे।।

*गेस्ट फैकल्टी, संगीत, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मोती महल की बैठक छूटी
छूटी है मीना बाजार रे।''[2]

गाँधी सम्बन्धी गीत :–

भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में चम्पारण में गाँधी जी के आगमन तथा अहिंसा के मार्ग पर चलकर किसानों पर हो रहे अत्याचार से छुटकारा दिलाना भी एक बड़ी घटना थी। इसके बाद धीरे–धीरे गांधी जी पूरे देश में एक आदर्श पुरुष के रूप में जाने गए। कई लोकगीतों में गाँधी जी से सम्बन्धित बातों का समावेश किया जिसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है–

1. गाँधी कहे, गाँधी कहे मन चित्र लाइके
   गंगा सरजू चाहे कूपा पर नहाइ के
   लिहले अवतार एही देसवा में आइ के
   चक्र के बदला में चरखा चलाई के[3]

2. अब हम कातवि चरखवा पिया जा हो बिदेसवा।
   हम कातवि चरखा तुहूँ लाव, मिलिए एही से सुराजवा।।[4]

इस प्रकार, ऐसे गीत चरखा के लोकप्रिय होने पर रचे गए।

राष्ट्रीय चेतना जगाने वाले गीत :–

(क) रघुवीर नारायण सिंह :–

भोजपुरी क्षेत्र में स्वतंत्रता आंदोलन के समय 'बाबू रघुवीर नारायण सिंह' द्वारा रचित 'बटोहिया' गीत अत्यंत ही प्रचलित हुआ। बाबू रघुवीर नारायण का जन्म सारण जिला के नयागाँव में सन् 1887 ई0 में हुआ। इन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी, भोजपुरी तथा फारसी में कविताएँ लिखी।

उदाहरण –

बटोहिया गीत

सुन्दर सुभूमि भइया भारत के देसवा से
मोरे प्रान बसे हिम खोह रे बटोहिया
x x x
बुद्धदेव पृथु विक्रमार्जुन शिवाजी के
फिरी–फिरी हिय सुध आवे रे बटोहिया
x x x
अपर प्रदेश देस सुभग सुघर बेस
मोर हिन्द जग के निचोड़ रे बटोहिया[5]

(ख) मनोरंजन प्रसाद सिंह :–

एक अन्य साहित्यकार 'मनोरंजन प्रसाद सिंह' द्वारा रचित 'फिरंगिया' नामक गीत अत्यंत ही प्रचलित हुआ। इनका जन्म 10 अक्टूबर 1890 को तत्कालीन शाहाबाद जिला के सूर्यपुरा गाँव में हुआ था। पहले ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के व्याख्याता के पद पर थे। तत्पश्चात् राजेन्द्र कॉलेज छपरा में प्रचार्य हुए। फिरंगिया गीत राष्ट्रीय चेतना जगाने में बहुत कारगर सिद्ध हुआ।

उदाहरण –

फिरंगिया गीत

सुन्दर सुघर भूमि भारत के रहे रामा
आज इहे भइल मसान रे फिरंगिया
बनिज बैपार सब एकउ रहल नाहीं
सब कर होई गइल नास रे फिरंगिया।
भारत के छाती पर भारत के बचवन के
बहल रकतवा के धार के फिरंगिया।[6]

(ग) मास्टर अजीज :–

इसी क्रम में मास्टर अजीज जिनका जन्म 1910 ई0 में सारण जिला के कर्णपुरा गाँव में हुआ था। इन्होंने अनेक कविता, भजन, कीर्तन, गीत लिखे। राम, कृष्ण तथा शिव के भजन–कीर्तन के साथ–साथ इन्होंने आजादी की लड़ाई में सक्रिय सिपाही का भी काम किया। आजादी के संघर्ष का चित्रण इनकी एक कविता में उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है–

ओने अंग्रेजन के गोली, एने किसानन के टोली
गूँजे 'जय हिन्द' के बोली, ओ मढौरा में।
जब भागे लगनन गोरा, हमनी फेंक के मरली रोड़ा।
भीड़ घेरलक तब चौकोरा, ओ मढ़ौरा में।[7]

(घ) सिपाही सिंह श्रीमंत :–

सिपाही सिंह श्रीमंत का जन्म 1923 में सारण जिला के मूंजा गाँव में हुआ था। इन्होंने एम0ए0, एम0एड0 कर शिक्षा क्षेत्र में अपनी सेवा दी। 'आँधी' तथा 'जवानी के जगइले' इनके दो प्रसिद्ध गीत हैं जिनके कुछ अंश उदाहरणस्वरूप इस प्रकार है–

बड़ ऊँच लमहर रोके के जे राह चाहे,
ओ लोग के फुनुगी के माटी में मिलइले।
छोटे–छोटे हलुक–हलुक नान्हीं–नान्हीं मिले,
ओके गोदी में उठा के आसमान में खेलाइले।[8]

इस प्रकार समय–समय पर अनेक ऐसे गीतों की रचना की गई जो राष्ट्रीय चेतना जगाने में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

2. सामाजिक महत्व :–

लोकगीतों के माध्यम से सबसे ज्यादा सामान्य जनजीवन से जुड़े रीति–रिवाजों, रहन–सहन आदि का भी पता चलता है। जन्म, विवाह आदि संस्कारों में गाये जाने वाले गीतों की प्रचुरता है जिनमें लोक साहित्य को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके अलावा समाज में रहने वाले विभिन्न वर्गों के कार्य सम्बन्धी गीत भी लोक साहित्य को समृद्ध बनाते हैं। इसके साथ ही साथ खेतों में होने वाले कार्य जैसे– रोपनी, सोहनी, कटनी इत्यादि के गीत भी लोक साहित्य का अच्छा परिचय कराते हैं।

उदाहरण –

सोहर

सासु जे भेजेली नउनिया
त ननदी बरिनिया हू रे
सासु लुटावेली रूपइया, त ननदी
मोहरवा नु रे
ललना गोतिनी लुटावेली बनउरवा,
गोतिनिया फेरिहें पाइंच रे।[9]

विवाह गीत

वर खोजु वर खोजु वर खोजु रे,
बाबा अब भइली वियहन जोग ए।
आरे हमार बाबा सुनर बर खोजले,
हंसे जनि दुअरवा के लोग ए।[10]

धोबी गीत

धोबिया क पुतवा जबै निक लागे
धोवे बकुलवा के पॉख।
अच्छा मालिकवा उहै निक लागे
सेवका के खुस कै देय।[11]

रोपनी गीत

धनवा जे रोपेली किसान के नारी राम
तालवा तलैया में
बढ़ गइले पानी राम
तालवा तलैया में[12]

3. भौगोलिक महत्व :–

लोकगीतों के माध्यम से स्थानीय भौगोलिक क्षेत्रों से सम्बन्धित बातों का भी पता चलता है। लोकगीतों में बहुत–सी नदियों तथा नगरों का नाम मिलते हैं। नदियों में गंगा, यमुना, सरयू, सोन इत्यादि तथा शहरों में काशी, प्रयाग, पटना, जनकपुर, अयोध्या इत्यादि नाम मिलते हैं जो इनकी प्राचीनता के साथ–साथ इनके महत्व को भी बताते हैं।

उदाहरण –

गंगा गीत –

(i) दरसन दीं ना भोरे भोरे हे गंगा मईया
रउवा के चढ़ाएब पान ए फूलवा
फूलवा चढ़ाएब झोले–झोले
ए गंगा मइया

(ii) हे गंगा मइया गजब रउरी माया
नीर पीवत सब पाप नसाया[13]

4. आर्थिक महत्व :–

लोक गीतों में बहुत सारे गीत जन–जीवन के आर्थिक पक्ष को उजागर करते हैं। लोकगीतों में सोने की थाली में भोजन करने और आभूषणों की प्रचुरता का वर्णन मिलता है जो आर्थिक सम्पन्नता को भी दर्शाता है। कोई स्त्री पति के परदेस जाने पर कहती है कि–

''सोने की थाली में जेवनाँ परोसलो
जेवना न जेवें अलबेला
बलमु कलकत्ता निकल गयो जी।''[14]

भोजपुरी का एक मुहावरा है– 'दूध से पैर धोना और घी से स्नान करना' इससे स्पष्ट होता है कि इन चीजों की प्रचुरता थी, जो लोगों की आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक है। साथ ही, सोने की कंघी, चन्दन की लकड़ी का पलंग, चांदी का पालना तथा पकवानों में बासमती

चावल, पुआ, पूड़ी इत्यादि का उल्लेख मिलता है जो अच्छी आर्थिक स्थिति को बताते हैं।

5. धार्मिक महत्व :–

धार्मिक जीवन की जानकारी भी हमें लोक गीतों के माध्यम से मिलती है। लोक–गीतों में गंगा माता, तुलसी माता, शीतला माता तथा षष्ठी माता का गायन करने का उल्लेख मिलता है। विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा आदि का वर्णन भजनों के माध्यम से किया जाता है। विभिन्न व्रत–त्यौहारों में देवी–देवताओं सम्बन्धी गीत ही गाए जाते हैं।

उदाहरण –

छठ गीत –

सोने के कोठरिया सुरूजमल कंचन लागेला केवाड़
आरे ताही पइसी सूते सुरूजमल भइले भिनुसार।[15]

शीतला माता गीत –

गंगा के किनारे ठाढ़े सीतला हो पुकारे बाबू भीमला
हाले हूले नइया लेई आव, बाबू भीमला
हाले हूले नइया लेई आव[16]

6. नैतिक महत्व :–

प्राचीन समय में समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों द्वारा सतीत्व को प्रमाणित करने तथा पवित्र सिद्ध करने हेतु आग में प्रवेश करने तथा जल समाधि लेने का उल्लेख मिलता है। भारत में सती–धर्म का पालन बड़ी कठोरता के साथ किया गया है। इसका उल्लेख भी लोक साहित्य में मिलता है।

7. भाषा–सम्बन्धी महत्व :–

भाषा–शास्त्र लोक साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। सुप्रसिद्ध भाषा तत्ववेत्ता डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा है कि जो लोग लोक साहित्य का संग्रह कर रहे हैं वे भावी भाषा शास्त्रियों के लिए अमूल्य सामग्री एकत्र कर रहे हैं। लोकगीतों के माध्यम से शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा को जानने का अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए – 'जुगवत' शब्द का प्रयोग लोकगीतों में 'सावधानी के साथ किसी वस्तु की रक्षा करने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी चौपाई में इसी अर्थ में किया है।

'अमिय मूरि जिभि जुगवत रहऊँ।
दीप–बाति ना टारन कहऊँ।'[17]

डॉ0 ग्रियर्सन ने भी भोजपुरी लोकगीतों की महत्ता को बताते हुए कहा है कि ये लोकगीत उस खान के समान है जिनके खोदने का कार्य अभी प्रारम्भ हुआ है तथा इनकी पंक्तियों में ऐसी विशेषता है जिससे भाषा शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्या हल की जा सकती है।

इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लोकगीतों के साहित्य के प्रत्येक पहलू का सम्बन्ध लोकजीवन से सीधे जुड़ा हुआ है।

सन्दर्भ सूची :

1. उपाध्याय, डॉ0 कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 261
2. वही, पृ. 262
3. शांडिल्य, लोकभूषण, डॉ0 राजेश्वरी, भोजपुरी लोकगीतों के बहुआयाम, पृ. 16
4. वही, पृ. 18
5. वही, पृ. 28
6. सिंह, नागेन्द्र प्रसाद, भोजपुरी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास, पृ. 45
7. वही
8. वही, पृ. 46
9. मिश्र, डॉ0 कुबेर, मोरिशस के भोजपुरी लोकगीतों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. 166
10. वही, पृ. 168
11. वही, पृ. 162
12. पारम्परिक
13. पारम्परिक
14. उपाध्याय, डॉ0 कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 264
15. 'श्रीमंत', सिपाही सिंह, छठ परमेसरी, पृ. 98
16. पारम्परिक
17. उपाध्याय, डॉ0 कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 269

मिथिलांचल में विवाह संकीर्तन और स्नेहलता के पद

डॉ० ममता कुमारी*

सार

मिथिला में राम–सीता विवाह–कीर्तन का आयोजन अनेक सह–मंडलियों द्वारा होता रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें पूर्णतया रामलीला का अनुकरण किया गया है परंतु इस विवाह कीर्तन में मिथिला में प्रचलित रामभक्ति शाखा में सखी भाव का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। इसकी कथा–वस्तु में सीता विवाहोत्सव एवं मिथिला में प्रचलित लोक संस्कृति के आधार पर सीताराम–विवाह से संबंधित विभिन्न रीति–रिवाजों को तथा इसमें प्रयुक्त होने वाले संगीत को गाकर दर्शाया जाता है। इस कीर्तन प्रसंग में जनकपुर लीला विशेषतः 'सीता स्वयंवर' अत्यंत ही मधुर और मनोहर प्रसंग माना जाता है।

मुख्य शब्द : *विवाह, संकीर्तन, मिथिला, सीता स्वयंवर, रामलीला*

शोध–प्रविधि : *अनेक पुस्तकों के अध्ययन एवं परम्परा से चली आ रही विधाओं का अवलोकन कर इस शोध–पत्र हेतु सामग्री एकत्र की गई है।*

स्नेहलता आधुनिकी काल में उदभूत मैथिली के प्राचीन भक्ति काव्यधारा के विशिष्ट रचनाकार हैं। इनकी पदावली मिथिला के लोक–जीवन का कंठहार है। विशेषकर विवाह आदि अवसरों पर 'वैदेही विवाह संकीर्तन' पदावली से संपूर्ण मिथिलांचल गुंजायमान रहता है। भक्तों द्वारा विभिन्न अवसर पर भजन–कीर्तन में इनकी पदावली का अनुगायन किया जाता है। वैदेही विवाह परंपराशील नाट्य में इनकी पदावली प्रमुख उपजीव्य के रूप में गृहीत है।[1]

स्नेहलता का पूरा नाम श्री कपिलदेव ठाकुर "स्नेहल्ता" है। ये गीतिकाव्य के रचनाकार थे, गीतिकाव्य भावावेशमय होता है। इसकी रचना स्वर–साधना के अनुरूप राग–ताल लयाश्रित होती है तथा इसमें भावाभिव्यक्ति अल्प शब्दों के माध्यम से की जाती है। स्नेहलता पदावली मुख्यतया मैथिली में मिथिलाभाव एवं रामभक्ति में मधुरोपासना साहित्य का एक विशिष्ट अंग है। यह मैथिली रामकाव्य को लोक–जीवन से जोड़कर रखता है। भावना की तीव्रता, गीतिमयता, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता आदि की प्रधानता गीति काव्य में अनिवार्य माना जाता है। स्नेहलता मैथिली तथा मिथिला के वैदेही विवाह संकीर्तन विषयक पदावली के विशिष्ट कवि थे।

उनकी बहुत सारी रचनाएँ पुस्तक आकार में हैं, यथा– वैदेही विवाह संकीर्तन, विनयपदावली, झूला संकीर्तन, शिववाणी संकीर्तन, चेतावनी संकीर्तन आदि परंतु इनमें से वैदेही विवाह संकीर्तन को सर्वोपरि माना गया है। संकीर्तन गीत की कोटि में स्नेहलताजी के वे गीत आते हैं जो भक्तिपरक विनय सगुन परमेश्वर के विविध स्वरूप के लीला विलास से संबंधित है। इन पदों का गायन भजन–कीर्तन के रूप में कीर्तन मंडलियों द्वारा किया जाता है तथा संस्कार–व्यवहार के गीत के रूप में महिलाएं इसका गायन करती हैं। स्नेहलता की रचनावली में वैदेही विवाह संकीर्तन को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

चाह नही इहलोक सधे, नहि चाह मुझे सुरलोक सिधारऊँ
चाह नहीं सुख संपत्ति की, नहि चाह कभी अनियादिक पाऊँ
योनि अनेक मिले तो मिले, मंजूर मुझे सब योनि में जाऊं
स्नेहलता नित चाह यही मिथिला में रहूं मिथिले की कहाऊं।[2]

स्नेहलता के एक पद में सखी भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस पद में उन्होंने पुष्पवाटिका में सीता राम के पूर्वानुरागपरक पारस्परिक दर्शन की लीला का एकांत साक्षी बनने की अभिलाषा व्यक्त की हैं–

राखू बटिया बहारि छवि देखब निहारि
जैही सिया सुकुमारि फुलवरिया, मिथिला नगरिया में।
बूझि भाग्य भरपूरि लेव चरणक धूरि
हैत जनम सफल ओहि धरिया मिथिला नगरिया में।
पुनि लछुमन राम भेटथिन ओहिठाम
चलि देखू कोना लड़त नजरिया मिथिला नगरिया में।[3]

*अध्यक्ष, संगीत विभाग, एम. आर. एस. एम. कॉलेज, आनंदपुर, दरभंगा

नाम के अनुरूप वैदेही विवाह संकीर्तन में सीता राम–विवाह के प्रकरण–संबंधी गीतों की प्रमुखता है। कुछ पद हिन्दी में भी लिखे गये हैं परंतु अधिकांश पद मैथिली में रचित हैं। राम भक्ति के रसिक समप्रदाय के अन्यान्य कवियों के सदृश स्नेहलता भी सीताजी के जन्म से लेकर उनके वैवाहिक प्रकरण एवं मिथिला से विदा होते समय तक के प्रसंग को अपने इस संकीर्तन पदावली का विषय बनाया है, जैसे– धनवट्टी, मड़वा बन्धन, अपटन, कमलापूजन, हरदी बुकावन, हरदी चढ़वन, जनकपुरक स्थितिक वर्णन, परिछन, दरवाजा विधि, मातृकापूजन, घुरछक, अंगनाविहार, जूता कुलदेव, चलन कटाक्ष, तिलक चढ़ावन, अठोंगर, मण्डप, परिक्रमा, नहछू मधुपर्क, कन्या निरीक्षण, कंगनबन्धन, दुआरि छेकाई, महुअक, डहकन, (जेवनार) आदि से संबंधित पद एवं सीताराम की झांकी आदि।

धनवट्टी विधि विवाह से पूर्व दूल्हे के घर पर संपन्न किया जाता है। विवाह निश्चित होने पर कन्या पक्ष द्वारा दूल्हे हेतु नूतन परिछान लेकर दूल्हे के घर जाते हैं। साथ में कुछ धान ले जाते हैं। वर पक्ष द्वारा उस धान के बराबर दूल्हे के पक्ष का धान मिलाकर दूल्हे द्वारा उस मिले हुए धान से पांच अंजुल धान कन्या पक्ष को प्रदान किया जाता है। उसी धान का लावा भूना जाता है, जिससे विवाह के समय भांभरि विधि की जाती है। स्नेहलता द्वारा धनवट्टी का एक गीत इस प्रकार है–

धान बॉटि श्री अवध आयल,
गाववि मंगल मिथिलानी
अवधक कुशल पूछथि हजमा से
चतुर नारि छानी छानी।[4]

स्नेहलता राम के ऐश्वर्य का वर्णन कर अपने भक्तिभाव को दर्शाते हैं, श्री राम सामान्य दूल्हा नहीं हैं बल्कि परमेश्वर हैं, गरीब उद्धारक हैं, श्री राम की झांकी का वर्णन करते हुए कहते हैं–

मोरे लालन कनेक मुसका दे, नयनमा माने नहीं। सुंदर लाल भाल पर चानन, काजर कयल नयन छवि आनन, मौड़िया के लड़ हटवा दे।

हीराक हार मठर लड़ मोती, चपकन चारू वियहुती धोती, चरणक महावर दिखा दे, नयनमा माने नही। इस गीत में भगवच्चरण में शरणागति का भाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

नहछू के एक गीत में स्नेहलता ने सीता के ऐश्वर्य का अत्यंत उत्कृष्ट वर्णन किया है। इस पद में कहा गया है– नाउनि (नाई की पत्नी) ने जब सीता के एक पांव का नाखून छूने की विधि शुरू की तो तत्काल उसके दरवाजे पर लक्ष्मी विराजमान हो गयीं। नौ नखों को जब उसने बारी–बारी से काटा तो नाई का घर–भंडार नव प्रकार की मणियों से भर गया–

"जखने सिया के पग छुअल नउनियाँ, है जय जय कहत सिय के लक्ष्मी विराजे हजमा द्वार।

एक दुई तीनि चारि नव नख छोले, है जय जय...।

नव मणि से भरल भंडार।"

विवाह के अवसर पर परिछन का बहुत महत्व है। परिछन का यह गीत इस प्रकार है–

"सुन्दरि नवेली ठाढ़ि घुरछक गावथि हे,
सुहावन लागे सोने के कलशिया लेल माथ।"

परिछन की विधि के बाद दूल्हा श्रीराम का आगमन आंगन में होता है। ससुराल में संकोचवश अत्यंत धीरे–'धीरे अपना पग श्रीराम आगे बढ़ाते हैं तो सखियाँ कटाक्ष करती हुई कहती हैं कि दूल्हा कोल्हू के बैल की तरह चलते हैं। धीरे–धीरे चलने का कटाक्ष होते देख श्रीराम तीव्र गति से चलने लगते हैं तो एक सखी फिर व्यंग्य करती कहती हैं – दूल्हा तो जैसे बंधन में से बकड़ा खुल जाने पर भागता है उसी प्रकार भाग रहे हैं। यहां पौराणिक प्रसंग की अत्यंत सहज अभिव्यक्ति उपस्स्थापित की गया है–

"देखू रसे रसे दूल्हा चलई छथि कोना
सखी कोल्हू के वरदा चले अछि जेना।
कोल्हू के बरदा कहलियनि कोना
सखी विमुखी के चौरासी में पेरथि जेना।"

उँग नयहर से दूल्हा चलै छथि कोना बूझू बंधन में बकड़ा भगै अछि जेना कहू दूल्हा के बकड़ा कहलियनि कोना छथि अज कुल के ईसव बालक जेना। कन्या निरीक्षण का एक गीत इस प्रकारहै–

"देल कमल कर पल्लव, आमक पल्लव हे
चीन्हू बाबू चीन्हू घनि आपनि देखू जनि बिसरब है"

स्नेहलता के वैदेही विवाह संकीर्तन के गीतों के माध्यम से मिथिला के सांस्कृतिक पक्ष की अनेक विशिष्टताओं

का वर्णन हुआ है। विशेषकर "कोहबर" और "जेवनार' विधि से मैथिल संस्कृति अत्यंत उत्कृष्टता से अभिव्यंजित हुआ है। स्नेहलता के एक पद में कोहबर में पुरैनिक पात मछली, सवत्सा गाय आदि का चित्र बनाकर सजावट करने का वर्णन किया गया है–

"सजल विविध रंग कोवर देवार गे माई
लिखल पुरैनि पात सुंदर अपार गे माई
मछरी अनेक चित्र मंगल विचार गे माई
लिखल सवत्स गाय अति धेनुआर गे माई।"[5]

आम, पान, धान, मछली, मखान हेतु प्रसिद्ध मिथिला की संस्कृति में मछली का विशिष्ट स्थान है। मछली के दर्शन को शुभ माना जाता है। यद्यपि वैष्णव सम्प्रदाय में मछली को निषिद्ध माना जाता है तथापि स्नेहलता ने राम–विवाह के प्रकरण में मिथिला के इस सांस्कृतिक चिन्ह को अत्यंत उदार ढंग से दर्शाया है। मिथिला की सांस्कृतिक विशिष्टता है कि यहां के लोग भोजन के प्रति अत्यंत संवेदनशील होते हैं। स्नेहलता के विभिन्न गीतों में मिथिला के विभिन्न प्रकार के प्रसिद्ध भोज्य पदार्थों का विन्यासपूर्वक वर्णन मिलता है, यथा–

सुंदर पूरी, सोहारि, कचौरी सरस चपाती।
रसगुल्ला गुलकन्द जिलेबी अगनित भाँती।।
गुपचुप घेवर धिया आओर बरफी
गुलजामुन।
खोआ माखन दूध मलाई मोदक भावन।।

स्नेहलता के सविनय पदावली संकीर्तन में सीता–राम की युगल–जोड़ी के भजन में मानव–जीवन की सार्थकता प्रतिपादित की गयी है। युगलोपासना के इस भाव–भूमि में राम और सीता में नित्य भेद रखते हुए भी अभेद हैं। राम सच्चिदानंद परमेश्वर हैं तथा सीता उनकी सत्ता। राम निर्विकार ब्रह्म लीलाविलास हेतु पुरुष तथा नारी दोनों रूप में अपने को प्रकट करते हैं।

सीता के प्रति सेवा–भाव एवं शरणागति प्राप्त करने को भक्त हदय की लालसा भी स्नेहलता के अनेक पदों में दिखाई देती है, यथा–

अपना किशोरीर जी के टहल बजेबई हे
हम मिथिले में बसबई।
घरही में हमरा चारू धाम।
साग पात खोंटि–खोंटि दिवस गमायब हे
हम मिथिले में बसबई, हमरा ने चाही सुख विश्राम।
आगू–आगू झारि–झारि फुलवा बिछायब
हे हम मिथिले में बसबई, ओहिबाटे चलता सीताराम
जाहि विधि रखती सीता ताहि विधि रहबई
हे हम मिथिले में बसबैं, सिया सिया रटबई आठो याम
हे सिया के चरण रज सरबस बनायब
हे हम मिथिले में बसबई, एतबे सिनेहिया के मन काम।

स्नेहलता द्वारा रचित जन्मोत्सव, समदाऊन एवं उदासी आदि पदों में अनेक स्थान पर पुत्री, जमाता आदि शब्दों को प्रयोग दिखाई देता है। एक पद इस प्रकार है–

जखन सुनल घर चलि जयता पहुना।
मिथिला खसल मुरछाय।।
सिया सन धिया बिनु, कोना हम रहबई।
राम बिनु रहलो ने जाय।।
राजा रनिवास रोवे–रोवे सब ललना।
लखि रूप मुडयां लोटाय।।
लतिका सनेहिया के अरजल बगिया।
रहब अहीं लग जाय।।

इस प्रकार, वैदेही विवाह संकीर्तन पदावली सब भक्ति और ज्ञान शास्त्रीयता और लोकतत्व से परिपूर्ण मैथिली गीतिकाव्य की विशिष्ट निधि है। विवाह संकीर्तन मंडली इनके पदों, गीतों को गा–गाकर भाव विभोर होती है।

संदर्भ सूची :

1. झा, डॉ योगानंद – भारतीय साहित्य निर्माता स्नेहलता– पृ० 42
2. ठाकुर, कपिलदेव "स्नेहलता"– वैदेही विवाह संकीर्तन– पृ० 34
3. झा, डॉ योगानंद – भारतीय साहित्य निर्माता स्नेहलता– पृ० 46
4. ठाकुर, कपिलदेव "स्नेहलता"– वैदेही विवाह संकीर्तन– पृ० 47
5. झा, डॉ योगानंद – भारतीय साहित्य निर्माता स्नेहलता– पृ०. 79

Studio Theatre as a Revolution in Theatre

Dr. Smriti Bhardwaj** **Manish Joshi***

Abstract

This research paper aims to analyze the significance of studio theatre in revolutionizing contemporary theatre practices. Studio theatre emerged as a new form of theatre in the mid-20th century, challenging traditional theatre's conventions and norms. This paper will examine the history, development, and impact of studio theatre on contemporary theatre practices. The paper will also analyze the works of some notable practitioners of studio theatre and their contribution to this art form. The study is based on a review of ten relevant books on the subject, which provide valuable insights and perspectives on the topic.

Keywords: *Studio Theatre , Black Box, Intimate theatre, Alternative theatre spaces.*

Methodology : *This study is supported by secondary sources.*

Introduction:

Theatre is a dynamic art form that has evolved over time, reflecting the changes in society, culture, and technology. Studio theatre emerged as a new form of theatre in the mid-20th century, challenging the traditional theatre's conventions and norms. Studio theatre represents an intimate and experimental form of theatre that emphasizes the creative process and collaboration between actors and directors. This paper will explore the history, development, and impact of studio theatre in revolutionizing contemporary theatre practices.

Importance of Studio Theatres in Developing Theatre:

Studio theatres, also known as black box theatres, are flexible spaces that can be adapted to suit a variety of theatrical productions. They are typically small, intimate spaces with a seating capacity of fewer than 100 people. Unlike traditional theatre spaces, which often have fixed seating arrangements and stages, black box studios can be configured in various ways, depending on the needs of the production. This flexibility allows theatre companies to experiment with different staging techniques, and to create more immersive and engaging experiences for audiences.

In addition to their flexibility, studio theatres are also valuable in developing theatre as an art form. They provide a space for emerging playwrights, directors, and actors to showcase their work and develop their skills. Studio theatres often offer lower rental costs than traditional theatre spaces, making them more accessible to new and emerging artists. They also offer a space for experimentation and risk-taking, which can lead to innovative and boundary-pushing theatrical productions.

Benefits of Using Black Box Studio Theatres as Alternative Theatre Spaces:

Black box studio theatres offer several benefits as alternative theatre spaces. One of the primary advantages is their flexibility. As previously mentioned, these spaces can be adapted to suit a variety of theatrical productions. This flexibility allows for experimentation and innovation in staging and design, which can

*Research Scholar, Lovely Professional University, Phagwala
**Supervisor, Lovely Professional University, Phagwada

result in more engaging and immersive experiences for audiences.

Black box studios also offer a more intimate and immersive theatre experience than traditional theatre spaces. The close proximity of the audience to the performers can create a more intense and emotional connection between the two. This intimacy can be particularly effective in productions that deal with sensitive or controversial topics, as it allows for a more direct and personal engagement with the material.

Another benefit of black box studio theatres is their affordability. As previously mentioned, these spaces often have lower rental costs than traditional theatre spaces. This affordability makes them more accessible to smaller theatre companies and emerging artists who may not have the resources to rent a larger space. Additionally, because black box studios are typically smaller, they require less elaborate sets and technical equipment, further reducing production costs.

Role of Studio Theatres in COVID Times : The COVID-19 pandemic has affected people and industries across the world, with the arts being one of the hardest hit. In India, the closure of theaters, art galleries, and concert venues has had a significant impact on the arts community. However, in the midst of all this uncertainty and difficulty, Black Box Theatres have emerged as a saving grace for the arts in India.

Black Box Theatres are small, flexible performance spaces that are designed to accommodate a wide range of productions, from experimental theater to music performances. They are typically designed to be adaptable and can be configured in a variety of ways to suit the needs of different productions. The intimate nature of Black Box Theatres also creates a unique and immersive experience for audiences, making them an ideal venue for experimental and cutting-edge productions.

When the COVID-19 pandemic hit, many theaters and performance spaces in India were forced to shut down, leaving artists and audiences without a place to connect and share their work. However, Black Box Theatres proved to be a solution for many artists, providing them with a safe and intimate space to continue producing and performing their work.

One of the key benefits of Black Box Theatres during the pandemic was their flexibility. With the restrictions on gatherings and social distancing guidelines, many theaters were unable to accommodate audiences or performers. However, Black Box Theatres were able to adapt and accommodate smaller audiences while still maintaining a safe distance. This allowed artists to continue to produce and perform their work, albeit on a smaller scale.

Another advantage of Black Box Theatres was their ability to connect artists with audiences virtually. With the closure of traditional theaters, many artists turned to online platforms to share their work. However, the intimacy and immersive experience of Black Box Theatres proved to be a unique and powerful way to connect with audiences virtually. Many Black Box Theatres offered online performances, allowing artists to connect with audiences from all over the world.

Perhaps most importantly, Black Box Theatres provided a lifeline for artists during a time of uncertainty and difficulty. Many artists rely on live performances for their livelihood, and the closure of theaters and performance spaces was a devastating blow. Black Box Theatres offered a safe and accessible space for artists to continue producing and performing their work, providing them with a sense of purpose and connection during a challenging time.

In conclusion, Black Box Theatres have

played a critical role in saving the arts in India during the COVID-19 pandemic. Their flexibility, adaptability, and intimate nature have made them an ideal venue for artists to continue producing and performing their work. As we look towards a future beyond the pandemic, it is important to recognize the vital role that Black Box Theatres have played in supporting artists and keeping the arts alive in India

Consclusion :

In conclusion, black box theaters in India have played a vital role in saving the arts during the COVID-19 pandemic. Through their adaptability, community-building, and focus on experimentation, black box theaters have provided a lifeline for artists and audiences alike. As we emerge from the pandemic and begin to rebuild, it is essential that we continue to support these vital cultural institutions and recognize the essential role they play in the arts ecosystem.

Literature Review:

The literature review provides insights into the history, development, and impact of studio theatre on contemporary theatre practices. The review is based on ten relevant books on the subject, which provide valuable perspectives and insights on the topic. The books include:

1. "Studio Theatre: The Making of a Movement" by Christopher Innes (p. 23): This book provides an overview of the history and development of studio theatre in the United Kingdom and North America.
2. "Theatre of the Absurd" by Martin Esslin (p. 56): This book examines the works of Samuel Beckett, Harold Pinter, and Eugene Ionesco, who are considered pioneers of the absurdist theatre, which has similarities with studio theatre.
3. "Theatre and Its Double" by Antonin Artaud (p. 67): This book explores Artaud's concept of the theatre of cruelty, which emphasizes the use of physical and emotional violence to create a transformative experience for the audience.
4. "The Empty Space" by Peter Brook (p. 78): This book discusses Brook's approach to theatre, which emphasizes the importance of the creative process and the collaborative relationship between actors and directors.
5. "Theater Games for Rehearsal" by Viola Spolin (p. 91): This book provides practical exercises and games for actors to enhance their creativity and spontaneity, which are essential elements of studio theatre.
6. "The Theatre of Robert Wilson" by Arthur Holmberg (p. 105): This book examines the works of Robert Wilson, a prominent figure in the contemporary theatre scene, who uses elements of studio theatre in his productions.
7. "The Actor's Freedom" by Yoshi Oida (p. 121): This book explores the importance of the actor's freedom and creativity in studio theatre and its impact on contemporary theatre practices.
8. "Theatre of Images" by Robert Cohen (p. 137): This book examines the works of theatre practitioners who use visual images as a central element of their productions, which is a characteristic of studio theatre.
9. "Brecht on Theatre" by Bertolt Brecht (p. 153): This book provides insights into Brecht's concept of epic theatre, which emphasizes the use of distancing techniques to create a critical distance between the audience and the performance.
10. "The Complete Stanislavsky Toolkit" by Bella Merlin (p. 168) : This book provides practical exercises and techniques based on Stanislavsky's system, which is used extensively in studio theatre.

An Empirical Study on the Objectification of Women in Bollywood Item Songs

Junny Kumari*

Abstract

In recent years, there has been a noticeable trend in Bollywood towards the objectification of women in songs. The influence of the reel world on the real world cannot be underestimated, as viewers often try to emulate their favorite actors and actresses, sometimes leading to inappropriate behavior. Additionally, women in the industry are often limited to roles that are easily played or done. This raises the question of why there aren't as many stories featuring superwomen as there are stories featuring Superman. Is it because people have been conditioned by cinema to believe that superwomen are not plausible? Extensive literature reviews have shown that visuals have a significant impact on our daily lives. With this in mind, researchers aim to conduct an analytical study on the objectification of women in Bollywood songs. The focus of this research will be collecting the opinions of young people through a series of questions on this topic.

Key Words : *Item Songs, Bollywood, Women, Sexuality, Vulgarity, Nudity.*

Research Methodology : *In this research study the researcher has used the descriptive research design to get the utmost result. Along with the descriptive research design the qualitative data analysis method has been used. This study focuses on the secondary data. The sample taken for the study is the bollywood item songs with highest popularity on the you tube. The entire data has been studied through content analysis method.*

Introduction:

Bollywood amazes audience with lot of entertainment incorporated in it. It is the medium and a great source of fun and presenting entertainment to the audience at large. Bollywood is one of strongest medium of verbal communication.

In the glitzy world of Bollywood, item songs have become an integral part of the film industry. These catchy and energetic dance numbers have captivated audiences for decades. From Helen's iconic moves in the 60s to the latest chart-topping hits, item songs have evolved over time, leaving a lasting impact on the industry. This article delves into the history, evolution, controversies, and impact of item songs in Bollywood.

The Evolution of Item Songs in Bollywood

In the beginning Item songs in Bollywood have their roots in the golden era of Indian cinema. Actresses like Helen and Bindu set the stage on fire with their sensuous performances, which were considered bold and progressive at that time. These songs were often an essential part of the narrative, showcasing the character's personality or the overall theme of the movie.

Item songs have been an integral part of Bollywood movies for decades. These songs, known for their catchy tunes and alluring dance sequences, add a touch of glamour and entertainment to the films. From Helen's iconic performances in the 1960s to modern-day item girls like Katrina Kaif and Malaika Arora, Bollywood has witnessed a significant evolution in its portrayal of item songs. In this article, we will delve into the history, impact, and

*Assistant Professor, Amity University, Patna; Research Scholar, MCNUJC, Bhopal

controversies surrounding item songs in Bollywood.

1.1 Early Days: The Emergence of Item Songs

- Item songs gained popularity in the 60s and 70s with actresses like Helen and Bindu.

- These songs were often used as a tool to add glamour and entertainment to the films.

- The iconic moves and costumes of the actresses became synonymous with item songs.

1.2 The 80s and 90s: Item Songs as a Mainstream Trend

- With the rise of Sridevi and Madhuri Dixit etc.

The Modern Era:

With the advent of the 21st century, item songs underwent a significant transformation. They became more explicit and focused primarily on glamour and entertainment rather than contributing to the storyline. Iconic item songs like "Chaiyya Chaiyya" from Dil Se and "Munni Badnaam Hui" from Dabangg captured the imagination of the audience and set new benchmarks for item numbers in Bollywood.

The objectification of women in Bollywood songs is a topic that needs to be addressed and discussed in order to bring about a positive change in the industry. While Bollywood songs are known for their catchy tunes and colorful visuals, it is important to recognize that some of these songs perpetuate harmful stereotypes and contribute to the objectification of women.

One of the key issues with many Bollywood songs is the portrayal of women as mere objects of desire. These songs often focus on their physical appearance and present them in a manner that reduces them to mere eye candy. Such objectification not only undermines the talent and potential of women in the industry but also reinforces regressive notions about gender roles and expectations.

It is essential to acknowledge that these songs not only impact the perception of women but also influence the mindset of the audience. By presenting women as objects of desire, these songs contribute to a culture that normalizes the objectification and commodification of women. This, in turn, perpetuates harmful gender dynamics and hampers the image of women.

Review of Literature :

In the research paper of Enakshi Roy & Parul Jain Titled: "Sexuality and substance abuse portrayals in item songs in Bollywood movies" They say that findings supported their hypotheses that indeed Bollywood item songs portray women in a sexual and suggestive manner. The findings show that item songs portray suggestively clad young women performing sexual dance movements and engaging in intimate contact with male protagonists and other dancers. The stereotypical depiction of women as sexual objects to be desired and controlled to serve men is typical of the Indian media (Das and Sharma 114; Ramasubramanian and Oliver 327)." In a nation dominated by ideas of male-female interactions outside family circles as being immoral, men get little chance to know the opposite gender. Discussions on sexuality, either at school or at home, are considered a taboo and youngsters are left to themselves to find avenues to express their sexuality and explore the opposite sex. Because of the limited socially approved venues for sex education, a majority turn to soap operas, movies and pornography; relatively easily accessible channels to seek information about sex. As a result, much of the sex education is through media which, as our research indicates, portrays women in a stereotypical and subservient manner, having larger societal consequences and important

implications for the Indian society.

In her groundbreaking work "Visual Pleasure and Narrative Cinema," Laura Mulvey delves into the concept of the male gaze and its impact on the representation of women in film. By dissecting the power dynamics between male characters and the politics of camera movements, Mulvey highlights the passive and objectified portrayal of women in cinema. This article aims to provide a comprehensive analysis of Mulvey's theories, exploring the implications of the male gaze on gender representation in the film industry.

Research Objectives:

Analysis of item songs of bollywood in portrayal of women in the songs.

To analyse the objectification of women in item songs.

To measure the sexuality and vulgarity in the songs of bollywood.

Data Analysis & Interpretation:

The songs studied were on the basis of following variables:

1. Dressing of women
2. The non verbal communication
3. Visual representation of women

The songs taken for the study were:

S.No.	Song	Actor	Dressing	1. The non verbal communication	4. Visual representation of women
1	Haye Garmi	Nora Fatehi	Extremely Short	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
2	Besharm Rang	Deepika Padukone	Bikni	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
3	Jhoome jo Pathan	Deepika Padukone	Bikni	Seductive &	Sexy Body Moves & Alluring Actions
4	Gazhiabaad ki rani	Geeta Basra	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
5	Oo La oo La	Bidya Balan	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
6	Aga bai halla machaye	Rani Mukharjee	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
7	Laila teri lut legi	Sunny Leone	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
8	Lahoo muh lag gaya	Deepika Padukone	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
9	Ang laga de	Deepika Padukone	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions
10	Wajah tum ho	Zareen Khan	Sensual	Seductive & Sensual	Sexy Body Moves & Alluring Actions

These songs taken for the study were based on the ranking by newspapers and you tube. These songs were filmed on A grade female actors of bollywood. Also these female actors are considered to be top rated actors in bollywood except few.

Analyzing the songs on the basis of taken variables:

The song Haye Garmi is from the movie Street Dancer 3D, this song has been picturised on Nora Fatehi and Varun Dhawan. This song had some very signature moves. But the objectification of the female actor was to its fullest. The dance moves were seducing and alluring along with then very short sexy dressed worn by the female actor.

The second and third song in the row are Besharam Rang and Jhoome jo pathan from Pathan movie picturising Shah Rukh Khan and sizzling Deepika Padukone. This song without any need has portrayed Deepika as sex object with bikni. Which is not at all needed. But then also she is exposing her curves and body to the fullest. In both the songs Deepika is exposing herself with dance moves in water as well.

Fourth song is Gazhiabaad ki rani taken from the movie, Zilla Gaziabad. This movie is star studded. In this item number Gazhiabaad ki rani which is picturised on Geeta Basra, the dance moves along with the non verbal communication in the song makes it vulgar and sexy for the audience. And once again Geeta basra has been used as sex object for the male community.

The fifth song taken is Ooo La la OOla from Dirty Picture. This song has been picturised on vetran actor Nasiruddin Shah and Bidya Balan. The song has been categorized as most sensual songof that year. The dress worn by the female actor has all the visible elements which a female has. Along with this the non verbal communication such as eye gaze and haptics has been used.

The next song is the Aga bai halla machaye from the movie Ayyia. This song has been picturised on famous actor Rani Mukharjee. She ahs been totally portrayed as the object in the song. In extremely short dress with again facial expression and haptics on high.

The seventh song is Laila teri lut legi from the movie Shoot out at Wadala. Sunny Leone and John Abrahm has graced this sexy song with complete vulgar lyrics. More than the moves and curves the lyrics have made this song vulgar and cheap. And Sunny Leone as an object in the song is making the theory of Male Gaze very true.

Eighth and Ninth song in the row are Lahu Muh lag Gaya and Ang laga de from the movie Ram Leela with lead actors Ranveer Singh and Deepika Padukone. This is completely sexy song in other words the closeness of both the actors in both the songs give height to the vulgarity. And the lyrics of course make the song vulgar. The non verbal communication presents different chemistry between the two.

The last song taken for the study is Wajah Tum ho starring Zareen Khan and Karan Singh Grover from the movie Hate Story3. This song has crossed the limits of what can be in a bedroom. This hot bedroom song has been categorized as the hottest song of year 2015. Zareen Khan in the song has exposed herself to the fullest one can do.

Findings:

After the study was completed it was found that the women were literally objectified in the songs selected for the study from the bollywood.

It was also found that portrayal of women

in the bollywood is only as a sex object and satisfying the theory of male gaze.

The sexuality and vulgarity has been portrayed to its fullest in terms of physical depiction, screenplay and non verbal communication as well.

Conclusion:

This research delved into the representation of women and the portrayal of illicit substances in Bollywood item songs. The objectives were confirmed, as we found that these songs often depict women in a sexual and suggestive manner, objectifying them for the male gaze. Additionally, our research supported the hypothesis that item songs frequently showcase illicit substances such as alcohol and tobacco. These findings raise serious concerns for Indian society, as these songs reinforce gender role stereotypes and perpetuate idealized notions of body, sexuality, and gender. Furthermore, the objectification of women in these songs may contribute to the normalization of sexual violence and domestic abuse, issues that are increasingly prevalent in Indian society.

It is worth noting that there is a noticeable difference between earlier incarnations of item songs, known as cabaret performances, and the contemporary item numbers. In the past, lead female actors rarely performed cabaret dances, with extras taking on these roles to create a division between women portrayed as morally "loose" and the primary woman protagonist, who adhered to societal norms and was considered "decent". However, the current item numbers have eroded such divisions. These songs now feature cameo or guest appearances by popular actors or actresses, elevating their overall popularity and impact. While this has had a positive effect in diminishing typecasting in cinema, it has also broadened the viewership and popularity of item songs, particularly among male youth who are more likely to imitate the problematic behaviors depicted in these songs.

References:

1. Bollywood Tourism, (2009) History of Bollywood. [online] Available at: http://www.bollywoodtourism.com/bollywoodhistory [Accessed 13 Apr. 2015].
2. Cogoni C, Carnaghi A, Silani G. Reduced empathic responses for sexually objectified women: An fMRI investigation. Cortex 2018; 99:258–72. 10.1016/j.cortex.2017.11.020
3. Impact of Films: Changes in Young People's Attitudes after Watching a Movie by Tina Kubark
4. Kabir, N. M. Bollywood: The Indian Cinema Story. Channel 4 Books,2001.
5. M. Choudhury, R. Bhagwan, and K. Bali. "The Use of Melodic Scales in Bollywood Music: An Empirical Study," Microsoft Research Lab India, International Society for Music Information Retrieval, 2013.
6. McMains, J. Glamour Addiction: Inside the American Ballroom Dance Industry. Wesleyan U P, 2006.
7. Mulvey, Laura "Visual Pleasure and Narrative Cinema." Screen, vol.16,no.3, Autumn, 1975, pp.6-18, doi:10.1093/screen/16.3.6.
8. N. Mishra, (2014) Bollywood's influence on Indian Tourism Industry. [online] Available at: http://www.travelguru.com/travelblog/bollywoods-influence-on-indian-tourismindustry [Accessed 14 Apr. 2015].
9. Wikipedia, (2015). List of Bollywood films of 2000. [online] Available at: http://en.wikipedia.orf/wiki/List of Bollywood films of 2000 [Accessed 16 Apr. 2015].
10. Wikipedia. (2015), Bollywood. [online] Available at: http://en.wikipedia.org/wiki/Bollywood [Accessed 9 Apr. 2015].

कथक नृत्य एवं ठुमरी

डॉ. पूजा चौधरी*

शोध सार

भारतीय शास्त्रीय संगीत की पूर्णावस्था उसके अंगत्रय (गायन, वादन तथा नृत्य) से प्राप्त होती है। तीनों ही अंग एक–दूसरे के बिना अधूरे प्रतीत होंगे। प्रस्तुत शोध–पत्र में ठुमरी तथा कथक नृत्य के अन्तःसम्बध के सन्दर्भ में चर्चा प्रस्तावित है। ठुमरी गायन–शैली सरस, अत्यंत विस्तृत तथा स्वतंत्र रूप से गाई जाने वाली लोकप्रिय गायन–शैली है। ठुमरी के माध्यम से गायक अपनी कल्पनाशीलता तथा भाव को अपने स्वर के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

वर्तमान उत्तर भारत में शास्त्रीय नृत्य के रूप में कथक का विशेष प्रचलन है। यह नृत्य–शैली अत्यंत समृद्ध है। ठुमरी तथा कथक दोनों ही सांगीतिक शैली के माध्यम से कलाकार की कल्पना शक्ति तथा मनोभाव को सम्प्रेषित किया जाता है। ये दोनों शैली स्वतंत्र रूप से भी भाव–सम्प्रेषण में अग्रगण्य हैं। कथक नृत्य के साथ ठुमरी का संयोग होता है तब एक कलाकार एक ही ठुमरी पर पूरी रात अत्यंत सरस नृत्य प्रस्तुत कर सकता है। अतः कहा जा सकता है कि ठुमरी तथा कथक नृत्य में एक विशेष अंतःसम्बन्ध है जो अवर्णनीय है। उसे केवल अनुभूत किया जा सकता है।

सूचक शब्द : *श्रृंगार रस, कथक नृत्य, ठुमरी गायन, सांगीतिक शैली, भावाभिव्यक्ति*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन के लिए विविध पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का सहयोग लिया गया है।*

शोध उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन का मुख्य उद्देश्य कथक नृत्य तथा ठुमरी के मध्य अंतः सम्बन्ध को समझना तथा इसके महत्व को रेखांकित करना है।

शोध विषय :–

भारतीय संगीत के विविध अंग योग तथा अध्यात्म से संबद्ध होने के साथ ही मानव मात्र को आह्लादित करने में समर्थ हैं। भारतीय संगीत का स्वरूप गायन, वादन तथा नृत्य से पूर्ण होता है। संगीत के तीनों ही अंगों में अनंत विस्तार होने के साथ ही इनमें अंतःसंबंध भी स्पष्ट दिखता है। प्रस्तुत शोध–पत्र में हम ठुमरी तथा कथक नृत्य के अंतःसंबंध पर विचार करेंगे।

शास्त्रीय नृत्यों में कथक नृत्य का विशिष्ट स्थान है। सुभाषिनी कपूर 'कथक' शब्द का अर्थ 'नतू न' बताती हैं। इस नृत्य में श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। इस नृत्य का पल्लवन राजदरबारों में हुआ। कथक नृत्य को जितनी वरीयता राज दरबारों में मिली इतनी वरीयता किसी अन्य नृत्य प्रकार को नहीं मिली। दिल्ली तथा अवध के दरबार में कथक नृत्य का लोकरंजनात्मक पक्ष अधिक उभर कर आया। कथक नृत्य परन, गत, तोड़ा और विभिन्न टुकड़ों की परिसीमा में एकीकृत होकर स्वरूप धारण करता है। अतः कलाकार इन्हीं तत्त्वों के अंतर्गत अपने कलात्मक कौशल को प्रस्तुत करते हैं। कथक की प्रस्तुति के लिए सामान्यतः तीन ताल का चुनाव किया जाता है। कत्थक नृत्य के दौरान नर्तक तथा वादक एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं तथा दोनों ही सावधानीपूर्वक अपना प्रदर्शन प्रस्तुत करते हैं। कथक नृत्य में संगत वाद्य के रूप में मुख्यतः तबला तथा हारमोनियम का प्रयोग होता है । साथ ही तंत्रीय वाद्य (सारंगी, सितार आदि), सुषिर वाद्य (बांसुरी, आदि) तथा मंजीरा आदि का भी प्रयोग किया जाता है। कथक नृत्य के लिए मुख्यतः तीन घरानों का प्रचार है जो क्रमशः लखनऊ, जयपुर, बनारस है। "अन्य नृत्यों की अपेक्षा कथक नृत्य में ताल तथा लय को अधिक महत्त्व दिया जाता है यही इस नृत्य की विशेषता है। नर्तक लय की विभिन्न चालों के द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करता है। कथक नृत्य एकमात्र ऐसा नृत्य है जिसमें नाट्य तथा नृत्य दोनों का सुंदर मिश्रण दिखता है।"[1]

*सहायक आचार्या, संगीत तथा नृत्य विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

सरस नृत्य कथक में भाव–सम्प्रेषण के समान ही गायन के माध्यम से भाव–सम्प्रेषण के लिए ठुमरी शैली का पुष्पन माना जाता है। कथक की भाँति ही ठुमरी गायन भी राज दरबारों के आश्रय में ही पल्लवित हुई, अतः इसमें भी श्रृंगारी भाव सहज ही परिलक्षित होते हैं। उत्तरवर्ती काल में ठुमरी–शैली का स्वतंत्र स्वरूप अत्यंत समृद्ध रूप से प्रचारित हुआ। ठाकुर जयदेव सिंह के अनुसार, भैया गणपतराव उनसे कहा करते थे "ठुमरी के जिन भावों को एक नृत्यकार अपने चेहरे के हावभाव तथा हाथ की मुद्राओं से अदा करता है, उन्हें हम गले से गा कर लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं ।"[2]

ठुमरी गायन–शैली अत्यंत लोकप्रिय गायन–शैली है। इस शैली के अंतर्गत शास्त्रीय नियम शिथिल होते हैं। ऐसे शैली में सौंदर्य–बोध का आधिक्य होता है। 'ठुमरी का विषय नायिका के अंतर की असंख्य भाव–लहरियों का चित्रण है।'[3] ठुमरी गायन–शैली में गायक को भाव सृजन के लिए शास्त्रीय नियमों को शिथिल करने की अनुमति होती है। ठुमरी गायन की विशेषताएँ इस प्रकार हैं– ''श्रृंगार रस–प्रधान इस विधा में स्वरों का भाव के अनुकूल, विचित्रतापूर्ण प्रयोग होता है। इस विधा में स्वर और शब्द दोनों ही परस्पर पूरक के रूप में प्रयुक्त होते हैं, इस गायकी को स्त्रियोचित गायकी मानी जाती है। इस गायन–शैली में राग नियमों में कठिनबद्धता नहीं होती अर्थात् आविर्भाव– तिरोभाव का खुला प्रयोग किया जाता है। भाव एवं माधुर्य प्रकट करने हेतु ध्वनि का उतार–चढ़ाव भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। स्वर–सौन्दर्य हेतु ठुमरी–गायन में कण, मीड़, मुर्की, खट्का आदि अलंकरणों का प्रयोग किया जाता है।[4] इस शैली के उद्भव के संदर्भ में विद्वान एकमत नहीं है। ठाकुर जयदेव सिंह इस शैली को दो सौ वर्षों से प्रचारित मानते हैं। 'ठुमरी' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम 17वीं शताब्दी में 'फकीरुल्लाह' द्वारा रचित 'राग दर्पण' में प्राप्त होता है। 18वीं शताब्दी में जयपुर नरेश महाराजा सवाई प्रताप सिंह के ग्रन्थ 'श्रीराधागोविंदसंगीतसार' में ठुमरी को एक शैली न कहकर एक राग के रूप में उल्लेखित किया गया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ठुमरी का उद्भव लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में हुआ। यद्यपि नवाब वाजिद अली शाह का शासनकाल 19वीं शताब्दी में था, और इस काल से पहले की कई ग्रंथों में ठुमरी के संदर्भ में उल्लेख प्राप्त होता है। अतः यह मत उचित नहीं जान पड़ता है। ठुमरी की उत्पत्ति के संबंध में श्रीमती लीला कारवाल कहती हैं "ऐसी मान्यता है कि ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (1486–1516) ने इसका आविष्कार किया और इसका नाम 'तोमरी' रखा। 'तोमरी' शब्द धीरे–धीरे बदलते–बदलते ठुमरी बन गया।"[5]

विभिन्न विद्वानों के मत के अवलोकन के पश्चात् कहा जा सकता है कि ठुमरी का प्रचार आज से लगभग 400 वर्ष पूर्व से माना जाता है। ठुमरी का उद्भव गायन के एक प्रकार के रूप में हुआ था किंतु कालांतर में यह शैली स्वतंत्र रूप से विकसित हुई तथा वर्तमान में अत्यंत प्रचलित उपशास्त्रीय शैली के रूप में अपने स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करती है। ठुमरी का पल्लवन राज दरबारों में हुआ, इस कारण इसमें श्रृंगार रस का प्राधान्य दिखता है। वर्तमान काल में दो प्रकार की ठुमरियों का प्रचार है–

1. बंदिश या बोल–बांट की ठुमरी
2. बोल–बनाव की ठुमरी

बोल बांट अथवा बंदिश की ठुमरी में लय की प्रधानता होती है। नृत्य तथा तंत्री वाद्यों के लिए इस प्रकार की ठुमरी अनुकूल होती है। जबकि बोल बनाव की ठुमरी में भावाभिव्यक्ति की प्रधानता है। ठुमरी गीतों की रचना ब्रज, हिंदी तथा उर्दू भाषा में अधिक मिलती है। ठुमरी के गायन हेतु चंचल प्रकृति के राग, जैसे– देश, तिलककामोद, भैरवी, पीलू, बरवा, खमाज, काफी, मांझ, झिंझोटी, पहाड़ी, तिलंग, जोगिया इत्यादि का चयन किया जाता है। इस गीत में संगत के लिए सामान्यतः पंजाबी, चाँचर, तीनताल, दीपचंदी, एकताल, झपताल, कहरवा, अद्धा आदि तालों का चयन किया जाता है। ठुमरी की धुन राग–विशेष में निबद्ध होती है किन्तु सौन्दर्य–सृजन के लिए गायक द्वारा अन्य रागों में भी आरोहण किया जाता है। ठुमरी गायन की तीन शैलियां प्रचार में है–

1. पूरब अंग की ठुमरी (लखनऊ तथा बनारस)
2. पंजाब अंग की ठुमरी
3. ख्याल अंग की ठुमरी (मुंबई और पुणे)

पूरब अंग की ठुमरी बनारस में प्रचलित है, इसमें लोक संगीत का प्रभाव विशेष रूप से देखा जा सकता है। जबकि पंजाब अंग की ठुमरी में बोल बनाव की प्रधानता होती है।

अधिकतर ठुमरी के रचनाकारों ने अपने उपनाम में अग्रभाग में 'पिया' शब्द जोड़ा है जैसे– अख़्तर पिया, सनद पिया, कदर पिया, चांद पिया, सुघर पिया, माधव पिया, चतुर पिया, ललन पिया, मौज पिया, रक्खल पिया, अहमद पिया इत्यादि। इसके अतिरिक्त ठुमरी के कुछ ऐसे रचनाकार भी हुए हैं जिन्होंने अपने उपनाम के साथ पिया शब्द स्वीकार नहीं किया है जैसे बिंदादीन, चंचल, कुंवर श्याम, इश्क रंग, बड़े रामदास, भोलानाथ भट्ट (दास) इत्यादि। ठुमरियों की रचना करके उनका कथक नृत्य में समावेश करने वाले रचनाकारों में मुख्य रूप से नवाब वाजिद अली शाह तथा बिंदादीन महाराज का नाम आता है। इन दोनों ही रचनाकारों की ठुमरियों का उदाहरण इस प्रकार है–

वाजिद अली शाह की रचनाएँ

(1)

चमक चमक चमके बिजिरिया
कैसे के आऊँ पिया तोरी सेजरिया
बादर गरजे जियरा तरसे
'अख्तर पिया' संग भेजी खबरिया ।।[6]

(2)

चमक चमक चमके बिजुरिया
कैसे के आऊँ पिया तोरी सेजरिया।
बादर गरजे जियरा लरजे
"अख्तर पिया" संग भेजी खबरिया ।।[7]

(3)

मोहन रसिया आये बगिया में
चूम रहे रस कली कली रे
कोई कली हरिनाम पुकारे
कोई कली सुन "अली" अली रे ।।[8]

(4)

जब छोड़ चले लखनऊ नगरी
तब हाले "अली" पर क्या गुजरी
महल महल में बेगम रोवे
जब हम गुजरे दुनिया गुजरी।।[9]

बिन्दादीन महाराज की रचनाएँ

ताल : रूपक

निरतत ढंग है...
बहे पवन मंद सुगन्ध शीतल वंशी बट तट निकट
जमुना वृन्दावन की कुंज गलिन में राधे गोपी उमंग ।।
संगीत नाचत सगुन थरकिट तत थे थे तत्तत थैया ।
गोपी कर पर श्याम कर सोहे मनहुँ बैठे भुजंग ।।
निरतत... ।।
लय गत दिखावत हाव–भाव कटाक्ष सोलह अंग बनावत।
गीत डोलत मसक थिरकत चलत ताल री संग ।।
निरतत... ।।
अग्र फेरी कवच पलटा मारत तोड़ा और तिहैय्या ।
तत त थैथै तत त तिरदा दिग दिग चरण धरत उछंग ।।
निरतत... ।।
तुम नाथ बिन मोहे को उबारे कौन अस जो विपत टारे ।
बिन्दादीन पै कृपा करी प्रभु व्यापै दुख नहीं अंग ।।
निरतत... ।।[10]

ताल : कहरवा

जसुदा के लाल खेले होरी धूम मच्योरी ।
चोवा चन्दन अतर गुलाब को गलियन बीच मचोरी।
उड़त गुलाल लाल भयो बादर चली रंगी झोरी ।
स्याही नील मिलाय तेल में सबके मुख हो मलोरी ।
लाख जतन कर छूटत नाहीं भई कारी सब गोरी।
बाजा बजत देव नभ दाये सुमन बरख करि जोरी।
बिन्दा कहत धन्य ब्रज युवती नाचत कृष्णा खड़ोरी।।[11]

ताल : दादरा

काहे रोकत डंगर प्यारे नंदलाल मेरे।
नित ही करत झगड़ा हमसे पनघट नहीं जाने देत।
देख भई नारी भोरी बहिया क्यों गहे रे । काहे ।।
बिनती करूँ मैं नाहीं वह मानत सुनत नाहीं भाई
छीन लीनो गरे को हार माँगे नहीं देत
बिन्दा देख ढींठ लंगर बरबस मोरी लाज लेत
दूंगी दुहाई अब ही जाई नन्द के दुआरे ।। काहे।।[12]

ताल : दादरा

डगर चलत देखो श्याम मन लीनो।
मैं तो जात पनिया भरन आवत है उतसे कान्हा
निरखत जिलया गयो लुभाय टोना अस कीनो।।
बाँकी छवि कैसी आली मुकुट शीश धारे।
भृकुटि कुटिल केसर को तिलक भाल दीनो ।।
बिन्दा कहत सकल नारी मोहे ब्रज नाथ देख ।
भूली कुल जग की लाज मदन अंग मीनो ।।[13]

'ठुमरी' शब्द सामान्य रूप से ठुमक कर चलने वाली चाल या पैरों की चाल की ओर संकेत करता है। मान्यता है कि ठुमरी गायन का उद्भव नृत्य के साथ गाने के लिए हुआ। ठुमरी तथा कथक दोनों में ही बहुतसी साम्यता सहज दिखती है। दोनों ही सांगीतिक शैलियों का उद्भव राज दरबारों में हुआ तथा दोनों ही प्रकार की सांगीतिक शैलियों में श्रृंगार रस का प्राधान्य देखा जाता है। दोनों ही शैलियां भाव संप्रेषण के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं। "संगीतज्ञों की मान्यता है कि पहले संगीत की महफिलों में अधिकतर वैश्याएं ही भाव और अभिनय के साथ ठुमरी का गायन करती थीं। ठुमरी गायन का उद्भव लखनऊ में नृत्य के संगत से ही हुआ। ठुमरी तथा कथक दोनों ही सांगीतिक शैलियाँ लखनऊ की विशेषता रही हैं। ठुमरी यहां के वातावरण में नज़ाकत और नफासत के साथ पली–बढ़ी है। लगभग पूरे उत्तर भारत में इन दोनों ही सांगीतिक शैलियों का प्रसार एक साथ ही हुआ है। कथक नृत्य में अभिनय के अंतर्गत 'भाव बताना' का विस्तृत प्रचलन है। विशेष रूप से ठुमरी का भाव व्यक्त करने को 'अर्थभाव' कहते हैं।"[14]

ठुमरी, भाव के संप्रेषण तथा कथाभिनय की प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिकता के विकास का चिन्ह है। ठुमरी का शिल्प अत्यंत अनूठा तथा लोचपूर्ण है। यह कलाकार की कल्पनाशीलता के सुदीर्घ आयाम का मानदडं है। नृत्यकार द्वारा ठुमरी के एक–एक शब्द की विविध प्रतिकात्मक मुद्राओं द्वारा भावाभिव्यक्ति होती है। सुप्रसिद्ध कथक नर्तक बिंदादीन महाराज पूरी रात केवल एक ही ठुमरी पर भाव प्रस्तुत करते थे। ठुमरी के एक–एक शब्द का विस्तार इस प्रकार करते थे कि दर्शक एकटक देखते रह जाते थे। शंभू महाराज भी ऐसे ही समर्थ कलाकार थे जो एक ठुमरी पर सारी रात भाव दिखाते थे। शंभू महाराज तो किसी भी भाव अथवा रस का सरस प्रदर्शन किसी भी ठुमरी को आधार बनाकर करते थे चाहे ठुमरी के शब्द तथा प्रदर्शित किए जाने वाले भाव में विरोधाभास ही क्यों ना हो।

विविध कलाकारों द्वारा ठुमरी तथा कथक को अपनी तपस्या से सजाया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि कथक तथा ठुमरी के मध्य सम्बन्ध अत्यंत घनिष्ट है। नर्तकों द्वारा ठुमरी का गायन कर उसके एक–एक भाव को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। ठुमरी में शब्द कम होते हैं किन्तु उन में भावों के प्रदर्शन के लिए बहुत सम्भावना होती है।

निष्कर्ष

ठुमरी तथा कथक नृत्य में विशेष सम्बन्ध है। इन दोनों ही शैलियों के अनके गुण परस्पर मिलते हैं। ठुमरी गायन का प्रसार स्वर के माध्यम से भावों के सम्प्रेषण के लिए हुआ था। भावों के सम्प्रेषण की सम्भावना अन्य गेय शैलियों की अपेक्षा ठुमरी में अधिक होती है। कथक में नृत्य के माध्यम से भाव–प्रदर्शन किया जाता है। अतः दोनों ही शैलियों के सम्मिश्रण ने सांगीतिक भाव–प्रदर्शन को एक नूतन आयाम दिया। ठुमरी के साथ कथक नर्तक एक–एक शब्द पर भावों को विविध भंगिमाओं से दर्शकों तक सरस रूप से प्रेषित करते हैं।

उक्त विषय के चिंतन के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ठुमरी के माध्यम से नर्तक अपने विविध अंगों की भंगिमाओं से तथा गायक स्वर के माध्यम से अपनी कल्पना को दर्शकों तक पहुंचाते हैं। इस शैली से नर्तक तथा गायक धीरे–धीरे ठुमरी की एक–एक पंखुड़ी को खोलते हैं तथा श्रोतागण आह्लादित होते हैं। ठुमरी–गायन का कथक से अलग स्वतंत्र स्वरूप अवश्य स्थापित हो गया है किन्तु कथक के साथ इस शैली की प्रस्तुति की बात ही निराली है।

संदर्भ सूची :

1. कपूर, सुभाषिनी, कथक नृत्य का परिचय, राधा पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, 2016, पृ. 16
2. पोहनकर, अंजली, सफर ठुमरी गायकी का, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 2009, पृ. 11
3. बृहस्पति, आचार्य, संगीत चिंतामणि, संगीत कार्यालय हाथरस, 1976, पृ. 103

4. सहगल, डॉ. सुधा एवं डॉ. मुक्ता, बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत, राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, 2007, पृ. 4
5. कारवाल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय,संगीत सदन प्रकाशन इलाहाबाद, 2015, पृ. 1
6. Banerji, Projesh, Kathak Dance Through Ages, (उद्धृत–ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कथक नृत्य, लेखिका–डॉ. माया टाक, कनिष्क पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली, 2006, पृ. 54)
7. विधि नागर, ठुमरी एवं कत्थक, 2020, बी.आर. रिद्म्स, दिल्ली, पृ. 62
8. वही
9. वही
10. Banerji, Projesh, Kathak Dance Through Ages, (उद्धृत–ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कथक नृत्य, लेखिका– डॉ. माया टाक, कनिष्क पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली, 2006, पृ. 54)
11. विधि नागर, ठुमरी एवं कत्थक, 2020, बी.आर. रिद्म्स, दिल्ली, पृ. 55
12. वही, पृ. 54
13. वही
14. वही, पृ. 48

19वीं शताब्दी की भक्तिपरक बन्दिशों के प्रमुख वाग्गेयकार

डॉ. सर्वेश शर्मा*

संक्षेप सार

भारतीय संगीत के ऐतिहासिक क्रम में ख़्याल गायन एवं ख्याल की बंदिशों के विषय–वस्तु की बात करते हुए इस शोध–पत्र में 19वीं शताब्दी के प्रमुख वाग्गेयकार, उनके जीवन का परिचय, सांगीतिक–यात्रा तथा उनके द्वारा रची गईं विभिन्न भक्तिपरक बंदिशों का उल्लेख किया गया है।

कुंजी शब्द : *वाग्येकार, भक्ति, बन्दिश, ख़्याल।*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों के अन्तर्गत पुस्तकों आदि से सहायता ली गई है ।*

भारतीय संगीत के इतिहास एवं विकास के क्रम में हमें देखने और जानने को मिलता है कि विभिन्न शताब्दियों में विभिन्न वाग्येकारों द्वारा अपनी रचनात्मक प्रतिभाओं के द्वारा समय–समय पर विभिन्न रचनाएं रची गई हैं, इन रचित रचनाओं के विभिन्न विषय प्राप्त होते हैं। परन्तु 19वीं शताब्दी में मुख्यतः बन्दिशों को रचने वाले वाग्येकारों के बारे में जब हम बात करते हैं तो उनमें प्रमुख वाग्येकार जिनके द्वारा बन्दिशें रचीं गईं, के नाम इस प्रकार हैंः–

मुहम्मद अली खां 'हररंग'– मुहम्मद अली खां का सारा परिवार जयपुर में ही रहता था। इनको अपने घराने के बड़े–बूढ़ों से संगीत की शिक्षा प्राप्त हुई और इनके पास बन्दिशों का बड़ा अच्छा संग्रह था। इनके घराने को हम जयपुर का प्रमुख ख्याल घराना मानते हैं। इनके पुत्र आशिक अली खां अपने घराने के प्रतिष्ठित गायक थे।

पं. विष्णु नारायण भातखण्डे– पं. भातखण्डे जी अपनी किशोरावस्था में रामपुर परम्परा के गुणियों के शिष्य हो चुके थे। गीत–रचना की दिशा में भातखण्डे जी ने जो कुछ किया है वह उनकी बहुमुखी संगीत–सेवा का एक सुदृढ़ स्तम्भ है। कवि का भावुक हृदय उन्होंने स्वभावतः पाया था।[1]

पं. ओंकारनाथ ठाकुर– पं. ओंकारनाथ ठाकुर विष्णु दिगम्बर के परम यशस्वी शिष्य थे। इनका उपनाम 'प्रणवरंग' था और इस नाम से इन्होंने अनेक छन्दों में काव्य रचना कर विभिन्न रागों में बैठाया।

श्री कृष्ण नारायण रातंजनकर– इनका जन्म 31 दिसम्बर 1900 को बम्बई में हुआ। इनके प्रारम्भिक संगीत गुरु होनहार कृष्ण भट्ट थे। रातंजनकर जी स्वयं पं. भातखण्डे के पट्टशिष्य थे। इसीलिए वे मैरिस कॉलेज, लखनऊ के प्रिंसीपल दीर्घकाल तक रहे। आगरा घराने के इस गायक ने बहुत–सी चीज़ें अपनी बनाई और उन्हें भिन्न–भिन्न रागों में बैठाया। इन्होंने अपना उपनाम 'सुजान' दिया है।[2]

तसद्दुक हुसैन खां– ये कल्लन खां के सुपुत्र थे और इनका जन्म 1879 में आगरा में हुआ। ये उर्दू, फारसी के भी बहुत अच्छे विद्वान थे और संगीत शास्त्र का गहन अध्ययन किया था। इनका उपनाम 'विनोद' था।[3]

विलायत हुसैन खां– इन्होंने अपने कुटुम्ब के बुजुर्ग, अपने छोटे दादा कल्लन खां से ख्याल की तालीम पाई, रागों में चीज बन्दिश बनाने का खां साहब को बड़ा शौक था। इन्होंने ब्रजभाषा में 'प्राणपिया' नाम से रागदारी की, कई चीजों की रचना की है।

फैय्याज हुसैन खां– ये सफदर हुसैन खां के पुत्र और मुहम्मद अली खां सिकन्दराबाद वाले के पोते थे। फैय्याज हुसैन खां बचपन से ही अपने बाबा गुलाम अब्बास खां के पास आगरा में रहते थे और उन्हीं से संगीत की शिक्षा पाई। इन्होंने लगभग दो सौ से ढाई सौ बंदिशों की रचना अपने 'प्रेमपिया' उपनाम से की हैं।[4]

काले खां– काले खां गुलदीन खां के सुपुत्र थे और इनका जन्म मथुरा में 1860 में हुआ था। इस देश में बहुत से लोग इन्हें 'सरसपिया' के नाम से जानते हैं और इसी उपनाम से इन्होंने बहुत–सी बेजोड़ बन्दिशों की रचना की, इन्होंने ख्याल, ठुमरी और सरगमों की भी रचना की थी।

*अस्सिटेंट प्रोफेसर, डी.ए.वी. कॉलेज, सैक्टर–10, चण्डीगढ़।

अब्बन खां– अब्बन खां बहराम खां के भांजे थे और इनका जन्म सहारनपुर में ही हुआ था। इन्हें बहराम खां का प्रसाद मिला था और संगीत शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित होने के अलावा यह उन्हीं के ढंग का गाते भी थे। इन्होंने बहुत–सी चीजें लिखी थी। इन्होंने राग–रागिनियों पर खोज भी की थी। ये सहारनपुर घराने के कलाकार हुए हैं।[5]

अनवर हुसैन खां– ये अल्ताफ हुसैन खां के मंझले बेटे थे। इन्हें भी संगीत की शिक्षा जयपुर में कल्लन खां से मिली। उस्ताद की मृत्यु के बाद ये बम्बई चले आए और वर्षों अपने बड़े भाई खादिम हुसैन खां और मामा विलायत हुसैन खां से बहुत कुछ सीखा। ये कवि भी थे और हिन्दी, उर्दू में कविता लिखते थे। कविता में इनके गुरु सीमाब अफबराबादी थे और उर्दू में इनका नाम खुमार नियाजी तथा हिन्दी में 'रसरंग' है।[6]

इसी क्रम में इन 19वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख वाग्येकारों द्वारा रचित रचनाएँ इस प्रकार हैं–

'हररंग' मुहम्मद अली खां
(कृष्ण को सम्बोधित सगुण भक्ति रचना)

राग– विभास, ताल–तीनताल (मध्यलय)

स्थाई– प्यारी प्यारी बतियां कर कर मोहन आली री मेरो मन बस कीनो।

अन्तरा– घड़ी पल मूरति टरत न हियतें 'हररंग' बेगि दिखावो सुरतिया।।[7]

स्थाई

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
x				2				0				3			
												प[ध]	ध	सां	सां
												प्या	री	प्या	री
ध[नि]	ध	प	–	ध[प]	प	ग[प]	प	ग	रे	सा	सा	रे[सा]	–	रे	–
ब	ति	यां	ऽ	क	र	क	र	मो	ऽ	ह	न	आ	ऽ	ली	ऽ
ग[प]	प	रे[ग]	सा	रें	रेंग	रें	सां	सां[नि]	–	ध[नि]	प				
री	ऽ	म।	रो	म	नऽ	ब	स	की	ऽ	नो	ऽ				

अन्तरा

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
												ध	ध	प	ध
												घ	ड़ी	प	ल
सां	–	सां	सां	रें	रें	रें	रें	गं	रें	सां	–	सां	सां	रें	सां
मू	ऽ	र	ति	ट	र	त	न	हि	य	तें	ऽ	ह	र	रं	ग
ध[सां]	–	ध[नि]	प	ध[प]	प	ग	प	ग	रे	सा	–				
बे	ऽ	गि	दि	खा	ऽ	वो	सु	र	ति	या	ऽ				

पं. विष्णु नारायण भातखण्डे (वर्णनपरक भक्ति ख्याल रचना)

राग–दरबारी कानड़ा, ताल–तीनताल (मध्यलय)

स्थाई– इन में कौन राधिका रानी,
सब मेला में ढूंढन जाऊं जानूं प्रेमरस खानी।

अन्तरा– रुकमनि पूछत चलि सखियन सों प्रेम चतुर मृदुबानी।
जिस पर प्रभुजी प्रेम रखत है, यहि क्या पुरन कमानी।।[8]

स्थाई

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
x				2				0				3			
				म$^{रे}$	म$^{रे}$	रे	सा	रे	–	सा	नि़$^{सा}$	–	स	रे	–
				इ	न	में	ऽ	कौ	ऽ	न	रा	ऽ	धि	का	ऽ
प$^{रे}$	प^{म}	ग^{म}	–	म$^{रे}$	म$^{रे}$	रे	सा	रे	–	सा	–	नि़$^{सा}$	–	सा	रे
रा	ऽ	नी	ऽ	स	ब	मौ	ऽ	ला	ऽ	मौ	ऽ	ढूं	ऽ	ढ	न
ध़$^{नि}$	ध़$^{नि}$	नि	प़	म^{प}	–	म	प	–	प	प	प	म^{प}	–	प	–
जा	ऽ	ऽ	ऊं	जा	ऽ	नूं	प्रे	ऽ	म	र	स	खा	ऽ	ऽ	ऽ
मप	नि	ग^{म}	–												
ऽऽ	ऽ	नी	ऽ												

अन्तरा

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
				म	म	प	प	ध$^{नि}$	–	नि	नि	सां	सां	सा	सां
				रु	क	म	नि	पू	ऽ	छ	त	च	लि	स	खि
नि	सां	सां	–	सां	–	सां	नि	रें	रें	सां	सां	निसां	–	सां	रें
य	न	सों	ऽ	प्रे	ऽ	म	च	तु	र	मृ	दु	बा	ऽ	ऽ	ऽ
ध$^{नि}$	–	नि	प	म	म	म	म	प	प	प	–	म^{प}	–	प	सां
ऽ	ऽ	ऽ	नी	जि	स	प	र	प्र	भु	जी	ऽ	प्रे	ऽ	म	र
ध$^{नि}$	नि	प	–	सां	सां	सां	सां	नि^{प}	नि	प	प	म^{प}	–	प	–
ख	त	हैं	ऽ	य	हि	क्या	ऽ	पु	र	न	क	मा	ऽ	ऽ	ऽ
मप	नि	गम	–												
ऽऽ	ऽ	नी	ऽ												

श्री कृष्ण नारायण रातंजनकर ''सुजान''

राग–रामदासी मल्हार, ताल–तीनताल (मध्यलय)

स्थाई– माधो मुकुंद गिरिधर गोपाल, कृष्ण मुरारी मधु सूदना माधो मुकुंदा

अन्तरा– जपत अनन्त हरे नाम, पावे आनन्द अत सुजाना माधो मुकुंद।।[9]

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
x				2				0				3			
											नि	प	गम	म	रेसा
											मा	ऽ	धो	ऽ	मुऽ
रे	–	सा	सां$^{नि}$	रे	ग	म	पम	प	मग	म	नि	प	सां^{प}	–	सां$^{नि}$
कुं	ऽ	द	गि	रि	ध	र	गोऽ	पा	ऽऽ	ल	क्रे	ऽ	ष्ण	ऽ	मु
नीध	नी	प	म	प	म	ग	म	प	म	नि	प	–	गम	म	रेसा
राऽ	ऽ	री	म	धु	सू	ऽ	द	ना	ऽ	ऽ	मा	ऽ	धो	ऽ	मुऽ
रे	–	सा													
कुं	ऽ	द													
					अन्तरा										
											प	ध	नि	सां	नि
											ज	प	त	ऽ	अ
सां	–	सां	सां	रें$^{सां}$	नि	सां	निध	नी	प	–	म	नी^{म}	प	–	प
नं	ऽ	त	ह	रे	ऽ	ऽ	नाऽ	ऽ	म	ऽ	पा	ऽ	वे	ऽ	आ
नीध	नी	प	सा	रे	ग	म	प	प^{म}	मग	म	निम	प	ग^{म}	म	रेसा
नंऽ	ऽ	द	अ	त	सु	जा	ऽ	ना	ऽऽ	ऽ	मा	ऽ	धो	ऽ	मुऽ
रे	–	सा													
कुं	ऽ	द													

तसद्दुक हुसैन खां 'विनोद' (निगुर्ण भक्ति रचना)

राग–कामोद, ताल–तीनताल (मध्यलय)

स्थाई– बेगुन गुन गाय रहयो करतार,
तारन तार तू करतार।

अन्तरा– विनोद अजीज है बेकस लाचार,
तू है जग का निस्तार।।[10]

स्थाई

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
x				2				0				3			
											सा	म	रे	प	मौ
											बे	गु	न	गु	न
ध	–	प	प	ग	म	ध	प	म	र	सा	–	रें	–	सां	सां
गा	ऽ	य	र	हयो	ऽ	क	र	ता	ऽ	र	ऽ	ता	ऽ	र	न
सां	ध	प	प	ग	म	ध	प	म	रे	सा	सा				
ता	ऽ	ऽ	र	तू	ऽ	क	र	ता	ऽ	र	बे				
								अन्तरा							
												प	प	सां	सां
												वि	नो	द	अ
सां	–	सां	सां	सां	ध	सां	रें	सां	ध	प	प	गं	मं	रें	सां
जी	ऽ	ज	है	बे	क	स	ला	चा	ऽ	ऽ	र	तू	ऽ	है	ऽ
सां	रें	सां	ध	प	ग	म	प	म	रे	सा,	सा				
ज	ग	का	ऽ	ऽ	ऽ	नि	ऽ	स्ता	ऽ	र,	बे				

फैयाज़ हुसैन खां 'प्रेम पिया' (सगुण भक्ति रचना)

राग– सुघराई, ताल–तीनताल (मध्यलय)

स्थाई– नैनन सों देखी मैंने एक झलक मोहन की।

अन्तरा– जबतें प्रेम मोहे उनको भयो है, सुध ना रही तनमन की।।[11]

स्थाई

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
x				2				0				3			
											पनि	सारें	संनि	पम	रेस
											नैऽ	ऽऽ	नऽ	नऽ	सोंऽ
ग	–	–	–	ग	म	रे	सा	रे	–	सा	नि	सा	रे	म	म
दे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	खी	ऽ	मैं	ऽ	ने	ए	ऽ	क	ऽ	झ
प	–	प	नि	प	नि	सां	–	सारें	सांनि	पम	पनि				
ल	ऽ	क	ऽ	ऽ	मो	ऽ	ऽ	हऽ	नऽ	कीऽ	नैऽ				
								अन्तरा							
											म	प	नि	प	नि
											ज	ब	तें	ऽ	प्रे
सां	सां	सां	–	–	सां	नि	सां	सां	–	–	नि	सां	रें	–	सां
ऽ	ऽ	म	ऽ	ऽ	ऽ	मो	ऽ	हे	ऽ	ऽ	उ	न	को	ऽ	भ
सां	–	–	–	सां	सां	ध	ध	नि	प	–	म	प	नि	–	सां
यो	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	है	ऽ	सु	ध	ना	ऽ	र
गं	–	–	–	गं	मं	रें	सां	सारें	सांनि	पम	पनि				
ही	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	त	न	मऽ	नऽ	कीऽ	नैऽ				

निष्कर्ष :

यहां विचार किया गया है कि 19वीं शताब्दी में केवल श्रृंगारपरक या अन्य सामाजिक एवं विलासितापूर्ण विषयों को सम्बोधित बन्दिशें ही नहीं, अपितु उस समय के प्रसिद्ध वाग्गेयकारों द्वारा सबसे अमूल्य देन उनके द्वारा रची गई भक्तिपरक बन्दिशें हैं जो मध्यकालीन भारतीय संगीत के व्योम में सितारे की भांति चमकती हैं। ये बन्दिशें सामाजिक परिवेश में मार्गदर्शक का काम करती रही हैं। अशान्ति, निराशा और भाग–दौड़ भरी जीवन–शैली से निजात दिलाने में इन भक्तिपरक बन्दिशों का बहुमूल्य योगदान रहा है। ये भक्तिपरक बन्दिशें विद्यार्थियों, श्रोताओं एवं संगीतज्ञों को अपनी संस्कृति एवं परम सत्य की ओर अग्रसर करती हैं। इसीलिए इस शोध–पत्र का विषय इन भक्तिपरक बन्दिशों का प्रचार–प्रसार करना है।

संदर्भ सूची :

1. पं. भातखण्डे, भातखण्डे–संगीत शास्त्र, भाग–4, पृ. 224
2. शर्मा, डॉ. सत्यवती, ख्याल गायन शैली विकसित आयाम, पृ. 149
3. वही
4. वही, पृ. 151
5. वही, पृ. 160
6. वही
7. पं. भातखण्डे, क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग–पांच, पृ. 392
8. भातखण्डे स्मृति ग्रन्थ, पृ. 68
9. अभिनव गीत मंजरी, भाग–2 (उत्तरार्द्ध रातंजनकर), पृ. 77
10. मेहता, रमण लाल, आगरा घराना परम्परा गायकी और चीजें, पृ. 15
11. वही, पृ. 149

A Comprehensive Examination of Instagram's Influence on the Young Generation's Musical Taste

Soummay Ghosh*

Abstract

Music is an integral part of films, TV, and any electronic audio or audio-visual medium. Today we have convergent media because of portable smartphones and social media applications. This convergent media has brought convergent culture and cross-consumption of local and world music. Also, user-generated content and music are consumed and have the potential to go viral. Music has cultural, political, and emotional essences depending on the lyrics, composition, or genre. In the technical space of apps like Instagram, people are sharing their emotions via music on posts, stories, and reels. In this research, I have done a random survey among the young generation so that the influence of Instagram on their musical taste can be assessed. In the survey it was found that most young people use Instagram as their go to social media and trending music are that what the like and which indeed influence their musical taste. This is a small sample size research, and the study emphasises the role of popular music on Instagram in developing its user base's musical interests. A trending and viral audio which is likeable to most audiences then they listen to the audio on other audio streaming platforms and as well as use it in their short user generated content.

Keywords: *Music, Instagram, Reels, Viral, Trending, User Generated Content*

Research Methodology: *The researcher emphasised descriptive research design in the research report. A quantitative research method is used in these investigations. For this research, primary data was collected on Youth using Instagram. A random sampling of the youth aged between 13 to 30 years, and the sample size is 103 with 50 males and 53 female participants. Where 14 samples are aged between 13-17 years, 47 samples are aged between 18-21 years, 29 samples aged between 22-25 years and 13 samples between the age group of 26-30 years. Here the maximum participants are from the age group of 18-21 years the young adult generation. Here I am trying to find out whether Instagram is influencing the musical taste of the young generation and for this an online survey was done and data was collected.*

Introduction

Social media is a new media tool that is highly influential in the minds of youth. Especially Instagram, which launched a decade ago in 2010, is now a free social tool for communication for the young generation. Earlier Instagram was just a photo-sharing application, unlike Facebook, which has so many features and earlier attracted the youth but now is full of elderly people. Since the complete family is somewhat omnipresent on Facebook, the young generation wants to differentiate themselves from the elderly, and now most teenagers and young adults are on Instagram, uploading photos and videos. Facebook bought Instagram in 2012 and started modifying it and adding features like stories. TikTok, a short user-generated video-sharing platform, got its start in 2020 in India, and then the photo-sharing American-based app "Instagram" incorporated the short video feature of TikTok and termed it Reels. The short visual

*Assistant Professor, Amity University, Patna

medium is popular among the youth as more new and varied content is bombarded into the pocket size device of them. They are engaged because of the influencer content and user generated content. The use of music in Instagram is almost everything in the form of stories and reals and now in post.

User Generated Content

Recently, user-generated content has peeked because of cheaper internet and mobile device facility for consumers in India. Also, the advent of the short video concept, which takes comparatively less time to be created than a short film or feature film. The videos can range from 15 seconds to 90 seconds, and videos can also be less than 15 seconds in duration. And the potential of videos to go viral and social media giving instant results and statistics to its users has pulled up celebrities and common household people to generate these short videos. Instagram provides instant gratification to the user in the form of views, likes, and comments, which triggers the user to generate more content for the mass. The short vertical videos on Instagram are termed reels. And to make a reel, you need a video clip or a collection of photos. However, the fact that you cannot ignore is the music; every reel or the other on Instagram requires audio, that is music. So, Instagram has developed its own audio library of music, which is distributed to it by music distributors and publishers, just like the streaming sites. Every time a piece of music is streamed, a royalty is generated. So, Instagram users look for trending audio to make reels from. So that their content can also go viral. And the audio on which maximum numbers of reels have been made automatically starts trending. Earlier, Instagram allowed only 15 seconds of reels, went to 30 seconds, then 60 seconds, and now 90 seconds. Also, IGTV has been merged with Instagram Reels. But a Musical piece of Industry, be it Bollywood, Tollywood, Hollywood, or independent music, on average lasts at least 2 to 3.5 minutes. So, an Instagram influencer uses a particular portion of the song, for example, the main line or hook of the song, the catchiest part, to make reels. If the reel goes viral, the music goes viral, and vice versa. So, the songs which are trending people are more likely to use it in their stories, reels, and posts. So, the trending, and viral content influences the taste of users on Instagram.

Trends in Instagram Music

So, what is music, for me simply which is not noise, which is pleasant to the human ears, which has tempo, rhythm, harmonics, pitch, and all kinds of variations. A musical piece is a feeling of an artist which is poured out as a single wav/mp3 file. In this technical world of application people are sharing their emotions via Instagram music. Music is a blend of technicalities and emotions which reflects the inner space of the artist involved in it. Today we have music ranging from multiple genres available instantly on the Instagram library and people have easy access to them. Also, now the industry is also convergent in terms of genre. Multi-genre, cross-genre, or we can term as more and more fusion music is being created nowadays. This pulls more different types of audience at one song. Also, nowadays music has shorter intro and more repetitive hook lines. Nowadays genres like lo-fi music are trending, where songs are slowed and reverbed, some famous dialogue mix songs, BGMs of films, indie music, hip hop tracks, rap music have also started trending. Also, out of the blue content start trending. And things which are trending easily states that more and more people are liking it. Instagram has given easy access to the feature of editing photos, merging videos, and adding music from the library to post the content in a minute, without using any third-party video editing application. So, this triggers the other users to make content, but people or users want

to show different content or be original with it, so the photos, video clips will be changing but the music remains the same, as people follow trends of using the music which is either trending or has the potential to blow up. The above states that the video and photo used in the content created by users are personalized and they use either their own photo or video but are more likely to use a trending or viral song to get reach to their user generated content.

Instagram Attracting Youth

Polaroid cameras or instant cameras are those that can click photos and print them instantly, and the logo of Instagram looks exactly like it, which states its clear ideology of an instant click and upload feature like the click and print feature of Polaroid cameras. Kevin Systrom designed its logo, which was exactly like the Polaroid cameras and eventually got redesigned as a square bright gradient colour. Instagram, from its logo to its UI, uses bright colours to attract youth. Instagram's algorithm of interest-based post recommendations gets the attention and likes of youth. In teenagers, that is, the post-, pre-, and puberty phases, the body goes through variable changes, and Instagram filters let the acne on the faces hide and shine out. It lets its users act cool in the virtual world. Even if a youngster has no musical ideas or taste, he or she can follow the trend culture and use the music to be part of the acceptance of young cults on Instagram.

Convergent Media

The young generation wants to be wild and free. With a simple analogy, if a young group is going on a trip, unlike a family trip where too much luggage is carried, the young guys and girls want to carry only portable equipment. The boom of media convergence has attracted young minds and bodies. A smartphone is equivalent to a video camera, still camera, CD/DVD players, books, and wallets to carry cash. The convergence of media to fit in pockets and hands has made young bodies feel the power of carrying the world and think of changing it with their posts and content. And the addition of internet and social media to the pocket friendly device has activated the global village phenomena and sharing content to world and do a cross cultural representation, expression, and acceptance, which in turn influences the users that are the followers and the followings.

Review of Literature

Since it was introduced in October 2010, Instagram has seen a rapid hike in both the number of users and uploads. Users can easily share their updates by taking photos and editing them using filters on this relatively new form of communication (Hu et al., 2014). The unprecedented popularity of Instagram reflects a recent Pew analysis that claims images and videos have replaced text as the primary online social assets (Rainie, Brenner, and Purcell 2012). There are currently 3.6 billion active users of social networking sites, and this number is expected to rise as mobile device usage and social networks continue to gain popularity (Sharma et al., 2022). The cultural production that has occurred because of the new media revolution has been participatory in nature and frequently involves "users, audiences, consumers, and followers" in the production of culture and content (Chanda & Alfarid Hussain, n.d.). Instagram, Facebook, Twitter, and other social media platforms have become an integral part of the lives of young people. (Lakhiwal & Kar, 2016; van Dijck & Poell, 2013). Instagram has grown to be a valuable resource for researching images and videos (Chanda & Alfarid Hussain, n.d.). An individual's self-confidence in their natural appearance and colour is significantly decreased by artificial beautification brought on by filters because they tend to think they will look less attractive without the use of filters, which forces them to

use them to fit in (Sharma et al., 2022). This states that how the young generation needs validation and get influenced by the social media trends and culture. Smartphones play a significant role in our lives because they put the advantages of both culture and technology in our hands and are used for more than just making phone calls and texting. Smartphones are among the best-optimised social platform devices based on convergent media technologies (Hwang & Lee, 2022). Instagram users tend to be much younger than Facebook users, and it has a more diverse audience than other social networks (Salomon, 2013). Users can interact with content and other users by liking posts, commenting on posts, replying to Stories, and using direct messaging (DM) to communicate with specific users. Stories can be edited with text, stickers, GIFs, or filters, and users can add things like music, a location, the temperature, or mention another user by their username (Wert, 2022). Garcia (2016) also emphasises how social media may give musicians the chance to grow and reach new audiences like never before, enhance brand exposure through digital word-of-mouth, collect information about followers, and efficiently market new music to fans. Fan contact and participation allow musicians to immerse people in their musical universe, enhancing fan loyalty and, eventually, revenue (Garcia, 2016). Now that Instagram has become more than just a photo-sharing social network, it is now a video content platform too, and as always, Instagram has featured music as a crucial topic (Jaakkola, 2023). Here (Berns et al., 2010) claims that social media has an impact on its users and influence their decisions of music consumption as popularity views in their peer group shape young adult behaviour. This implies that one of the primary mechanisms through which popularity ratings influence consumer choice is anxiety caused by an imbalance amongst one's own choices and those of others. People are motivated to change their decisions in the best interest of the majority through misfit discomfort.

Results/Findings

R1. Which is your most favourite Social Media Platform?

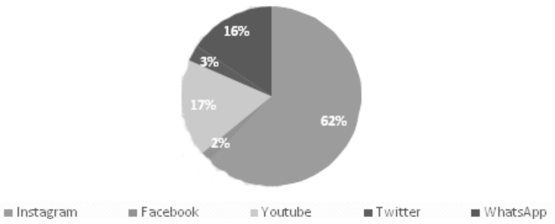

In this research survey, the above question was crucial to know how much people are engaged with social media platforms and which one is their most favourite. Social media like Instagram tops the chart here and is popular among the younger generation, and maximum number of particiant where in the age group of 18-21 years. This shows that Instagram is a handy and most used social media among the young generation. Instagram is the obvious favourite among the sampled youth, with YouTube and WhatsApp coming in second and third, respectively. Facebook is far less popular, while Twitter is the least popular platform among this set of participants. It's crucial to highlight that the popularity of social media sites varies greatly among age groups and demographics, hence our findings are limited to the sampled youth aged 13 to 30 and sample size of 103.

R2. Do you use Instagram?

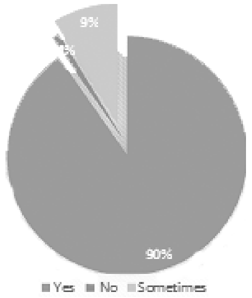

The above shows that most of the

people are using Instagram among the 103 samples 93 use Instagram, 1 said No and 9 answered sometimes. So, the chance of influencing the young generation and exposure of the social media Instagram is high.

R3. Do you think Instagram can Grow without Music?

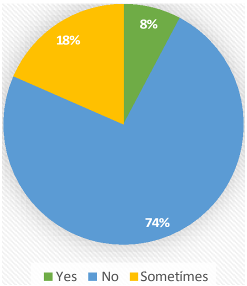

Among the 103 samples, 8 said Yes, 76 said No and 19 said sometimes. This was one of the most important aspects of this research paper as the keyword and variable music is being influenced by Instagram and its algorithms of viral and trends. So, the general and majority perception of youth relating to it is that Instagram cannot grow without music. This clearly states that music is an integral part of Instagram. And Instagram is influencing the musical taste of young generation.

R4. Do you think Instagram has changed your musical taste?

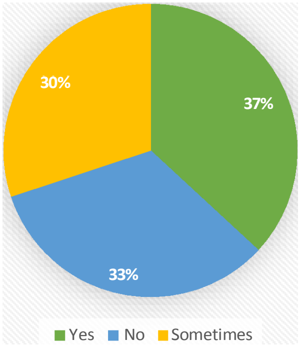

Among 103 respondents, 38 said yes that they think that Instagram has changed their musical taste, whereas in 34 respondents says a straightforward no to the question and they don't think that the social application is influencing their mind, but 31 respondents think that sometimes they get influenced by the Instagram on their musical taste. With the data this can be analysed Instagram is influencing the musical taste of people who said yes and sometimes consciously.

R5. Do you follow the trending music on Instagram?

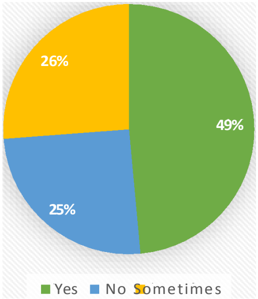

In this case, 50 participants stated they follow trendy music on Instagram, whereas 27 said they do but only occasionally. However, 26 claimed they do not follow current music on Instagram. The trending music suggests the majority and viral material that participants follow to be considered a part of the majority. And exposure to popular music that is unrelated to its genre and flavour effects a person's taste.

R6. Do you share the songs trending on Instagram?

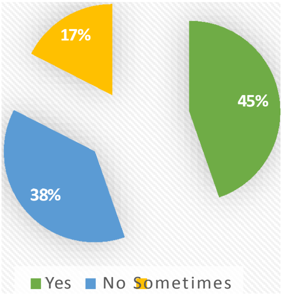

According to the findings of the research, 46 of the surveyed participants actively post songs that are now trending on Instagram. In comparison,

39 of respondents do not share trending songs on the platform, demonstrating a disparity in musical participation. Furthermore, 18 of participants said they only share trending songs on Instagram on occasion. These responses provide light on the various techniques people take when it comes to sharing and engaging with the newest musical trends on Instagram, highlighting the complex nature of music consumption and sharing on this popular social media site.

R7. Do you listen to the songs you explored on Instagram on other musical platforms?

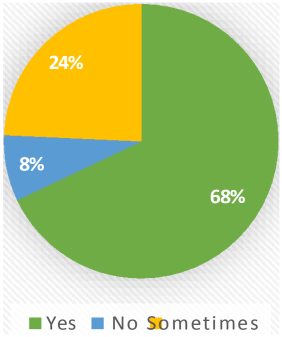

The survey results show that respondents' music consumption habits vary in the setting of Instagram. A significant majority of participants, 70 percent, actively extend their music research beyond Instagram by listening to songs they discover on other musical platforms. This shows that Instagram acts as a vehicle for users to discover music, which they subsequently seek out on dedicated music platforms. However, a smaller group of eight people prefer to consume music solely through the Instagram ecosystem. Another 25 responders follow a sporadic pattern, occasionally discovering songs on various platforms. These findings highlight the complicated and multidimensional nature of how people interact with music in the digital sphere, as well as the crucial role that Instagram plays in this process.

R8. Do you listen to Instagram trending songs on other musical platforms?

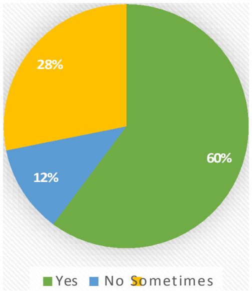

62 respondents actively seek out and listen to Instagram trending songs on other musical platforms, while 12 respondents consume these trending songs purely within the Instagram environment. An additional 29 respondents demonstrate a fluctuating pattern of exploring these songs on different musical platforms on occasion. These findings show Instagram's important role in introducing people to trendy music, with most users expanding their music consumption across several platforms. However, a sizable proportion of Instagram users prefer to limit their music discovery and consumption to the Instagram environment.

R9. Do you think trending music on Instagram influences you?

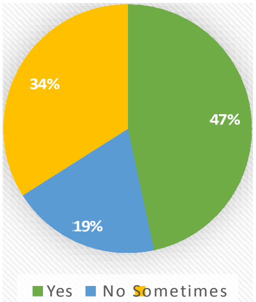

The examination of replies to the question about the influence of trending music on Instagram reveals that participants' perspectives differ. A significant number, 48 people, recognise that trending music on Instagram influences them, implying that the platform's music trends have a significant

impact on their musical preferences and choices. However, 20 respondents say Instagram's trending music has no effect on them, demonstrating a level of immunity to the platform's musical trends. Furthermore, 35 participants report being influenced by Instagram's popular music on occasion, indicating a more flexible and context-dependent response. These findings highlight the complex and varied ways in which people connect with and are influenced by Instagram's music trends, highlighting the platform's significance as a big influencer in the music world.

R10. Do you think Instagram is influencing the musical taste of young generations?

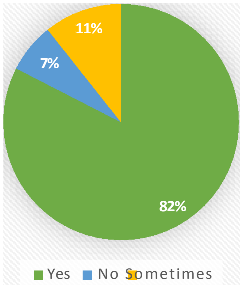

The data analysis of replies to the question concerning Instagram's influence on the musical tastes of the young generation reveals a consistent impact. With 85 participants, a sizable majority believes Instagram has sway over the musical preferences of the younger generation, highlighting the platform's significant importance as a shaper of musical taste. In contrast, a small percentage of 7 respondents believe Instagram has no such influence, implying that the platform has no effect on their musical preferences. An additional 11 participants report feeling influenced by Instagram on occasion, indicating a more variable reaction pattern. These findings illustrate Instagram's substantial influence on the musical tastes of the younger population, indicating the platform's considerable position as a trendsetter and influencer in the world of music.

Conclusion :

The research indicates that media convergence, particularly the rise of social media platforms like Instagram, has drastically altered how young people aged 13 to 30 connect with music and culture. Several major findings are highlighted in the study. First, the proliferation of portable and handy smartphone and all kind of fancy appealing UX/UI social media apps has resulted in convergent media, allowing for easy access to and sharing of music and cultural content. This convergence has resulted in a convergent culture in which local and global music coexist.

Second, user-generated content, particularly short user-generated content such as Instagram Reels, Instagram stories has gained in popularity, with music having a significant role in defining users' musical preferences. Instagram's music library and trend-driven content generation help to make the site viral. Instagram's design and features are expressly geared towards attracting and engaging youth, while also giving a platform for self-expression and a sense of belonging. Finally, the study emphasises the role of popular music on Instagram in developing its user base's musical interests. And once it has influenced the person on the application, that is a trending and viral audio which is likeable to most audiences then they listen to the audio on other audio streaming platforms and as well as use it in their short user generated content. The convergence of media technologies on Instagram, together with its young and diversified user base, enables the quick dissemination of music trends and has a cultural impact and influence. Users like to follow what's hot, therefore trending music has a large influence on the musical tastes of the Instagram community.

Finally, Instagram, as a popular social media platform, has a big impact on the musical preferences of the younger generation, owing to media convergence, quick content creation, and trend virality. This study emphasises the necessity of continuing to investigate the role of social media in shaping cultural and musical trends among young, as well as the need to consider the impact of convergent media on their cultural experiences.

The fundamental weakness of the study is the small sample size of 103 individuals, which limits the generalizability of findings to the larger youthful population. This sample size constraint raises questions regarding potential sampling bias, a lack of diversity, and the analysis's statistical power. Furthermore, a limited sample size restricts the scope of the study and might lead to response bias, making outlier responses excessively influential. Subgroup analysis becomes difficult, and the chance of Type I and Type II mistakes increases. While small sample sizes are frequently driven by resource and time restrictions, they limit the study's capacity to make comprehensive and universally applicable findings about the influence of Instagram on young people's musical tastes.

References :

Chanda, N., & Alfarid Hussain, Dr. (n.d.). CREATION AND CONSUMPTION OF CULTURAL ARTEFACTS IN THE AGE OF "INSTA-CULTURE." *Journal of Content, Community & Communication*, *13*. https://doi.org/10.31620/JCCC.06.21/21

De Veirman, M., Cauberghe, V., & Hudders, L. (2017). Marketing through Instagram influencers: the impact of number of followers and product divergence on brand attitude. *International Journal of Advertising*, *36*(5), 798–828. https://doi.org/10.1080/02650487.2017.1348035

Hu, Y., Manikonda, L., & Kambhampati, S. (2014). What we Instagram: A first analysis of Instagram photo content and user types. *Proceedings of the International AAAI Conference on Web and social media*, *8*(1), 595–598. https://doi.org/10.1609/icwsm.v8i1.14578

Hwang, R., & Lee, M. (2022). The influence of music content marketing on user satisfaction and intention to use in the metaverse: a focus on the SPICE model. *Businesses*, *2*(2), 141–155. https://doi.org/10.3390/businesses2020010

Sharma, A., Sanghvi, K. A., & Churi, P. (2022). The impact of Instagram on young Adult's social comparison, colourism, and mental health: Indian perspective. *International Journal of Information Management Data Insights*, *2*(1), 100057. https://doi.org/10.1016/j.jjimei.2022.100057

Salomon, D. (2013). Moving on from Facebook: Using Instagram to connect with undergraduates and engage in teaching and learning. *College & Research Libraries News*, *74*(8), 408–412. https://doi.org/10.5860/crln.74.8.8991

Wert, B. (2022). *Fandom in the Digital Age: Examining parasocial relationships between fans and music artists on Instagram*. https://doi.org/10.15760/honors.1177

Garcia, K. P. (2016). The fan-artist relationship on social networking sites: 11

A cyberstage pass for the music fan [M.A., St. Thomas University]. http://search.proquest.com/docview/1864650853/abstract/97DE1E07CF7545B6PQ/1

Jaakkola, M. (2023). Digital performance at the side stage: the communicative practices of classical musicians and music hobbyists on Instagram. *Continuum: Journal of Media & Cultural Studies*, 1–13. https://doi.org/10.1080/10304312.2023.2234109

Berns, G., Capra, C., Moore, S., & Noussair, C. (2010). Neural mechanisms of the influence of popularity on adolescent ratings of music. NeuroImage, 49, 2687-2696. https://doi.org/10.1016/j.neuroimage.2009.10.070.

तबला–वादन में रचना एवं रचना विस्तार सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन

शशी रॉय*

शोध सारांश

तबला पर वादन की जाने वाली रचनाओं का कोई भी व्यावहारिक अर्थ नहीं मिलता किन्तु जब ये रचनाएँ तबला पर बजाई जाती हैं तब श्रोताओं को भाषा का सौन्दर्य, उच्च कलात्मक आनन्द और अर्थपूर्ण सौन्दर्य का आस्वाद प्राप्त होता है। रचनाएँ तबला के वर्ण व अक्षरों से बनाई जाती हैं तथा रचनाओं में उन शब्दाक्षरों को एक मात्रा या सामान्य भाषा में कहें कि इसे आकार में बांधा जाता है। रचना का सौन्दर्य मर्यादित होता है। रचना का सौन्दर्यीकरण उसमें प्रयोग भाषा व उसके कला पक्ष पर आधारित होता है।

मूल शब्द : *रचना, विस्तार, बंदिश, सौन्दर्य, सौंदर्यीकरण*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों के अन्तर्गत पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् शोध–पत्र तैयार किया गया है ।*

मानव अपने मन के भाव व विचारों को व्यक्त करने के लिए अक्षर तथा शब्दों द्वारा निर्मित जिस माध्यम का प्रयोग करता है, उसे 'भाषा' कहते हैं। कोमल भावनाओं की भावमय अभिव्यक्ति के लिए भाषा को शब्दालंकार, अर्थालंकार, अनुप्रास, पुनरावृत्ति, तुक, गतिमानता, सम्बद्धता, लय के कलात्मक प्रयोग से रसपूर्ण स्वरूप प्रदान किया जाता हैं। उपरोक्त अलंकारों के माध्यम से जब भाषा का सौन्दर्यीकरण होता है तो उसे 'रचना' कहते हैं।[1] रचना–सौन्दर्य लक्षण कुछ इस प्रकार है–

1. वर्ण, मात्रा, काल और मात्रा–काल में प्रयोग जाति द्वारा रचना का निर्माण होता है। केवल मात्रा–काल के द्वारा रचना की आकृति का सही आकलन नहीं हो सकता है। उस रचना में कौन–सी जाति का प्रयोग हो रहा, यह ज्ञात हो जाने से उस रचना की आकृति के सही स्वरूप का आकलन हो पाता है। तत्पश्चात् जब उचित भाषा में यह बद्ध हो जाती है तो इसमें प्राण का निर्माण होता है।[2] तबला में कुछ रचनाएँ, जैसे–त्रिपल्ली, दुपल्ली, चौपल्ली व गतों में कभी–कभी एक से अधिक जाति का भी प्रयोग किया जाता है।

2. गति, रचना का एक अन्य सौन्दर्य बिन्दु है। रचना में जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उनकी गति समान हो, यह आवश्यक नहीं है। कभी–कभी कुछ रचनाओं के मध्य में भिन्न–भिन्न लय के शब्द समूहों का प्रयोग रचना में योजनापूर्वक की जाती है। जिससे वह बंदिश अपने वर्ग के बंदिश व अन्य बंदिश से भिन्न सौन्दर्य व रस का निर्माण करती है। ऐसी रचना को बांधने में व वादन करने में रचनाकार व कलाकार की कल्पना शक्ति, शब्द समृद्धि, शब्दयोजना, लय–लयकारी में गुणवत्ता आदि कला पक्ष को प्रदर्शित करती है।

3. संगीत में गति या नृत्य की भाषा में कहें तो गत (चाल) आदि पशु–पक्षियों, प्रकृति व मानव के गतियों के आधार पर ग्रहण किया है। तबला वादक जब 'पेशकार' की प्रस्तुति करता है तो उसकी चाल, हाथी के मंद गति–सा प्रतीत होता है। घोड़े की चाल, पक्षियों के बोलने का ढंग, मृग की दौड़ व छलांग कायदे में, उसके पल्टे व तिहाई में इनके गतिमानता का सौन्दर्य दर्शन कराता है। हंस के पंखों की गति, झरनों का बहना आदि रेले व रौ में प्रखर रूप से दिखाई देती है। वहीं लग्गी लड़ी में कहीं–कहीं मनुष्य के आनन्द से झूमने की गति, एक सुन्दर–सी स्त्री के नाजुक, चंचल व श्रृंगार पूर्ण सौन्दर्य की एक अनोखी अनुभूति मिलती है।

विस्तारक्षम बंदिशों एवं उनका स्वरूप ऐसे ही निर्मित नहीं किया जाता है। मूल बंदिशों में जो सौन्दर्य व कर्णप्रियता होती है वह उसकी कलात्मक विस्तार क्रिया में समाहित होती है। रचना–विस्तार के अध्ययन के दौरान निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक है–

1. रचना स्वरूप/आकृति कैसी है।
2. इसमें खण्ड कितने–कितने मात्राओं का है।
3. रचना में वर्ण, शब्द व शब्दों का समूह किस प्रकार का है।

*असि. प्रोफेसर, संगीत (तबला), कमला आर्य कन्या पी.जी कालेज, मिर्जापुर

4. रचना में कौन–से शब्दों की संगति बनी है और बन सकती है।
5. रचना का निकास किस बाज से करना उचित होगा तथा वर्णों का निकास सभी लय में सुगम हो।
6. रचना में नाद का स्वरूप ।

तबला वादन सामग्री में मुख्य रूप से पेशकार, कायदा और रेला विस्तारक्षम रचनाएं हैं जिसमें कलात्मक ढंग से अनेक सौन्दर्य तत्वों का समावेश करके उसके विस्तार या पल्टे बनाए/बजाए जाते हैं।

पेशकार जैसी रचना–विस्तार धीमी लय मुख्य रूप से मध्य लय में डगमगाती हुई खाली–भरी, लयकारी जैसे अनेक कलात्मक सौन्दर्य तत्वों के साथ विभिन्न घरानों तथा कलाकारों द्वारा भिन्न–भिन्न रूप के साथ बजाई जाती है। दिल्ली घराना में पेशकार का विस्तार धीमी लय में प्रारम्भ होता है, बाद में धीरे–धीरे ड्योढ़ी लय में तत्पश्चात् दुगुन लय का भी प्रयोग किया जाता है। ड्योढ़ी या दुगुन बजाते समय भी सम पर आने के लिए मूल लय में जाकर अनुरूप शब्द प्रयोग लिए जाते है। इस तरह विभिन्न लयों में खेलना हवाई यात्रा करने के बाद फिर मूल लय में प्रवेश करना दिल्ली घराने की खसियत है।

धाऽकिट धाऽतिऽ धाऽधाऽ तिरकिट
धाऽतिऽ धाऽधाऽ तिऽधाऽ दिंऽनाऽ[3]

जहां पश्चिम बाज के पेशकार वादन में एक अनुशासन होता है। उसके वादन प्रकृति में गंभीरता होती है। वहीं पूरब बाज के पेशकार वादन में रंग भरने की कोशिश की जाती है। रचना में ताल की खाली, भरी तत्व का प्रयोग किया जाता है किन्तु यह आवश्यक नहीं जो शब्द भरी में था वो ही शब्द खाली में भी प्रयोग किया जाय तथा विस्तार के मध्य में ताल की आखिरी मात्रा में अलग–अलग प्रकार से तिहाई का प्रयोग कर सम पर मिलकर विस्तार जारी करते है। जिससे श्रोताओं का ध्यान कलाकार अपनी ओर आकर्षित करते हैं। पेशकार मध्यलय में बजाए जाने के कारण इसमें दांब–गांस का पूर्ण प्रयोग कर नाद सौन्दर्य की उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार कलाकार की दृष्टि, कल्पना क्षमता, हाथ की तैयारी व सफाई के अनुसार विस्तार की असीम सम्भावनाएं प्राप्त होती हैं।

कायदा, तबले का दूसरा महत्वपूर्ण रचना–विस्तार है। यह तबला वादन की सामग्री है। तबले के ऐसे वर्ण व शब्द समूह जिसे ताल के ताली–खाली, मात्रा संख्या, विभागीकरण आदि को ध्यान में रखकर नियम में बांधा जाए जिसका विस्तार आसानी से हो, उसे कायदा कहते हैं। कायदे में अनेक सौन्दर्य बिन्दु हैं जिसका अवलोकन कर सकते हैं।

कायदे में ऐसे शब्दों का व बोलों का प्रयोग किया जाता है जिसके विस्तार क्षेत्र की सम्भावना अधिक से अधिक हो तथा कायदे के बोलों को उलट–पलट कर जो नया स्वरूप बनाया जाए वह अपने मूल रचना से ही बने क्योंकि कायदे के विस्तार में पेशकार–जैसी शिथिलता नहीं अपनाई जाती है, जैसे–

धाति धागे नधा तिरकिट ....कायदे का विस्तार
धातिधागे नधातिधा गेनधागे नधागेन ....

यहां पर 'धा गे न' का विस्तार किया जा रहा है। यह चतुस्त्र जाति में बंधा है किन्तु धा गे न तीन मात्रा वाला है इसलिए विस्तार की चाल कुछ नवीन–सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार कलाकार, अपनी सृजनशीलता के द्वारा मानवी तथा भाषा की तरह विराम, अर्ध विराम देकर बजाने से कायदा वादन की रीति में एक कलात्मक रूप का दर्शन होता है। उदाहरणार्थ–

धातेटेधा तीधागेना धातीधागे तीनाघेघे } मूल
नातेटेधा तीधागेना धातीधागे तीनाकेना } कायदा

धाऽऽ,धा तीधाधेना धातीधागे तीनाधेधे } विस्तार
नातेटेधा तीधाधेना धातीधागे तीनावेना }

इसमें 'धा' के बाद विराम है, इसमें 'धा' पर या तो बल के साथ प्रहार करके विराम को पूर्ण कर सकते हैं या दाब–गॉस का प्रयोग कर मनुष्य के श्वाँस–उच्छ्वास की भाव–अनुभूति की झलक दिखाते हुए रचना विस्तार में ध्वनि सौन्दर्य वृद्धि करते हुए अग्रसर होता हैं।

इसके विस्तार में बल, पेंच जैसे आदि सौन्दर्य के भी दर्शन होते हैं। जिसके बजाने के लिए तैयारी की आवश्यकता होती है। कायदे में विस्तार करते समय खाली में कहीं–कहीं अलग शब्द का उपयोग किया जाता है। इस विशेषता का निर्माण मुख्यतः अजराड़ा घराना के उस्तादों द्वारा किया गया।

उदाहरण–

धागेतिट	कड़धेतिट	धागेनागे	धीनागीना।
x			
कड़धेतिट	धागेतिटे	धागेनागे	तीनाकीना।
2			
तिटकड़ते	तिटतिट	ताकेनाके	तिनाकिना।
0			
कड़धेतिट	धागेतिट	धागेनागे	धीनागीना।[4] धा
3			x

कायदे का वादन मध्य लय में किया जाता है तथा यह एक कलाकार की तैयारी पर निर्भर होता है कि वह दुगुन, तिगुन, चौगुन व अठगुन की लय में इसका प्रदर्शन करें। यह तिहाई के साथ ही समाप्त होता है।

रेला का सौन्दर्य उसकी गतिमानता पर निर्भर करता है। रेला का रचना विस्तार कायदे के समान ही होता है जिससे उसका विस्तार आसानी से किया जा सके। रेला में कम अक्षरों या शब्दों का प्रयोग होने से उनकी निरन्तर पुनरावृत्ति होती रहती है। गतिरोधक न होने से यह रेला के अक्षरों का प्रवाह अविरिल रूप से चालू रहता है और वादक अपने बायें पर न्यूनाधिक दबाव देकर निर्माण करने वाले वजन के कारण उसी समय उस रचना को वर्तुलाकार गति प्रदान करता है।[5] रचना विस्तार में कभी भी एक व्यंजन अक्षर को कभी दोबारा उसी अंगुली से नहीं बजाया जाता है जिससे रचना विस्तार करते समय तक धारा–प्रवाह बना रहता।

इनके अतिरिक्त कुछ रचना है जिनका विस्तार होता है, जैसे–लग्गी, बॉट आदि। कायदे के तरह लग्गी का विस्तार होता हैं किन्तु इसके विस्तार में कायदे जैसे अनुशासन का पालन नहीं किया जाता है। यह कहरवा, दादरा जैसी तालों में मुख्यतः बजाई जाती है। इनका प्रयोग स्वतंत्र वादन में नहीं, संगत के क्षेत्र में मुख्य रूप से किया जाता है। इसके वादन से गायन आदि में चैतन्यता एवं आनन्द की उत्पत्ति होती है। इसके विस्तार में खाली, भरी का कलात्मकता के साथ प्रयोग किया जाता है । लग्गी के विस्तार को बांट कहते हैं किन्तु बनारस घराना में बॉट नामक बंदिश का प्रयोग तबला–वादन में स्वतंत्र रूप से अपनाया गया है।

निष्कर्ष :

हृदय की भावनाओं को प्रकट करना ही संगीत का मुख्य उद्देश्य है। जब कोई कलाकार सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को स्पष्टता से प्रकट करता है उसका भाव पक्ष उतना ही प्रबल माना जाता है। तबला में बजाए जाने वाली रचना व रचना विस्तार में उस्तादों व विद्वानों ने अनेक सौन्दर्यात्मक तत्वों का समावेश कर कला पक्ष व भाव पक्ष को सबल रूप दिया है जिसका प्रयोग वर्तमान में भी किया जा रहा है।

संदर्भ सूची :

1. श्रीवास्तव, शुभा, उत्तर भारतीय तालों में छन्द, रस और सौन्दर्यतत्व, पृ.सं.–117–118
2. माईणकर, सुधीर, तबला वादन–कला और शास्त्र, पृ.सं.–197
3. वही, पृ.सं.–111
4. पटेल, जमुना प्रसाद, तबला वादन की विस्तारशील रचनाएँ, पृ.सं.–188
5 माईणकर, सुधीर, तबला वादन–कला और शास्त्र, पृ.सं.–124

सन्दर्भ ग्रन्थ :

पटेल, जी. प्रसाद. (2006). तबला वादन की विस्तारशील रचनाएं, नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स।

मुलगांवकर, अरविन्द. (2018). तबला (प्रथम हिन्दी संस्करण), वाराणसी : लुमिनस् बुक्स।

माईणकर, सुधीर(2015). तबला वादन–कला और शास्त्र, मिरज : आ.भा. गांधर्व महाविद्यालय मण्डल

श्रीवास्तव, शुभा. (2013). उत्तर भारतीय तालों में छन्द रस और सौन्दर्य, नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स।

संगीत शिक्षा की प्राचीनकालीन शालेय शिक्षण–प्रणाली

एलिस गुप्ता*

सारांश

मानव–जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा का स्वरूप समय–समय पर बदलता रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में बदलाव की जब बात आती है तो संगीत शिक्षण भी इससे अछूता नहीं रहा है। संगीत में शिक्षा की पद्धति और स्थिति आज जैसी है वैसी पहले नहीं थी। वैदिक कालीन संगीत–परंपरा में संगीत शिक्षा का जो रूप उस समय प्रचलित था वह सामगान के रूप में था। सामगान के रूप में ही वैदिक संगीत की परंपरा कायम थी। सामगान के प्रशिक्षण के लिए तीन रूप प्रचलित थे– पिता द्वारा पुत्र को साम का प्रशिक्षण, परंपरागत गुरु शिष्य पद्धति, गुरुकुल पद्धति अथवा शालेय शिक्षण। प्रस्तुत शोध–पत्र में वैदिक से लेकर मध्यकाल तक, संगीत शालाओं (संगीत विद्यालयों) में संगीत–शिक्षा के विकास और महत्व पर चर्चा की गई है तथा इसके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

संकेत शब्द : *संगीत शाला, शिक्षण, अध्ययन, संगीताध्यापन*

प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र द्वितीयक माध्यमों से सहयोग लेकर तैयार किया गया है ।*

शालेय शिक्षण को आधुनिक संस्थागत पद्धति का प्राचीन रूप कह सकते हैं। इससे पहले शिष्य को, गुरु शिष्य परम्परा में अथवा गुरु के आश्रम में रहकर संगीत सीखना पड़ता था। शालेय शिक्षण का प्रचलन वैदिक काल में काफी देखने को मिलता है। उस समय संगीत–शाला, योग–शाला, शस्त्र–शाला आदि का प्रचलन था। शिक्षा ग्रंथों में ऐसे संकेत हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आरम्भिक युग में वैदिक शाखा, ब्राह्मण, अरण्यक, सूत्र आदि विषयों का अध्ययन, अध्यापन उन विद्यालयों में होता था जिन्हें प्राचीन साहित्य में 'चरण' कहते थे। उस काल में संगीत का जो सिद्धान्त पक्ष था, उसके भी अध्ययन तथा प्रशिक्षण के लिए कई संस्थाएँ कार्य कर रही थीं। उस काल में अन्य वेदों की भाँति सामवेद की शैली तथा उसके सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए कई साम परिषदों की स्थापना हो चुकी थी। वस्तुतः ये साम परिषदें तत्कालीन साम की उच्च अध्ययन संस्थान थी। वैदिक काल में इन संस्थाओं में 12 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने वाले को स्नातक, 24 वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने वाले को वसु, 36 वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने वाले को रूद्र तथा 48 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने वाले को आदित्य कहा जाता था। शिक्षा सत्र श्रावण मास की पूर्णिमा से लेकर पौष मास की पूर्णिमा तक चलता था। शिक्षा संस्थानों में प्रातः काल 7 बजे से 11 बजे तक तत्पश्चात् भोजनोपरान्त 2 बजे से सायं 6 बजे तक अध्यापन कार्य चलता था।[1]

इस काल में पाठ्यक्रम वर्ण–व्यवस्था तथा जीवन–दर्शन से नियमित हुआ करता था। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न पाठ्यक्रम होने पर भी सामान्य रूप से पाठ्यक्रम का स्वरूप समान रहता था। 'गांधर्व के सामान्य शिक्षण के लिए वैकल्पिक विषय के रूप में विद्या मंदिरों में व्यवस्था थी किंतु व्यावसायिक अध्ययन के लिये संगीत–शाला, जैसे विशिष्ट कला केन्द्रों में जाकर विशेषज्ञ गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी । उपनिषदों में ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा देने वाले ऋषियों की आवास भूमि को अरण्य कहा गया है। अतः ऋषियों के आश्रम भी एक प्रकार से विद्यालय या शिक्षा केंद्र थे। इसके अतिरिक्त ऐसे शिक्षा केंद्र भी थे जो महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के समरूप थे।

वैदिक काल में वर्तमान समय की तरह आर्थिक शुल्क का कोई प्रावधान नहीं था। शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् गुरु दक्षिणा के रूप में शिष्य अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुसार कुछ भी उपहार स्वरूप प्रस्तुत करते थे। शिक्षा–प्रणाली में भी आधुनिक समय की भाँति परीक्षाओं की व्यवस्था नहीं थी। शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी को

*असिस्टेंट प्रोफेसर, वर्ल्ड यूनिवर्सिटी ऑफ डिजाइन, सोनीपत

गुरुजनों एवं गुणीजनों के समक्ष बैठकर विद्वानों द्वारा किए गये प्रश्नों के उत्तर देने होते थे। इस प्रकार उस काल में विद्यार्थी का उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण करना न होकर ज्ञान प्राप्त करना होता था। वर्तमान समय के दीक्षांत समारोह की तरह उस समय समावर्तन संस्कार होता था जिसमें योग्य विद्यार्थी को नये वस्त्र, आभूषण आदि दिया जाता था। इस संदर्भ में डॉ मधुबाला सक्सेना कहती हैं– 'शिक्षा समाप्ति के पश्चात् समावर्तन संस्कार में योग्य विद्यार्थी एक विशेष होम का आयोजन करके कुल देवता तथा गुरु की पूजा के उपरांत स्नातक विद्यादान का व्रत लेता था। इस समय गुरू–शिष्य को जो अंतिम उपदेश देता था, उसे 'समावर्तन उपदेश' कहा जाता था।[2]

वैदिक कालीन संगीत संबंधित प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि उस काल में शिक्षण की एक सुचारू प्रणाली थी। संगीत के क्रियात्मक व सैद्धांतिक दोनों पक्ष सर्वोच्च तल पर प्रतिष्ठित थे। इतने समृद्ध संगीत की कल्पना किसी शिक्षण विधि के अभाव में कभी संभव नहीं हो सकती। इस विषय में डॉ० पंकज माला शर्मा का कथन है– 'संगीत से संबंधित इतने विशाल साहित्य का सृजन एक दिन में अथवा अपने आप हो गया, ऐसा नहीं माना जा सकता इसके पीछे संगीत–शिक्षा की निश्चित रूप से एक सुदीर्घ परम्परा रही होगी और संगीत शिक्षण की कई संस्थाएँ कार्य कर रही होंगी।[3]

वैदिक काल के पश्चात् महाभारत काल में भी संगीत शालाओं में अध्ययन का उल्लेख मिलता है। महाभारत का भारतीय साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रहा है। संगीत की दृष्टि से यह काल बहुत महत्वपूर्ण रहा है इस युग में श्री कृष्ण, अर्जुन जैसे महान संगीतकार हुए। इस युग में राज दरबार की राज स्त्रियों को भी संगीत शिक्षा देने का उल्लेख मिलता है। शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीत का इतिहास' में लिखा है कि "इस काल में बड़े नगरों में संगीत–शिक्षा के लिए संगीत–शालाओं का प्रबंध शासन की ओर से किया जाता था। इनके सम्यक् संचालन का समुचित प्रबंध रहता था। मत्स्यराज की राजधानी में युवतियों की नृत्य शिक्षा के लिए ऐसे ही विशाल नृत्य भवन का निर्माण किया गया था।"[4]

बौद्ध काल में मगध साम्राज्य में शिक्षा के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति आयी। इस साम्राज्य में तक्षशिला विद्यादान का प्रमुख केंद्र बन गया। इसमें शब्दविद्या, अध्यात्मविद्या, चिकित्साविधा, हेतुविधा और शिल्प विधा नामक पंच महाविद्या 'पंचयान' कहलाती थी। परांजपे के अनुसार, बोधिसत्व ने इसी विश्वविद्यालय में समस्त शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की थी।

यहाँ पर आचार्य अपने अच्छे शिष्यों के सहयोग से शिक्षण कार्य संपन्न करते थे, अध्ययन–काल व गुरु शिष्य अनुपात का कोई निश्चित नियम नहीं था। अन्य कई विषयों के अलावा यहाँ अठारह शिल्पों, संगीत एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी। ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

काशी दूसरा विशाल शिक्षा केंद्र बना जिसमें संगीताध्यापन का स्वतंत्र विभाग था। यहाँ के अधिकतर शिक्षक तक्षशिला के पूर्व छात्र ही थे। शिक्षण में कुछ ऐसे विषय थे जिनमें इस विश्वविद्यालय को विशेषता प्राप्त थी। इस संदर्भ में 'राधा कुमुद मुखर्जी' ने अपनी पुस्तक 'The Ancient Indian Education' में लिख है– "There were certain subjects in the teaching of which Banaras seems to have specialised- There is a reference, for instance, to a school of music over by an expert, who was the chief of this kind in all India."[5]

तक्षशिला और काशी के अतिरिक्त इस युग में कई शिक्षा–केंद्रो की स्थापना तत्कालीन राजाओं द्वारा की गई जिनमें से नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी आदि उल्लेखनीय हैं। विद्वानों के अनुसार, इन सभी संस्थानों में गंधर्व का एक स्वतंत्र विभाग था जिसमें भारत विख्यात संगीतज्ञों की नियुक्ति हुआ करती थी लेकिन भारतीय संगीत के इतिहास में किसी ऐसे कलाकार या शास्त्रज्ञ का उल्लेख नहीं मिलता, जिसने तक्षशिला से लेकर विक्रमशिला तक किसी भी शिक्षा केंद्र में संगीत या गांधर्व की शिक्षा ग्रहण की हो। इसका एक कारण उस काल के सीमित स्रोत हैं जो विदेशी आक्रांता के कारण अपर्याप्त हैं जिनसे उस काल के शिक्षण के विषय में भली–भाँति पता लगाया जा सकता था। हालॉकि साहित्य, किसी भी काल की संस्कृति को जानने का एक सहायक माध्यम होता है और अगर उस काल के साहित्य की बात करें तो चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र उस समय का महत्वपूर्ण साहित्य है जिसमें कई संगीत शालाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

चाणक्य उस समय तक्षशिला में अर्थशास्त्र व राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक भी थे। उनके द्वारा लिखित अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि उस समय नाट्य तथा संगीत कला को राज्याश्रय प्राप्त था। गणिका, दासी तथा नटों को गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, नृत, वैशिक आदि कलाओं की शिक्षा देने वाले व्यक्तियों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। ललित कला की संस्थाओं का प्रवर्तन राज्य की ओर से होता था। ऐसी संस्थाओं में गणिकाओं के अतिरिक्त उनके वंशज तथा संगीत का व्यवसाय करने के इच्छुक अन्य शिक्षार्थियों को प्रवेश दिया जाता था।[6]

वात्स्यायन के अनुसार संगीत शिक्षा का प्रबंध संगीतशालाओं के द्वारा किया जाता था। इन शालाओं का संचालन समस्त नगर की ओर से अथवा विभिन्न व्यावसायिक गणों की ओर से होता था। इन शालाओं का पाठ्यक्रम समाप्त करके गणिका तथा अन्य विद्यार्थी न केवल जीविकापार्जन के लिए योग्य बन जाते, अपितु सुसंस्कृत नागरिक कहलाने के लिए पात्र बन जाते थे।

भास के नाटकों में भी संगीत–शालाओं का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार राजभवन के परिसर में संगीतशालाएँ हुआ करती थीं, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाट्य आदि कलाओं का यथाविधि शिक्षण प्रचलित रहता था तथा राजकन्याओं को संगीत शिक्षा बाल्यकाल से दी जाती थी।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के अनुसार संगीतशाला के अंतर्गत संगीत तथा नाट्य दोनों कलाओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। ऐसी संगीत–शालाएँ श्रीमान रसिकों की छत्रछाया में परिवर्तित होती थी तथा इनमें सुयोग्य आचार्यों को नियुक्त किया जाता था।

गुप्त युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है जिसमें साहित्य, संगीत तथा अन्य ललितकलाओं की चतुर्मुखी उन्नति का स्पष्ट चित्र दृष्टिगत होता है। इस युग के साहित्य तथा कला विषयक सामग्री से प्रमाणित है कि तत्कालीन राजभवनों में संगीत शाला का प्रबंध रहता था, जिसमें अधिकारी आचार्यों को संगीत तथा नाट्य की शिक्षा देने के लिए उच्च वेतन पर नियुक्त किया जाता था। बाण कृत 'हर्षचरित' में राजभवन के अंतर्गत संगीतगृह का उल्लेख है, जो राजप्रासादों का आवश्यक अंग रहा है।[7]

कालिदास इस युग के महान कवि व नाटककार थे। इन की कृतियों में भी संगीत विषयक जो उल्लेख पाए जाते हैं, वे तत्कालीन लोकाभिरुचि तथा संगीत–संबंधी परिस्थिति के द्योतक हैं। इस युग में संगीत कला को यथेष्ट राजसम्मान प्राप्त था। राजगृहों में संगीत–शालाओं का संचालन बड़ी सफलतापूर्वक होता था, जिसके फलस्वरूप मालविका, हंसपदिका, शर्मिष्ठा, इरावती तथा इंदुमति जैसी सुयोग्य एवं प्रतिभासंपन्न कलाकृतियों का निष्पादन होता था। संगीत कला को केवल राजाश्रय था, यही बात नहीं, वरन् कुछ राजाजन संगीताध्ययन में रुचि रखते थे तथा उस कला में पारंगतता प्राप्त करते थे।[8]

उनके द्वारा लिखित माल्विकाग्निमित्र में इस नाटक के नायक अग्निमित्र के राजगृह में संगीत शाला का उल्लेख मिलता है जिसमें संगीत के विविध अंगों का अध्ययन तथा अध्यापन अधिकारी आचार्यों की देख रेख में होता था। राजभवन के भीतर संचालित संगीत तथा नाट्यशाला के आचार्यों को बहुमान से देखा जाता था। राजभवन में संगीत की शिक्षा का प्रबंध विशेष रूप से राजस्त्रियों तथा उनकी दासियों के लिए होता था।[9]

'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में भी हंसपदिका के संगीत अभ्यास का वर्णन कालिदास ने एक कुशल मर्मज्ञ की भाँति किया है।

पं. परांजपे के अनुसार, इन संगीतशालाओं में स्वर, वर्ण, गीति, मूर्च्छना, तान, राग, वस्तु तथा अभिनय इत्यादि की विधिवत शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों को प्राचीन वाग्यकारों की कृतियों की शिक्षा दी जाती थी तथा उस कृति के अनुकूल रस तथा लय में नृत्याभिनय की कला सिखायी जाती थी।[10]

भारत में संगीत शालाओं का एक संपन्न इतिहास है। इनका अध्ययन करने पर वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक संगीत शालाओं में संगीत शिक्षा की गहन परंपरा का पता चलता है। व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली, ज्ञान के प्रसारण और संगीत शैलियों के संरक्षण के माध्यम से, संगीत शाला ने प्राचीन भारत की समृद्ध संगीत विरासत को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

निष्कर्ष :

संगीत शिक्षण के इतिहास में इन संगीत शालाओं का गहरा प्रभाव होने के साथ–साथ इन शालाओं का

अध्ययन आधुनिक काल में भी प्रासंगिक है। इन युगों में स्थापित सिद्धांतों और प्रथाओं से संगीत शिक्षा, शिक्षण पद्धति और कलात्मक विकास के मूलतत्वों के विषय में महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन संगीत शालाओं में अपनाई गई ऐतिहासिक परिस्थियों और तकनीकों को समझकर, हम आधुनिक संगीत शिक्षा पद्धतियों, पाठ्यक्रम निर्माण और शिक्षण दृष्टियों को समृद्ध करने के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। अंततः, संगीत शिक्षा में प्राचीन संगीत शालाओं का अध्ययन अतीत और वर्तमान के बीच एक सेतु प्रदान करता है, जो संगीत की हमारी समझ को समृद्ध करता है और आधुनिक समय में इसकी निरंतर प्रासंगिकता और जीवन शक्ति का समर्थन करता है।

संदर्भ सूची :

1. सक्सेना, डॉ. मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर, पृ.सं.–52
2. सिंघल, डॉ. महेशचन्द्र, भारतीय शिक्षण की वर्तमान समस्याएँ, पृ.सं.–18, 20
3. संगीत, मासिक पत्रिका, जनवरी–1988, पृ.सं.–7
4. परांजपे, डॉ. शरच्चंद्र, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ.सं.–165
5. Ancient Indian Education, Radha Kumud Mukharji, page-490
6. परांजपे, डॉ. शरच्चंद्र, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ.सं.–251
7. वही, पृ.सं.–482
8. वही, पृ.सं.–488
9. वही
10. वही, पृ.सं.–488

व्यक्तित्व विकास में भारतीय शास्त्रीय नृत्य की भूमिका

डॉ. खिलेश्वरी पटेल*

सारांश

भारतीय शास्त्रीय नृत्य हजारों वर्षों से चली आ रही प्राचीन परंपरा है। सभी शास्त्रीय नृत्य की अपनी–अपनी क्षेत्रगत विशेशता है किन्तु एक समानता जो सभी में है वह है आध्यात्म और संस्कृति की। नृत्य को सामान्यतः मनोरंजन का साधन अथवा केवल मंच पर प्रस्तुत की जाने वाली कला माना जाता है परंतु वास्तव में नृत्यकला एक साधना है जो जीवन में संतुलन लाती है और मनुष्य के अच्छे गुणों में वृद्धि कर व्यक्तित्व का समग्र रूप से विकास करती है। इस लेख में विशेष रूप से शास्त्रीय नृत्य के माध्यम से विद्यार्थियों में होने वाले व्यक्तित्व विकास की चर्चा की गई है। वैसे तो सभी कलाएँ व्यक्तित्व विकास में सहायक हैं, परंतु शास्त्रीय नृत्य ऐसी कला है जिसमें गायन–वादन का प्रयोग संगत के रूप में तो होता ही है लेकिन साथ ही साथ, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य जैसी अन्य ललित कलाएँ भी अपरोक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं। ये सभी कलाएं मिलकर व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक गुणों को विकसित कर अपनी क्षमताओं को जानने का अवसर प्रदान करती हैं। अतः विशेष रूप से शास्त्रीय नृत्य–शिक्षण के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में क्या प्रभाव पड़ता है और शास्त्रीय नृत्य सीखने के पश्चात् उनके व्यक्तित्व में किस तरह सकारात्मक बदलाव आता है, इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : *भारतीय, भास्त्रीय नृत्य, व्यक्तित्व विकास, कला, मानव विकास।*

शोध प्रविधि : *यह एक सैद्धांतिक अध्ययन है जिसमें विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए शास्त्रीय नृत्य के महत्व एवं इससे व्यक्तित्व में होने वाले विकास के संबंध में चर्चा की गई है। शास्त्रीय नृत्य के विद्यार्थियों एवं अन्य विषय के विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में अंतर समझने के लिए अवलोकन विधि का प्रयोग किया गया है। साथ ही, नृत्य सीखने वाले अभ्यर्थियों से प्रश्नावली के माध्यम से, नृत्य सीखने के पश्चात् उनके निजी जीवन एवं व्यवहार में हुए परिवर्तनों को जानने का प्रयास किया गया है।*

प्रस्तावना– व्यक्तित्व के विकास में कलाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। विशेष रूप से शास्त्रीय नृत्य, मनुष्य की जीवन–शैली एवं व्यवहार में अद्भुत परिवर्तन लाती हैं। अन्य विषयों अथवा अन्य विधाओं के विद्यार्थी केवल उस विशेष विधा में या विषय विशेष में प्रवीण होते हैं किन्तु शास्त्रीय नृत्य का विद्यार्थी नृत्य में निपुण होने के साथ–साथ जीवन के अनेक पहलुओं से अवगत होता है और जीवन जीने की कला भी सीखता है। प्राचीन समय में पूजा–विधि के रूप में मंदिरों में किए जाने वाले इस कला का स्वरूप भले ही बदला हो परंतु आज भी गुरू–शिष्य–परंपरा से चली आ रही है। यह नृत्यकला आध्यात्म एवं भक्ति से ओत–प्रोत है। इस कला को सीखने अथवा इसकी साधना करने से व्यक्ति में एकाग्रता, धैर्य, आध्यात्म, मानवता, शिष्टाचार, नैतिकता, व्यवहारशीलता, स्वास्थ्य, संस्कृति, सृजनशीलता जैसे गुणों का विकास होता है जो व्यक्तिगत जीवन को बेहतर बनाकर पूर्णता प्रदान करती है।

मौजूदा शिक्षा प्रणाली में विषय–वस्तु के ज्ञान के साथ–साथ विद्यार्थियों के संपूर्ण विकास को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम निर्धारण तो किया जाता है परंतु कहीं–न–कहीं इस पुस्तकीय ज्ञान में व्यवहारिक ज्ञान और नैतिक मूल्यों की कमी देखी जा सकती है। वहीं कला शिक्षण के माध्यम से इन अभावों को दूर किया जा सकता है। वर्तमान समय में हर क्षेत्र मे हम निरंतर विकास कर रहे हैं किन्तु आर्थिक या राजनीतिक विकास के साथ–साथ मानवीय मूल्यों का विकास करना भी अति आवश्यक है।

व्यक्तित्व विकास आज के दौर में बहु–चर्चित विषय है। अनेक पाठ्यक्रम चलाए जा रहे हैं जो व्यक्तिव के पूर्ण विकास का दावा करती है किन्तु केवल बाह्य रूप से विकास कर लेना ही संपूर्ण विकास नहीं है। कला–अध्ययन इसी बाहरी आवरण को हटाकर आंतरिक रूप से सकारात्मक विकास करने का अवसर प्रदान करती

*सहायक आचार्या, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है। नृत्य–साधना या नृत्य अध्ययन किस तरह व्यक्तित्व विकास में सहायक है, यह जानने से पूर्व व्यक्तित्व क्या है? यह समझना आवश्यक है।

''व्यक्तित्व व्यक्ति की ऐसी नितांत व्यक्तिगत विशेषता है जो उसके पूरे जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, जब किसी शिशु का जन्म होता है तभी से उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया से व्यक्तित्व की विकास–यात्रा शुरू हो जाती है और उसके जीवनपर्यंत अनवरत चलती है।''[1] व्यक्तित्व प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार और गुणों का प्रतिबिम्ब होता है। किसी का व्यक्तित्व अच्छे गुणों से परिपूर्ण अथवा गुण रहित भी हो सकता है। हमें इस आंकलन की आवश्यकता है कि हमारा व्यक्तित्व और व्यवहार प्रभावशील है अथवा इसमें विकास की जरूरत है।

स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि ''व्यक्तित्व शक्ति का महान केन्द्र है और जब यह शक्तिशाली अंतर्मानव तैयार हो जाता है तो वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है उसी वस्तु को कार्यशील बना देता है।''[2]

शास्त्रीय नृत्य के माध्यम से व्यक्तित्व में विकास

विभिन्न विद्वानों के अनुसार व्यक्तित्व विकास के विविध आयाम हैं, जिनमें से लगभग सभी आयामों को नृत्य शिक्षण के माध्यम से निखारा जा सकता है। व्यक्तित्व के प्रारंभिक निर्माण में पारिवारिक वातावरण अथवा सामाजिक वातावरण की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यक्तित्व सदैव समय के साथ परिवर्तित होता है और सही दिशा निर्देश और उचित शिक्षण–पद्धति से व्यक्तित्व और विचार में परिवर्तन लाया जा सकता है। यहाँ शास्त्रीय नृत्य के माध्यम से विकसित होने वाले प्रमुख गुणों की चर्चा की गई है जो व्यक्तित्व विकास हेतु अन्य आवश्यक तत्वों के केंद्र बिन्दु हैं।

''स्वामी विवेकानंद ने एकाग्रता को शिक्षा का सार एवं व्यक्तित्व विकास की प्रमुख सीढ़ी माना है। यदि छात्र को एकाग्रता का प्रशिक्षण दे दिया जाय तो अन्य सब विषय तो वह स्वयं आत्मसात कर लेगा।''[3] शास्त्रीय नृत्य में मनुष्य के शरीर का प्रत्येक भाग अर्थात् अंग, प्रत्यंग और उपांग सभी सक्रिय रूप से कार्य करते हैं। नृत्य प्रशिक्षण में विद्यार्थी को बोल के माध्यम से अथवा गिनती के साथ नृत्य की क्रियाएँ सिखायी जाती हैं जिससे सबसे पहले ध्यानपूर्वक देखने और सुनने के लिए आंख और कान फिर पुनः उन क्रियाओं को दोहराने के लिए धीरे–धीरे पूरा शरीर कार्यरत हो जाता है। चूंकि नर्तक को एक ही समय में शरीर के प्रत्येक भाग को संचालित करना होता है, तो इंद्रियाँ स्वतः कार्यशील हो जाती हैं। अंगों के व्यवस्थित व सौंदर्यपूर्ण संचालन के अतिरिक्त गायन–वादन के साथ सामंजस्य बैठाते हुए ताल और लय पर भी संयम रखना होता है जो इंद्रियों के केन्द्रित होने से ही संभव है। इस तरह निरंतर नृत्य अभ्यास करते–करते अभ्यर्थी अपनी इंद्रियों को वश में करना भी सीख लेता है और इंद्रियों पर संयम से एकाग्रता का गुण भी विकसित होने लगता है। इस दौर में जहाँ भटकाव के अनेक साधन उपलब्ध हैं वहाँ एकाग्रता लाना ही एक असंभव–सा कार्य है परंतु नृत्य में शारीरिक श्रम से मनुष्य का मन और मस्तिष्क दोनों ही शांत होता है जिससे एकाग्र होना और अपने लक्ष्य पर पहुंचना आसान हो जाता है।

शरीर, मन और आत्मा में संतुलन का सर्वश्रेष्ठ माध्यम अध्यात्म है। अध्यात्म में लीन हो जाने भर से ही व्यक्तित्व में अद्भुत परिवर्तन आता है। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्म मार्ग में है तो वह विभिन्न प्रकार के व्यसन, काम–क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा जैसी बुरी आदतों पर नियंत्रण कर विजय प्राप्त कर सकता है। आध्यात्म स्वयं को जानने, अपनी शक्ति को पहचानने और जीवन जीने की कला सीखाता है और जब हम स्वयं को पहचान कर अपनी भाक्तियों का उचित प्रयोग करना सीख लेते हैं तो कठिन से कठिन परिस्थिति का सामना करना आसान हो जाता है। शास्त्रीय नृत्य कैसे आध्यात्म की ओर ले जाती है? सभी शास्त्रीय नृत्यों की पृष्ठभूमि चाहे भरतनाट्यम हो, ओडिसी हो या अन्य शास्त्रीय नृत्य शैलियाँ, सभी का उद्भव मंदिरों में ही हुआ है और नृत्य प्रस्तुतिकरण में मुख्य कथावस्तु भी ईश्वर पर आधारित होती है। नृत्य के माध्यम से निरंतर ईश्वरीय स्तुति से भक्ति की भावना जागृत होती है और धीरे–धीरे यह आध्यात्म में परिवर्तित हो जाती है। वर्तमान युग में सामान्य मनुष्य जहां परस्पर ईर्ष्या की भावना से जी रहा है वहीं आध्यात्मिक व्यक्ति प्रेम, दया, करूणा, क्षमा जैसी भावनाओं से परिपूर्ण होता है जो उनके व्यक्तित्व को श्रेष्ठ बनाती है। प्रतिदिन नृत्य अभ्यास के साथ–साथ नृत्य में प्रयोग होने वाले भक्तिभावयुक्त भजन और गीत का अभ्यास परोक्ष रूप से ईश्वर में आस्था और अध्यात्म की ओर प्रेरित करता है।

व्यक्तित्व को संपूर्ण बनाने में संस्कृति का महत्वपूर्ण

योगदान होता है। ''भारत संस्कृति समृद्ध देश है, जहाँ विभिन्न प्रकार की संस्कृति एवं परंपराएँ हैं जो इसे विश्व के अन्य देशों की तुलना में एक अलग पहचान देती है। भारतीय सभ्यता लगभग 4500 वर्ष पुरानी है जिसमें लोगों का विश्वास, ज्ञान, परंपराएँ, आदतें, खान–पान, आचार–विचार, भाषा, त्यौहार, कला एवं क्षमताओं का समावेश होता है। संस्कृति एवं परंपरा में केवल यही अंतर है कि परंपराएँ संस्कृति का ही एक भाग होती हैं जिसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि परंपराएँ संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं।''[4] सांस्कृतिक वातावरण की भिन्नता से किसी मनुष्य के व्यवहार और विचार में भी भिन्नता आती है। शास्त्रीय नृत्य केवल एक कला होने के नाते अथवा परंपरा से संबंधित होने के कारण संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि बोल–चाल, वेश–भूषा, भाषा आदि को भी विकसित करती है जो संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। शास्त्रीय नृत्य प्रशिक्षण का प्रारंभ ही शिष्टाचार के साथ होता है। पहले दिन से ही भूमि को प्रणाम करना और गुरू का आशीर्वाद प्राप्त कर नृत्य का अभ्यास करना सिखाया जाता है। सभी का अभिवादन करना, सही तरीके से उठना–बैठना, सही ढंग से बोलना, व्यवस्थित वस्त्र धारण करना जैसे अनेक गुणों का विकास किया जाता है जिससे आदर और शिष्टाचार की भावना में संवृद्धि होती है।

ऐसा माना जाता है कि वेश–भूषा, व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव डालती है। वेश–भूषा किसी भी क्षेत्र की हो अथवा किसी भी शैली की हो, किन्तु उसे पहनने का सही ढंग व्यक्तित्व को आकर्षक बनाती है। किसी भी कला के अध्ययन के साथ लावण्य और सौंदर्य का गुण भी स्वतः ही विकसित होने लगता है जिससे उसके पहनावे, बोलचाल, भाषा आदि में वह सौंदर्य परिलक्षित होने लगता है। चूंकि शास्त्रीय नृत्य के प्रशिक्षण के दौरान प्रतिदिन सुव्यवस्थित कपड़े पहनना और पारंपरिक परिधानों के साथ नृत्य अभ्यास करना अनिवार्य होता है। अतः व्यवस्थित वेश–भूषा और आचरण, धीरे–धीरे अभ्यर्थी की आदत में शामिल होने लगता है। निश्चित रूप से पश्चिमी देश के पोषाक से प्रभावित पीढ़ी आरंभ में कष्ट का अनुभव करती है लेकिन कुछ समय पश्चात् ही इसका महत्व समझकर वे इसे अपनाते हैं और भारतीय वेश–भूषा पहन कर गर्व का अनुभव करते हैं। साधारण वस्त्रों को कलात्मक ढंग से पहनना, अच्छा खान–पान, उचित व्यायाम जैसे अनेक खूबियों को ग्रहण करने के साथ–साथ दिन–प्रतिदिन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे अपनी संस्कृति से परिचित होते रहते हैं जो उनके व्यक्तित्व को प्रभावी बनाने हेतु आवश्यक है।

वर्तमान समय में प्रभावशाली संप्रेषण, व्यक्तित्व विकास के कारकों में से प्रभावी कारक है। ''संप्रेषण को प्रभावशाली बनाने में शारीरिक भाषा, जैसे– भाव–भंगिमा, हस्त–संचालन, बैठने एवं खड़े होने का ढंग आदि, आप क्या कहना चाह रहे हैं, इसका एहसास कराने में बहुत महत्वपूर्ण है।''[5] जीवन के हर एक चरण में प्रभावशाली संप्रेषण विशेष भूमिका निभाती है और एक नर्तक में यह विशेषता अवश्य होती है। शास्त्रीय नृत्य के कलाकार अथवा अन्य प्रदर्शनकारी कलाओं के साधक को भाषा का ज्ञान होना तो आवश्यक है ही, यथोचित प्रयोग करना भी कलाकार के लिए महत्वपूर्ण होता है। मंच पर स्वयं का परिचय देना हो या अपने विषय से दर्शकों को अवगत कराना हो इस प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि अपनी बातों को सुंदर एवं कलात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत किया जाय। सामान्यतः ऐसी धारणा है कि नृत्य का अध्ययन केवल प्रायोगिक पाठ्यक्रम पर आधारित होता है, परंतु वास्तव में अन्य विषयों की अपेक्षा इसका सैद्धांतिक पक्ष अधिक विस्तृत है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन के साथ वेदों का अध्ययन, धार्मिक ग्रंथों, पुराणों का गहन अध्ययन भी इस विषय की अनिवार्यता है। इसके साथ–साथ विद्यार्थी संस्कृत भाषा (जो अन्य भाषाओं की जननी मानी जाती है) से भी परिचित होते हैं, जो स्पष्ट उच्चारण, व्याकरण आदि को भी विकसित करने का कार्य करती है। इन ग्रंथों और पुराणों आदि के अध्ययन से नृत्य का सैद्धांतिक पक्ष तो मजबूत होता ही है। इसके अतिरिक्त भाषा के ज्ञान में भी वृद्धि होती है। इस तरह से एक नृत्य का विद्यार्थी स्पष्ट उच्चारण, उचित भाषा और कहने का अंदाज नृत्य के अध्ययन के साथ–साथ सीखता है जो उसके अपने निजी जीवन में भी सहायक सिद्ध होता है और उसके व्यक्तित्व में स्पष्टता लाता है।

शास्त्रीय नृत्य शिक्षण के माध्यम से अन्य सबसे महत्वपूर्ण गुण जो विकसित होता है, वह है– आत्मविश्वास। ''आत्मशक्ति की दृढ़ता एवं सबलता सब जगह सफलता देती है। आत्मविश्वास के बिना मनुष्य में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति नहीं उठती और स्वावलम्बन के बिना वह अपने को उठाने में असमर्थ होता है।''[6] यदि मनुष्य में आत्मविश्वास

हो तो असंभव कार्य भी सरलता से कर लेता है। ''आत्मविश्वास आपके व्यक्तित्व का वह गहना है जो आपको दूसरों से श्रेष्ठ साबित करता है। आत्मविश्वास ज्ञान और दृष्टिकोण का संयुक्त पुंज है, यह हर बड़ी सफलता की आधारशिला है। हमारे सबसे बड़े अहसास की कुंजी अक्सर आत्मविश्वास ही है। वास्तविक अर्थों में वही विकास व्यक्तित्व विकास है जो व्यक्ति के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हो।''[7] शास्त्रीय नृत्य एक प्रदर्शनकारी कला है और मंच पर दर्शकों के समक्ष आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुति देना ही विद्यार्थी का ध्येय होता है। निरंतर साधना और अभ्यास से अभ्यर्थी स्वयं को इतना मांज लेता है कि आत्मविश्वास स्वतः ही उत्पन्न होने लगता है। इससे उसे इस बात का भान भी हो जाता है कि निरंतर प्रयास और धैर्य से किसी भी लक्ष्य को पाया जा सकता है और हार न मानना उसकी व्यक्तिगत विशेषता बन जाती है।

''शास्त्रीय नृत्य एक चिकित्सा भी है, शास्त्रीय नृत्य में प्रयुक्त होने वाली हस्त मुद्राओं का अपना विशिष्ट अर्थ और उपयोग होता है। इसमें प्रयुक्त होने वाली हस्त मुद्रा न केवल किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करती है अपितु ये मुद्राएँ प्राकृतिक रूप से उपचार करने में भी उपयोगी हैं।''[8] शारीरिक गतिविधियां बीमारियों से दूर रखने और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करने में सहायक हैं। शास्त्रीय नृत्य में, नृत्य के साथ–साथ योग भी निहित है और योग को व्यक्तित्व विकास का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। वर्तमान समय में भाग–दौड़ से भरी जिंदगी में तनाव के अनेक कारण हैं जिसकी वजह से नींद में कमी होना या अवसाद की स्थिति उत्पन्न होना सामान्य है किन्तु नृत्य करने वाला व्यक्ति, नृत्य करने के दौरान अपनी सभी समस्याओं अथवा चिंताओं को भूल जाता है और उसकी मनःस्थिति बेहतर हो जाती है और इसके अतिरिक्त शास्त्रीय नृत्य में शारीरिक श्रम अधिक होने के कारण रात्रि में गहरी नींद भी आती है जिससे व्यक्ति मानसिक तनावों एवं अन्य बीमारियों से दूर रहता है। यदि मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ है तो वह सदैव प्रसन्नचित्त व उत्साह से पूर्ण होगा और उसका व्यक्तित्व भी खुशमिज़ाज़ होगा। शास्त्रीय नृत्य अथवा अन्य कलाओं का क्षेत्र, सागर की तरह वृहद् है जिसमें गोते लगाना कठिन कार्य है, और इस विषय का यही गुण नर्तक को सदैव सरल बने रहना और अभिमान न करना सिखाता है जो व्यक्तित्व विकास में सहायक है। नृत्य सीखने वाले विद्यार्थियों में दूसरों के चेहरे का हाव–भाव व अभिव्यक्ति देखकर उनकी संवेदना अथवा परेशानी को समझने की अद्भुत क्षमता भी होती है जिसके कारण वे सामने वाले व्यक्ति के मन की बात को उनके कहे बिना ही समझकर उनकी सहायता कर पाने में सक्षम होते हैं।

शास्त्रीय नृत्य से किसी विद्यार्थी के व्यक्तित्व में विकास के साथ–साथ आत्म अनुभूति, प्रकृति प्रेम, सहानुभूति, कर्मठता, संयमता, अनुशासन, करूणा आदि की भावना भी प्रवाहित होती है जो सभ्य समाज के निर्माण में भी सहायक है। यदि नृत्य–शिक्षण को स्कूल–पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग बना दिया जाय तो निश्चित रूप से विद्यार्थी जीवन में अनेक सकारात्मक परिवर्तन होंगे और उन्हें अहंकार, असंयम, निर्दयिता, बेईमानी, घृणा, अनैतिकता जैसे दुर्गणों से बचाया जा सकेगा जो व्यक्तित्व के विकास में बाधक है। शास्त्रीय नृत्य के अध्ययन से विद्यार्थियों की जीवन–शैली, उनके विचारों एवं विशेष रूप से उनके व्यक्तित्व व गुणों में जो परिवर्तन आता है वह उन्हें विशिष्ट बनाता है और वे समाज में अपना विशेष प्रभाव छोड़ते हैं। शास्त्रीय नृत्य ऐसे अनेक गुणों का खान है जो व्यक्तित्व को संवारने के साथ–साथ मानव–जीवन को वास्तविक जीवंतता प्रदान करता है।

संदर्भ सूची :

1. बिसारिया, डॉ. पुनीत. संचार कौशल और व्यक्तित्व विकास. दिल्ली, प्रभात प्रकाशन. 2022. पृष्ठ–12
2. विवेकानंद, स्वामी. व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास. दिल्ली, प्रभात प्रकाशन. 2022. पृष्ठ–29–30
3. गोस्वामी, प्रो. सुरेन्द्र बिहारी, एवं खरे, प्रदीप कुमार, व्यक्तित्व विकास के विविध आयाम (दृष्टि बदलने से सृष्टि बदलेगी). भोपाल, मध्यप्रदेश ग्रंथ अकादमी. 2015. पृष्ठ–91
4. पाणीग्रही, पी. सी., भिन्नता, समानता एवं विभिन्न पहलू. यूनियन सृजन ''भारतीय संस्कृति एवं परंपरा''. अंक–2. वर्ष–4. अप्रेल–जून 2019. पृष्ठ–14
5. Delhi Decorate of education. *"edudel.nic.in"* https://www.edudel.nic.in/welcome_folder/after12th/enrich_dt_21042015.pdf
6. कुमार, आनंद. आत्म विकास. दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स. 1964. पृष्ठ–13
7. शर्मा, डॉ. सुशील कुमार. व्यक्तित्व व आत्मविश्वास. साहित्य कुंज. अंक–169. 15 नवम्बर 2020. https://m.sahityakunj.net//entries/view/yaktitva-v-aatmvishwas
8. Pathloth, Dr. Vijaypal. Significance and Need of Dance in Education. *Journal of emerging technologies and innovative research*, JETIR, www.jetir.org, April 2018, vol-5 issue-4, Page-1411.

साहित्य–संगीत एवं ललित कलाएँ : सम्बंध, महत्त्व एवं परम्परा

डॉ. कपिल देव*

शोध पत्र–सार

संसार की समस्त ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। कारण यह है कि यही एक ऐसा कलात्मक साधन है जिसके द्वारा मनुष्य को लौकिक तथा पारलौकिक सुख–शांति का अनुभव होता है। संगीत का प्रभाव उन समस्त वस्तुओं पर पड़ता है जिनमें स्पन्दन है, प्राण है फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु–पक्षी अथवा वनस्पति। हमारे प्राचीन ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों में भी संगीत के प्रभाव को दर्शाया गया है। संगीत का धर्म से भी अभिन्न संबंध रहा है।

ललित कलाओं में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला की गणना होती है। उपयोगी कलाएँ मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंद्ध हैं। उपयोगी कलाओं में भी थोड़ा–बहुत सौन्दर्यबोध का भाव तो रहता है, पर वह गौण है। कुर्सी मेज आदि वस्तुओं में 'डिजाइन' का ध्यान रखा जाता है, किंतु यह डिजाइन प्रायः उपयोगिता के दृष्टि से बनाई जाती है। इस प्रकार उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा ललितकला मन के संतोष के लिए है। साथ ही, उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है, जो उपयोगितावाद से भिन्न वस्तु है। भावात्मक प्रदर्शन जिसका मुख्य ध्येय विशुद्ध आनन्द–प्राप्ति हो, उसे ललित कला कहेंगे। ललित कला के उपयोग में पाँच में से केवल दो ही इन्द्रियों का उपयोग होता है– दर्शनेन्द्रिय (आँख) और श्रवणेन्द्रिय (कान), बाकी इन्द्रियों से हम जगत को जानते हैं किन्तु ललित कला में बाकी तीनों इन्द्रियों का कोई काम नहीं रह जाता । कई विद्वानों ने ललित कलाएँ पाँच मानी हैं।

मुख्य–शब्द : *संगीत, कला, ललित कला, संस्कृति, साहित्य, काव्य*

प्रविधि : *इसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक माध्यमों का सहयोग लिया गया है ।*

यद्यपि कला को अखंड अभिव्यक्ति तथा अविभाज्य माना जाता है। सुविधा की दृष्टि से उसे वर्गीकरण के योग्य भी माना गया है। 'कामसूत्र' तथा 'शुक्रनीतिसार' में चौसठ, प्रबन्धकोष में 'बहत्तर' तथा ललितविस्तार में 'छियासी' कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] क्षेमेन्द्र ने अनेक कलाओं के नाम बताये हैं, किन्तु चौसठ कलाओं वाला मत ही अधिक मान्य है।[2] डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ने उपयोगी कला और ललित कला को ही मान्यता दी है।[3] जिसको गुलाबराय आदि विद्वान भी मान्यता देते हैं। श्री आर॰ जी॰ कलिगंवुड का कथन है कि–कला एक जाति है, जो दो उपजातियों में विभक्त है– लाभदायक कलायें और ललित कलायें।[4] पाश्चात्य विद्वान 'हेगल' ने प्रतीकात्मक, प्रबन्धात्मक तथा भावात्मक कलायें मानी है। कतिपय विद्वान सामान्य कलायें और सांस्कृतिक कलाएं– दो ही भेद मानते हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान उपयोगी और ललितकला के पथ में है।[5] अतः उपयोगी और ललित कला– इन दो भेदों की मान्यता ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

ललित कला में सौंदर्य का प्राधान्य तथा उपयोगी कला में उपयोगिता का प्राधान्य होता हैं। ललित कलायें मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में योगदान देती हैं और उपयोगी कलाएं उसके शारीरिक और भौतिक उत्कर्ष में सहायक होती है।[6] उपयोगी कला के अंतर्गत तमाम कारीगरी के कार्य आते हैं, जिनका दिन–प्रतिदिन के जीवन में उपयोग होता रहता है। कुम्हार की मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से लेकर बड़े–बड़े हवाई जहाज तक की कलाएं उपयोगी कलाओं के अंतर्गत ही आयेंगी। और, जो कलाएं हमारी रागात्मक चेतनाओं और भावात्मक क्षुधाओं को संतृप्ति प्रदान करती हैं, वही वास्तव में ललित कलाएं हैं।[7]

विद्वान ललित कला के सामान्यतः पांच भेद मानते हैं– वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला, काव्य कला।

*संगीत अनुदेशक, रा.आ.वरि.मा. विद्यालय, बाबैन, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

ललित कलाओं को निम्नलिखित रूप में विश्लेषित किया जा सकता है :–

1. वास्तुकला :

वास्तुकला के अंतर्गत मन्दिर, गिरजाघर, स्मारक, प्रसाद तथा अन्य कलात्मक भवन आदि आते हैं। दक्षिण में देव मन्दिर, आवपर्वत के जैन मन्दिर, साँची के स्तूप, ताजमहल आदि वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं, जिनमें वास्तुकार की उत्कृष्ट भावना, सुरूचि एवं भव्यता आदि के दर्शन होते हैं। धर्मस्थानों में निर्मित कलश, गुम्बज, मिहराबें, जालियां, झरोखे आदि वास्तुकार के मानसिक भावों को स्पष्ट अभिव्यक्त करते है।[8] माध्यमों की प्रधानता होने के कारण उसमें सूक्ष्मता का अभाव है।

2. मूर्तिकला :

इस कला का मूर्त आधार वास्तुकला की अपेक्षा सूक्ष्म होता है मूर्तिकला में प्रस्तरखण्ड, धातु, मृत्तिका आदि में मनोभावों, जीवधारियों की प्रतिच्छाया, शारीरिक और प्राकृतिक सौंदर्य का प्रदर्शन होता है। इसमें कुशल एवं प्रतिभा सम्पन्न मूर्तिकार पाषाण, मृत्तिका आदि को स्थापित कर उसे सजीव एवं आकर्षक बना देता है। विभिन्न मुद्राओं एवं भावों से समन्वित तथा भारतीय संस्कृति की परिचायक खजुराहो आदि की मूर्तियाँ इस कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

3. चित्रकला :

इस कला में मूर्तिकला की अपेक्षा मूर्ताधार अधिक कम रहता है। इसमें चित्रकार वस्त्र, काग़ज, काष्ठ, कांच आदि पर कूंची, कलम, रेखा तथा रंग आदि के माध्यम से बाह्य और अन्तः भावों को अभिव्यक्त करता है।[9] कुशल चित्रकार तो रेखाओं और विभिन्न रंगों द्वारा समस्त परिवेश, आकृति, वर्ण, मुद्रा आदि को सहज ही समाहित कर देता है। वह अपनी तुलिका या कलम से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है।[10]

4. संगीत कला :

संगीतकला चित्रकला से सूक्ष्मतर है। संगीत का आधार 'नाद' है। नाद के दो भेद हैं– अनाहत नाद और आहत नाद। आहत नाद संगीतोपयोगी होता है। स्वाशादि संगीतात्मक– तत्त्व इसी से निसृतः होते हैं, जिनसे संगीत की सृष्टि होती है। संगीतकला में गायन, वादन और नृत्य का समावेश होता है, जो अन्योन्याश्रित है। यह कला गतिशील है। स्वर, ताल, लय ये सब संगीत के रूप हैं और कलाश्रित है। इनसे नृत्य वाद्य भी सम्बन्धित है।[11] संगीत सर्वग्राह्य एवं भावाद्दीपक होने के साथ–साथ नवरसों की अभिव्यक्ति में भी सक्षम है। इस कला से मानव ही नहीं, पशु–पक्षी तथा वातावरण भी प्रभावित है। संगीत कला रंजक हैं तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहायक है। यह कला चक्षुरिन्द्रिय एवं कर्णेन्द्रिय का विषय है। आज इस कला का क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ है, जिसका श्रेय विशेष रूप से सिने–संगीत को है। वर्तमान में संगीत पाश्चात्य और हिन्दुस्तानी संगीत के रूप में अधिक प्रचलित है।

5. काव्यकला :

काव्यकला का मूर्ताधार सूक्ष्मतम माना जाता है। काव्य का मुख्य आधार भाव है, क्योंकि प्रकृति और मानव जीवन की अनुभूति से उत्पन्न भाव मानस पटल पर संचित होकर काव्य के रूप में मुखरित हो जाते हैं। काव्य में भाव–सम्प्रेषण, सार्थक शब्दों के माध्यम से होता है। शब्दों से भाषा का रूप सामने आता है, अतः भावाभिव्यक्ति में समुचित भाषा का प्रयोग उपयुक्त है।

संगीत और चित्रकला में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। राग–रागनियों के चित्रों में, रागादि के स्वरूप, गायन–समय, प्रकृति आदि को दर्शाने में चित्रकला सहयोगिनी है, यथा–भैरव, भैरवी आदि राग–रागनियों के चित्रों से प्रातः गायन तथा स्वरूप का ज्ञान होता है।[12]

चित्रकला में भी संगीत के वाद्ययंत्र और नृत्य मुद्रायें आकर्षक उत्कर्षक हैं। इसलिये शान्तिनिकेतन में संगीत शिक्षक के हाथ में चित्रकला की कूँची और चित्रकार के हाथ में दिलरूबा दिखाई दे जाये, तो किसी को तनिक भी आश्चर्य नहीं होता।[13] चित्रकला, भाव–कल्पना आदि की संयोजना में काव्यकला से सहायता प्राप्त करती है। काव्य में स्थित चित्रात्मकता, चित्रकला के प्रभाव को भी अभिव्यक्त करती है।

संगीतकला सभी ललितकलाओं की सहयोगिनी होने के साथ उनसे सहयोग भी प्राप्त करती है। सम्पूर्ण कलायें संगीत के लिये अपेक्षित बातों को पूर्ण करने के लिये व्याकुल रहती हैं।[14] तथा संगीतकला उन कलाओं को सौंदर्यमय–प्रभावोत्पादक, मर्मस्पर्शी बनाने में सहायक होती है। संगीत अन्य कलाओं में भी रंजकता, प्रभावशालिता,

हृदय–स्पर्शिता भावाभिव्यंजकता आदि के उत्पादन में सहयोग प्रदान करता है।

संगीत के अभाव में काव्यकला पंगु–सी प्रतीत होती है, क्योंकि संगीत के स्वर, राग, लय, मात्रा, गति आदि का सहयोग उसमें प्राप्त होता है। इसलिये काव्य में संगीत की तरलता, लयात्मकता और गेयात्मकता स्पष्ट अभिव्यक्त होती है। संगीत भी पूर्ण भावाभिव्यक्ति हृदयस्पर्शिता, रंजकता आदि के लिये काव्य का मुखापेक्षी है।[15] संगीत में कविता का समावेश संगीत की प्रभावोत्पादकता को दुगुना कर देता है। कहीं–कहीं कविता स्वर और ध्वनि के माधुर्य पर इतनी निर्भर हो जाती है कि कविता संगीत की अनुगामिनी बन जाती है।[16] अनुप्रास अर्थात् वर्णझंकार और छन्द आदि के रूप में काव्य संगीत के गुणों को अपना लेता है।[17] अतः संगीत अर्थबोध के लिये काव्य का सहारा लेता है और काव्य भी प्रभाववृद्धि के लिये संगीत का! दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं।[18]

सभी ललित कलायें परस्पर एक–दूसरे की सहयोगिनी होकर भी अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती हैं। फिर भी विद्वानों ने स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर इन कलाओं में काव्य और संगीत कला को उत्कृष्ट माना है। कतिपय विद्वानों ने आधार की सूक्ष्मता, प्रभाव, उत्साहवर्धकता, आनन्द की विपुलता और सार्वभौमिकता आदि की दृष्टि से संगीतकला को सर्वोत्कृष्ट कहा है।[19] काव्य को उत्कृष्ट मानने वाला वर्ग अमूर्त मानसिक भावों के अभिव्यंजक शब्द–समूह और वाक्यों से काव्य का प्रादुर्भाव मानता है किन्तु शब्द–समूह तथा वाक्य–रचना एक तो मूर्त है, दूसरे शब्दों तथा वाक्यों का आकार संगीत के अमूर्त नादोत्पन्न सप्त स्वरों की अपेक्षा बृहतर है। इसके अतिरिक्त काव्य में अन्य कलाओं का समावेश मानकर काव्य को सर्वोपरि मानना भी न्यायोचित नहीं, क्योंकि संगीत अन्य कलाओं को अपने में समाविष्ट करने के साथ–साथ काव्य का भी समावेश कर लेता है। कारण यह है कि संगीत का आधार नाद काव्य का ध्वनिमय शब्द होता है तथा काव्य के शब्दों में सांगीतिक ध्वनियां विद्यमान रहती हैं। जहां तक काव्य में समग्र मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, यह अभिव्यक्ति संगीत के स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, लय आदि द्वारा भी संभव है। नवीन सृष्टि–संरचना की क्षमता जहां काव्य में हैं, वहां संगीत भी स्वरलहरी, लय, नृत्य–मुद्राओं के हाव–भाव आदि के द्वारा विचरण कराने में सक्षम है। अतः संगीतकला की अपेक्षा काव्यकला को उत्कृष्ट मान लेना युक्ति संगत नहीं हैं, क्योंकि काव्य का संगीत से पृथक होकर अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाएगा।[20] इसलिये कहा जा सकता है कि काव्य और संगीत एक–दूसरे के पूरक हैं, दोनों में से एक को अलग करने से उसका अस्तित्व नाम मात्र का रह जायेगा।

पाश्चात्य विद्वान् भी साहित्य (काव्य) में संगीत की अस्थिति को महत्त्वपूर्ण मानते है। एम॰ जी॰ भाटे के अनुसार, साहित्य वह संगीत है जो मानव के अन्तःस्थल से इसलिए निःसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर सके।[21] 'एडगर एलन पो' ने काव्य को सौंदर्य की संगीतात्मक सृष्टि कहा है।[22] 'कलाईल' के अनुसार–संगीतमय विचार ही काव्य है।[23] 'आलफ्रेड आसिटन' तो संगीत–विहीन और अर्थ की रमणीयता से हीन रचना को कविता ही नहीं मानते।[24] 'वाट्स टण्डन' ने भावात्मक और संगीतात्मक भाषा के माध्यम से मानव मस्तिष्क की प्रबल अभिव्यक्ति को काव्य कहा है।[25] इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान काव्य और संगीत के नैकट्य को स्वीकार करते हैं। इसलिए पाश्चात्य कवियों के "लिरिक" 'सानेट' "ओड" एलिजी आदि संगीतमय होते हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्य मतों के अनुसार, काव्य और संगीत परस्पर सम्बद्ध है। जिस प्रकार दो या अधिक रंगों का मिश्रण किसी नवीन रंग की उत्पत्ति करता है, उसी प्रकार अनेक स्वरों का मेल रागोत्पादक होता है तथा जिस प्रकार गंगा, यमुना का संगम 'तीर्थराज' की उपाधि से अलंकृत होता है उसी प्रकार साहित्य और संगीत का पवित्र संगम प्रभावोत्पादक एवं परस्पर उत्कर्षक होता है।

कतिपय विद्वान काव्य को स्वयं में पूर्ण मानकर, स्वर का प्रभाव नगण्य मानते हैं। उनके विचार में वास्तविक काव्य वही है जो संगीत के बिना ही रागात्मकता जागृत कर मानव को रसविभोर कर देता है। महादेवी वर्मा के अनुसार, "काव्य सार्थक शब्द–समूह है और संगीत लयप्रधान ध्वनि समूह। जैसे काव्य में गेयता सम्भव है, परंतु अनिवार्य नहीं, वैसे ही संगीत के स्वरों में अर्थवत्ता सम्भव है, परंतु अनिवार्य नहीं।[26] निःसंदेह सच्चा काव्य, स्वर और कण्ठ की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार संगीत भी, कविता का सहयोग लिए बिना, स्वरसाधना द्वारा मानव को रसाप्लावित कर देता है। फिर भी दोनों की संगठित शक्ति एक और एक ग्यारह हो जाती है। संगीत–विहीन काव्य और

काव्यविहीन संगीत अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल पाते। इसलिए सुमित्रानन्दन पंत ने भाव और स्वर के मधुर मिलन को "सरस सन्धि" कहा है।[27]

साहित्य और संगीत अपने–अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के संरक्षण के साथ ही, बहुत कुछ अंशों में पूरक, सहोदर और अन्योन्याश्रित है। संगीत अर्थ–बोध के लिए काव्य का सहारा लेता है और काव्य प्रभाव–वृद्धि के लिए संगीत की सहायता लेता है। नाद–सौष्ठव के लिए भी काव्य संगीत का किसी–न–किसी रूप में सहयोग लेता ही है। काव्य में श्रुति–कटु मानकर कुछ वर्षो का त्याग, वृत्ति–विधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद–सौंदर्य साधन के लिए ही है।[28] अतः सत्य ही है कि संगीत आकार प्रधान काव्य है और काव्य सार्थक संगीत है।[29] संस्कृति और कला के साम्य की भांति कलाओं के अंतर्गत संगीत और काव्य में अधिक घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध का कारण शब्द के माध्यम की समानता है। इस समानता की दृष्टि से ये दोनों कलाएं सहोदरा हैं।[30] अतएव काव्य को आत्मा का मुखर संगीत कह सकते हैं। कतिपय विद्वान तो काव्य को संगीत का पर्यायवाची मानते हैं। उनका विचार है कि सरस शब्दावली और भावनाओं के सजीव चित्रण जब ताल और स्वर में बंधकर व्यक्त होते हैं और उनके द्वारा इस का प्रभाव होने लगता है, तो उसे ही काव्य या संगीत कहते हैं किन्तु यह विचार सर्वमान्य नहीं हैं। क्योंकि काव्य सार्थक शब्द–समूह है और संगीत लय प्रधान ध्वनि समूह।[31] फिर भी महादेवी वर्मा इन दोनों कलाओं के संगम को प्रभावोत्पादक मानती हैं। महादेवी वर्मा के ही शब्दों में– स्वर के साथ जब सार्थक शब्दावली की संगति हो जाती है, तब संगीत और काव्य दोनों व्याप्ति और गहराई की दृष्टि से जीवन की अलक्ष्य सीमाएं छू लेते हैं।[32] कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने भी कविता को प्राणों का संगीत माना है[33] तथा काव्य और संगीत की मैत्री पर बल दिया है :–

> भाव गीति की स्वर लय मैत्री–सी
> षडऋतुयें नित संगति में आती।[34]

पद्य में वाणी का रोआं–रोआं संगीत में सनकर इस में डूबे हुये किशमिश की तरह फूल उठता है, सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से अपने आप अनवरत झंकारों में कांपते रहते हैं।[35] इसी प्रकार निराला जी ने भी संगीत और काव्य के पारस्परिक सहयोग की सम्भावना पर बल दिया है।[36]

संगीतज्ञों ने भी साहित्य और संगीत में चोली और दामन का संबंध माना है। उनके विचार में संगीत और काव्य का मेल सोने में सुगन्ध का कार्य करता है। महान संगीतज्ञ पं॰ ओंकारनाथ ठाकुर का कथन है कि मेरी दृष्टि में ककारादि व्यंजनों के साथ अकारादि स्वरों का जो सम्बन्ध है, देह के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है, वही संगीत का कविता से सम्बन्ध है।[37] डा॰ बी॰ एन॰ भट्ट ने भी काव्य को शब्दों में संगीत और संगीत को स्वरों में काव्य माना है।[38] डॉ॰ शरच्चंद श्रीधर परांजपे का विचार है कि संगीत नाद–प्रधान साहित्य है और साहित्य शब्द–प्रधान संगीत है। दोनों का पार्थक्य हानि की सम्भावनाओं से भरा है।[39] अतः साहित्य और संगीत में प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

आनन्दानुभूति का आधिक्य संगीत में ही नहीं, काव्य में भी है। जहां संगीत की मधुर ध्वनिमय तान आनन्दमय कर देती है, वहां काव्य की कोयलकान्त पदावली और मधुर भावों की योजना आनंदित कर देती है। यद्यपि संगीत कला मानव, मानवेतर प्राणी, वनस्पति आदि को प्रभावित करती है और काव्य मानव–मात्र को ही प्रभावित करता है, तथापि हिन्दुस्तानी संगीत में रूचि रखने वाला पाश्चात्य संगीत का तथा उत्तर भारत के संगीत से परिचित दाक्षिणात्य संगीत का श्रवण कर समझ नहीं सकता आनन्दानुभूति किंतु भावोबल से कर सकता है। अतः संगीत सार्वभौम माना जा सकता है। भाव–प्रधान होने से काव्य को भी सार्वभौमिकता से समन्वित मान सकते हैं, क्योंकि काव्य किसी भी भाषा का हो, उसके भाव सर्वग्राह्य हो सकते है। किन्तु भावाभिव्यक्ति एवं प्रभाव आधिक्य के कारण, फल स्वरूप काव्य की अपेक्षा संगीत को ही उत्कृष्ट मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

आनन्दानुभूति में सक्षम, मनोभावाभिव्यंजन, प्रभावोत्पादक, रसोत्पादक आदि होने के कारण काव्य और संगीतकला उत्कृष्ट है। परस्पर उत्कर्षक काव्य और संगीतकलाएं अमूर्त्त सूक्ष्मतम भाव और नाद–प्रधान होकर भी शब्दार्थ तथा स्वर, लय, नृत्य आदि में संपादित होकर, मूर्त बनकर 'सत्यं, शिवं सुन्दरं' की सृष्टि करती हैं। अतः काव्य और संगीतकलाएं सभी कलाओं के महत्त्वपूर्ण, सूक्ष्माधार तथा महान उद्देश्यपूर्ति में सक्षम होने के कारण उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं। अस्तु, इन दोनों कलाओं को सभी कलाओं से उत्कृष्ट तथा अन्योन्याश्रित स्वीकार करना ही न्यायसंगत एवं उचित है।

संदर्भ सूची :

1. त्रिपाठी रामप्रसाद, सम्मेलन पत्रिका, कला अंक (1987), हिन्दी साहित्य, सम्मेलन इलाहाबाद, पृ॰ 476–484
2. त्रिगुणायत, डॉ॰ गोविन्द, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, प्रथम खण्ड (1950), भारती साहित्य, मंदिर, फैव्वारा, दिल्ली 1, पृ॰ 52
3. दास, डॉ॰ श्यामसुन्दर, साहित्यालोचन, (सं॰ 1988 वि॰), साहित्य–रत्न–माला कार्यालय, काशी, पृ॰ 11
4. कलिंगवुड, आर॰ जी॰, कला के सिद्धान्त, अनुवाद–डॉ॰ ब्रजभूषण पालिवाल, (संस्करण 1974), ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, पृ॰ 24
5. त्रिगुणायत, डॉ॰ गोबिन्द, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, प्रथम खण्ड, (1950), भारती साहित्य मंदिर, फैव्वारा, दिल्ली, पृ॰ 52–53
6. प्रताप, प्रो॰ विश्वनाथ, कला एवं साहित्य : प्रकृति और परम्परा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ॰ 9
7. अग्रवाल, डॉ॰ सुरेश, भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांत (2000) नवीन संस्करण, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली, पृ॰ 37
8. दास, डॉ॰ श्याम सुन्दर, साहित्यालोचन, (सं॰ 1988 वि) साहित्य–रत्न–माला कार्यालय, काशी, पृ॰ 12
9. साक्षात्कार – पूर्णचंद शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, मद वि, रोहतक 28/11/2020
10. दास, डॉ॰ श्यामसुन्दर, साहित्यालोचन (सं॰ 1988 वि॰) साहित्य–रत्न–माला कार्यालय, काशी, पृ॰ 15
11. पं॰ शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, भाग–1 (1943), प्रथम स्वरगताध्याय, अडियार लाईब्रेरी, मद्रास, पृ॰ 60
12. वही
13. वापट, विजय, पूर्वाग्रह मासिक पत्रिका, अंक 48, भारत भवन न्यास, श्यामला हिल्स, भोपाल 1, पृ॰ 27
14. वही, पृ॰ 26
15. साक्षात्कार, सत्यवान शर्मा, प्रवक्ता संस्कृत, गुरुगाम, 11/09/2020
16. दास, डॉ॰ श्यामसुन्दर, साहित्यालोचन (सं॰ 1988 वि॰) साहित्य–रत्न–माला कार्यालय, काशी, पृ॰ 18
17. प्रताप, प्रो॰ विश्वनाथ, कला एवं साहित्य, प्रकृति एवं परंपरा बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृ॰ 14
18. वही, पृ॰ 16
19. गुप्ता, डॉ॰ उषा, हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य में संगीत, (वि॰ सं॰ 2016), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, पृ॰ 95
20. साक्षात्कार, सत्यवान शर्मा, प्रवक्ता, संस्कृत, गुरुगाम, 11/09/2020
21. Bhate, M. G., Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the keyboard of language (1949). Literature and literary criticism, Karnatak Publishing House, Bombay, p. 9
22. Hudson, W. H., An Introduction to the study of Literature (1998)] Atlantic Publishers & Distributors, (P) Ltd., p. 65
23. Carylyle, Thomas, The Hero as Man of Letters (1897) edited by Maninder Nath Sinha, Prakash Book Depot, p. 36.
24. संपादक पत्रिका, वार्षिक संस्करण 1954–55, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद, पृ॰ 25
25. Tilak, Dr. Raghukul, History of English Literature, (2010), Surjeet Publication, New Delhi, p. 2
26. वर्मा, महादेवी, सन्धिनी, चिन्तन के कण (1964), लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰) पृ॰ 231
27. पंत, सुमित्रानन्दन, पंत ग्रन्थावली 'खण्ड एक, पल्लव प्रवेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 161
28. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, चिन्तामणि, (प्रथम भाग) 1939, राजकमल प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰), पृ॰ 143
29. राय, बाबु गुलाब, सिद्धान्त ओर अध्ययन (1960), आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ॰ 61
30. तिवारी, डॉ॰ रामानन्द, काव्य का स्वरूप (2000), भारती मंदिर, भरतपुर (राज॰), पृ॰ 136
31. शुक्ल, आचार्य ललिता प्रसाद, हिन्दी और बंगला का साहित्यक आदान–प्रदान (1970), हिन्दी पुस्तक एंजेन्सी, हरिसन रोड, कलकत्ता, पृ॰ 53
32. वर्मा, महादेवी, सन्धिनी (1964), लोक भारती प्रकाशन, प्रयागराज (उ॰ प्र॰) पृ॰ 23
33. पंत, सुमित्रानंदन, पंत ग्रंथावली, खंड एक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 162
34. पंत, सुमित्रानंदन, पंत ग्रंथावली, खंड पाँच, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 364
35. पंत, सुमित्रानंदन, पंत ग्रंथावली, खंड एक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 169
36. अमर, रविंद्र, हिन्दी के आधुनिक कवि : व्यक्तित्व और कृतित्व (2000), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 68
37. गर्ग, प्रभुलाल, 'संगीत' मासिक पत्रिका, (मई 1951), संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰ प्र॰) पृ॰ 51
38. गर्ग, प्रभुलाल, 'संगीत' मासिक पत्रिका, (जून 1950), संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰ प्र॰) पृ॰ 49
39. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, संगीत निबन्ध संग्रह (2000), संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद (उ॰ प्र॰) पृ॰ 75

सौन्दर्यशास्त्र की भारतीय परंपरा की विवेचना

डॉ. रूचि मिश्रा*

सारांश

क्या हर अनुभूति सौन्दर्य है ? सौन्दर्य तत्व हमारी आत्मा की गूँज है जो आनन्द की अनुभूति होने पर स्वयं ही एक लयबद्ध रूप में हमें रससिक्त कर जाती है। सौन्दर्यशास्त्र को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह समझना होगा कि सौन्दर्य है क्या? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सबसे पहले हमें खुद को टटोलना होगा क्योंकि यह विषय हमारी अनुभूति से सम्बन्धित है अतः सौन्दर्य की शास्त्रगत परिभाषा जानने से पूर्व हमें इसकी सामान्य परिभाषा तय करनी होगी। सौन्दर्य तत्व जिसकी विवेचना हमारे संगीत ग्रंथों में रस तत्व के रूप में की गई है उसकी ललित कलाओं से इतर कला में किस प्रकार से लिया गया है वह इस शोध प्रपत्र का विषय है।

मुख्य शब्दावली– *कला, सौन्दर्यशास्त्र, सौन्दर्य, कलाशास्त्र, एस्थेटिक्स, रस*

प्रविधि– *विभिन्न पुस्तकों के अध्ययन के बाद यह शोध–पत्र तैयार किया गया है ।*

विषय– सौन्दर्यशास्त्र संवेदनात्मक, भावनात्मक गुण–धर्म और मूल्यों का अध्ययन है। कला, संस्कृति और प्रकृति का अंकन ही सौन्दर्यशास्त्र है।[1] यह वह शास्त्र है जिसमें कलाकृतियों, रचनाओं आदि से अभिव्यक्त होने वाला अथवा उसमें निहित रहने वाले सौन्दर्य का तात्विक, दार्शनिक व मार्मिक विवेचन होता है। विशेष रूप से किसी सुन्दर वस्तु को देखकर हमारे मन में जो आनन्ददायिनी अनुभूति होती है उसके स्वभाव और स्वरूप का विवेचन तथा जीवन की अन्यान्य अनुभूतियों के साथ उसका समन्वय स्थापित करना इसका मुख्य उद्देश्य होता है। 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्दवाचक है उस सौन्दर्य तत्व का जो अक्षुण्ण है, अनन्त है एवं जीवन के सभी पक्षों में अपनी एक अनूठी आभा लिये हुए जीवंत स्वरूप के साथ दृष्टिगोचर होता है, यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति ना होगा कि सौन्दर्य तत्व ही वह पक्ष है जिसके कारण सभी सजीव वस्तुओं में जीवन के दर्शन होते हैं, आनन्द मिलता है। भारतीय चिन्तन में इसी आनन्द को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है एवं कहा गया है–

आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्धयेव ह्येव खाल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवंति।[2]
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

अर्थात्– आनन्द ही ब्रह्म है, आनन्द से ही सब भूत जनमते हैं, जन–मन में आनन्द से ही जीवित रहते हैं एवं संसार भर की सारी सृष्टि इसी ब्रह्म के आनन्द की अभिव्यक्ति है। अतः आनन्द के विभिन्न भावों से ओत–प्रोत होकर चित्त को आह्लादित करने वाला चुम्बकीय तत्व ही सौन्दर्य स्वरूप माना गया है, जो स्वतः ही आकृष्ट करता है मन के अन्तर्भावों को सींचता है और उस अनुपम आनन्द की प्राप्ति कराता है जो किसी भी वर्णन से परे है, या यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य तत्व का प्रारम्भ और लक्ष्य दोनों ही आनन्द तत्व की प्राप्ति है।

इसी आनन्द की अभिव्यक्ति करते हुऐ क्षेमराज ने लिखा है– आनन्दो क्षणिता सक्ति सृजयात्मानम् आत्मानम्[3] अर्थात् आनन्द का उछाल ही सारी सृष्टि है। इसकी विशेशता यही है कि इसे अभिव्यक्ति चाहिये एवं सृष्टि सर्जन से तात्पर्य उस तत्व से है जो अपने भीतर रह नहीं सकता, बाहर प्रकट होता है। विकिपीडिया के अनुसार– सौन्दर्यशास्त्र संवेदनात्मक, भावात्मक, गुण–धर्म और मूल्यों का अध्ययन है। कला, संस्कृति और प्रकृति का प्रतिअंकन ही सौन्दर्यशास्त्र है।[4] इस सौन्दर्य तत्व पर भारतीय परम्परा व पाश्चात्य परम्परा में विभिन्न प्रकार से विचार किया गया है। सौन्दर्य की भारतीय दृष्टि 'रस' है जबकि पाश्चात्य दृष्टि 'ऐस्थेटिक्स' है।[5]

सौन्दर्यबोध को भारतीय चिन्तन परम्परा में काव्य, नाट्य तथा संगीत के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है, इन्ही विचारों के आधार पर इस परम्परा में 'रस' का सार्वभौम सिद्धान्त प्रतिपादित एवं स्थापित किया है।

*सहायक आचार्या, संगीत गायन विभाग, आर्य महिला पी.जी कॉलेज, वाराणसी

रस संज्ञा में कलागत सौन्दर्य के साथ ही उसकी अनुभूति का सौन्दर्य भी निहित है। निर्मला जैन कहती हैं कि– सामान्यतः रस–सिद्धान्त भी भारतीय मनीषा द्वारा निर्मित और विकसित सौन्दर्यशास्त्र है जिसमें नाट्य, काव्य, चित्र, संगीत आदि सभी कलाओं से सम्बन्धित आधारभूत तत्वों का निरूपण किया गया है।[6] भारतीय चिन्तन परम्परा में सौन्दर्य तत्व की व्याख्या 'सत्यं शिवं सुन्दम्' की भावना के अन्तर्गत की गई है, अर्थात् ऐसा सौन्दर्य जो चिर नवीन हो एवं सर्वकल्याण हेतु सुखकारी हो, भारतीय सौन्दर्य दर्शन में भाव (Feeling) पक्ष प्रबल है। स्पष्ट है कि सौन्दर्य का यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति व अध्यात्म से प्रेरित है, वहीं पाश्चात्य चिन्तन की परम्परा में सौन्दर्य के भौतिक स्वरूप को लेकर चिन्तन हुआ है एवं यहाँ कला (Art) पक्ष की प्रधानता है।

'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द के विषय पर प्रकाश डालते हुऐ डॉ० नगेन्द्र कहते हैं– सौन्दर्यशास्त्र भारतीय वांङ्मय के लिये एक नया शब्द है। वर्तमान युग के पूर्व न तो इस शब्द का प्रयोग मिलता है और न इस नाम के किसी शास्त्र का उल्लेख।[7] वहीं दूसरी ओर इस तथ्य पर और प्रकाश डालते हुए डॉ. कुमार विमल कहते हैं– सौन्दर्यशास्त्र हिन्दी भाषा में Aesthetics का पर्याय बनकर प्रचलित हुआ है। कुछ लोग इसे नन्दनशास्त्र एवं लालित्यशास्त्र[8] भी कहते हैं।[9] परन्तु श्री के. एस. रामस्वामी शास्त्री इस धारणा का खण्डन करते हुए अपनी पुस्तक 'इण्डियन ऐस्थेटिक्स' में कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्य शास्त्र नहीं है, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास हज़ारों वर्ष पुराना है। इस परम्परा को ध्यान में रखते हुए इन्होने भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की कुछ विशिष्ट विशेषताओं के विषय में बताया है, जैसे– भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में आनन्द और रस की धारणा जिसमें आनन्द और रस की धारणा का समन्वय उपस्थित करते हुए आचार्य मम्मट ने स्पष्ट लिखा है– 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसस्वादनसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्'।[10] और आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित काव्य तत्वों के बीज रूप 'चारूत्व प्रतीति' की धारणा। अपनी पुस्तक में इन्होंने यह मत बहुत बल के साथ प्रतिपादित किया है कि सौन्दर्यशास्त्र केवल पाश्चात्य देशों में ही विकसित नहीं हुआ है बल्कि भारत वर्ष में भी इसकी स्पष्ट परम्परा है। इस प्रकार से सौन्दर्यशास्त्र विषय की प्राचीन परम्परा के प्रश्न पर भारतीय विचारक दो खेमों में बँट गये हैं। एक ओर ऐसे विचारक हैं जो यह मानते हैं कि इस विषय की प्राचीन परम्परा भारत में रही है, और दूसरी ओर ऐसे विचारक भी हैं जो इसे पाश्चात्य की परम्परा मानते हैं। परन्तु यह सत्य है कि भारतीय परम्परा में सौन्दर्य की अवधारणा को रस–सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अगर हम सिर्फ सौन्दर्यशास्त्र शब्द पर अपना अवधान न करते हुए उसके भाव पर सोचे तो यह रस का ही पर्याय है और यह सिद्धान्त लगभग 500 वर्ष ई. का है। अतः निर्विवादित रूप से भारतीय परम्परा प्राचीन है और इस कारण सौन्दर्यशास्त्र शब्द इस परम्परा के लिए नवीन नहीं है।

पूर्व हो या पश्चिम, सौन्दर्य मूल्य भले ही भिन्न–भिन्न हों, सौन्दर्य पर चिंतन, मनन, सौन्दर्य की खोज व साधना, सौन्दर्य सृजन व कलाओं का विकास सर्वत्र हुआ है, क्योंकि सौन्दर्य की उपलब्धि में जो सौन्दर्यानुभूति होती है, वह विलक्षण आनंद है और आनंद प्राप्ति मनुष्य की नैसर्गिक मानसिक अवस्था है।[11] भारतीय सौन्दर्य दर्शन प्रधानतः आध्यात्मिक भावना से ओत–प्रोत है। सम्पूर्ण सौन्दर्य भावना यहाँ "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की एक पंक्ति में समाहित है, क्योंकि जो सुन्दर है वह अस्तित्व में है वह किसी–ना–किसी प्रकार से दृष्टिगोचर हो रहा है एवं वह "सुन्दर" है क्योंकि उसमें आनन्दित करने की क्षमता है। जो आनन्ददायी है वह स्वतः ही कल्याणकारी है अतः वह "शिव" है। सुन्दर और शिव के अनुभव के पश्चात् आने वाली तीसरी स्थिति "सुन्दरम्" की है, अर्थात् परम आनन्द की अनुभूति।

किसी भी तथ्य का स्वरूप जानने हेतु सर्वप्रथम उसके मूल को जानना होता है अतः भारतीय सौन्दर्य दर्शन की अवधारणा को जानने हेतु उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को जानना होगा जो कि इस प्रकार है–

भारतीय दर्शन के अनुसार सौन्दर्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है– सौन्दर्य 'सुन्दर' का भाववाचक रूप है। सुन्दर में स्यञ् प्रत्यय लगने से सौन्दर्य शब्द की निष्पत्ति होती है– "सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्"। कोशमूलक अर्थ के अन्तर्गत सौन्दर्य शब्द की व्युत्पत्ति के निम्न सोपान हैं[12]–

> वाचस्पत्य कोश– 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द' धातु में 'अरन्' प्रत्यय के योग से सुन्दर शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ चित्त को द्रवीभूत करने वाले कारक से है।

हलायुध कोश– 'सुन्दर' शब्द की व्युत्पत्ति 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्दी' (Dysnus) धातु में 'अर्' प्रत्यय के योग से सिद्ध की गई है।

शब्दकल्पद्रुम– 'सुष्ठु' उनन्ति आद्री करोती चित्तमिति' अर्थात् जो चित्त को अच्छी प्रकार आर्द्र करता है वह सुन्दर है।

संस्कृत–हिन्दी कोश– सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति "सुन्द+अरः" के योग से होती है।

अमर कोश में सुन्दर के अट्ठारह पर्याय शब्दों को श्लोकबद्ध रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है–

सुन्दरं रूचिरं चारू सुषमं साधु शोभनम्
कान्तम् मनोरमं रम्यं मनोज्ञं मन्जु अभिष्टमीप्सितः
हृद्यं दयितं बल्लभं प्रियम।।

भारतीय परंपरा में सौन्दर्य शब्द का प्रचुरता से सुन्दर प्रयोग संस्कृत ग्रंथों में प्राप्त होता है। संस्कृत ग्रंथों में सौन्दर्य–सम्बन्धी अवधारणा निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होती है–

ऋग्वेद में रूप, सुन्नरी, सूनर, चारू, अप्सु तथा पेशस शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य के समानार्थी शब्दों के रूप में प्राप्त होता है। इसमें सौन्दर्य को 'श्री' नाम से सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रिय, श्रेष्ठ आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसमें सु (उपसर्ग) अनेक बार सुन्दर के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है[13], जैसे– सुन्दर वीर पुरूष के लिए सुवीरासः, सुन्दर उत्तम बुद्धि वाले के लिए सुमतीनाम्, एवं परमेश्वर को सुरूपकृत्नु (वह अपने प्रकाश से सब पदार्थों को सुन्दर रूप से युक्त करने वाला है) कहा गया है।[14] इसमें 'शुभ्रा' शब्द का प्रयोग तेजस्विता के लिए हुआ है।[15]

अथर्ववेद में भी सुन्दर के अभिप्राय से अन्य शब्द मिलते हैं इसमें सम्भलः (यथा विधि सम्भाषण तथा निरूपण करने वाला वर), सुमति (सुन्दर बुद्धि वाली कुमारी), जुष्टा (प्रिय), समनेशु (साधु विचार वाले), वल्गु (मनोहर) सुशदा (रमणीक घर) आदि शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य के अभिप्राय से हुआ है।

यजुर्वेद में सौन्दर्य के पर्याय शब्दों के रूप में सुप्वा (यज्ञ से भली प्रकार पवित्र करना) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

रामायण में सुन्दर के समशील शब्दों के रूप में शोभन, चारू, अभिराम, रम्य, सुभग आदि का अनेकशः प्रयोग हुआ है।

महाभारत काल में भी सुन्दरता की अभिव्यक्ति को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करने हेतु कई शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे– रूपवान, दर्शनीयश्च, शोभिने, रूचिरस्ते, मनोहरम् चन्द्रमुखी, प्रसन्ना, चित्त प्रसादिनी, प्रियदर्शन, सुभग, हृद्य आदि।

श्रीमद्भागवत में सौन्दर्य के स्वरूप के पर्याय के रूप में विभूति शब्द का प्रयोग मिलता है एवं सौन्दर्य के स्वरूप को निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से बड़ी सरलता से व्यक्त किया गया है–

तदैव रम्यं रूचिरं नवं–नवं तदैवं शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदैव शोकार्णव शेषणं नृणां यदुत्तम श्लोक यशोऽनुगीयते ।।

शंकराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी में सौन्दर्य शब्द के पर्याय के रूप में लावण्य, धुति, विमल, आभा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त सौन्दर्य के स्वरूप को विभिन्न शब्दावलियों यथा– चारूत्व, वैचित्र्य, शोभा, कान्ति, सौष्ठव, रमणीयता, लालित्य, लावण्य, चारू, चित्र, सुशम, शोभन, कान्त, रूचिर, मनोरम, सुष्ठु, विनोद आदि पर्यायों की सहायता से प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में व्यक्त किया गया। सौन्दर्य के मानस स्वरूप को वैदिक ऋचाओं में स्वीकृति मिली है– सौन्दर्य प्रीतिकर अथवा उल्लासप्रद है, मधुर है, स्फूर्तिप्रद है, चिरनवीन है, पवित्र है और दिव्य है।[16]

भारतीय सौन्दर्य दर्शन एवं विभिन्न विद्वानों के मत

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– सौन्दर्य शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है। वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु प्रिय, पेशय, चित्र, रम्य, भद्र, मधुर आदि शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। सुन्दर शब्द का प्रयोग सबसे पहले रामायण में प्राप्त होता है। उसके पश्चात् महाभारत में किन्तु वह अत्यन्त विरल है।[17]

कलाशास्त्र में भी प्रायः उपर्युक्त शब्द ही मिलते हैं जिसमें सौन्दर्य के लिए रूप, शोभा, विच्छिन्ति, वैचित्र्य आदि और सुन्दर के लिए रम्य, रमणीय, मनोज्ञ, मनोहर, चित्र, चारू आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु उसे कोई भी पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्राप्त नहीं है।

काव्यशास्त्र में वामन, कुंतक आदि ने सौन्दर्य का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है, किन्तु सब मिलाकर यहाँ भी उसकी अपेक्षा शोभा, रमणीयता, चारुता आदि शब्दों का प्रचलन ही अधिक है। इसके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों ने काव्य अथवा कला के सौन्दर्य के लिए अपने कुछ विशिष्ट शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग भी किया है, जैसे–रस, अलंकार, वक्रता आदि।[18]

चिन्तन के विविध सोपानों के अन्तर्गत सौन्दर्य के विविध पक्षों के दर्शन विविध ग्रंथों में होते हैं। इसी क्रम में एक दृष्टि यह भी है कि सुन्दर वस्तु चाहे कितनी ही बुरे परिवेश में हो वह सुन्दर ही प्रतीत होती है, जैसे– कमल कीचड़ में खिलता है फिर भी वह सुन्दर ही प्रतीत होता है। महाकवि कालिदास ने इस कथन की पुष्टि करते हुए अपने ग्रंथ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कहा है कि सौन्दर्य नैसर्गिक है, अलंकार सापेक्ष नहीं। धब्बों से युक्त चंद्रमा रम्य ही लगता है, अर्थात् इन तथ्यों का सार यही है कि सौन्दर्य में आकर्षण होता है और यह उसका स्वाभाविक गुण है।

महाकवि माघ के अनुसार–"क्षणे–क्षणे यन्नुवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।" अर्थात्– रमणीयता (सौन्दर्य) क्षण–क्षण नवीनता को प्राप्त होता है। महाकवि के इस कथन से सौन्दर्य–सम्बन्धी तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं[19]–

सौन्दर्य प्रति क्षण नवीनता को प्राप्त करता रहता है, अतः उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं के दर्शन में अतृप्ति का भाव बना रहता है।

सौन्दर्य अपनी सूक्ष्मता और अग्राह्यता से प्रेक्षक को चमत्कृत कर देता है।

डॉ. पुरूषोत्तमदास अग्रवाल के अनुसार[20]– सौन्दर्य की प्रतिक्षण की नवीनता का विवरण केवल भारतीय परम्परा में ही प्राप्त है, पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र में इसकी चर्चा भी नहीं है। यह तथ्यपूर्ण रूपेण सत्य है क्योंकि भारतीय सौन्दर्य चिन्तन का मूल आधार उसका भौतिक स्वरूप न होकर उसका सूक्ष्म स्वरूप है, जो 'रस सिद्धान्त' के रूप में जाने कितने युगों से ललित कलाओं में गुण वृद्धि करने के साथ–साथ मानव के दैनिक जीवन को भी आनन्दित कर रहा है।

डॉ. रामविलास शर्मा के कथनानुसार[21]– प्रकृति, मानव–जीवन, तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। वास्तव में सौन्दर्य तत्व जीवन के प्रत्येक क्षण में रचा–बसा हुआ है, जो विविध रूपों में सहज ही परिलक्षित हो जाता है। वास्तव में सम्पूर्ण चराचर जगत का आरम्भ और अन्त इसी सौन्दर्य तत्व में समाहित है, इस कारण से यह जीवन के विविध पक्षों से पूर्णतः सम्बद्ध है।

डॉ. के. एस. रामस्वामी शास्त्री के अनुसार[22]– सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य का विज्ञान है, जिसकी अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है।

पंचपगेश शास्त्री के अनुसार[23]– सौन्दर्यशास्त्र रसानुभूति के माध्यम से प्राप्त आनन्द का दार्शनिक विवेचन है।

डॉ. के. सी. पाण्डेय के अनुसार[24]– सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं का विज्ञान व दर्शन है।

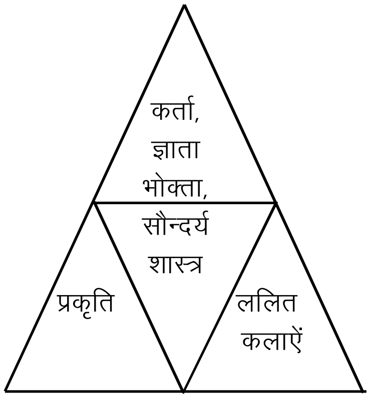

चित्र सं. – 5, सौन्दर्यशास्त्र का प्रकृति, मानव–जीवन एवं ललित कलाओं के साथ परस्पर संबंध

गजानन माधव मुक्तिबोध के अनुसार– सौन्दर्य प्रतीति का संबंध सृजन प्रक्रिया से है। सृजन प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य प्रतीति असंभव हो जाती है। असलियत

यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है जब सृजनशील कल्पना के सहारे संवेदित अनुभव का विस्तार हो जाये।[25]

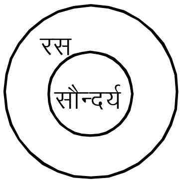

चित्र सं. 6

निष्कर्ष :

जैसा कि उपर के चित्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि भारतीय चिन्तन के दृष्टिकोण से सौन्दर्य तत्व रस के अन्तर्गत ही निहित है। हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि रस एक बड़ा कैनवास है जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य के सभी पक्ष स्वतः समाहित हो जाते हैं। सौन्दर्य तत्व का विवेचन अगर हम भारतीय दृष्टिकोण सेकरें तो इसमें निम्न तत्वों का समावेश होगा–

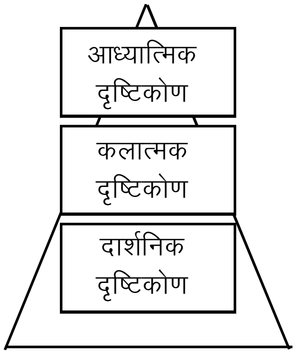

चित्र सं.– 7

जिसमें से आध्यात्मिक सौन्दर्य के अन्र्तगत सौन्दर्य को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया, कलात्मक व्याख्या में सौन्दर्य को ललित कलाओं का दर्शन माना गया और दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में ही सौन्दर्य का सार तत्व माना गया है।[26]

भारतीय चिन्तन–परंपरा में सौन्दर्य तत्व की व्याख्या 'रस' सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य विषय की प्रत्येक विशिष्टता को समाहित कर लिया गया है। 'रस' अपने आप में एक संपूर्ण, समग्र सिद्धान्त है। 'रस' सिद्धान्त इतना व्यापक और स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत सौन्दर्य से सम्बन्धित प्रत्येक विषय का समन्वय स्वयं हो जाता है, और इस सिद्धान्त के माध्यम से सौन्दर्य विषयक भारतीय चिन्तन का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

सन्दर्भ सूची :

1. http://hi.wikipedia.org/wiki, 17/05/2011, 11:45 pm
2. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, 1965, पृ.सं. 223
3. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, 1965, पृ.सं. 223
4. http://hi.wikipedia.org/wiki/सौन्दर्य, 15/05/2012, 11:32pm.
5. चटर्जी, गौतम, संगीत विमर्श, अभिनव गुप्त अकादमी, नई दिल्ली 2009, पृ.सं. 297
6. जैन, निर्मला, रस सिद्धान्त व सौन्दर्यशास्त्र
7. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका
8. कुमार, डॉ. विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967 पृ.सं.
9. वाजपेयी, सूनृत कुमार, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ.सं. 5
10. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन, 1955, पृ.सं. 36
11. भटनागर, मधुरलता, भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1994, पृ.सं. 25
12. मिश्र, डॉ. हरिशंकर, सौन्दर्यशास्त्र; स्वरूप एवं सम्भावनाएँ, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1997, पृ.सं. 73
13. शुक्ल, रामचंद्र, सौन्दर्यशास्त्र, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाऊस, कानपुर, 1981, पृ.सं. 68
14. प्रसाद, विश्वनाथ, सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981, पृ.सं. 101
15. अग्निहोत्री, पी. डी., अनुवाद– राघवन वी. कृत श्रृंगार प्रकाश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1981, पृ.सं. 77
16. ओझा, दशरथ एवं शर्मा दशरथ, रास एवं रसान्वयी काव्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2016, पृ.सं. 56
17. डॉ. नगेन्द्र, सौन्दर्य की परिभाषा व स्वरूप, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1974, पृ.सं. 38
18. शुक्ल, रामचंद्र, सौन्दर्यशास्त्र, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाऊस, कानपुर, 1981, पृ.सं.112
19. डॉ. नगेन्द्र, सौन्दर्य की परिभाषा व स्वरूप, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1974, पृ.सं. 38
20. अग्रवाल, डॉ. पुरूषोत्तमदास, मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप–सौन्दर्य, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1997, पृ.सं. 68
21. समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृष्ठ संख्या 176

22. शास्त्री, के. एस. रामस्वामी, इण्डियन ऐस्थेटिक्स, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली, 1928, पृ. सं. 60
23. शास्त्री, पी. पंचपगेश, दि फिलासॉफि ऑफ ऐस्थेटिक लिट्रचेर, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली, 1940, पृ. सं. 55
24. पाण्डेय, डॉ. के.सी, कम्पेरिटिव ऐस्थेटिक्स, चौखम्बा संस्कृत संस्थान,वाराणसी, 1950, पृ. सं. 33
25. गजानन, माधव, मुक्तिबोध– एक साहित्यिक की डायरी
26. भटनागर, हेम, हिन्दी के श्रृंगार युग में संगीत काव्य, नालंदा प्रेस, नई दिल्ली, 1987, पृ.सं. 55

संदर्भ ग्रंथ :

तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, 1965, पृ.सं. 223

चटर्जी, गौतम, संगीत विमर्श, अभिनव गुप्त अकादमी, नई दिल्ली

जैन, निर्मला, रस सिद्धान्त व सौन्दर्यशास्त्र

डॉ. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

कुमार, डॉ. विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

वाजपेयी, सूनृत कुमार, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली

मम्मट, आचार्य, काव्यप्रकाश, चौखम्बा विद्याभवन

भटनागर, मधुरलता, भारतीय संगीत का सौन्दर्य विधान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

शुक्ल, रामचंद्र, सौन्दर्यशास्त्र, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाऊस, कानपुर

प्रसाद, विश्वनाथ, सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद

अग्निहोत्री, पी. डी., अनुवाद– राघवन वी. कृत श्रृंगार प्रकाश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

ओझा, दशरथ एवं शर्मा, दशरथ, रास एवं रसान्वयी काव्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

डॉ. नगेन्द्र, सौन्दर्य की परिभाषा व स्वरूप, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

अग्रवाल, डॉ. पुरूषोत्तमदास, मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप–सौन्दर्य, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली

समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक

इण्डियन ऐस्थेटिक्स, शास्त्री. के. एस. रामस्वामी, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली

शास्त्री, पी. पंचपगेश, दि फिलासॉफि ऑफ ऐस्थेटिक लिट्रेचर, श्री वानी विलास प्रेस, दिल्ली,

पाण्डेय, डॉ. के.सी, कम्पेरिटिव ऐस्थेटिक्स, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

भटनागर, हेम, हिन्दी के श्रृंगार युग में संगीत काव्य, नालंदा प्रेस, नई दिल्ली

Importance of Expertise in 2d Classical Animation Art in Today's Animation Industry in India

Lt. Jayanta Roychowdhury** **Dr. Loveneesh Sharma***

Abstract

The Indian animation industry has experienced significant growth since its inception, with a growing demand for high-quality artworks. However, leading production houses face challenges in pre-production and production, which directly impact meeting deadlines. To achieve better quality work within a pre-scheduled timeline, appropriate technical and aesthetic skills are required. This paper aims to understand the importance of basic aesthetics and skill set for a good animation from the beginning, focusing on students and experts. The study explores the evolution and development of the 2D animation industry in India, including technical advancements over time. It also acknowledges the importance of animation-oriented basic skills through a survey and its inferential outcomes.

Keywords: *Indian Animation, Traditional 2D Animation, Skill, Technology, History, Aesthetics.*

Research Methodology

For the present research a review of literature has been done through the resources available from the libraries and online.

Visiting Animation institutions to get valid information and overview of understanding about 2d classical Animation and its importance for Contemporary Animation Industry.

An open-ended survey- through a standard questionnaire and distribution of the same to the animation concerned students, and professionals, to get authenticated inferences justification for the relevance for conducting the present research.

Study Area

To introduce about the evolution of Animation industry in India.

To trace the importance of 2d classical animation in Animation industry and Education sector.

An elaboration on the aspects of changing trends in Animation and its education.

To ideate the philosophy of basic training (Manual Skill efficiency) for the Contemporary Animation Industry.

An elaboration about the essentiality of sensibilities to understand the aesthetics in traditional and Contemporary Animation skills.

Introduction

Two-dimensional (2D) animation, developed by American animators Earl Hurd and John Bray in 1914, is a structured technique that creates an optical illusion of moving forms through basic drawing skills, object positioning, and visual effects.[1] This technique involved hand drawn images and manually painted objects on a transparent sheet known as a cell. Up to the mid-20th century, cells were made of celluloid. Snow White and the Seven Dwarfs, in 1937, Pinocchio, in 1940, Bambi, in 1942 are all recognizable films prepared following the cell techniques by Disney films.[2]

* Assistant Professor- II, Amity School of Fine Arts, Amity University, Kolkata, West Bengal

**Lt. Jayanta Roy Chowdhury was working on this research paper has passed away, was an Assistant Professor, Amity School of Fine Arts, Amity University Kolkata, West Bengal.

Animation learners often need 2D classical animation knowledge for storytelling, expressing ideas and facts through art. Indian animation teaches ethics, moral values, and cultural norms, creating connections between cultures and languages.

Indian animation – a transition

Indian animation has evolved from traditional puppet shows to modern digital animation, blending technology, aesthetics, and 2D classical methodology. This approach is reflected in the style of characters in other art forms like Warli tribal art and scroll paintings of Patua. The collaboration between institutes, government, and non-government organizations highlights the importance of knowledge in 2D classical animation for better understanding and quality outcomes for the future young generation. This article aims to provide an overview of the various stages of Indian animation development and the examples created to improve animation outcomes in India, aiming to provide a comprehensive understanding of the reasons behind these advancements.

How it has come in India

In accordance with the historical evidence the approaches and look-feel of animation has its own root and originality. 'Tholu-Bommalata' - an art of a leather puppet show, from Andhra Pradesh from Satavahana dynasty of 200 BC, a formation of shadow images projected on screen is considered as one of the ancient examples in the history of Indian Animation.[3]

Figure 1: Tholu Bommalata

The tradition of magic lantern shows continued, with Mahadeo Gopal and Vinayak Mahadeo Patwardhan creating Shambharik Kharolika in 1892, transforming into various forms based on socio-political and cultural stability..[4] In this technique, two glass slides, one with hand painted static elements and another with movable elements was used to create movement in a scene (Birajdar 2009). After few years Dadasaheb Phalke tried few films called 'Aagkhadiyanchi Mouj' a stop motion film with matchsticks, followed by 'Vichitra Shilpa',[5] and 'Animate inanimate' which are no longer exists now, but we can still see existence of these film in Fhalke's last silent film Setu Bandhan in 1932 In 1954, Indian animation gained momentum with the invitation of Clair Wicks from Walt Disney Studio, US government support for the 'Acme' camera in 1956, and animation workshops at the National Institute of Design. Disney Animation Studio aimed to produce trained animation professionals in India. Under Disney Animation Studio's supervision, the first Indian animation film, 'The Banyan Deer', was produced in 1957. Bhimsain's 1974 short film, 'Ek Anek Ekta', and R.C. Boral's 1992 short, 'Moonlit Night', are popular. Ramayan: The Legend of Prince Rama was India's first full-length animated feature film..[6]

Old manual techniques

Traditional 2D animation production involves a storyboard, a manual drawing by a storyboard artist, which divides the concept into scenes and shots, and prepares dialogue and ambient sounds. Frame-by-frame animation is prepared using manual flip techniques, tracing, coloring, and capturing in the camera.Below are some of the significant images which throw a light on manual techniques used initially by Indian animators in collaboration and support with American Animators.

Figure 2 is a representation of a manual Sketching on Light Box. In this technique a piece of paper is put on a translucent glass screen below to which a bulb is used to lit the glass surface and light passes through the piece of paper also making it easy to compare succession of movements in images drawn on paper.

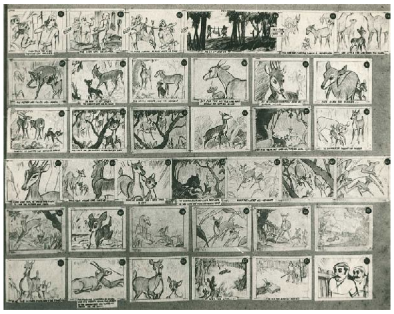

Figure 2: Represents manual storyboard design of 'The Banyan Deer' (1957)

Figure 3: Represents manual animation using light box

Figure 4: Represents manual flip technique (rolling) shown by Mr. Clair Wicks

Manual hand painted background for panning shot is used for Traditional cell animation technique.

Figure 5: Represents manual hand-painted backgrounds for panning shot

Evaluation of 2D animation and its industries in India

Government organizations like Films Division of India, National Institute of Design, Gujrat, and Children's Film Society of India have played a significant role in providing animation training programs and producing 2D animated films, creating history in Indian animation for future generations. Studio-based Indian animation production, such as those by Mandar Mullick and Ganesh Pyne, began in 1950.[7] Kantilal Rathod and Shaila Paralkar, at Hunnar Films' Baptista-Vijayakar production unit in Mumbai, worked on various animated films for advertisement in the early 1970s.[8]

Over a period of time there are advancements in different technicalities and ideas in the field of Indian animation. It begins in early 20th century when Mahadeo Gopal and Vinayak Mahadeo Patwardhan used movement of two glass slides in creating movements which can be seen in animation shorts 'Samhari Kharoleka', 'Aagkhadiyanchi Mouj,' 'Vichitra Shilpa', 'Animate inanimate' followed by 'Setu Bandhan,' in 1932 by Dadasaheb Phalke.[9] Disney Animation's visit to India in 1952-54 laid the groundwork for Indian animation, transforming the traditional manual process of creating figures on paper. Mr. Clair Wicks trained artists like Ram Mohan in India's Films Division, fostering a new wave of Indian

animation. This drive for new production and cinematic approaches led to many Indian artists pursuing careers in graphics and earning livelihoods. 'The Great Banyan Deer' was created in 1957 by India's Films division.[10] In 1965, the National Institute of Design in Ahmedabad started a training program in animation and made a black and white movie.[11] Leo Leonni visited NID in 1966 and created the masterful animated short "The Swimmy."[12]

Hurdles and success

The introduction of diverse Indian material captivated TV stations and production companies, and because of this effect, domestic animation services in India have seen consistent growth. Nonetheless, we may conclude that the steady stream of foreign-commissioned projects has strengthened the animation sector. (From the 2020 M & E report 'A Year Off-Script: Time for Resilience' by KPMG in India.) This would not have been feasible without Mr. Clair Wicks's incredible effect on Indian animation. It demonstrated the need for cross-cultural aesthetics abilities combined with technicalities, and it tremendously aided inexperienced animators. This resulted in this sector being more than simply another money-making industry, but in constant experimentation with animation content, which helped this market to flourish.

Animation methods and approach were heavily inspired by specialists from the United States in the post-independence period. This impact influenced Indian animators to embrace that approach, which became astonishingly entrenched in Indian animation film production. We can see that very few Indian animators followed and used rich and pure art heritage existing in India in their production designing stylization in animated films, but when this amalgamation began by this influence, Indian animation gathered some movement towards a development of better prospects. The influence of this cross-cultural animation approach and certain aesthetics and technicalities had a tremendous impact on the animation learning frenzy, which enabled Indian animation acquire confidence among themselves and Indian animation businesses started receiving outsourced contracts from overseas. As a result, the topic of this study paper is undoubtedly point of discussions in the scope of this article.

In connection to support this article a survey as a part of research has been done with one hundred and eleven participants (111) connected with Indian animation industry, expressed their opinions through a prepared questionnaire which helps in establishing the research that relates importance of expertise in 2D classical animation and its aesthetics, in today's animation industry in India. This survey done under the title "*2D animation and its obvious need for future animators in India*" helped the research to analyze the relevant and authenticate information which is as below.

In Figure 6, depicting different age groups, the pie-chart depicts that there is a majority of people colored in blue between 18 to 25 are associated with animation field. Then next age group is the age group between 26 to 35 almost completing the other half but there re two another group of age between 46 to 55 and above 55 are also associated with the animation industry sector. So, it is clear that in India the people of age group from 18 to 35 are associated and involved in animation sector.

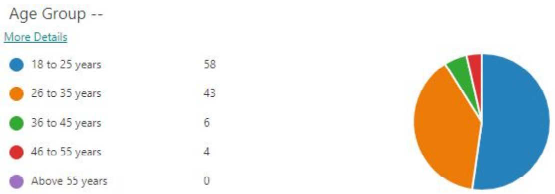

Figure 6: Age group of peoples responses

In figure 7, on the basis of occupation,

the industry absorbed 39 percent of population of student interested in animation and 50 percent people are rendering their services to different organization in animation sector in India.

Figure 7: Occupation of peoples responses

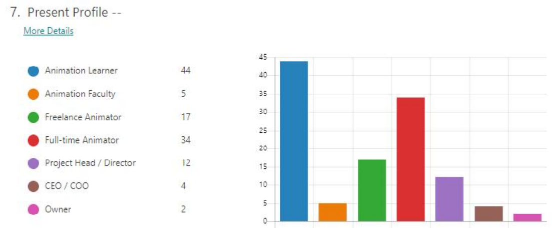

Figure 8: Present profiles of peoples responses

Graph in figure 8 depicts the different categories in animation industry dealing such as animation learner, Animation Faculty, Freelancer Animator, Full time Animator, Project Head/ Directors, CEO/ COO and owner. What depicts here is the animation learners are students interested in animation education in different institutions across India. Then another category is the professionals who devoted as full time animators and are the bone of animation Industry.

Figure 9: Experience in animation field of peoples responses

On the basis of experience, since what we could see in the previous graph figure 7 majority is students which here justifies in pie-diagram having maximum up to 10 years of experience of animation industry. Whereas more than 20 persons are the persons who are at par attained positions and excelled the knowledge of animation and its techniques working on important and major projects.

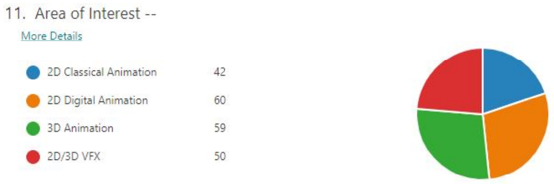

Figure 12: Area of interest they have in animation field

Figure 12 suggests the area of interest in 2D Classical Animation, 2D Digital Animation, 3D Animation and 2D/3D VFX the major interest is depicted in pie-chart in figure 11 is towards 2D Animation and then towards suggests the 3D Animation whereas interest toward 2D and 3D VFX are at 3rd in place. Interest regarding 2D Classical Animation is less which tells a clear picture of how with the evolution of Animation industry and new technologies interest regarding 2D Classical Animation become less.

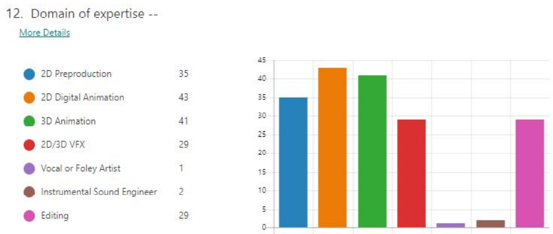

Figure 13: Their domain of expertise in animation field

The maximum hike in the domain of 2D Digital animation can be seen in the graph and also in 3D Animation near to the 2D Digital animation.

Figure 14

On the basis of parameters set as rating standards to analyze the scale regarding basic skills and expertise essential for 2D classical animation are appeared as 'FIVE STARS'. In which one star is equal to 'fair', two stars are equal to 'good', three stars are equal to 'very good' and four stars are equal to 'excellent' and five stars is equal to 'extra ordinary'.

To get a rate of their skills in 2D classical animation in particular following 5 stars strategy is been used where individual had to give stars to rate their skills in 2D animation, 2D digital animation, 3D animation, 2D & 3D VFX, Skill as an editor in animation, Rate of importance of knowledge in 2D classical animation in today's industry, Rate of importance of knowledge in 2D digital animation in today's industry, Rate of importance of knowledge in 3D animation in today's industry.

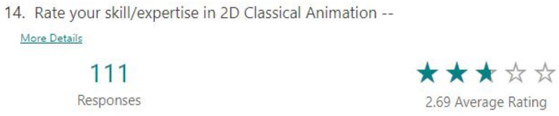

Figure 15: Rate of skills and expertise they have in 2D Classical animation

Figure 16: Rate of skills and expertise they have in 2D Digital animation

Figure 17: Rate of skills and expertise they have in 3D animation

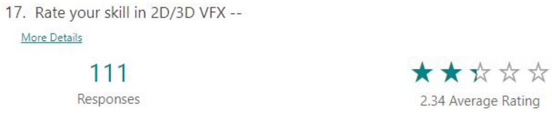

Figure 18: Rate of skills in 2D/3D and VFX

Figure 19: Rate of skills as an editor in animation

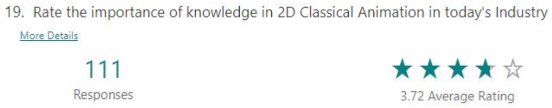

Figure 20: Rate of importance of knowledge in 2D classical animation in today's industry

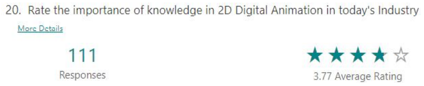

Figure 21: Rate of importance of knowledge in 2D digital animation in today's industry

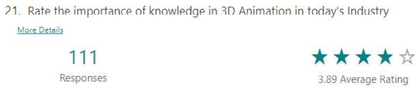

Figure 22: Rate of importance of knowledge in 3D animation in today's industry

In a question (figure 22) below in relevance to the expertise in 2D animation which leads to answers that knowledge of 2D classical animation leads to strong foundation knowledge, and ability to improvise in creativity is answered by 85 people and 72 people out of 111 answered that expertise in 2D animation provide ability to improvise the creativity whereas adaptability to the new challenges is answered by 41 people. Acceptance of 85 people from a group of 111 people emphasized the relevance of expertise in 2D classical animation which is quintessential in learning the formal techniques with in 2D animation. Moreover, without which one may be unable to understand the general aesthetics and essential requirements in creating 2D classical animation. At initial state is become a kind of set vocabulary to beginners to start by following set standards of creating animation drawings and other creations in 2d animation by different ways and at times for professionals

to enhance and to experiment on them evolving new paradigms and avenues in 2D Classical animation.

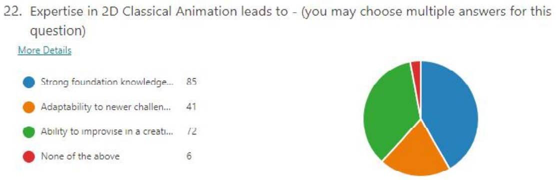

Figure 23: Expertise in 2D classical animation leads to..

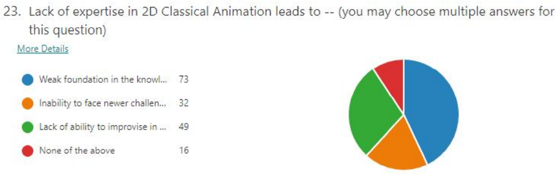

Figure 24: Lack of expertise in 2D classical animation leads to..

In pie-chart above figure 23 depicts that, out of 111 people, 72 people answered that without attaining expertise in 2D animation leads to weaker foundation in the knowledge of understanding the concepts essential for creating animation. And 49 persons answered about lack of ability to improvise in skills and techniques.

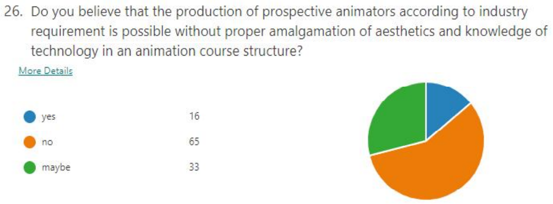

Figure 25: Is it essential to understand production requirements with proper amalgamation of aesthetics and knowledge of technology in animation course structure?

Figure 24, depicts with 65 people out of 111 say no on a question that Is it essential to understand production requirements with proper amalgamation of aesthetics and knowledge of technology in animation course structure. And 33 people out of 111 answered maybe for the same which seems an accepting interest and involvement of an individual toward learning and evolving with animation techniques at his own level and understanding initially, but to be professional he or she has to maintain industry standards which he can only pursue or achieve with proper training and expertise.

List of Illustration:

Figure 1: https://www.youtube.com/watch?v=sv5-YYesbUk&t=159s, on 15.07.2021

Figure 2: https://animationresources.org/history-clair-weeks-pioneer-of-indian-animation-2/accessed on 24th July2021

Figure 3: https://www.youtube.com/watch?v=RxJOw5O0h8o, on 24th July 2021

Figure 4: https://www.youtube.com/watch?v=T4qirW0KFKE&t=134s, accessed on 15th July 2021

Figure 5: https://www.youtube.com/watch?v=T4qirW0KFKE&t=134s, accessed on 15.07.2021

Figure 6 to 25: Data obtained from the responses of more than 100 participants form a survey done for the present research.

(Endnotes) :

1. Barrier, Michael (1999). Hollywood cartoons : American animation in its golden age. Oxford University Press. pp. 14–15. ISBN 978-0-19-503759-3

2. https://academic-accelerator.com/encyclopedia/history-of-animation, accessed on 5th August,2023.

3. Osnes, Beth (2001). *Acting: An International Encyclopedia*. ABC-Clio. pp. 152, 335. ISBN 978-0-87436-795-9

4. Torcato, Ronita (25 December 2009). "Once Upon a Magic Lantern". www.thehindubusinessline.com. Business Line, The Hindu. Retrieved 30 October 2016.

5. Dr. Lent, John A. (August 1998). "Ram Mohan and RM-USL: India's Change Agents of Animation". awn.com. A nimation World Magazine, Animation World Network. Retrieved 30 October 2016.

6. The Story of Indian Animation, His tory and Journey, Swati Agarwal and Prof. Phani Tetali, IDC, IIT Bombay, https://www.dsource.in/course/story-indian-animation/studios/beginning#ek_anek_ekta, , accessed on 15 th August, 2023

7. "Ganesh Pyne: An 'introvert' whose dark art was 'ahead of his time'". Indian Express. 13 March 2013.
8. Kantilal Rathod, https://www.cfsindia.org/tag/kantilal-rathod/, accessed on 15th August, 2023
9. https://wiki.phalkefactory.net/images/d/d3/Test.pdf, accessed on 17th September, 2023
10. Sohini Day,https://www.thebetterindia.com/96334/india-first-animation-movie-the-banyan-deer/#:~:text=Released%20in%201957%2C%20The%20Banyan,known% 20Jataka% 20in%20animated%20format.&text= Cartoons%20may%20have%20been,not% 20limited% 20only% 20to%20children, accessed on 22nd August, 2023
11. https://www.dsource.in/course/story-indian-animation/gurukuls-animation, accessed on 22nd August, 2023

Thom as Frank, Johnston Ollie, The Illusion of Life, Abbeville Press, New York City, United States, page no.368

M. J. Blanchard, M. Reisch and V. M. Yepes, "Swing: 2D and 3D Animation in Virtual Reality," 2021 IEEE Conference on Virtual Reality and 3D User Interfaces Abstracts and Workshops (VRW), 2021, pp. 774-774, doi: 10.1109/VRW52623.2021.00273. F. Van Reeth, "Integrating 2 1/2 -D computer animation techniques for supporting traditional animation," Proceedings Computer Animation '96, 1996, pp. 118-125, doi: 10.1109/CA.1996.540494.

T. Singh, "Importance of Digital Arts in Interdisciplinary Context," 2021 Joint Internation al Conference on Digital Arts, Media and Technology with ETI Northern Section Conference on Electrical, Electronics, Computer and Telecommunication Engineering, 2021, pp. 43-48, doi: 10.1109/ECTIDAMTNCON 51128. 2021. 9425707.

Barrier, J Michael, Hollywood Cartoons: American Animation in its golden age, Oxford University Press, 1999, pp.14-15

Sufi : It's Impact On Indian Music

Dr. Jyoti Sharma*

Abstract

Sufism is a dimension within Islam that seeks the divine truth and knowledge by deepening one's relationship with the Creator. It is believed that the word 'Sufi' has its origins in the Arabic word 'suf,' or wool, referring to the garment worn by the original practitioners of this faith. Sufi traditions first entered the Indian subcontinent during the early rule of the Delhi Sultanate. Modern day Sufism is most popularly and widely known for its poetry and its music, with songs that attempt to unite the musician and the listener with the Divine. Sufi music is transcendental.

The present paper trace the journey of Sufi musical practices and traditions across the world, their forms (Qawwali), and how Sufi music has created a heritage and subculture across the Muslim as well as non-Muslim world carving an identity for itself as liberal or spiritual Islam rather than legal Islam.

Keywords : *Sufi, Music, Qawwali*

Methodology : *This study is supported by secondary sources.*

Introduction:

Sufism, or Tasawwuf (Qamar-ul Huda, 2003), variously defined as "Islamicmysticism" (Lings, 2005), "the inward dimension of Islam" (Burckhardt, 2009) or "the phenomenon of mysticism within Islam" (Lings, 2005), is mysticism in Islam, "characterized ... [by particular] values, ritual practices, doctrines and which began very early in Islamic history and represents "the main manifestation and the most important and central crystallization of" mystical practice in Islam (Nasr, 2007). Practitioners of Sufism have been referred to as "Sufis" (Massington et al, 2012).

Historically, Sufis have often belonged to different .uruq, or "orders" – congregations formed around a grand master referred to as a waliwho traces a direct chain of successive teachers back to the Islamic prophet, Muhammad. These orders meet for spiritual sessions (majalis) in meeting places known as zawiyas, khanqahs or tekke (Glasse, 2008). They strive for ihsan (perfection of worship), as detailed in a hadith: "Ihsan is to worship Allah as if you see Him; if you can't see Him, surely He sees you" (Bin Jamil Zeno, 1996). Sufis regard Muhammad as al-Ins.n al-K.mil, the primary perfect man who exemplifies the morality of God (Fitzpatrick & Walker 2014), and see him as their leader and prime spiritual guide.

All Sufi orders trace most of their original precepts from Muhammad through his cousin and son-in-law Ali, with the notable exception of one.

Although the overwhelming majority of Sufis, both pre-modern and modern, were and are adherents of Sunni Islam, there also developed certain strands of Sufi practice within the ambit of Shia Islam during the late medieval

*Assistant Professor, Jawahar Lal Nehru Govt. College, Mandi Gobindgarh

period (Massington et al, 2012). Although Sufis were opposed to dry legalism, they strictly observed Islamic law and belonged to various schools of Islamic jurisprudence and theology. Sufis played an important role in the formation of Muslim societies through their missionary and educational activities (Schimmel, 2013). According to William Chittick (2007), "In a broad sense, Sufism can be described as the interiorization, and intensification of Islamic faith and practice."

The term Sufi according to Edward Sell, is most probably derived from the Arabic word Sufi, "Wool" of which material, the garments worn by eastern ascetics used to be generally made though the Sufi movement in India gained momentum in the 14th century, its traces go back to the period before the foundation of the Turkish rule.

Broadly speaking, the Sufi movement can be divided into two parts: One, from the earliest time to the beginning of the 9th century and the other from 9th century onwards. During the first period Sufism possessed no system and during second it developed its own organisation and monastic orders.

Sufism in India

Sufism has a history in India evolving for over 1,000 years (Jafri, 2006). The presence of Sufism has been a leading entity increasing the reaches of Islam throughout South Asia. Following the entrance of Islam in the early 8th century, Sufi mystic traditions became more visible during the 10th and 11th centuries of the Delhi Sultanate and after it to the rest of India (Schimmel, 1975). This Persian influence flooded South Asia with Islam, Sufi thought, syncretic values, literature, education, and entertainment that has created an enduring impact on the presence of Islam in India today (Jafri, 2006). Sufi preachers, merchants and missionaries also settled in coastal Bengal and Gujarat through maritime voyages and trade. Various leaders of Sufi orders, Tariqa, chartered the first organized activities to introduce localities to Islam through Sufism. Saint figures and mythical stories provided solace and inspiration to Hindu caste communities often in rural villages of India (Jafri, 2006). The Sufi teachings of divine spirituality, cosmic harmony, love, and humanity resonated with the common people and still does so today (Holt et al, 1977).

Sufism has been defined by Dr. Tara Chand (1956) as "a complex phenomenon; it is like a stream which gathers volume by the joining of tributaries from many lands. Its original source is the Quran and the life of Muhammad. Christianity and neo-Platonism swelled it by a large contribution. Hinduism and Buddhism supplied a number of ideas, and the religions of ancient Persia Zoroastrianism, Manism, etc., brought to it their share."

Sufism highly regarded for reconciling brotherhood among countries through its music. The heightened emotions of Sufi music have its roots in Morocco, Egypt, Senegal, Indonesia, Turkey, Iran, The Balkans and Caucuses. The classical Arabic poetry incorporated with the music leaves you in a trance. The 'brother performers' hold hands in a circle chant and dance and refute rhythm. On the contrary, in Syria and Turkey, Sufi music has melancholic melodies, it is called 'Dervish' there and performed with the musical instruments like Our, Rabab, Qanun, to Ney and Zukra.

Sufi music is called 'Qawwali' and introduced in India by Shankar-Shambhu and Nusrat Fateh Ali Khan which took the audience to an emotional rift. There has been a significant overlapping of others music genres in India before Sufi found its feet in Indian subcontinent, such as Qawwali, Qaul, Qalbana, Ghazal and other folk music. Sufi is considered to be the 'Food for the soul' aims at ceaselessly repeating god's name to arouse divine ecstasy through the

music and poetry. This process of repetition is called zikr. The song text of Qawwali is written in Farsi, Hindi and Urdu, Imbued with metaphors and imageries while in India it is performed with the accompaniment of a barrel-shaped 'Dholak' and 'Harmonium'. There are famous shrines of the bygone Sufi saints which are predominant tourist destinations in Delhi and Ajmer are, Shaikh Nizamuddin Aulia's shrine and Khwaja Moinuddin Chisti respectively. The yesteryear's Sufi singers were believed to be trained by Amir Khusru, the ardent disciple of Shaikh Nizamuddin Aulia.

Qawwali

Qawwali is one of the most popular forms of Sufi devotional music and its tone is conversational while the emotion is of building up sacred ecstasy through words and music. The origin of qawwali is attributed to Amir Khusrau (1253-1325), a talented Sufi poet and composer who has also been credited with inventing the 'sitar' and the 'tabla'. He was a disciple of the Delhi-based Sufi saint Nizamuddin Auliya. Tracing its origins to 8th century Persia, the Qawwali style of music is conventionally performed at the Sufi shrines and dargahs all across the vast subcontinent and now is extremely popular internationally as well. Themes of love devotion, secularism and complete submission to the all powerful almighty are astutely woven into a spiritual extravaganza during a Qawwali performance which is also referred to as the Mehfil-e-Sama. The depth and profundity of the philosophy of the lyrics are complemented by intricate detailing of space-time in the rhythm pattern; there is ample ornamentation and complex ragas are rendered at nodes. A lead singer who initiates and conducts the performance is accompanied by a group of singers who repeat verses of poetry once recited, to accentuate the buildup of both meaning and music. In all, it is a group of eight or nine men some of whom also play the harmonium, the Tabla, and the Dholak and there is consistent clapping the sound of which is integral to the audio memory of a Qawwali. The rendition starts at an instrumental piece which is followed by recitation of Sufi poetry which may or may not belong to the main theme of the song yet the whole is tied together by the general emotion of devotion. Kafi can also be sung within the rendition to differentiate and evolve the complexity of the rhythm. At times a performance also starts with the singing of the raga to which the composition is structured. One composition can be prolonged to different durations and is a new performance every time it is sung owing to improvisations that are brought in with varying poetic couplets on each occasion and the classical exuberance with which it is rendered.

However, Qawwali found an elbow room in modern India through Hindi movies and the first ever Qawwali appeared in the film 'Mughl-e-Azam' (Teri mehfil me kismat), but what really pains us is that the Qawwali has lost its archaic charm the mysticism being replaced by profanity to suit populist pandering.

There are different forms of Qawwalis in reverence to multiple forms in which the divine is worshipped. A 'Hamd' is a song in praise of Allah, while a 'Naat' is sung in praise of Prophet Muhammad. A very popular and most well-known style of Qawwali is the 'Manqabat' that is sung to extol the virtues of Imam Ali and the fruits of following him to attain the supreme. Not only are the Sufi lyrics liberating in their essence but the buildup of the highly articulated rhythm seeks to uplift both the singer and the listener from immediate reality and usher them into an experience of the sublime.

Qawwali Music

Qawwali is a kind of Sufi devotional music with a high-pitched and fast-paced stye of singing. It developed in the 13th century when

Sufism was becoming popular on the Indian subcontinent. Qawwali literally means "philosophical utterance" in Arabic and has come to mean performing Sufi poetry to music. Qawwali songs are based on devotional Sufi poems and often have romantic themes that can be interpreted as love between a devotee and his God or between a man and a woman.

Qawwali has a very distinct sound. The "sweeping melodies" and rhythmic hand clapping and the drone of the harmonium are instantly recognizable. It is often featured in Indian films and clubs and gatherings. Qawwali music evolved out of Sufi poems and chants of God's name (zikr) to achieve a trancelike state. The poems are regarded as links to Sufi saints and ultimately to God. Poems by Khusrau are the core of the qawwali repertoire. Qawwali music has endured through the tradition of Mahfil-e-Sama ("Assembly for Listening"), which remains the central ritual today. The act of listening to music (sama) is an expression of mystical love and the desire to be unified with the Sufi saints and God.

Qawwali musicians are trained and led by a religious leader called a sheik and traditionally have performed during ceremonies to mark the death of a saint at the saint's shrine. Qawwali songs tend to be long and have a structure and organization similar to that of northern Indian music. They feature a singing melodic line supported by drones and rhythms. A typical qawwali song features "solo verses punctuated by a choral refrain and instrumental interludes." Qawwali songs also feature "a steady, accelerating beat, a refrain that is repeated with increased passion" and "a voice that roses to joyful inspired testimonials of faith."

Qawwali songs often have a structure defined by strict rules. They usually begin with a slow prelude, featuring the harmonium and drumming. After the prelude ends the singer begin intoning texts quietly as if in payer. As the song the progresses the tempo speeds up with calls of praises of Allah, the Prophet and Sufi saints. This is followed by call-and-response style exchanges between the soloist and the junior singers. The rhythms become livelier and up tempo, building to crescendo-like climax.

Most tradition qawwali songs are written in Persian or an old form of Hindi called Braj Bhasha - the languages used by Khursrau. Many new songs are in Punjabi or Urdu. On the surface many qawwali lyrics seem to be about unrequited love. A closer look reveals that are about longing for god. Both musicians and listeners talk about how the music intoxicates them with divine love.

Songs are often extended with girahs, additional verses added spontaneously in the middle of a song. There is a repertoire of girahs that singer chose from and skilled singers now to thrown in girahs in unexpected way to keep a song fresh. Tarana is a vocalization technique "using syllables derived from esoteric Sufi tradition."

A group that plays qawwali music is called a ‘party’. It usually includes a lead singer called a mohri, secondary singers who usually play the harmonium, and at least one percussionist. Every member of the group joins in the singing and the youngest members provide the rhythmic hand claps.

Qawwali refers to a performance and singer as well as a kind of music. At a traditional show, the audiences are made up of exclusively men in accordance with Sufi traditions. In the old days, qawwali was performed at a Sufi shrines on important religious days. These days it is performed in the West at concerts and in Pakistan and India at gatherings call ‘mahfils’.

Some of the Sufi famous musicians are:

Abida Parveen, a Pakistani Sufi singer is one of the foremost exponents of Sufi music, considered the finest Sufi vocalists

of the modern era. Sanam Marvi another Pakistani singer has recently gained recognition for her Sufi vocal performances. Asrar Shah a Lahore based Sufi singer who gained popularity in Coke Studio Pakistan and now is owner of his music producing company Soul Speaks.

R. Rahman, the Oscar-winning Indian musician, has several compositions which draw inspiration from the Sufi genre; examples are the filmi qawwalis Khwaja Mere Khwaja in the film 'Jodhaa Akbar', Arziyan in the film 'Delhi 6' and Kun Faya Kun in the film 'Rockstar'.

Bengali singer Lalan Fakir and Bangladesh's national poet Kazi Nazrul Islam scored several Sufi songs.

Junoon, a band from Pakistan, created the genre of Sufi rock/ Sufi Folk Rock by combining elements of modern hard rock and traditional folk music with Sufi poetry.

In 2005, Rabbi Shergill released a Sufi rock song called "Bulla Ki Jaana", which became a chart-topper in India and Pakistan.

Conclusion

Sufism or Tasawwuf is considered as esoteric part of human life. Sufis considered Qur'an as the base of their faith and beliefs. The mystic exegesis of the Holy Qur'an surely enables them to achieve high ranking from the ignoble and faceable problems in which a class of presets has entangled Islam. The Qur'an exegesis presented by Sufism or Tasawwuf based on human intellect as well as on humanism also having a magnimity in it.

References :

1. Bin Jamil Zeno, Muhammad (1996). The Pillars of Islam & Iman. Darussalam.
2. Chittick, William (2007). Sufism: A Beginner's Guide. Oneworld Publications.
3. Fitzpatrick, Coeli; Walker, Hani (2014). Muhammad in History, Theory, and Culture. ABC-Clio.
4. Glassé, Cyril (2008). The New Encyclopedia of Islam. Publishers: Rowman & Littlefield.
5. Holt, Peter Malcolm; Ann K. S. Lambton; Bernard Lewis (1977). The Cambridge History of Islam. 2. UK: Cambridge University Press.
6. Jafri, Saiyid Zaheer Husain (2006). The Islamic Path: Sufism, Politics, and society in India. New Delhi: Konrad Adenauer Foundation.
7. Lings, Martin. (2005), What is Sufism? (Lahore: Suhail Academy, 2005; first imp. 1983, second imp. 1999).
8. Massington, L., Radtke, B., Chittick, W. C., Jong, F. de, Lewisohn, L., Zarcone, Th., Ernst, C, Aubin, Françoise and J.O. Hunwick (2012). "Ta.awwuf", in: Encyclopaedia of Islam, Second Edition, edited by: P. Bearman, Th. Bianquis, C.E. Bosworth, E. van Donzel, W.P. Heinrichs.
9. Nasr, Seyyed Hossein (2007).Compare. Chittick, William C., ed. The Essential Seyyed Hossein Nasr.
10. Qamar-ul Huda (2003). Striving for Divine Union: Spiritual Exercises for Suhraward Sufis, Routledge Curzon.
11. Schimmel, Anniemarie (1975). "Sufism in Indo-Pakistan". Mystical Dimensions of Islam. Chapel Hill: University of North Carolina Press.
12. Schimmel, Annemarie (2013). Mystical Dimension of Islam. Noura Books.
13. Titus Burckhardt, Art of Islam: Language and Meaning (Bloomington: World Wisdom, 2009).

Peekaboo : Peeking through Design Trends- Past, Present & Future

Radhika Kishorpuria*

Abstract

This article delves into the concept of "Peekaboo" in fashion design, a playful approach that combines elements of revealing and concealing to evoke surprise, sensuality, and visual intrigue. Tracing its roots back to various historical periods, from ancient Greece to the liberating fashion of the 1960s and 1970s, this study highlights how designers have artfully integrated this concept into their creations. Contemporary examples from renowned brands like FENDI and Acne Studio showcase how the trend has evolved, from innovative handbags to streetwear. The emergence of the "peekaboo bra dress" and playful logo placements further demonstrates the enduring appeal and adaptability of this trend in modern fashion.

Keywords: *Trends, Forecasting, Peekaboo, Fashion History, Fendi*

Research Methodology: *Secondary and Visual Research has been adopted in this paper. Reference from articles and blogs on the internet, journals have been used for this paper.*

Introduction:

Fashion has been changing drastically over the years, especially with the pavement of industrial revolution and communication made easy over the years. As Karl Lagerfield, once rightly said, "Fashion is a train that waits for nobody. Get on it, or it's gone." The reason why I am mentioning this quote is because, as Design Individuals it's important that we look up to what's new and what has been taken from. Stating this I would like to talk about a concept, which I have been looking at for a few years now. This is a concept, which is related to playfulness in design. It's about bringing something new, something unique, while making the spectator be in awe when they look at the design. I would now like to introduce you to the concept of Peekaboo.

The Term

Having said that, I would like to ask, if you have heard of the term "PEEKABOO" before? If not, then I would like to enlighten you with the concept of PEEKABOO.

The word itself derives from the children's game "peekaboo" and its associated sounds. The word peekaboo might also, remind you of the playfulness of a cat, in terms of how a cat plays peekaboo which innates their attentiveness. Stating the same concept has been applying in the fashion industry and fashion designers have been working around in the same way to bring certain kind of attentiveness to the designs in recent years. Though, it is not certain so as to when exactly this term has been applied in the sense of fashion.

It has been adopted in the fashion industry to evoke a sense of playfulness, surprise, and allure. Designers and fashion commentators have been using the term to describe garments that incorporate elements of revealing and concealing, adding a touch of sensuality and visual interest to the overall look. It is also seen brands have not only used this concept with garment but also with various accessories. I would like to also talk about how brands have playfully used inner wear to tease both spectators and wearers.

*Assistant Professor, Amity school of fashion technology, Kolkata

In the Past

The concept of peekaboo in fashion can be traced back to various periods throughout history. While the specific term "peekaboo" may not have been used, garments that incorporated strategic cutouts or revealing elements have been present in different fashion eras. Here are a few examples:

1. *Ancient Greece :* The ancient Greeks embraced drapery and garments that revealed parts of the body. The chiton, a loose-fitting tunic, often had cutouts on the sides, exposing the arms or shoulders. The peplos, another Greek garment, was worn off one shoulder, revealing a portion of the chest.
2. *Renaissance Period :* In the 15th and 16th centuries, fashion in Europe featured gowns with low-cut necklines known as décolletage. These necklines exposed the upper chest and sometimes even hinted at the cleavage. The idea was to create a sensual and alluring look while still maintaining modesty.
3. *Victorian Era :* The Victorian era (1837-1901) was characterized by modesty and restraint in fashion. However, there were subtle peekaboo elements present. For example, dresses had sheer lace or gauze collars that added a delicate and semi-transparent detail to the neckline and sleeves.
4. *1960s and 1970s :* The 1960s and 1970s witnessed the rise of more daring and experimental fashion. Mini dresses and tops with cutouts and keyhole designs became popular, revealing portions of the back, midriff, or shoulders. These designs reflected the spirit of the era and its embrace of liberation and self-expression.
5. *Modern Fashion :* In contemporary fashion, peekaboo elements have become more prevalent and varied. Designers like Alexander McQueen, Stella McCartney, and Versace have incorporated strategic cutouts, sheer fabrics, or lace panels in their collections. For instance, dresses with mesh inserts, tops with shoulder or back cutouts, or gowns with illusion panels are common examples of peekaboo fashion today.

In the Present

Over the years brands have used the concept to peekaboo, without knowing that this could become a trend one day. This is my concept and has been my observation in terms of how various brands have been coming up with various products that could be directed toward the peekaboo fashion concept. Peekaboo fashion can be seen in various forms, such as dresses, tops, bodysuits, or lingerie, where sections of fabric are intentionally removed or replaced with sheer or mesh materials to expose specific areas of the body. This can include cutouts on the back, sides, neckline, or even midriff, as well as sheer panels or lace detailing that provide a semi-transparent effect.

By The Brands

We can look at examples from brand across the world to have a deeper idea on the concept of Peekaboo Fashion. One of the prominent brands I would like to talk about is FENDI. Fendi in around 2009 had launched the Peekaboo Bag with much Hype.

Figure-1

Over the years, this style had taken shape, representing certain animal seemingly peeking through its zipper. The Monster bag (Figure-1), also launched by Fendi in 2014, as shown in the image, is a perfect example of the same (Trang, L., 2018). The anterior section

gently drapes forward, revealing a glimpse of the interior (rather glimpse of the monster), including the distinctive inner logo. This particular design feature may well be the inspiration behind the bag's moniker, 'Peek A Boo'.

It is natural that numerous brands have subsequently emulated Fendi in this trajectory, solidifying the trend's establishment. Thus, I can state that similar trends has been spotted in design, in various trajectories. The "peekaboo bra dress" is another trendy style that incorporates a flirtatious and playful element. This type of dress features a design that allows a glimpse of a bra, adding a playful and alluring touch to the outfit.

Figure-2

A comparable trend has emerged in streetwear fashion (Stilkey, A, 2019), exemplified by brands like Acne Studio (Figure-2). They incorporate a playful twist by concealing the brand logo within a zipper lock, only visible when opened, hence making the wearer feel playful about their clothing style. Many other brands have also adopted this concept, experimenting with various materials and designs to infuse similar playfulness into their creations. This collective effort has sustained the vibrancy of this trend.

It's important to note that the specific term "peekaboo" in the fashion context may have emerged more recently, but the concept of incorporating revealing or strategically placed cutouts in garments has been present throughout fashion history in different forms and degrees of boldness.

Conclusion

While the term "peekaboo" may be relatively new in the fashion lexicon, its underlying concept of strategically placed cutouts and revealing elements has been a recurring theme in fashion history. From ancient Greece to the modern runway, designers have explored this playful interplay of exposure and concealment. The enduring popularity of the Peekaboo trend, exemplified by iconic designs from FENDI and playful logo placements in streetwear, attests to its ability to captivate and innovate within the ever-evolving landscape of fashion. This concept continues to inspire designers and captivate audiences, affirming that in fashion, the allure of Peekaboo endures.

References :

Stilkey,A. (2019). *Arena* [Photograph]. Retrieved from Color Study — Are.na

Trang, L. (2018). *Fendi Peekaboo Fit Bag* [Photograph]. Retrieved from Fendi Bag Bugs Peekaboo Leather Tote With Crocodile And Snakeskin | ModeSens

Translation of the Tribal Songs of Bhutia Community of Darjeeling Hills

Dr Kaustav Chakraborty*

Abstract

The polemics of nature / culture has been reconsidered in this article by the translation of six tribal songs of the Bhutia community of Darjeeling Hills.. Seen from the stereotyped binary of savage vs. civiliszed, the tribal people always get labelled as the martial figures of corporeal skills and, therefore, without any other delicate endowments. The tribal songs of the indigenous communities, however, prove that more than the physical, it is the musical skill which facilitates means of enablement for the tribal people. By associating ethno-music with the tribalscape, this article on the translation of the tribal Bhutia folksongs shows how the tribal group seem to combat with the 'mainstream' stereotypical notion— of tribalism to be merely martial—besides challenging the along with de-stereotyping of music which that is often labelled as an effeminate/ emasculated art.

Keywords: *Bhutia, tribal song, Darjeeling, Folk song, indigenous people.*

Methodology : *The study is supported by secondry informations.*

The Bhutia or Bhotiya, sometimes spelt as Bhotia as well, is derived out of the Tibetan word 'Bodpa': the meaning of 'Bod' is 'Tibet' and the meaning of the suffix 'pa' is 'inhabitants'. The Bhutia community residing at the Darjeeling Hills of the Indian state of West Bengal represent diverse groups of ethno linguistically Tibetan populace whose forefathers migrated at various periods of time, commencing as early as the 6th century, from Tibet to erstwhile Great Nation of Sikkim, which then included the area of present day Darjeeling district, Bhutan and NepalThe Bhutia tribe of West Bengal has been accorded Scheduled Tribe status vide Constitution (Scheduled Tribe) Order, 1950. This article is on the translations of a few songs of the Bhutia People.

The first Song: KUNSEL

Original	**English Translation**
Kunsel diring kyala labyai shig yoe	Kunsel, today I have something to tell you
Nga nyi thukpa nai soung	Since from the day we have met
Kya la gaa nai dai yoe	I am in love with you
Ningduk nga yei namdu jung na Sam	Sweetheart, I wish we could be together
Nyintsen maipa kya rang tren nai dai yoe	Day and night, I am always thinking about you
Galse kya kyi nga la gaa gii mai na	If you don't love me
Bhunchung nga yie chokla zig nai	Look at my side
Dangpo dangshak sungrok nang	And tell me honestly
Sonam diring kya la labyai shig yoe	Sonam, today I have something to tell you
Nga ni bhumo ngotsa chok chok shig yin	I am a girl who gets shy very quick

*Associate Professor of English, Southfield College, Darjeeling (W.B.)

Yen nai nga kyi kya la takpar	But still, everyday
Ngo dai nang dai	I stalk you
Tsam tsam kya nga miklam nangdu	Sometimes you even come to my dream
Yang yang lab	Maybe you are in love with me
Faicher kya kyi nga la gaagii mi drok	Or maybe it’s just my hallucination
Di ni ngayie trul nang min drok	Oh, how funny I am
Azee nga ni di drai chop tsawai la	Today, tell me everything
Di ring kya kyi sampai nangdu yoepay	What is in your heart
Kacha tsangma Naga la shai rok	If can’t tell them
Galsee lab maithup nai kya kyi	Confess all your feeling in a written form
Kacha tsangma yii tog la koirok	I wish you could be
Mai hong pai ngayie tsedrok	My future partner
Kya rang jungna sam	I wish you could be
Mai hong ngayie tsedrok	My future partner
Kya jungna sam	

The second song: BHEY KI DOGPA : WE TIBETAN NOMADS

Original	**Translation**
Phugla gangkar yoe sipae gagri yoe	Deep inside the valley are the snow capped mountains
Tsemo namla thug tsaw ten	This are the roots of our ancestors
Gangkar tsemo ney	These snow capped mountains
Chugyen dangsil bab	Are the source of water
Tsangchui gyunsang gi tsangchu gyup	That flows into our river
Ngatso bhay ki dogpa	We Tibetan nomads
Sagyu thungyu shymla	We have abundance of food to eat and drink
Chura mah dhang yaksha chuyeang che	We have nutritious cheese yak meat and butter
Ngatsoi drogpey logyue	Our nomadic history rich beautiful story
Ngatsoi drogpey logyue	Are covered with green grass and medicinal plants full of fragrance
Pyengla ring	Rich herds of yaks and flocks grazing peacefully
Yae yon pang gi rir tsa dang metok kheng	Slowly they run in the meadow
mennai metok gi drishym khyab	We Tibetan nomads
Dhela norlug nam sheday bhagpheb gyug	We have abundance of food to eat and drink
pangtsa shin du dhalpor gyug	We have nutritious cheese yak meat and butter
Ngatso bhay ki dogpa	Our nomadic history rich beautiful story

Sagyu thungyu shymla	We sing a song of Tibetan nomadic
Chura mah dhang yaksha chuyeang che	Our nomadic history rich beautiful story
Ngatsoi drogpey logyue	
Ngatsoi drogpey logyue	
Pyengla ring	
Ngatso bhey ki drogpey lusing ray	
Ngatsoi drogpey logyue	
Pyengla ring	

The Third Song: E MA HO DECHEN MONLAM: DAILY PRAYER

Original	**Translation**
Di ne nyima nub Kyi chog rol na	From here, in the direction of the sunset,
Drang med jig ten mang po'i pha rol na	Beyond innumerable systems of universe,
Chung zad teng du phag pay yul sa na	In an exalted region slightly higher up
Nam par dag pay zhing kham de wa chen	Is the pure realm of Great bliss
Dag gi chu wur mig ge ma tong yang	Although unseen by our physical eyes,
Rang sem sal way yid la lam mer sal	We should clearly visualize it in our mind.
De na chom dan gyal wa od pag med	In this realm, the Bhaghavan, brown in colour, brilliant and resplendent,
Pad ma ra ge dog chan zi jid bar	With the Ushnisha, wheels on the soles of his feet and so on
Wu la tsung tor zhab la khor lo sog	The thirty two signs of perfection and eighty minor marks.
Tsang zang so nyi pe jad gyad chu'i tre zhal	He has a single face, two arms in the mudra of equanimity, hold a bowl for alms,
Chig chag nyi nyam zhag lhung zed dzin	Dresses in the three robes and is seated in vajra pose
Cho'i go nam sum sol zhing kyil trung ge	Upon a moon seat above a thousand petalled lotus, With his back supported by a Bodhi tree.
Padma tong dan da way dan teng du	He gazes at me with his compassionate and wise eyes from afar.
Jang chub shing la ku gyab ten dzad de	To his right is the Bodhisattva Avalokiteshvara,
Thug je chan gyi gyang ne dag la zig	Who has a white body and carries in his left hand a white lotus.
Ye su jang chub sem pa chan re zig	Next to his left side is the Bodhisattva Vajrapani,
Ku dog kar po chag yon pad kar dzin	Who has a blue body and holds a vajra lotus three in his hand,
Yon du jang chub sem pa thu chen thob	Both extended their right hands to me in the

	refuse giving mudra.
Ngon po Dorje tshan pay padma yon	The three main deities appear as huge as Mount Meru, Radiant, illuminating, clearly vivid and stable.
Ye nyi kyab jin chag gya dag la tan	Accompanied by a trillion Bodhisattva monks,
Tso wo sum po ri gyal lhun po zhin	All with golden bodies, adorned with the knowledge.
Lhang nge lhan ne lham mer zhug pay khor	
Jang chub sem pay ge long je wa bum	
Kun kyang ser dog tshan dang pe jad gyan	

The Fourth Song: TATA: LOOK

Original	Translation
Mogi ngala tsewa yoe	She has a love for me
Mogi khapar tang kecha she dewa di ya yak	The love grew up with time after long talks through calls
Bhumo ngala tung las tis tis whiskey	She offered me to drink little bit of whiskey
Baby girl I know that you miss me	Baby girl I know that you miss me
Like tata tata ngala tas onay tas	Like look look she is looking at me, for real
Mogi ngala tata tata ngala tas onay tas	She is looking at me, look look she is looking at me, for real.
Chutasoe 12 sim tsash 12 sim tsash sim tsash sim tsash ya ya	It's already 12
Rogpa Tsangma party doya delha oh yeahh	Gangs in a rush to be at the party
Jigme laso gyokpo do ngala tip yakpo	Jigme said hurry up, I feel high so let's hurry up
tesha so gyokpo do ya ya	DJ turn it up this is our night
DJ turn it up this is our night	Girl shake your hips to the right and left
Keba yoepa dhang yoema la yuk dang bhumo	Like look look she is looking at me, for real
Like tata tata ngala tas onay tas	She is looking at me, look look she is looking at me, for real.
Mogi ngala tata tata ngala tas onay tas	It's already 1
Chutasoe dhangpo sim tsash yuh	Now it's already 1
And my girl is still shaking her body oh nono	And my girl is still shaking her body oh nono
She my baby kerang nyamdo shoeke bato dethu onay	She my baby, I can stay awake with you till dawn, for real
Kherang nyamdu yoena kela khay ame	I never get tired if I am with you
Like tata tata ngala tas onay tas	Like look look she is looking at me, for real
Mogi ngala tata tata Rita taaaa onay tas	She is looking at me, look look she is looking at me, for real.

The Fifth Song: PHUR: FLY

Original	Translation
Phur phur doe due	Soar, it's time you long to soar
Phur le wang gi go cha ne dol te	Soar, when you set yourself free from your own adversity
Rang wang gi ring lug la ga na	At the peak of the mount of hope for liberty
Da ni phur ya da ni phur ya	Soar now, now soar
Phur rang gi nam she ngo ma de tsol sam na phur	Soar, if you yearn to come across that genuine consciousness
Rang gi che thog me milam de tsol sam na phur	If you aspire to unearth that immense primordial vision
Phur phur ya ma phur na MI tse tsar gyu re	Soar, Soar now
Ma phur na re ba lha gyu re	If you don't soar, this lifetime will be a mere waste
Ma phur na mi tse tsar gyu re	If you don't soar, hope has to be given up
Ma phur na re ba lha gyu re	If you don't soar, this lifetime will be a mere waste
De ni rang wang gi shog pa de kyang ne	If you don't soar, hope has to be given up
De ni ngo tsar gyi milam de kher ne	Stretch out the freedom's wings then
Khor we gya tso ne gyel ne dekyi kyi zhing kham le phur	Execute those astounding dreams then
De ni che thong me nam she de tsol la phur	Go past the sea of samsara then
Phur phur ra	Soar to the terrain of paradise
Ma phur na re ba lhag gyu re	Soar, soar now
Ma phur na mi tse tsar gyu re	If you don't soar, hope has to be given up
Ma phur na re ba lhag gyu re	If you don't soar, this lifetime will be a mere waste
Ma phur na ni tse tsar gyu re	If you don't soar, hope has to be given up
Phur phur doe du phur	If you don't soar, this lifetime will be a mere waste
Cho me kyi tso we na thar te	Soar, it's time you seek to soar, soar
Tse sog gi ngo tsa la te na	Cross beyond that hollow livelihood
Da ni phur ya da ni phur ya phur	Hereafter, have reliance in the astounding life force
Rang gi che zepe Zuma dang de tsol sam na phur	If you crave to locate that gorgeous, glowing smile of your own
Phur, phur, phur.	Soar, soar, soar.

The Sixth Song: MA DREN YANG: MISSING YOU

Original	Translation
Kheyki ngala madren yang	Although you didn't miss me
Ngey rang la dren shig youe	I am always missing you

Depe dhutesee ditsok dren shig
Khu sim khu sim ngu youe
Kheye ki ngala maguk yang
Ngey rang la guk dey youe
Lo dang mangpo zichan songna yang
Sem nang bhumo khey ley me
Khey dang nga
Tha ringpo youe kyang loe mathup
Khey dhang dhelpe dutse
Phelche lebyong misam kyang
Sem ne khey rang namyang jemanu
Nga ngyi nyamdo jung masong
Nga la nging e manang
Nga kheyki trenthung dang nyamdu
Mitse tsasang kelchok
Bhumo kherang gangdu songyang
Khey kipo younwar monlam youe

Tsam tsam dutse youedu mik tsemne
Bhu nga dren tsam shik nangro nang
Khey dang nga
Tha ringpo youe kyang loe mathup
Khey dang dhelpe dutse
Phelche lebyong misam kyang
Sem ne khey rang namyang jemanu

Remembering our past days
Silently, I am broken and crying
Although you didn't wait for me
I am always waiting for you
No matter how many years pass away
Girl, you are the only one in my heart
You and I
Even if we are far away I can't let go The
times when I met you
I don't think it will come again
My heart can never forget you
Don't feel sad for me
I will spent rest of my life
Girl, no matter where ever you go
I will always wish you to be happy
Sometimes when you are free
Just close your eyes and remember me for a moment
You and I
Even if we are far away I can't let go The
times when I met you
I don't think it will come again
My heart can never forget you

In the first song the boy in a traditional mode confesses of his love to the girl. The reply of the girl, however, is quite different from that of the patriarchal 'mainstream'- by 'mainstream' I refer to the outlook and the 'normative' structures put forward by the majoritarian culture. The girl, in a performative mode, tries to fake shyness but at the end it is she who asserts to Sonam, a boy, that she not only loves her but also wants him to be her future partner. However, the fourth song, which also revolves round the Eros, is an utterance not only made by a boy, but the girl is not merely silenced-rather she is presented as an object of fetish through the male gaze. The reference to DJ underscores the transformation of the neotraditional society of the Bhutias into a domain where spontaneous emotional intimacy, as revealed in the first song, is replaced with a transhuman intervention. The sixth song, however, represents the forsaken love that one must have experienced in one's own native land-the nostalgia of an impossible romance in Tibet that still remains in the collective unconscious of the future generations of diaspora.

The diasporic element gets echoed even in the second song, where the Bhutia community of Darjeeling yearns for the lost habitus-that is, not only a geographical terrain, but an entire ecology that represented ownership,

belongingness and the national pride. In order to overcome the anguish of compulsive migration, the community spends quite a substantial time in prayers. The third song is Buddhist prayer song that not only depicts the deities but only celebrates the worth of mystic knowledge that is an integral part of the Tibetan way of everydayness. It is the mystic foundation of the life at exile that inspires the Bhutia people of Darjeeling to continue hoping for a bright future of liberation and a possible return that one finds in the fifth song.

The six songs of the Bhutia tribe highlight that the tribal people are all for love and passion. They are very cheerful and passionate in nature, despite their dislocation. Though in the 'mainstream' the image of a tribe is mainly that of a hunting group but the six Bhutia songs would enable us to counter such stereotypes that get associated with the tribal people. The Indigenous communities of India like the Bhutia people are often assumed to be the martial representatives of the formerly hunter inhabitants of the forests. Despite the works carried out by Levi-Strauss to annihilate the stereotyped dichotomy between the nature and the mind, there is a categorised notion among the polemical 'mainstream' that the tribal people, by virtue of being 'natural', as opposed to being 'cultural', are, thereby, essentially 'animalistic'/ 'savages' as not being 'civilised': "a man who spends his whole life following animals just to kill them to eat, or moving from one berry patch to another, is really living just like an animal himself" (Braidwood, 1957:22). Failing to understand that just as the garden of the 'culture' represents, "the virtualities of a homely wilderness" (Descola, 1994: 220) the jungle as the habitus of these indigenous communities "is itself a huge garden, albeit an untidy one, and the relations between its constituents are governed by the same principles of domesticity that structure the human household, yet on a superhuman scale" (Ingold, 2011:82). Seen from the stereotyped binary of savage / civilised, the tribal people always get labelled as the martial figures of corporeal skills and, therefore, without any other delicate endowments. The folksongs of the indigenous communities, however, prove that more than the physical it is the musical skill that celebrates passion, compassion and love.

References :

Braidwood, R.J. 1957. Prehistoric Men. Chicago Natural History Museum Popular Series, Anthropology, 37.

Descola, P. 1994. In the Society of Nature: A Native Ecology in Amazonia. Trans. N. Scott. Cambridge: Cambridge University Press.

DeVoe, Dorsh Marie. 1981. 'The refugee problem and Tibetan refugees', The Tibet Journal 6(3): 22-42.

Dorjee, Nawang. 1993. 'Problems and possibilities', Tibetan Review 28(6): 15-18.

Gupta, Monu Rani. 2005. Social Mobility and Change among Tibetan Refugees. New Delhi: Raj.

Ingold, Tim. 2011. The Perception of the Environment: Essays on livelihood, dwelling and skill. London and New York: Routledge.

Norbu, Jamyang. 1993. 'Broken images. Cultural questions facing Tibetans today, Part I', Tibetan Review 28(12): 15-19.

____ 1994. 'Broken images. Cultural questions facing Tibetans today, Part II', Tibetan Review 29(1): 11-12.

Petech, Luciano. 1959. "The Dalai Lamas and Regents of Tibet: A Chronological Study." T'oung Pao 47: 368-94

Ström, Axel K. 1995. The Quest for Grace. Identification and Cultural Continuity in the Tibetan Diaspora, occasional papers in social anthropology 24, Oslo.

Subba, Tanka B. 1990. Flight and Adaptation. Tibetan Refugees in the Darjeeling-Sikkim Himalaya, Dharamsala: LTWA.

Tucci, Giuseppe. 1988. The Religions of Tibet. Translated by Geoffrey Samuel. Berkeley: University of California Press.

Resignification of Buddhism; Eastern Himalayas in-between remembering and forgetting

Nimu Sherpa*

Abstract

The Eastern Himalayas consisting of the north-eastern part of India, were the part of former kingdoms of Sikkim, Bhutan, Nepal and Myanmar, and later were autonomous states under the British Raj. Prior to British Colonisation in 1835, the Eastern Himalayasseemed as an unrecognised entity, often referred to be as 'leemayelyang', a land of hidden wealth (qtd.in Chattopadhya, 2013:84) or a hidden paradise as referred by the Lepcha's one of the indigenous tribes of the region. But the Colonisation led to the dramatic transition in the geopolitical order of this region, and the hidden paradise no longer remain hidden. Prior to the new geopolitical set up Tibet and Himalayan region is been fluid with the frequent exchange of ideas, religion and culture and now though geographically divided stands with the same ethos of belongingness under one umbrella term called Buddhism. The region has no representation in the mainland and often interpreted with the nomenclature of tribal area,a place inhibited by backward, remoteand tribalpeople who failed to make any strong opinion of themselves. The resignification of Buddhism around the World has provided a new locus of hope to the forgotten tribe whose major religion is Buddhism. The study articulates the subsequent spiritual dearth around the world and how Buddhism emerged to be the religion which hasprovided the safe harbour for the restoration of humanity and has been a tying thread amongst many nations to inculcate the ethos of brotherhood and togetherness.

Keywords: *Eastern Himalayas, Buddhism, Culture.*

Methodology : *This paper is prepared through secondary data sources.*

Introduction

Eastern Himalayas has always been a place which evokes equal amount of mystery and awe in the collective imagination of people around the World. The Eastern Himalayas of India, has intrigued many through its snow-clad mountains and scenic beauty but has remained unnoticed with regard to distinct culture, identity and religion. It has stood way apart though being a part of same nation having no cultural imprint in the mainland India. Notwithstanding the fact that this unattended patch on the globe yet carries its own uniqueness in terms of custom, tradition, and religiosity. The politics of representation is harsh on the region, after subsequent political surgeries and geographical plastersit is been left as the 'other'. The entire region is thenhomogenised as tribal area with a severe deficiency of strong religious background and coherent cultural system. This region though been exoticized as a hot spot of cultural and linguistic diversity, has not attained any significance in mainland representation.

The resignification of Buddhism around the World has provided a new locus of hope to the forgotten tribes in Eastern Himalayas where the majority has a predominant religion as Buddhism. In the late nineteenth century, interest in Buddhism proliferated in the public spheres ofEurope and America (Almond 1988; Franklin

*Assistant Professor, Department of English, Mirik College, Mirik, Kawley, Darjeeling.

2008)[1] as the scholars around the globe started reworking on different Buddhist text in order to interpret the latest academic findings from texts translated from Pali, Sanskrit, and Chinese. With these new trends emerging with international dimensions, more and more Westernscholars and people across continents got attracted to Tibetan Buddhism.

During a span of time extending over thirteen centuries Buddhism has come to acquire a distinct form in the vast region comprised by the Tibetan plateau and the highlands around the Himalayas. Since these regions are dominated by Tibetan culture and civilization this distinct variety of Buddhism is most often known as Tibetan Buddhism. Here it has to be kept in mind that when the term "Tibetan" is used in the context of religion or culture it signifies something far wider and deeper than the limited and changing connotations of the term when it is used as the designation of a specific country)[2] Hencethis distinctive form of Buddhism can be referred as 'Himalayan Buddhism'[3].

The enlightened Buddha himself was born in the foothills of Himalayas. Himalayan Buddhism received momentum in Indian Himalayas during 8th century with legendary Indian Guru Padmasambhava (lotus born), who sowed the seed of Nyingmapa (the oldest one) form of Buddhism in the Himalayas. This form of Buddhism later emerged to be the base of all other forms of Buddhism which later emerged in the Himalayan region. The entire region of (Bhutan, Sikkim, Ladakh and Nepal) are associated with tales of the legendary and miraculous acts performed by Guru Padmasambhava, which forms the religious foundation of people in the Himalayas. In Himalayas Guru Padmasambhava is worshipped as Guru Rinpoche. After him, this legacy was taken forward up to upper Himalayan region by two Buddhist masters- Marpa (1012-1097) and Milarepa (1052-1123). They traced their practice to the teachings of Bengali saints Tilopa (988-1089) and Naropa (1016-1100). Their teaching lineage came to be known as Kagyu (oral transmission) which later took deep roots in the region. These different forms of Buddhism faced persecution from one region or the other but different Himalayan countries preserved and continued it. Thus, Buddhism has been a fluid ingredient amongst different Himalayan nations which has till date worked as a 'soft power'[4] between Himalayan nations.

This can be seen as Buddhist revivalism with a global approach.Though such discussion limititself only to o the global interpretation of Buddhism. There had been a time lapse and the Buddhism of Tibet and Himalayas remained comparatively understudied and absent from the European and American engagement untilrecently. Buddhism, has also been significant in understanding the focus on the importance of Himalayan Buddhism in maintaining Global order. Buddhism and Himalayas has been an important geo-cultural landscape between the competing narratives of India and China. The geographical location of the region has also been cataclysmic in forming prejudice about Tibetan and Himalayan forms of Buddhism. It has occupiedto an ambiguous position in the flourishing scholarship as well as stereotypes. Due to its geographical inaccessibility the Tibetan Buddhism is often shrouded with orientalist myths concerning its unique form of Buddhism, often represented as backward and superstitious. The western scholar like L.A.Waddell referred to 'GuruRinpoche's teachings as "Primitive Lamaism [which] may therefore be defined as a priestly mixture of Sivaite mysticism, magic, and Indo-Tibetan demonolatry, overlaid by a thin varnish of Mahayana Buddhism. And to the present-day Lamaism still retains this character" (Waddell 1895,302). Such superstitions based on geographical location and orientalist myths

stands in contrast with popular ideas about Buddhism that depicted it as a rational,empirical and scientific belief system. The Tibetan Buddhism is perceived as impure and mystical and their prayers shallow, "prayers ever hang upon the people's lips. The prayers are chiefly directed to the devils, imploring them for freedom or release from their cruel inflictions, or they are plain naïve requests for aid towards obtaining the good things in this life, the loaves and the fishes" (Waddell 1895, 572-73). The study also attempts toinculcate voices from the excluded region as Eastern Himalayas, arguing Tibetan and Himalayan Buddhism as sound and coherent.

The Himalayan Buddhist minorities from different nation like Bhutan, India, China and Nepal share a common language, kinship ties, and Buddhist cultural traditions. They have come to hold their own ethnographic niches across this extraordinary mountainous region. Buddhism which is practiced in the Indian Himalayan belt of India shares a same religious and cultural ethos with the neighbouring countries like 'Nepal and Bhutan'[5]. But with one similarity with profound significance i.e., Buddhism brings different communities from different Nation together. Since these groups are from different political and social backgrounds, each group complies with different laws regarding livelihood to fit in these very different national cultures. The Himalayan Buddhism which roots back to have cross cultural origins, the growth and development of Himalayan Buddhism shift from one Himalayan nation to other. During 2nd century Buddhism spread over China and Central Asia flourishing towards Nepal by Siddhartha Gautama (the Buddha) in 4th to 5th century. Eventually established in the Indian subcontinent in the 8th century with the advent of the legendary Indian Guru Padmasambhava. But today most Buddhist people living in Eastern Himalayas has been in the state of marginalisation.The one Himalayan state, Bhutan, has Buddhism as its state religion; in all the other states, Himalayan Buddhists exist as minorities in their respective greater polities. The Buddhist minorities herein fall into periphery because the dominant culture of mainstream has encapsulated it as a homogenous tribal culture befitting its remote geographical location. Whereas the studies trace the role of Indianinfluence to be instrumental and crucial in the establishment of Mahayana Buddhism in Tibet. We can trace back the very famous Indian institution the Nalanda University, which was the centre of Buddhist learning propagating Buddhist ideas. The Pala period again shows the remarkable momentum of Buddhism in North Bengal under the reign of Pala kings who were the patron of Buddhism in India. There has been a special spiritual connection of North Bengal with Himalayan countries from seventh century "Subsequently after the decline of the Pala's and the Senas Buddhism disappeared from Bengal and the main land of India but Tibet preserved and developed Buddhism. It then flourished towards Himalayan states of Sikkim and it`sareas" (Debnath 2008,2-3). The dying Buddhism in India then ingrained and nurtured in Tibet which ever since flourishing towards Sikkim, Darjeeling, Kalimpong and Bhutan as Tibetan Buddhism. This outflow of Tibetan Buddhism further intensified in mid- twentieth century when the People Republic of China (PRC) took over Tibet in 1960. Subsequently the religious wisdom originated from India found its way back home, as the very pool of spiritual Buddhist knowledge and culture started flowing towards India with the Tibetan exiles, along with the lodging of Tibetan spiritual leader in India. 'Ministry of Home Affairs Annual Report 2008-2009, population of Tibetan refugees in India is 1,10,095'6. This resignification of Buddhism in Eastern Himalayas can be seen as reinterpretation of culture, tradition and religion

of the people living in Eastern Himalayas who has forever fallen in to periphery and had never been a part of National imagination but plays an important part in Nation building.

The Buddhist and Buddhism in Eastern Himalayas can be seen to be more dynamic in respect to accommodating themselves with changing World order. The region populated with other tribal and non-tribal communities as Limbu, Rai, Magar, Chhetri, Tamang and Gurung each having distinct and different culture, language and religion than other. Though it is interesting to see how Buddhism in Eastern Himalayas continue to survive and preserve its uniqueness, balancing, influencing and imbibing change with changing time. The peaceful co-existence of Buddhist ideas and philosophy with other contrasting ideas and concepts, has survived in the region fostering the cross-cultural ethos. There are undoubtedly elements in Buddhism inherited from other religion, but their role has always been peripheral because Buddhism as religion is not culture-bound, it`s fluid and moves very easily from one cultural context to another because itfocuses on internal practice rather than external forms of religious behaviour,

The tradition of respect to Hindu and Buddhist deities is continued even by the Nepalis in the Darjeeling-Sikkim Himalaya. Besides the Buddhist Newars, the Tamang and Sherpas worship Hindu deities and celebrate Hindu festivals as much as other pure Hindu groups. And most Nepalis revere Buddha and respect the Buddhist monks. They also celebrate Buddhist festivals like Losar (new-year) and Buddha Purnima. (Dozey E.C, REP,2011: 75)

The followers of Buddhism in the Eastern Himalayas can be thus seen as the followers of exact path that Buddha has chalked out for his follower the path called 'The Middle Path' which teaches its devotees to balance one's individuality yet accepting the difference. This path of moderation is a key to Buddhist philosophy because Buddha, 'the enlightened one', has experienced both the extremes of luxury and sorrow thus found the middle path for the followers. This Middle path is the most relatable religious philosophy that the Modern man could follow, it's not that rigid, nor too flexible but logical and scientific. This middle path hashelped Buddhismflourished in this region.

Having experienced the extremes of luxury and deprivation--and having reached the limits of these extremes--the Buddha saw their futility and thereby discovered the Middle Way, which avoids both the extreme of indulgence in pleasures of the senses and the extreme of self-mortification. It was through realizing the nature of the two extremes in his own life that the Buddha was able to arrive at the ideal of the Middle Way, the path that avoids both extremes. (DellaSantina,1997,29:251)

Buddhism as a religion has helped humanity to inculcate the values like brotherhood and togetherness around the World. Because Buddhism as opposed to the Sanskritization of culture and society does not believe in stratification of society into hierarchy. Buddhism does not believe in social taboos like caste system and untouchability and hence has become popular amongst people in 6th Century BC (i.e., the time of Buddha) which of course was catalytic to its fall though. Because to Hinduism now and then the caste system is at its heart, the division of society in strata, as per the ancient scriptures known as Vedas is sacrosanct to them. Buddhism in contradiction serve humanity as a social philosophy for the upliftment of people from lower strata, with the breaking down of social hierarchies has subverted the normative set of belief as a hinderance to growth of humanity. The Hindu philosophy base itself on certain conventional premises as propounded by,"Hindu priests who

were custodians of the Aryan tradition associated the eastward movement of Aryan civilization were in the threat of a dissipation of the purity of Aryan culture and with the growth of unorthodox practices and attitudes" (Della 1997, 19:251)

Unlike other religion Buddhism does not base itself on any extravagant metaphysical existence. It does not believe in any supernatural powers or force but it banks its belief purely on human will and devotion. Buddha the enlightened one, has received the divine truth not because of his royal lineage or inheritance of any super powers but by virtue of his rigorous practice and meditation. His successor as Milarepa and Padmasambhava had also been a symbol of ultimate will and discipline. The religion which champions one's will and wisdom is perhaps the most logical religion in this social milieu which believes that one with indomitable will and ultimate devotion can attain Nirvana. "Thereare threevalues of paramount importance that emerge from the life of the Buddha: (1) renunciation, (2) love and compassion, and (3) wisdom." (Della Santina, 1997:45:47). These values stand out very clearly in many episodes throughout his life. It is no coincidence that these three, taken together, are the essential requisites for the attainment of 'nirvana', or enlightenment.

"The accounts tell us that the ascetic Gotama (as he was known during his six years of striving for enlightenment) studied under two renowned teachers of meditation, Alara Kalama and Uddaka Ramaputta. Under the tutelage of these teachers, he studied and mastered the various techniques of concentrating the mind. (Della 1997:15:158).

Therefore, the enlightenment of the Buddha was the consequence of the combination of meditation, devotion and wisdom, [...] a religion whose most important elements are meditation, rigorous philosophical analysis, and an ethic of compassion combined with a highly empirical psychological science that encourages reliance on individual experience. It discourages blindly following authority and dogma, has little place for superstition, magic, image worship, and gods, and is largely compatible with the findings of modern science and liberal democratic values. (McMahan 2008, 5).

The marginalisation of Buddhist minorities in mainstream Indian culture can also be located in the literature produced in mainstream India. Because amidst the galaxy of literary produced each year in the mainstream we barely find any reference to Buddhist religious shrines, Buddhist characters theme of Buddhism as a major concern. If it has to relate to any particular Buddhist incident, location or character it will just give a passing reference. Whereas it pervasive to come across the characters, themes and ideas which matches with the ethos of mainstream culture and religion. The extremely popular and substantial Buddhist text 'Jataka', controversially attributed to Buddhist scholar named Buddhagosa and called as Jattakatthavannana, contains 550 popular stories of former lives of the Buddha. Hence this work does not hold any importance in popular discourse in Indian context as the mythological stories of Ramayana and Mahabharata does. There is a dearth of analytical research and resignification on the Jataka tales in mainstream literary canon in India. Which can yet again be seen a repercussion of cultural hegemony of which Himalayan Buddhism is a victim of.The increasing 'cultural hegemony' of the majority over the minority, has resulted over time the threats of social exclusion of the tribal minority of the Eastern Himalayas.

Even though Buddhism in Eastern Himalayas has evolved stronger towards. It has stood with humanity and worked as binding force between many Himalayan nationssecuring

the status of nation. Himalayan Buddhism has worked for India, as the ingredients of what political scientists would callthe 'soft power' which informs India's border relations with its neighbouring nations such as China and Tibetan Autonomous Region (TAR), Nepal and Bhutan. Buddhism in today's World view has been the most logical religion which doesn't believe in extremes but in moderation and peaceful co-existence. It is one of the World`s religion and the third rapidly emerging religion is also one of the most dynamic religions of World which believe in 'The Middle Path'. Therefore, it is certain that the religion which believes in reason and rationality over superstitions and prejudice will certainly evolve as a popular emotion amongst people than just as religion. Buddhism which can accurately applied across such border spectrum of belief and faith been practiced more as humanity than as religion. Thus, the effort to identify one's place on Earth with the eternal search of identity and the crisis is what has defined Eastern Himalayas so far. The inculcation of Buddhism inthe forsaken land has brought it back to the crochet of belongingness with coherent set of ideas, belief and praxis.

Note:

1. Almond, Philip. 1988. The British Discovery of Buddhism. Cambridge: Cambridge University Press.
2. The term "Tibetan" employed in this paper does not denote the political and administrative territory known as Tibet. It refers to Tibetan civilization and culture which in the past surely had Tibet proper as its centre. This cultural region has fairly wide dimensions and cuts across various national and political boundaries. The term "Tibetan Civilization" has a broader connotation. It should be treated on par with other similar terms such as "Chinese Civilization", "Indian Civilization", "Hellenic Civilization," etc.
3. D.L. Snell grove is one of such leading scholars. He has used the term 'Buddhist Himalaya' for the Buddhist regions around the Himalayas. The very title of one of his books is Buddhist Himalaya.
4. Coined by Nye in the late 1980`s, the term soft power is the ability of country to persuade others to do what it wants without force or coercion is now widely invoked in foreign policy debates.
5. Nepal has 11% Buddhists in a population of 2.9 crores which is about 29 lakhs consisting of Gurungs, Tamangs, Sherpas, Newars, and Bhots. Bhutan has a population of 6.8 lakhs with 75% practicing Lamaism Buddhism. See, "Socio Economic Indicators" in Ashok K. Behuria (ed.) Changing Political Context in South Asia: Implications for Regional Security, New Delhi, IDSA, November 2008, pp.237-
6. 'According to Ministry of Home Affairs Annual Report 2008-2009, population of Tibetan refugees in India is 1,10,095'

Works cited :

Debnath Sailen, (2008) Cultural history of North Bengal, pub, p.2-3.

Dozey E.C, (2011 REP) A Concise History of the Darjeeling District Since 1835 with a completeitinerary of Tours in Sikkim and the district, N.L pub. p. 75

McMahan, David. 2008. The Making of Buddhist Modernism. Oxford: Oxford University Press.p.5.

Santina Della Peter, 1998.The Tree of Enlightenment, an Introduction to the major tradition of Buddhism: Chicago dharma study Foundation, Taipei. p.15,19,29,45,47.

Waddell, L. Austine. 1895. The Buddhism of Tibet, or Lamaism. London: W.H. Allen & Co., Ltd.p.572-73.

The Portrayal of Queer Characters in Indian Web Series : The Lesser Problematic Space

Shatabdi Chakraborty*

Abstract

Cinema has always been a way of life. The larger than life characters, the ambience of theatres , a valiant hero, a villain who always almost eats up the main character and a heroine who is a damsel-in-a-distress waiting for her hero ; they all make up as the integral part of what we have been knowing as 'film'. But , since the last decade , our films have changed, plotlines have changed , moreover, we as an audience have changed. There aren't any damsel in distress heroines or strong larger than life heroes. We have moved on to become more of an accepting audience. We are now trying to understand that there are more than two genders and identities and that people have their way to reflect their own sexuality and identity. Here comes the advent of OTT or the Over-The-Top platforms like Amazon Prime and Netflix who are giving these storylines a safer space where there is lesser judgement and less of censorship and where one can be anything from 'Kukkoo' of Sacred Games to 'Karan Mehra' of Made in Heaven.

This paper with the help of thematic analysis will critically discuss Indian web series like Made in Heaven and Ajeeb Dastaans that features their queer characters in lead.This paper is also looking at the politics of representation in OTT and how it is redefining the mainstream.

Keywords: *OTT, Web-Series , Cinema, Gender, LGBTQ++, Queer, Sexuality*

Research Methodology : *This paper will be based on the thematic analysis on two web series: Made in Heaven and Ajeeb Dastaans. The paper uses these films as its primary source of information and for secondary sources which include research articles, websites and commentaries on these web-series.*

Introduction

Our world has seen so many conundrums in the past two years with Covid-19 pandemic and the loss of thousands of lives all over the world. Despair, disease, and death became synonymous with our lives. Entertainment took a backseat and the whole world came to a pause , as if during pre-pandemic we were living in the world of dream;going to theatres, restaurants, amusement parks , these all seemed to be a dream which had finally come to an end. This has naturally fueled the need of the 'Over-The-Top' or the various OTT platforms. During the pandemic *Netflix* and *Amazon Prime* became household names. By 2021, India became second largest subscription TV market in the Asia-Pacific region in terms of the number of subscription in household TV, which reached 154.3 million in 2016 (Kakkar, 2019)

In a society that has become more international, social connectivity has multiplied. The media, particularly digital media, have become an intriguing element in the process of globalisation. It simultaneously promotes the trend of globalization and ultra-localism, a complicated socio-cultural phenomenon. The number of smart-phone users in India is

*Assistant Professor, Amity University, Patna

increasing, which has changed how people consume media material. The Indian audience has been consuming an increasing amount of online media over the past three years because to the accessibility of inexpensive internet connectivity. Media consumers are displaying a dramatic shift in their consuming habits in the entertainment industry. Watching movies and television shows on Over The top (OTT) media platforms like Amazon Prime, Netflix, and other service providers is gradually replacing traditional movie-going. OTT services like Netflix, Prime Video, Zee 5, Hotstar, and a number of others have captured the attention of the so-called "Digital Mainstream" first generation of digital media consumers. The majority of them exclusively use first-generation smartphones to access entertainment material. OTT consists solely of streaming material to users directly over the internet. It alludes to the practise of distributing media content outside of the conventional routes, such as cable TV or telephone networks. Because of this, it is also known as "chord cutting." OTT not only helped the consumers to cope up with the pandemic, it also helped filmmakers to express themselves more freely without any fear of censorship.

Central Board of Film Certification (CBFC), quite infamously known as the "censor board" of India, is known for its unjust censorship policies which restricts a filmmaker's and an artist's poetic license and moreover freedom of speech and expression. Be it Bollywood or South Indian films, many of the Indian cinema has faced bans and unusual rage in many parts of our country. A recent example could be seen when Sanjay Leela Bhansali's film *Padmavat* was about to release. There was a huge uproar and outrage in the northern parts of the country fueled by hatred. The apparent cause of the hatred was not one specific reason, and the media was told that the whole movie was 'culturally inappropriate'. CBFC had to intervene, the name *Padmavati* was changed to *Padmavat,* vfx was used to "fix" Deepika Padukone's waist and many other such cuts and edits were made in the film , just to release in the theatres.

According to the Cinematographic Act of 1952, the Central Board of Film Certification (CBFC) was established. The board now has the authority to certify a film before considering its public display thanks to the 1959 amendment. It was referred to as the Central Board of Film Censorship up until 1983, at which point it changed its name to the Central Board of Film Certification. The board has the authority to deny approval for the film's showing under Section 3(3(iv) of the Act, in addition to approving its content. Forbidding the showing of recent films including Hollywood's "Fifty Shades of Grey," Bollywood's "Padmavati," "Lipstick Under My Burkha," and "Udta Punjab," as well as Bollywood's "Lipstick Under My Burkha," the board has received overwhelming criticism.

Homosexuality in Indian screens has always been a matter of concern and controversy for both the nation and the CBFC. An example of this can be seen when Deepa Mehta's *Fire* was released in 1996, a film which depicts a close friendship and an eventual sexual intimacy shared by two women, it met with hysterical rage and violent protests across the country.

Cut to, we now have *Netflix* and *Amazon Prime* in our homes. Just a mere touch and voila a whole new portal of cinema and web series opens! From *Stranger Things* to *Sacred Games*, there's a varied genre present in these platforms. In web series, we have a myriad of characters and stories. With the advent of these platforms, now filmmakers are fearlessly exploring the areas where they can work on characters like *Kukkoo* from Sacred Games, *Karan Mehra* from *Made in Heaven* or *Bharati Mandal* from *Ajeeb*

Dastaans.

Queer characters in Bollywood are certainly not a new thing, but a closer to appropriate characters is a novelty in Bollywood cinema and web-series. The filmmakers are now being cautious while sketching out the queer characters. Most of the queer/homosexual characters in Bollywood till now have been used for the purpose to ridicule, for example, Abhishek Bachchan and John Abraham's characters in *Dostana* (2008) and Rishi Kapoor's character in *Student of the Year* (2012).

The main purpose of film, like that of other forms of art, is to express the creativity and ideologies of the artist. Even though it used to be that people only expected movies to be enjoyable, people today anticipate that movies will challenge them intellectually in exchange for the money they spend for them. In order to provide such items, directors must think more carefully about the unique ideas that might be displayed; otherwise, they are left to focus on what might please the censor board.If multiple films are banned on such a regular basis, it restricts the amount of creativity that can be explored through film and raises anxiety in anticipation of the reactions of the few CBFC members who watch the film when it is being censored. When a filmmaker is asked to remove numerous scenes in the name of "censorship" that significantly advance the plot of the movie or are purposefully used to illustrate a point, his entire body of work is torn up into anonymous pieces.

Objectives of the Paper

To analyze the web series *Made in Heaven* and *Ajeeb Dastans*

To analyze the queer characters in the above mentioned web series

To look at the politics of representation in OTT and how it is redefining the mainstream

Establish the difference between queer representation in Bollywood and in Indian web series

Literature Review

The trend of economic liberalisation has had a significant impact on both the economy and culture of India. Bollywood has changed in order to leave its mark on the international entertainment industry, claim Matusitz and Payano (2011). By bringing together the Indian diaspora, it gained "inward connectivity," and by investing in Hollywood and filming outside of India, it gained "outward connectivity" (Lorenzen and Mudambi 2010). As a result, the Indian film industry adopted many Western ideals, ideas, and technologies, especially those from North America (Ibid). Indian consumers were likewise heavily affected by Western goods.

The millennial generation consumes quite a bit of OTT content and is gradually moving away from traditional TV in favour of OTT platforms at the rate of technological advancement. By 2022, just 55.1 million entertainment users in the United States will no longer watch entertainment content on traditional pay-TV, according to EMarketer, as cited by Verma (2019).

In the past, movies were made with large screens in mind. The existing film production businesses weren't concerned about losing their audience or money when television first came out. They disregarded the evolving media consumers' watching habits. As an alternative, they believed that people would undoubtedly watch the movies they were making for the big screen. The production and distribution businesses were aiming to turn a profit through a variety of channels of distribution, such as releasing the films in

theatres, releasing the same content on DVDs, and launching it on television after a set amount of time (Curtin et al. 2014). Strangely, the technology revolution and altered viewing and behavioral patterns forced this tactic to submit.

The development of the internet and the world wide web in India in the late 1990s steadily began to transform the whole entertainment industry. According to Epstein (2005), the audiovisual waves were "digitized, compressed, and multiplexed," which ultimately helped to increase the volume and speed of media content delivery.The transition came quickly as technology advanced. There was more entertainment content convenient to use and eat. With the expansion of bandwidth and the readily available, affordable data, the new audience started watching online entertainment.

Many of them began consuming the content essentially for free; either by utilizing unethical methods such using Torrent or social media platforms like YouTube, where the User Generated Content (UGC) was predominately made up of unauthorized uploads of different movies (Burgess et al. 2009). The audience also distributed the information to their social circle on discs or online. It had a negative effect on the movie business. It also carried out another action. According to Marshall and Venturini (2012), the audience had more power thanks to cloud storage, digital delivery options, and enhanced devices that ranged from desktop computers to mobile phones. As a result, they desired "anytime, everywhere access to the material."

The OTT streaming platforms used a different revenue generation model in an effort to meet the demand and plug the business loss. To reach this new media audience, platforms like Netflix and Amazon Prime modified their business models. The creators and distributors of entertainment content, particularly those in the film industry, were forced by this digital disruption to be creative with their distribution plans and make use of digital channels like OTT and social media.

According to Du Gay (2013), this disruption was mostly focused on the distribution strategy and had little to no impact on how creators and actors performed their jobs. Instead, it looked at the second stage of the digital age, when creators had to put in more time and effort without getting paid fairly.

As they switched from a large screen to a TV to a desktop or laptop to a smart-phone, the consumers of entertainment content lowered the size of their screens even more. The manner of viewing also gradually changed. Individual viewing evolved from group viewing (in a theatre) to family viewing (watching TV with family members) (in the screen of a mobile phone). The method that content producers developed OTT platform-specific exclusive content had to change.

Made in Heaven (Season 1, 2019)

Plotline

The Amazon series Made in Heaven, created by Zoya Akhtar and Reema Kagti (and directed by Akhtar, Nitya Mehra, Prashant Nair, and Alankrita Shrivastava), depicts the tale of amphibians that have learned to swim but are still afraid of the sea. Made in Heaven, a nine-episode television series with a Delhi setting, centres on Tara (Sobhita Dhulipala) and Karan (Arjun Mathur) and their eponymous wedding planning business that caters to the city's ultra-wealthy. A new family and tale are introduced in each episode, and the series is completed by a group of recurring characters—the families and friends of the leads and the Made in Heaven staff.

We gradually learn about Karan's and Tara's pasts through clever, taut flashbacks,

making them multifaceted and engaging as they negotiate the competitive wedding planning market. The son of a successful businessman, Karan has a recent failed enterprise to his name, debts to both his father and a loan shark, and a life steeped in secrecy and shame: he is gay. Tara, on the other hand, is a resident of an underprivileged area in Delhi. She begins her employment with a corporate tycoon as support staff before marrying its heir, Adil, to move up the social ladder (Jim Sarbh).

As the series begins, there is a continual undercurrent of dread, as if to justify our voyeurism. The first two episodes, directed by Akhtar, do a good job of setting the tone; in particular, the slow, languorous shots cleverly flip the mainstream premise by giving it an art-house robe.

Karan Mehra- The Gay Protagonist

While Tara's background is clearer—she comes from a middle-class family and is married to a successful businessman played by Jim Sarbh—it was Karan's character that really resonated with the audiences.And this is where Arjun Mathur, who is portraying a strong, intelligent homosexual man, steps forward and absolutely, transforms the game. It is admirable for a character to stand out in such a large crowd, especially considering that a cast this diverse. He might be anyone, after all. He might be your sibling. Your ally, the popular student at school. the bully in class. the proprietor of your preferred jazz joint. He might even be organizing your wedding, for all we know. And each one of them is Karan Mehra. He is a typical gay man. Karan's identity goes beyond the stereotypes of homosexual men that Indian filmmakers have frequently thrown at us. He is a close ted homosexual human who is drowning in debt and interpersonal issues. Although he is aware of the taboo he must endure every day, he does not consider his sexuality to be a hardship. The character of Arjun is as unconcerned as can be, even during the time of Section 377. He also informs a foreigner he met at a pub that in India, people do what they want to do anyhow, in one of the early episodes.

***Ajeeb Dastaans*(2021)**

Ajeeb Daastaans, a collection of four short films, is an odd mix of four excellent pictures. Ajeeb Daastaans, which is currently available on Netflix, was made by Karan Johar's Dharmatic Entertainment. *Majnu, Khilauna, Geeli Pucchi*, and *Ankahi* are four of the stories under the direction of directors Shashank Khaitaan, Raj Mehta, Neeraj Ghaywan, and Kayoze Irani. Each story promises to deliver a stunning, terrifying, or tragic turn in the plot that we didn't see coming. This is the basis of the stories.

Majnu

Fatima Sana Shaikh's character Lipakshi is married to Babloo (Jaideep Ahlawat), who tells her he would never have sex with her because he loves someone else. Lipakshi, who lets her unmet sexual desires define her, prowls around her estate flirting with any available gentleman. If a man is detected trying to get cosy with his wife, his genitalia are cooked in boiling oil as if he were an onion fritter. Babloo ignores her hypersexual behaviour.

Khilauna

Raj Mehta's film Khilauna narrates the tale of a housemaid named Meenal (Nushratt Bharuccha), who works in residences that appear to be a gated community and uses her earnings to finance her younger sister Binny's (Inayat Verma) tuition. The two share a room that is lit by a power connection that was obtained illegally. Meenal decides to change occupations and start working at Mr. Aggarwal's (Maneesh Verma) house, who is the society

secretary and appears to spend his day riding about on a motorcycle wearing Ray-Bans, when she loses power, both physically and figuratively. Problematic comments from Meenal, who is having an affair with Sushil (Abhishek Banerjee), include “Let him gawk at me for a couple of hours while I clean, as long as he doesn’t disturb the peace.”

In front of Binny, he once makes an attempt to get hold of her and molest her. The sisters flee to Sushil as a result of this. Vinod confronts Sushil in an effort to demonstrate his dominance and might. Then he orders three of them to come to his baby’s party. As Meenal goes about her routine tasks, the party witnesses everyone glistening. Binny amuses the infant. In a fit of rage, Sushil picks up a rock and tosses it at a building’s electricity unit as he makes his way back home. The infant vanished as a result, leaving the party area and building in the dark. In a panic, everyone looks for the infant. Vinod soon discovers her inside a pressure cooker.

Geeli Pucchi

A tale of two persons is told in *Geeli Pucchi*. Bharti, who was superbly portrayed by Konkona Sen Sharma, and Priya, who was Aditi Rao Hydari. Priya, a quiet, naive newbie to campus, joins Bharti, a machine operator at a factory. It is established right away in the novel that Bharti’s identification as a Dalit is a significant obstacle to her obtaining her ideal desk work as a data operator. Priya, who belongs to the upper caste and is a “Sharmaji ki Bahu,” uses and takes advantage of her privileges being ignorant.

When Priya questioned Bharti for her last name during their initial introduction, she gave the name Bharti Banarjee rather than Mandol. Before Bharti responds, there is a little gap that effectively captures the immense weight of worry about consequences, rejection, and judgement that marginalised people continually deal with. In the past, masking was a technique used to blend in.

With time, as the two grow intimately close, Bharti struggles to separate her feelings of fondness towards Priya and anger towards her casual caste-blindness. The coexistence of romantic intimacy and envy is often so tangled that it is almost impossible to gauge the overlaps of Bharti’s feelings. She knows Priya is probably not the reason for her marginalisation, but she also realises how Priya is a perpetrator of the same system that perpetuates casteism. Bharti’s feelings transcend between anger, helplessness, revenge, and most importantly vulnerability.

This story’s twist sneaks up on you before knocking you down with an outstanding final scene that incorporates a tea cup. Neeraj doesn’t just point you in the direction of it like a museum display. Through his characters and the terrifyingly plausible fact of how often women become oppressors to escape tyranny, he gradually builds up to the climax.

Ankahi

Upper middle class homemaker Natasha (Shefali Shah) struggles to maintain harmony in her family. Her teenage daughter is going deaf, and her spouse won’t either learn sign language or understand the situation. She meets hearing-impaired photographer Kabir (Manav Kaul) by accident, and the two become friends and eventually fall in love while corresponding with sign language.

Conclusion :

In today’s digital age, viewers can watch a wide range of web series and other content online. The audience is made up of people of all ages, from young children to senior citizens. Many Over the Top (OTT) platforms serve as digital media, giving their audience a wide variety of genres to choose from. OTT refers to any streaming service that uses the internet to

transmit its content. Modern identity perception still centres on gender and sexuality, but communication and technology have taken on crucial roles in everyday life (Gauntlett,2008). The development of gender identities is significantly influenced by the media.

Despite the fact that different genres depict queer characters' images differently and in diverse ways, one thing is universally true about all of them: their depiction is very different from the real world and real lives. Because of this, media frequently presents desires rather than realities. Some of the innumerable dramas and films that are accessible on OTT platforms include stories that centre on the LGBT community. On Netflix, there are a number of programmes and motion pictures with LGBT characters, whether they are being portrayed, embraced, or rejected. A social cause has always depended on the media to spread awareness of it. The amount of time a problem is discussed on social media directly affects how well-known it is with the general public.

References :

Primary Sources :

Web Series

Made In Heaven. 2019, produced by Excel Entertainment, directed by Zoya Akhtar, Reema Kagti, Alankrita Shrivastava, Nitya Mehra and Prashant Nair

Ajeeb Dastaans, 2021, produced Karan Johar's Dharmatic Entertainemnt and Netflix, directed by Shashank Khaitan, Raj Mehta, Neeraj Ghaywan and Kayoze Irani

Secondary Sources :

Websites

'Ajeeb Daastaans' review: Netflix anthology has 2 impactful films, and 2 avoidable ones.https://www.thenewsminute.com/article/ajeeb-daastaans-review-netflix-anthology-has-2-impactful-films-and-2-avoidable-ones-147314. Accessed on 13th November

Geeli Pucchi: Exploring The Messiness Of Caste And Sexuality. https://feminisminindia.com/2021/04/21/geeli-pucchi-film-review/. Accessed on 13th November

Ajeeb Daastaans' Khilauna .https://the column of curae. wordpress.com/2021/06/04/ajeeb-daastaanskhilauna/#:~:text=Ajeeb%20Daastans% 20originally% 20is%20a,at%20a%20very% 20young%20age. Accessed on 11th November.

Made in (gay) heaven: Amazon Prime show sets a new benchmark for portrayal of queer narratives . https://www.firstpost.com/entertainment/made-in-gay-heaven-amazon-prime-show-sets-a-new-benchmark-for-portrayal-of-queer-narratives-6258601.html. Accessed on 12th November.

Research Papers

Banerjee, A. (2009). Political censorship and Indian cinematographic laws: a functionalist-liberal analysis. Drexel L. Rev., 2, 557

Dongre, R., Singh, D., & Tilak, G. (2021). Analytical Study on Influence of Streaming Media on Indian Television Industry

Gauntlett, D. (2008). 2nd Edition Media, Gender and Identity An Introduction (2nd ed.). Routledge

Mclnroy, L., & Craig, S. L. (2017). Perspectives of LGBTQ emerging adults on the depiction and impact of LGBTQ media representation. Journal of Youth Studies, 20(1), 32–46. https://doi.org/10.1080/13676261.2016.1184243 Negi, S. (2021, July 17). Gender Diversity and Female-driven Stories on the Up, Thanks to OTT. News18.Com. Retrieved November 19, 2021, from https://www.news18.com/news/movies/gender-diversity-and-female-driven-storieson-the-up-thanks-to-ott-3927278.html

Rahul, M., & Dinesh Babu, S. (2021). A Comparative Study on Ott Platform Censorship and Policies in India. Annals of the Romanian Society for Cell Biology, 25(6), 11160-11167.

Samriti, D., & Sharma, P. (2020). OTT-existing censorship laws and recommendations. Available at SSRN 3735027.

Tilak, G. (2020). The study and importance of media ethics.

भारतीय क़व्वाली गायकी के परिवेश में शिष्य एवं वंश–परम्परा : एक दृष्टि

डॉ. वैभव कैथवास*

सारांश

भारतीय सांगीतिक परिवेश में क़व्वाली विधा को सल्तनतकालीन माना गया है। भारतीय परिवेश में इसकी प्रसिद्धि एकाएक नहीं हुई बल्कि इसमें अनेक युग लगे और अनेक कलाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही लेकिन इस गायिकी का परिचय होने में अधिक समय नहीं लगा। भारतीय क़व्वाली गायकी के परिवेश में शिष्य एवं वंश–परम्परा के विस्तार को दिखाने के परिप्रेक्ष्य में कुछ साक्ष्य देखने को मिले हैं, जो इस प्रकार विदित हैं– कोई भी गायकी जब पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होते हुये तीन पीढ़ियों तक अपने उसी रूप में प्रयोग होती है तब वह गायकी व परम्परा घरानें के रूप में स्थापित होती है। क़व्वाली गायकी की शिष्य एवं वंश–परम्परा की बात करें तो यह सिलसिला ख़्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती रहमतुल्लाअलैह से प्रारम्भ हुआ। इनके द्वारा ही हिन्दुस्तान व हिन्दुस्तानी संगीत में क़व्वाली गायकी की नींव रखी गई।

मुख्य शब्द : *वंशावली, मक़बूल, सिलसिला, धर्मस्थल, अज़यम, प्रतिनिधित्व, सामती ।*

प्रविधि : *विभिन्न पुस्तकों–पत्रिकाओं आदि द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है ।*

भारतीय क़व्वाली गायकी का सिलसिला इस तरह से मक़बूल हुआ–'ख़्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के मुरीद क़ाजी हमीदुद्दीन नागौरी का प्रसिद्ध क़व्वाल महमूद थे। खिलजी युग के महमूद, मुहम्मद, ईसा खुदादी इत्यादि क़व्वाल थे। क़ौल एवं तराना गाने वाले कलाकारों की सन्तानें कालान्तर में 'क़व्वाल बच्चा' कहलाये। शाहजहाँ, औरंगज़ेब के युग में हमें कबीर, रोरा, मीर खालिद देहलवी जैसे क़व्वाल मिलते हैं।'[1]

इसी क्रम में क़व्वाल बच्चा घराने के ख़लीफ़ा उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ साहब कहते हैं कि अरब के मीर हसन सावंत और मीर बुला कलावंत ये दोनो भाई भाम्सुदस–ख़िदमस बादशाह के दरबार में थे। जब मीर हसन सावंत ने ख़्वाजा साहब का दबदबा सुना तो मीर हसन सावंत ने बादशाही छोड़ दी और ख़्वाजा साहब के धार्मिक चेले व मुरीद बन गये और सबसे पहले लफ्ज़े क़व्वाल उनके साथ लगे और यहीं से दो शाखाएँ बन गई, जिसमें से एक शाखा ख़ानकाहों में और दूसरी शाखा रजवाड़ों में गई। ख़ानक़ाहों में क़व्वाली का सिलसिला चलने लगा और मीर हसन सावंत ख़्वाजा साहब के मुरीद हुये। और, उनके औलाद हुए शम्स सावंत जो ख़्वाजा कुतुबदीन बख़्तियार के जमाने में थे। उसके बाद उनके ख़ानदान में और कई क़व्वाल हुए उनमें से एक उनके भाई थे अब्दुल्ला हसन फ़ैदी और इनके बेटे हुए सामत बिन इब्राहिम सामती (सामती गूँगें को कहा जाता हैं)।

वाक्या :– निज़ामुद्दीन औलिया एक दिन पान खा रहे थे तो उन्होनें सामती को देखा। उन्हें देखकर ख़्वाजा साहब को तरस आया कि ख़ानदानी क़व्वालों के बच्चे थे मियाँ सामती, तो उन्होनें अपना जूठा पान उनके मुँह में डाल दिया और वह ऊपर वाले के करम से गाने लगे फिर निज़ामुद्दीन औलिया के ख़ानक़ाह में क़व्वाली का रंग बदला चूँकि उनके मुरीदों में हज़रत अमीर ख़ुसरो भी थे। हज़रत अमीर ख़ुसरो की माँ हिन्दू थी और उनके वालिद अमीर सैफ़ुद्दीन तुर्क थे। जो सेन्ट्रल एशिया के वज़ मोहारा में रहते थे। वहाँ की मोसीक़ी मैथमैटिक्स की ब्रांच थी। इस संगीत जगत् के लोग कहते हैं कि क़व्वाली का ईज़ाद अमीर ख़ुसरो ने किया, ये बिल्कुल गलत है । इन्होंने क़व्वाली को बढ़ावा दिया व लोगों को तफ़्सील व जानकारी दी और क़व्वाल बच्चों को प्रशिक्षित किया व क़व्वाली गाायकी की तालीम दी। फिर मीर सामती के साथ क़व्वाली का सिलसिला बढ़ा और क़व्वाली के लिये अमीर ख़ुसरो ने कुछ साज़ ईज़ाद किये और कुछ नये साज़ों का प्रयोग क़व्वाली में प्रारम्भ किया जैसे– तबला,

*असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, एकलव्य विश्वविद्यालय, सागर रोड दमोह, मध्य–प्रदेश

बैंजो, सितार, ढ़ोलक आदि क़व्वाली में प्रयोग होना शुरू हो गया। उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ साहब कहते हैं ये सब दिल्ली में हुआ और हमारे परिवार में हुआ। मीर हसन सावंत और मीर बुला कलावंत ये दोनों दिल्ली आये और यहीं रहे उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ साहब कहते हैं हमारा जो ददिहाली परिवार था वो कलावतों का था और ननिहाली परिवार वो क़व्वाल बच्चों का था। मीर हसन सावंत इसी सिलसिले में आये । उस समय क़व्वाल बच्चों का घराना बन चुका था जिसके ख़लीफ़ा मियां अचपल ख़ाँ साहब बने। उस समय मियां अचपल ख़ाँ साहब दिल्ली के किला मोहल्ले में रहते थे और बहादुर शाह ज़फ़र के दरबारी और उनके उस्ताद भी थे। इसी तरह यह परम्परा शार्गिदों से चलती गई और बादशाह ज़फर ने सरपरस्ती की और मियाँ तानरस ख़ाँ की शिष्य–परम्परा आगे चली। मियाँ अचपल ख़ाँ के भाई मियाँ गुलाम हुसैन ख़ाँ जो उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ के वालिद उस्ताद चाँद ख़ाँ साहब के परनाना थे, ये सिलसिला चलाते रहे । मियाँ अचपल ख़ाँ के शार्गिदों में मियां तानरस ख़ाँ जो डासना के रहने वाले थे जिनका नाम था कुतबबक्श जो कादर बक्श के लड़के थे । कुतबबक्श मियां अचपल ख़ाँ साहब का नाम सुनकर दिल्ली आये और उनके शार्गिद हो गये। कुतबबक्श को शाह ज़फ़र ने तानरस ख़ाँ की उपाधि दी। फिर मियाँ अचपल ख़ाँ साहब के बाद शार्गिद परम्परा में उमराव ख़ाँ साहब ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया, तानरस ख़ाँ साहब के बेटे थे और मियाँ अचपल ख़ाँ के वो शार्गिद भी थे। अब तानरस ख़ाँ साहब ने शार्गिद परम्परा में ख़्याल को आगे बढ़ाया और ख़ानदानी परम्परा में मियाँ गुलाम हुसैन ख़ाँ के दामाद शंकी ख़ाँ साहब ने क़व्वाली का सिलसिला चलाया। इसी सिलसिले में उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ साहब के वालिद और उस्ताद चाँदू ख़ाँ साहब के वालिद मम्मन ख़ाँ साहब ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया । मियाँ अचपल ख़ाँ के बाद उस्ताद चाँदू ख़ाँ साहब ख़ानदानी ख़लीफ़ा बने जिन्होनें इस क़व्वाल बच्चे परम्परा को आगे बढ़ाया और सन् 1980 में उनका इंतकाल हो गया। उसके बाद 1 फरवरी 1981 को इस घराने का ख़लीफा के रूप में उस्ताद इक़बाल अहमद ख़ाँ साहब को ख़लीफ़ा बनाया गया, वे इस परम्परा का वर्तमान समय में निर्वाह कर रहे थे। इनका इंतकाल 17 दिसम्बर 2020 को दिल्ली में हो गया।

क़व्वाल बच्चा घराने की वंशावली (दिल्ली)–

"क़व्वाल बच्चों का घराना या दिल्ली घराना हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत परम्परा का सबसे पुराना ख़्याल का घराना है। इसकी स्थापना अमीर ख़ुसरो द्वारा हुई। इस घराना के सदस्य कई पीढ़ियों से इसकी गरिमा व मान बढ़ा रहे हैं। इस घरानें की स्थापना में क़व्वाली, तराना, और ख़्याल गायकी को रखा गया। इस घराना के गायक इन सारी विधाओं के लिये माहिर व पारगंत होते है। इस घराना को ख़्याल और क़व्वाली का प्राचीन घराना माना जाता है। इस घरान की वंशावली को दर्शाया गया है जो इस प्रकार है–

अमीर ख़ुसरो, बड़े मुहम्मद ख़ान, घग्गे नज़ीर ख़ान, वाहिद ख़ान, उमराव ख़ान, शादी ख़ान, मुराद ख़ान, तानरस ख़ान, नसीर अहमद ख़ान, बाबा नासिर ख़ान, बहाउद्दीन क़व्वाल, नुसरत फ़तेह अली ख़ान (क़व्वाल), फ़रीद अयाज़ अबू मुहम्मद क़व्वाल, इक़बाल अहमद ख़ान"[2]

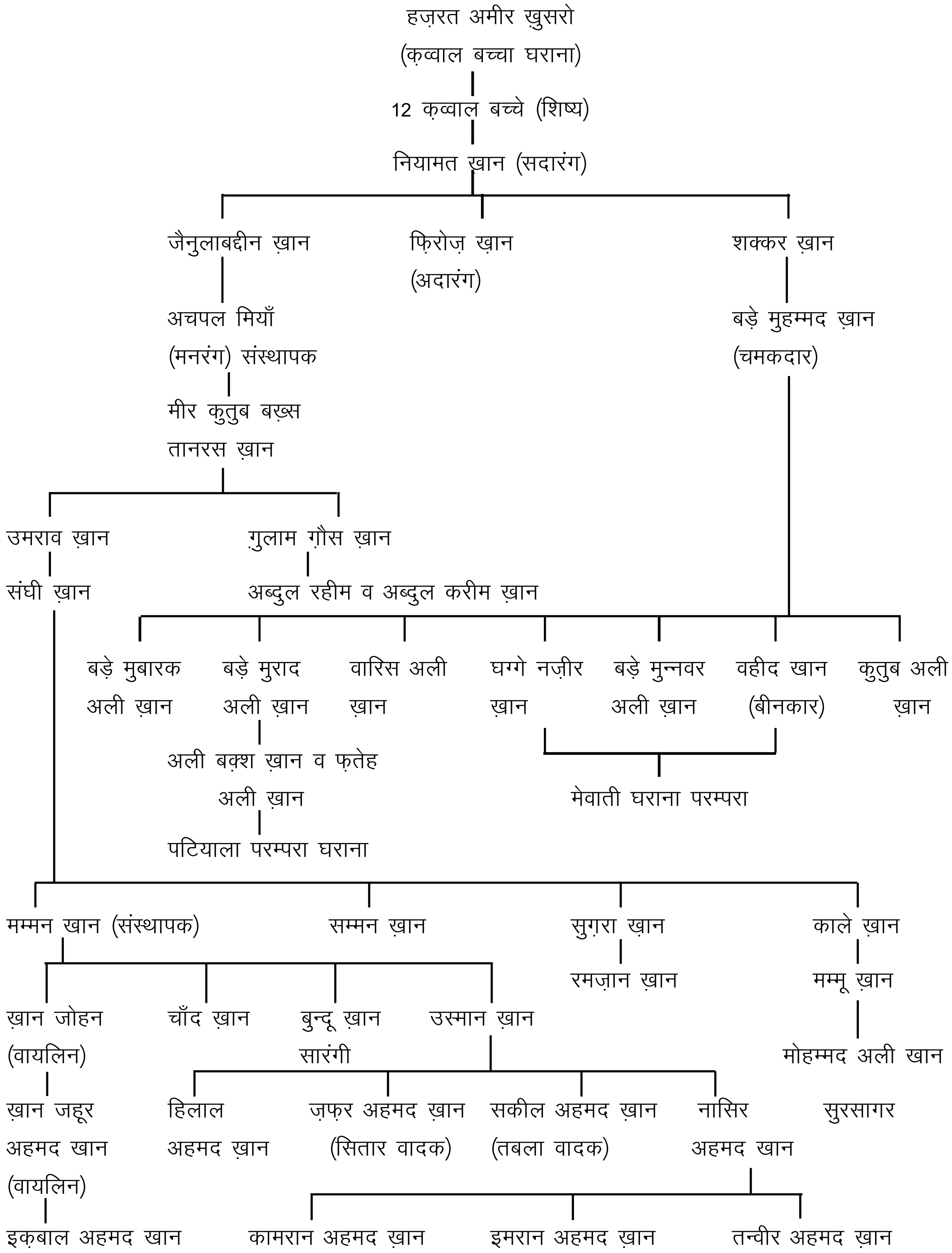
हज़रत अमीर ख़ुसरो
(क़व्वाल बच्चा घराना)
12 क़व्वाल बच्चे (शिष्य)
नियामत ख़ान (सदारंग)
जैनुलाबद्दीन ख़ान
फ़िरोज़ ख़ान (अदारंग)
शक्कर ख़ान
अचपल मियाँ (मनरंग) संस्थापक
बड़े मुहम्मद ख़ान (चमकदार)
मीर कुतुब बख़्स तानरस ख़ान
उमराव ख़ान
गुलाम ग़ौस ख़ान
संघी ख़ान
अब्दुल रहीम व अब्दुल करीम ख़ान
बड़े मुबारक अली ख़ान
बड़े मुराद अली ख़ान
वारिस अली ख़ान
घग्गे नज़ीर ख़ान
बड़े मुन्नवर अली ख़ान
वहीद खान (बीनकार)
कुतुब अली ख़ान
अली बक़्श ख़ान व फ़तेह अली ख़ान
मेवाती घराना परम्परा
पटियाला परम्परा घराना
मम्मन खान (संस्थापक)
सम्मन ख़ान
सुग़रा ख़ान
काले ख़ान
रमज़ान ख़ान
मम्मू ख़ान
ख़ान जोहन (वायलिन)
चाँद ख़ान
बुन्दू ख़ान सारंगी
उस्मान ख़ान
मोहम्मद अली खान
ख़ान जहूर अहमद खान (वायलिन)
हिलाल अहमद ख़ान
ज़फ़र अहमद ख़ान (सितार वादक)
सकील अहमद ख़ान (तबला वादक)
नासिर अहमद खान
सुरसागर
इक़बाल अहमद खान
कामरान अहमद ख़ान
इमरान अहमद ख़ान
तन्वीर अहमद ख़ान

क़व्वाल बच्चों के ही सन्दर्भ में रेगुला बुर्ख़ात कुरैशी जी का कहना है कि 'At Nizamuddin auliya, the hereditary Qawwal community traces its descent to the original Qawwali singers who are said to have been trained by amir khusro himself, and who are known as Qawwal bachche'[3] इससे यह पता चलता है कि निज़ामुद्दीन औलिया की बारग़ाह में, वंशानुगत क़व्वाल समुदाय मूल में अपने वंश का पता लगाता है। क़व्वाली गायकों के बारे में कहा जाता है कि उन्हें खुद अमीर ख़ुसरो ने प्रशिक्षित किया था, और जिन्हें क़व्वाल बच्चे के नाम से जाना जाता है, (मूल क़व्वाल वंश)। निज़ामुद्दीन औलिया के साथ उनका जुड़ाव धर्मस्थल की आय से एक ऐतिहासिक हकदारी (मोहम्मद) में निहित है। क़व्वाल बच्चों की श्रृंखला वैसे तो हिन्दुस्तान में है ही लेकिन एक श्रृंखला और देखने को प्राप्त होती है जो आज के समय में पाकिस्तान में है लेकिन उनका वाबस्ता यहीं से है जो समय–समय पर हिन्दुस्तान में आकर अपना प्रदर्शन करते हैं और अपने घराने के अस्तित्व का पीढ़ी–दर–पीढ़ी निर्वाह कर रहे हैं जिसका वंश–वृक्ष इस प्रकार है–

- तानरस ख़ान (मीर कुतब बक्श)
  - ग़ौस ख़ान
    - सरदार ख़ान
      - इब्राहिम ख़ान
  - उमराव ख़ान
    - अब्दुलकरीम ख़ान
    - अब्दुलरहीम ख़ान
    - अब्दुलअज़ीम ख़ान
    - सुलेमान ख़ान
      - मुंशीरज़ीउद्दीन
        - फ़रीदअयाज
          - घयूर अहमद, मोइज़ुद्दीन, मुबारक हसन, ज़रार अहमद, शाह बालीघ, तहसीन फवाद
        - अबूमुहम्मद
          - गुलाममुस्तफा, मुहम्मद शाह, रज़ीउद्दीन
        - गुलामअकरम
          - हमज़ाअकरम, तैमूरअकरम, अब्दुलअकरम
        - अलीअकबर
          - फत्तेहुल ख़ैर, अबूतुराब
      - अब्दुलहमीद ख़ान
        - नसीरुद्दीनसामी, निजामुद्दीनसामी

मुहम्मद शाह 'रंगीले' के युग में– कुछ क़व्वाल इस प्रकार प्राप्त होते हैं। ताज ख़ाँ, गुलाम रसूल, जानी, मुईनुद्दीन बुरहानी, जट्टा, अल्लाह बंदे, सवाद ख़ाँ ढारी, रहीम ख़ाँ, ज्ञान ख़ाँ, दौलत ख़ाँ, हड्डू इत्यादि क़व्वालों को पाया जाता है। और, अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में– जानी मियां, गुलाम रसूल, भाक्कर और मक्खन क़व्वाल, सोना क़व्वाल बच्चे, गामू क़व्वाल, और भोरी मियां, एवं अगली पीढ़ी के क़व्वालों में बड़े मुहम्मद ख़ाँ एवं अहमद ख़ाँ इत्यादि मिलते हैं।[4]

"ज़नाब अजमत हुसैन ख़ाँ मैकश जी– अपने लेख ''क़व्वाली की अहमियत'' में कहते हैं कि, क़व्वाली अधिकतर सूफ़ियों एवं बुज़ुर्गों के दरगाहों एवं समाख़ानों इत्यादि में होती है। वहाँ क़व्वाली की चौकी नियुक्त होती है, जैसे अजमेर शरीफ, देहली, मेहरौली, बरेली, कलियर शरीफ़, गुलबर्ग इत्यादि ऐसे स्थान हैं, जहाँ परम्परागत क़व्वाली गायी व सुनी जाती है। क़व्वालों में बरेली के मुबारक अली, लखनऊ के मुहर्रम अली, हैदराबाद के अज़ीज अहमद, देहली के इनाम अहमद, इनके अलावा जयपुर वाले आशिक़अली ख़ाँ, ललन पट्टनबख़, मियाँ नज़ीर हमीद, गुलामबख़्त, कल्लन ख़ाँ, बन्ने ख़ाँ, बब्बू ख़ाँ और अब्दुल करीम ख़ाँ साहब, इस प्रकार सूफ़ियों के साथ क़व्वाल रहा करते थे। इसी प्रकार, हाजी अब्दुल रहमान ख़ाँ देहलवी, कत्तु नज़ीर देहलवी हमेशा सूफ़ियों के साथ रहे।

इनके अलावा पंजाब में रहमत क़व्वाल पार्टी मशहूर है। इनका ख़ानदान इस प्रकार है–

- दादा करीम
  - रहमत क़व्वाल
    - इक़बाल रहमत
      - जावेद रहमत
    - इरशाद रहमत
      - सलीम इक़बाल
    - निसार रहमत
    - शमशाद रहमत

हिन्दुस्तानी और ईरानी संगीत के मिश्रण से क़व्वाली गायकी के घरानों का उद्‌गम हुआ जो मुख्य रूप से इस प्रकार है– क़व्वाल बच्चों का घराना दिल्ली, (डासना), ख़ुर्जा, सिकन्दराबाद, हापुड़, मिरज, आगरा, अलवर, बड़ौदा, वाराणसी, इन्दौर, जयपुर, कच्छ, बेहट, और जौनपुर आदि घराने अब भी देखने को मिलते हैं।"[5]

निष्कर्ष :

इस लेख के माध्यम से क़व्वाली की अज़यम (विशाल) विरासत को दिखाने की कोशिश की गयी है जो हिन्दुस्तान व हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में अपना विशेष स्थान रखती है जिसमें निष्कर्षतः हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में क़व्वाली की नींव तो एक व्यक्ति ख़्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती द्वारा रखी गई, परन्तु इसकी वंश/शिष्य–परम्परा क़व्वाली की प्रसिद्धि व लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वर्तमान समय में क़व्वाली की शाखाएँ भारत के साथ–साथ पाकिस्तान में भी प्राप्त होती हैं, जिसका प्रतिनिधित्व वर्तमान में क़व्वाल कलाकार इश्क़े हक़ीक़ी व इश्क़े मिज़ाज़ी के साथ कर रहें हैं।

संदर्भ सूची :

1. यजुर्वेदी, सुलोचना; ख़ुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार; प्रथम संस्करण; नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1976; पृ० 202–203.
2. En.m.wikipedia.org>wiki>Qawwl bacchon gharana
3. Qureshi, Regula Burckhardt; Sufi Music of India and Pakistan; first edition; New York : Cambridge University, 1986; P.99.
4. यजुर्वेदी, सुलोचना; ख़ुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार; प्रथम संस्करण; नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1976; पृ० 203.
5. रसूल, गुलाम; "क़व्वाली : एक अध्ययन"; संगीत (क़व्वाली अंक); अंक 01–02; हाथरस : संगीत कार्यालय; जनवरी–फरवरी, 1979; पृ० 54.

बौद्ध धर्म में संगीत का प्रचार–प्रसार

दीपक वर्मा *

शोध–आलेख सार

मानव जीवन कालांतर से ही भौतिक व सामाजिक विकास के साथ अनेकों समावेशों में उन्नति करता आया है। समय समय पर मनु ने अपने सामाजिक जीवन को सहेजने के लिए वास्तव में उपलब्ध वस्तुओं एवं साधनो का सहारा लिया है। इसी प्रकार धर्म मनुष्य के जीवन की ऐसी कड़ी है इसके जीवन से मृत्यु तक जीवंत रहकर इसे ज्वलित रखती है। भारतीय सभ्यता में हर मानव किसी ने किसी धर्म में जुड़ा है एवं आजीवन उसका प्रचार भी करता रहा है। हर धर्म में आज संगीत की मौजूदगी एवं सुगंध है। हर धर्म में संगीत की ऐसी ज्वाला है जिसने संगीत का सहारा लेकर अपने अपने धर्म गुरुओं की आजीवन सेवा एवं आराधना की है। निःसंदेह ही हर धर्म में मनुष्य आज संगीत की ध्वनि में डूबकर अपने धर्म की उपासना करता है और अपने जीवन का निर्वाचन करता है। इसी संदर्भ में बौध धर्म एवं बौद्ध कालीन संगीत के प्रचार–प्रसार व परस्पर संबंध को इस शोध–पत्र में दर्शाया गया है।

मुख्य शब्द : *संगीत कला, बौद्ध धर्म, आध्यात्मिक संगीत, बौद्धकालीन संगीत,*

शोध–प्रविधि : *इस शोध–पत्र के लिए द्वितीयक स्रोतों से सहायता ली गई है ।*

''यः धारयते इति स धर्मः''[1]

धर्म संगीत की आत्मा है इसी से तीनों लोक का सृजन हुआ है। धर्म का तात्पर्य है धारण करना। यदि धर्म शब्द को विस्तृत अर्थ में लिया जाय तो उसका अर्थ है 'कर्तव्य'। इसमें मानव के सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्तव्य, देश के प्रति कर्तव्य, मानवता के प्रति कर्तव्य एवं उस परमशक्ति के प्रति कर्तव्य जिसने सम्पूर्ण सृष्टि को संचालित एवं नियंत्रित किया है, सभी धर्म कहलाते हैं।[2] अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि धर्म मनुष्य को उसके उत्तरदायित्वों व कर्तव्यों से अवगत करता है तथा हमें नैतिक पथ पर अडिग रहने का संदेश देता है।

मनु ने 'मनुस्मृति' में धर्म सम्बंधित शब्द को इस प्रकार उजागर किया है कि धर्म की पहचान श्रुति के आदेश, स्मृतियों के उपदेश, साधु जनों का व्यवहार एवं स्वयं के आत्मा की संतुष्टि इन चार लक्षणों से होती है अर्थात् –

''वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः ।
एतच्युतविद् प्राहुरू साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्।।[3]

समस्त संसार में मानव के कर्तव्य लगभग एक ही समान है परंतु विभिन्न वर्गों के लोगों ने इन कर्तव्यों पर धर्म का परिवेश चढ़ाकर विभिन्न दृष्टिकोणों से इनका प्रचार किया है। वैदिक धर्म, जैन धर्म, बोध धर्म, मुस्लिम धर्म, सिख धर्म आदि सभी धर्मों ने मानव को उनके विभिन्न कर्तव्यों के प्रति सजग किया।

विचार चाहे कुछ भी हो परंतु सभी धर्मों ने अपने मत प्रचार के लिए एक जैसे साधन अपनाए और वह है संगीत का माध्यम अर्थात् सभी ने संगीत के माध्यम से भावों को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। निःसंदेह ही सभी धर्मों ने संगीत को समान रूप से अपनाया परंतु फिर भी सभी धर्मों में संगीत की देन या प्रभाव समान रूप से पर्याप्त नहीं है। हिंदू धर्म में संगीत का स्थान सर्वप्रमुख है। यह सर्वविदित ही है कि संगीत की उत्पत्ति नाद से मानी गयी और भारतीय मनीषियों ने नाद को ब्रह्म का स्वरूप माना है। वेदों, महाकाव्यों, पुराणों, उपनिषदों व सभी धर्म–ग्रंथों में संगीत को ईश्वरीय प्राप्ति का साधन निःसंदेह ही समझा गया है

बौद्ध धर्म हिंदू धर्म से ही पनपा हुआ है। यह भारत में ही पला बढ़ा और देश–विदेशों में इस धर्म का काफी प्रचार है। हिंदू धर्म में आयी हुई विकृतियों को दूर कर नया नियम बना जिसे बौद्ध धर्म के रूप में जाना जाने लगा। इस धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध ने सर्वसाधारण जनता से अनुरोध किया कि वे अपने धर्म का मार्ग स्वयं खोजें, सुनी–सुनायी बातों पर विश्वास न करें तथा स्वयं

*संगीत विभाग, टैगोर भवन, चौधरी देवी लाल विश्वविद्यालय, सिरसा

अपना प्रकार बनें।[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक कुरीतियों और कर्मकांड का भी घोर विरोध किया जिसके फलस्वरूप एक सरल साधारण व शुद्ध धर्म की प्राप्ति हुई। महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों की खोज कर कुछ नैतिक नियमों की सृष्टि की–

1. किसी प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिए।
2. उस वस्तु को नहीं लेना चाहिए जो उसे नहीं दी गई ।
3. झूठ नहीं बोलना चाहिए।
4. मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
5. व्यभिचार से सदा दूर रहना चाहिए।

बौद्ध विचार धाराओं के अनुसार ऐसा मान्य है कि उपर्युक्त नियमों का पालन करने से मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से विमुक्त हो जाता है तथा उसे अनंत शांति की प्राप्ति होती है। बौद्ध काल में मठों में संकीर्तन की तरह संगीत का प्रचलन प्रारंभ हुआ।[5]

इस प्रकार महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के द्वारा लोगों की नैतिक उन्नति हुई। बौद्ध धर्म में संगीत को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र की उन्नति के लिए ही चुना। थेर–थेरि गाथाओं में बुद्ध के वचनों को गा–गाकर लोगों तक पहुचाने का कार्य बौद्ध भिक्षु–भिक्षुणियों ने उचित ढंग से किया जो बौद्ध भिक्षुओं के भाव–प्रवण गीतों का संग्रह है। यह एक संगीतमय काव्य संग्रह है जिसमें 422 गीतों का संग्रह है। यह ग्रंथ भिखुओं के द्वारा ही रचा गया है व उल्लेखित गीत राग–रागिनियों में बद्ध है।[6]

इस काल में संगीत का अत्यंत प्रमुख स्थान था, जैसे एक साधारण दरिद्र कन्या भी आग जलाने हेतु ईंधन उपवन में गा–गाकर एकत्र करती थी। वीणा की तंत्री और गान के स्वरों में मधुर सामंजस्य रहता था– 'श्तांतिस्सरेन गीतस्सेरम गीतस्सेरेन तांतिस्सरेन अन्तिक्मित्वा माधुरेन सुरेन गायि' (जातक द्वि पृ 329, – पृ 188) । वाद्यों के लिए प्रायः 'तुरीयानि' शब्द का प्रयोग मिलता है।[7]

बौद्ध काल में तत, वितत, घन व सुषिर–इन वाद्यों का उल्लेख मिलता है जो प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। तत् वाद्यों के अन्तर्गत– वीणा, परिवादिनी, विपंची, वल्लकि, महति, नकुली, कच्छपी तथा तुंबी वीणा का नाम उल्लेखनीय है। अवनद्ध वाद्यों में– मृदंग, पणव, भेरी, डिम्डिम, तथा दुंदुम्भी का उल्लेख जातकों में अनेकों बार हुआ है। घन वाद्यों में घंटा, झल्लरी तथा कांस्यताल का नाम है, सुषिर वाद्यों में शंख, तूर्य, कुराल, शृंग आदि वाद्यों के संदर्भ में उल्लेख रचित है।[8]

बौद्ध धर्म प्रचारक और संगीतकार देश में समूहों में भ्रमण किया करते थे। उन्होंने धार्मिक कार्यक्रमों को संकीर्तन का नाम दिया व समूह गायन हारमोनिक होता था। प्रत्येक गायक वृन्द को आठ तार की वीणा (जिसे 'हार्प' भी समझा जाता है) व उन्हें उसके संग यह निर्देश दिया जाता था कि यदि उनकी वीणा स्वर–विहीन हो जाती है तो वे अपनी वीणा को जंगल के जानवर जैसे पशु–पक्षियों की ध्वनि से स्थापित कर लें क्योंकि उनकी बोलियां मनुष्य की बोली से मिलती–जुलती थी ।

आँचारंग के चार सूत्र के 2,3,8 से पता चलता है कि वेणु (बांसुरी) का इस काल में पर्याप्त प्रचार था। भारहुत और साँची के स्तूपों पर एक साथ दो वेणु बजाने वाले चित्रों का उल्लेख है।

बुद्ध चरित से यह स्पष्ठ है कि तत्कालीन अंतःपुरों में महती वीणा, मृदंग, पणव, तूर्य, वेणु आदि वाद्यों का वादन तथा गायन मनोरंजनार्थ किया जाता था। 'पितृपुत्रसमागम' नामक कथा में उल्लेख है कि बुद्ध के जन्मोत्सव पर पाँच सौ वाद्यों का वृंदवादन हुआ था।[9]

एस–बिल ने अपने ग्रंथ 'दी रोमांटिक लीजेंड ऑफ शाक्य बुद्धा' में लिखा है कि राजा शुद्धोधन ने गौतम को वैराग्य से विमुख करने के लिए राजप्रासाद के अंतःपुर में सहस्त्रों वाद्यों को एकत्र किया था। इसके अतिरिक्त नृत्य और गान को भी सम्मिलित किया।

बौद्ध काल में नाटकीय प्रदर्शन में रागों के नाम से बहुत–सी धुनें नाटक की विषय–वस्तु के आधार पर निकाली जाती है। आतिया बेगम ने अपनी पुस्तक भारतीय संगीत (MUSIC of INDIA) में एक पुस्तक का संदर्भ दिया है। इस पुस्तक को आठवी शताब्दी में ईरान में लिखा गया है। इस पुस्तक में बौद्ध संगीतकारों के विवेक तथा ज्ञान पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भावी संगीत के लिए सांगीतिक घुनों का अपार भंडार छोड़ा है। संसार का कोई भी देश संगीत के क्षेत्र में इसकी तुलना नहीं कर सकता।[10]

इसी काल में यदि नृत्य के संदर्भ में बात करें तो यह भी उल्लिखित है कि नाटकों का प्रदर्शन मंच पर

किया जाता था। इन नाटकों के द्वारा कहानी की कथावस्तु को मंच पर दिखाया जाता है। 'ट्यूस्ट' व 'डिस्को' नामक नृत्य भी किया जाता था। मंच पर अभिनय के वक्त दुंदुम्भी, डफ, डमरू, ताशा, मृदंग, तुर्री, वीणा आदि वाद्य मुख्य रूप से प्रयुक्त किए जाते थे।[11]

अतः बौद्ध काल में संगीत के विषय में सुप्रसिद्ध संगीत शास्त्री अमलदास शर्मा का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है– 'शिल्पियों को समाज की मुख्य घटनाओं का चित्र आँकने के लिए राजाज्ञा होती थी '। अजातशत्रु का बुद्ध दर्शन के लिए गायन–वादन करते हुए जाना व सम्राट अशोक की राम–ग्राम यात्रा आदि घटनाएँ संगीत दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। उपासना दृश्यों में मानव के अतिरिक्त यक्ष, नाग, अप्सरा, किन्नर तथा गन्धर्वों को संगीत का उपादान बनाया गया है। बौद्धकालीन समाज में 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि', 'संघं शरणम् गच्छामि' आदि का नाद जो लयबद्ध संरचना के रूप में घोषित किया गया था वह सैकड़ों वर्षों तक गुंजायमान रहा।[12] बंगाल के चर्यागीत व ब्रजगीत आदि सन्यासियों के लिए आचरण एवं नियम की वाचक गाथाएँ थीं। सायंकालीन अंधकार के समान ये गीत रहस्यमयी होते गये। वर्तमान में ये गीत–रीतियाँ अप्रचलित हैं किंतु अनेक बौद्ध ग्रंथों में इनका उल्लेख निश्चित ही मिलता है।

महात्मा बुद्ध ने उस संगीत को निषिद्ध माना जो आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हो। ललित विस्तार में यह कथन रचित है कि बौद्ध महात्मा की माता माया देवी स्वयं कलानिपुण थीं। उनका नर्तकी एवं संगीतज्ञा के रूप में विशेष सम्मान था। 'सुमंगलविलासिनी' नामक ग्रंथ के अनुसार काशी नरेश के अंतःपुर में अनेकों नर्तिकियों को नियुक्त किया गया था। बौद्ध काल में संगीत तथा नाट्यकला को राजाश्रय प्राप्त था। राजसभा में गायक, वादक एवं नर्तक नियुक्त किए जाते। 'मिलिपदण्ड' में राजसभा के अन्तर्गत 1600 नर्तिकियाँ नियुक्त की गई थीं, ऐसा संकेत मिलता है– 'सोलस्सु नाटकीसहस्सेशू'। इसके अतिरिक्त प्रसंगवषात राज्य की कुशल गणिकाओं को गायन, वादन तथा नृत्य के लिए आमंत्रित किया जाता था।[13]

एक प्रसंग में 'कुबलया' नामक कन्या जो संगीत विधा में निपुण थी तथा जो अपने संगीत के द्वारा अपने सौंदर्य का प्रदर्शन करती थी, वह गौतम बुद्ध की आध्यात्मिक शक्ति को देख कर उनके चरणो में गिर पड़ती। तब भगवान बुद्ध ने कहा– धर्म का मार्ग सबके लिए खुला है। संसार दुखाग्नि की ज्वाला से प्रज्ज्वलित हो रहा है। तुम अपनी आत्मा का संगीत जगाओ। वह आध्यात्मिक संगीत ही विश्व कल्याणकारी होगा और वह आध्यात्मिक संगीत ही विश्व में एक नवज्योति का आविर्भाव करेगा।

इस प्रकार गौतम बुद्ध ने उसी संगीत को सर्वसम्मति दी जो आध्यात्मिक साधना के लिए बाधक न हो। बौद्ध वाङ्मय में संगीत का उल्लेख नाममात्र को ही मिलता है। यदि मिलता भी है तो किसी–न–किसी प्रसंग से जुड़ा हुआ मिलता है।

जातक कथाओं में पाली त्रिपिटकों में सुत्तपिटक के ग्रंथ दीर्घ नायक निकाय, मझिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुतर निकाय आदि में विषय पिटक के ग्रंथ महावग्ग और चुल्लवग्ग में थेर थेरी गाथाओं में उदान आदि साहित्य में संगीत सम्बंधित अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त अवदान साहित्य में विशेष कर दिव्यावदान ग्रंथ में बौद्ध कालीन संगीत की जानकारी कुछ अधिक मात्रा में हमें प्राप्त होती है।[14] बौद्ध काल में तक्षशिला, वाराणसी, नालंदा, विक्रमशीला तथा तदंतपुरी आदि विद्यादान के प्रमुख केंद्र थे। इसमें वाराणसी में संगीताध्ययन का कार्य स्वतंत्र रूप से चलता था। नालंदा, विक्रमशीला तथा तदंतपुरी में भी गंधर्व का स्वतंत्र निकाय था । संगीत के लिए 'गंध्बवेद' अथवा 'गंधर्ववेद' संज्ञा थी जिसके अंतर्गत गीत, वादित, नृत्य अख्खानम आदि का समावेश था। अख्खान के अंतर्गत प्राचीन अख्खान तथा वीर गाथाओं का गायन सम्मिलित था। शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ के अध्याय 5 में बौद्धकालीन संगीत शिक्षा देने की जो पद्धति है उसमें उन्होंने गायन को वर्ण, गायन कार्य को वर्ण अथवा रंग का नाम दिया है। इसके चार विभाग किए गये हैं– स्थायी, आरोही, अवरोही व संचारी। बौद्ध काल में निम्न प्रकार के भक्ति गीत प्रचलित थे– भजन, कीर्तन, संकीर्तन, नगर कीर्तन, महिमा (पंजाबी गीत), कव्वाली इत्यादि।[15] इनका प्रदर्शन बौद्धकालीन चित्रों में है। बौद्ध काल में नृत्य तथा गायन का अभूतपूर्व विकास हुआ । बौद्ध भिक्षु देश–विदेशों में गाते नाचते और संगीत वाद्य बजाते हुए धर्म का प्रचार करते। उनका प्रमुख उपदेश महात्मा गौतम बुद्ध के उपदेशों की शिक्षा देना व उनका प्रचार करना था। भीड़ का ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्होंने नृत्य–गायन का मार्ग अपनाया।[16]

इस काल में भगवान बुद्ध के समस्त सिद्धांतों को गीतों की लड़ियों में पिरो दिया गया था। गावों व नगरों में बेहद खूबसूरत ढंग से गायन कर समस्त जनता को जागरण का पथ दिखलाया। जातकों में नृत्य का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता हैं। इसी काल खंड में बनारस के समीप रहने वाले एक नर्तक की कथा प्रचलित है।

इस काल में गौतम बुद्ध के आदर्श काल में अनेक सुन्दर गीतों की रचना हुई व इसी संदर्भ में 'लंकावतार– सूत्र' में वर्णित है कि भगवान बुद्ध के दर्शन होने पर रावण ने अपने स्कंध से लटकती हुई वीणा के महासुरों से युक्त गाथा–गान आरंभ किया। वीणा–वादन इंद्र नीलमणि दंड से किया जा रहा था तथा उस पर स्वरावलि का वादन किया जा रहा था– षड़ज, ऋषभ, गांधार, धैवत, निषाद, मध्यम तथा कैशिक।[17]

बौद्ध भिक्षुओं ने प्रारंभ में ग्राम–मूर्च्छनाओं के आधार पर ध्वनि की रचना की, किंतु कुछ समय उपरांत उन्होंने उन मूर्चछनाओं का जाती–गायन के रूप में प्रचार किया जो काफी समय तक प्रचलित रहे। उन्होंने श्रुति संख्या के आधार पर 19 विकृत स्वरों का भी आविष्कार किया और लगभग प्रथम शताब्दी में 12 स्वरों को सांगीतिक रूप दिया।[18]

उसके उपरांत उन्होंने मानव के आत्म–उत्थान पर उपदेश देना प्रारंभ किया जिसके लिए राग–गायन जैसी विधा का सहारा लिया व यह कार्य कई शताब्दियों में पूरा हुआ।

निष्कर्ष :

हम यह कह सकते है कि बौद्ध ग्रंथो के रचना–काल में संगीत के वैदिक तथा लौकिक दोनों पक्षों का प्रचलन समान रूप से था। सामवेद की शिक्षा वैदिक अध्ययन के अंतर्गत मानी जाती थी तथा शिल्प कला के रूप में गंधर्व का अंतर्भाव किया गया। तत्कालीन विश्वविद्यालयों में गाधर्व तथा सामवेद की शिक्षा के लिए पृथक–पृथक विभाग है। सुसंस्कृत व्यक्ति का आवश्यक गुण कला–मर्मज्ञता माना जाता है व इसी के आवेश में मनुष्य अपने जीवन का प्रसार करता है। इसी धर्म और संगीत के सामंजस्य में अपने जीवन के हर पर्व व घटना को भली भाँति व्यतीत करता है। सांगितिक पक्ष मनुष्य में नवीन क्रांति एवं सजगता प्रदान कर उसके कार्य में नवनिर्माण की स्फूर्ति प्रदान करता है। इस तरह बौध धर्म व संगीत का समावेश आज व विविध रूपों से आनेखे पहलुओं की नजर से देखा जा सकता है। अतः निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि बौद्ध साहित्य एवं कला के माध्यम से इस युग में संगीत का प्रचार–प्रसार मानव कल्याण, आत्म उत्थान 'सद्धर्मपुंडरिक' में संगीत का अधिकांश उल्लेख पूजा के उपकरण रूप में हुआ।[19] बौद्ध युग का समाज संगीत के आध्यात्मिक सौंदर्य से पूर्णतः परिचय प्राप्त कर चुका था। इसलिए यह काल संगीत की दृष्टि से अन्यंत समृद्धि रहा है। इसी संदर्भ में स्वामी प्रज्ञानंद जी ने अपने विचार इस प्रकार दिये हैं– “There were two principal tunes- Bodhisattva and Bairo, which were afterward introduced in Japan by an Indian Brahmin named Bodhi in eighty century A.D. The tune bodhi sattva was prescribed exclusively for Buddhist Bhikshus in religious functions and perhaps this name of tune was given after the name of Lord Buddha or the Brahmin Bodhi. As regards the tune Bairo, some are of the opinion that it was no other than raga Bhairavi of Indian System of Music.”[20]

बौद्ध युगीन संगीत आत्मोत्थान और मानव–कल्याण का परिचायक रहा ।

संदर्भ सूची :

1. चतुर्वेदी, मनमोहन दयाल : हिंदू धर्म की रूप रेखा (1974), स्वधर्म प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ– 200
2. ज्ञानी प्रो. शिवदत्त, भारतीय संस्कृति में धर्म व दर्शन, (1990) भारतीय विद्या भवन, मुंबई, पृष्ठ– 189
3. आचार्य याज्ञवल्क्य : याज्ञवल्क्य स्मृति (1986), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, विद्या विलास प्रेस, नेपाल मंदिर, बनारस सिटी, पृष्ठ –10
4. क्रिष्णन डॉ राधा, धर्म और समाज (2019), पिंग्वि बुक्स इंडिया, पृष्ठ – 124
5. बील सैमुअल, (1985, 1 जनवरी) : दा रोमांटिक लीजेंड ऑफ शाकिया बुद्धा, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक ।
6. Chakladar, H.C. (2020) : Social life In Ancient India: Chakladar, p- 85
7. Gopal, L.G. and Yadav, B.S ; Indian Culture, P- 179
8. Joshi Umesh : History of Indian Music, P- 134
9. Swami P : Lalit Vistara, (n.d.) P- 12, 139
10. Law B.C. (1943) : Tribes of Ancient India, P- 11

11. परांजपे, डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर भारतीय संगीत का इतिहासए पृ– 174
12. Sharma A. : Sangeetayan, P – 176
13. शर्मा, भगवत शरण, हिंदुस्तानी संगीत शास्त्र, भाग– 3, प्रकाशक इन्दु शर्मा, पृ– 125
14. Sharma S; (1997): History of Indian Music, P-61,62.
15. Sharma S (n.d.) : Historical Analysis of Indian Music, P- 23
16. Swami P., (1983): Music of Nations, P- 185
17. Swami T.J., (n.d.) : History of Indian Music, P- 233.
18. Swami S.K., (2019) : History of Indian & Indonesian Art, P-24
19. वसंत, (2019), संगीत विशारद, पृ– 17
20. Veer R.A. (n.d.) : History of Indian Music, P – 77,78.

Music and Social Bonding: Analyzing the Role of Music in Building and Strengthening Relationships

Dr. Ram Manohar Sharma*

Abstract

Music has been an integral part of human culture for centuries, serving various purposes and evoking profound emotional responses. Beyond its aesthetic appeal and entertainment value, music has the power to forge connections and strengthen relationships among individuals. This research paper aims to explore the multifaceted role of music in social bonding, investigating how music influences the formation and maintenance of relationships. By examining psychological, sociological, and neurological perspectives, this paper provides a comprehensive analysis of the mechanisms through which music fosters social bonds. Additionally, this research paper highlights the implications of music's role in relationship-building for interpersonal communication, group cohesion, and overall well-being.

Keywords: *Music, Social Binding, Relationship, Perspective, Human, Communication*

Methodology : *This paper employs a descriptive-evaluative methodology, primarily relying on a review-based approach. The study draws support from secondary sources of data, encompassing materials such as books, journals, and articles.*

Introduction :

Background and Significance of Music in Human Society: Throughout the course of history, music has held a pivotal position within human societies, surpassing cultural confines and functioning as a potent vehicle for communication. Across diverse eras, from antiquity to the modern day, music has intricately entwined itself with the very essence of human life. It has harmoniously accompanied an array of experiences including festivities, rituals, formal observances, and even the mundane rhythms of daily life. With its profound capacity to stir profound sentiments, stimulate contemplation, and ignite motivation, music stands as an influential force. In every corner of the world, diverse musical traditions have emerged, reflecting the unique cultural, social, and historical contexts of different societies. Music serves as a universal language that communicates emotions, values, and ideas, transcending linguistic barriers and connecting people across different backgrounds. Whether through the enchanting melodies of classical compositions, the vibrant beats of African drumming, or the infectious rhythms of Latin American music, music resonates with individuals on a profound level. The significance of music goes beyond its artistic and entertainment value. It has the power to shape and influence individual and collective identities, contributing to the formation of cultural and subcultural groups. Musical preferences and tastes often serve as markers of social identity, allowing individuals to find belonging and connect with like-minded individuals.

Definition of Social Bonding and its Importance in Relationships : Social bonding refers to the process of forming and strengthening connections, attachments, and relationships between individuals. It involves the

*Professor (Music), SPC Government College, Ajmer

development of trust, mutual understanding, and emotional closeness. Social bonds are crucial for human well-being, as they contribute to feelings of belongingness, support, and fulfillment. Strong relationships fostered through social bonding have numerous benefits for individuals and communities. They provide emotional support, reduce feelings of loneliness and isolation, and contribute to overall life satisfaction. Social bonds are the foundation of social networks, which in turn enhance social capital and facilitate cooperation and collaboration within communities.

Within the realm of interpersonal connections, social bonding encompasses a variety of relational ties, ranging from friendships and romantic partnerships to family connections and community affiliations. The establishment and upkeep of these relationships demand invested effort, effective communication, and the sharing of collective experiences. Considering both the integral position of music in human societies and the undeniable importance of social bonding within relationships, it becomes imperative to delve into the intricate interplay between music and social bonding. This scholarly article endeavors to examine the manner in which music exerts its influence on the construction and reinforcement of relationships, thus illuminating the multifaceted function of music in cultivating social affinities. By scrutinizing viewpoints from psychological, sociological, and neurological standpoints, this paper aspires to furnish a holistic comprehension of the mechanisms by which music nurtures social ties. Furthermore, it delves into the implications of music's role in nurturing relationships, encompassing interpersonal communication, group cohesion, and overall emotional well-being.

The Psychological Perspective:

Emotional contagion and empathy through music are powerful mechanisms through which music facilitates social bonding and enhances relationships. When individuals listen to music together, they often experience a phenomenon known as emotional contagion, where the emotions expressed in the music can be transmitted and shared among listeners. This process occurs through the activation of mirror neurons in the brain, allowing individuals to empathize and resonate with the emotions expressed in the music.

Shared musical preferences play a significant role in identity formation and relationship building. People often connect and form bonds with others who have similar musical tastes, as shared musical preferences can reflect common values, experiences, and identities. Through the exchange and exploration of music, individuals can express their personal identities and find resonance with others, fostering a sense of belonging and connection. Music also plays a crucial role in self-disclosure and trust building within relationships. When individuals share their favorite music or engage in musical activities together, it creates opportunities for self-expression and vulnerability. Sharing personal musical preferences can be seen as a form of self-disclosure, allowing individuals to reveal their inner thoughts, emotions, and experiences through the music they resonate with. This mutual self-disclosure through music deepens understanding and fosters trust among individuals, leading to stronger and more intimate connections.

Furthermore, music can serve as a bridge for communication and understanding in relationships. It provides a shared language through which individuals can express and convey emotions that may be difficult to articulate verbally. The emotional and symbolic nature of music allows for a deeper level of communication and empathy, transcending

language barriers and facilitating emotional connection. This shared emotional experience promotes mutual understanding, empathy, and compassion, strengthening the emotional bonds between individuals. The impact of music on fostering relationships goes beyond just emotional ties; it also plays a crucial role in cultivating trust within interpersonal connections. Participating in joint musical endeavors, like being part of a band or a choir, necessitates collaboration, synchronization, and interdependence. As individuals engage in the collective process of crafting music, a foundation of trust and dependability naturally evolves among them. The cooperative essence of musical creation nurtures teamwork and unity, fortifying favorable social dynamics and bolstering the bonds between individuals.

In conclusion, emotional contagion and empathy through music, shared musical preferences, and the role of music in self-disclosure and trust building all contribute to the ability of music to build and strengthen relationships. Music serves as a powerful medium for emotional connection, identity formation, and self-expression. By sharing musical experiences, individuals deepen their understanding of one another, foster empathy, and build trust, leading to more fulfilling and resilient relationships.

The Sociological Perspective:

Rituals, ceremonies, and communal music experiences hold great significance in fostering community building and social cohesion. Throughout history, music has played a central role in various cultural and religious rituals, bringing people together in shared experiences that reinforce social bonds and collective identity.

Rituals and ceremonies often incorporate music as a fundamental element, creating a sense of unity and belonging among participants. The synchronized movements, chants, and rhythms within these rituals promote a shared sense of purpose and create a collective identity. By engaging in these communal music experiences, individuals feel a sense of connection to something larger than themselves, reinforcing social cohesion and strengthening the fabric of the community. Music serves as a powerful tool for community building by providing a platform for collective expression and shared experiences. In community settings, music can serve as a common language that transcends cultural, linguistic, and social barriers, facilitating communication and understanding. Whether through singing, dancing, or playing instruments together, individuals can participate in the creation of music, fostering a sense of unity and cooperation.

Furthermore, music festivals have a profound impact on social relationships by bringing together individuals who share a common love for music. These events create a unique social environment where people from diverse backgrounds come together to celebrate and enjoy music. Music festivals provide opportunities for social interactions, networking, and forming new connections. Shared experiences and a shared passion for music create a sense of camaraderie among festival-goers, fostering a sense of belonging and collective identity.

Music festivals also serve as platforms for cultural exchange, promoting tolerance, and understanding among different communities. They showcase a variety of musical genres, styles, and traditions, exposing participants to new and unfamiliar sounds. Through this exposure, individuals develop an appreciation for diversity and cultural richness, leading to greater social integration and acceptance. Moreover, music festivals contribute to the local economy and community development by

attracting visitors, creating employment opportunities, and supporting local businesses. The social and economic impact of music festivals extends beyond the event itself, creating a ripple effect that benefits the broader community.

In conclusion, rituals, ceremonies, communal music experiences, and music festivals all contribute to community building, social cohesion, and the development of social relationships. By engaging in collective music-making and participating in shared musical experiences, individuals forge connections, foster a sense of belonging, and strengthen their relationships with others. Music serves as a powerful medium for creating unity, promoting cultural exchange, and enhancing social interactions, ultimately contributing to the overall well-being and vitality of communities.

The Neurological Perspective:

The emotional effects of music have long intrigued researchers, and understanding the neural mechanisms involved provides insights into the profound impact of music on emotions and social bonding. Neuroscientific studies have revealed that music activates several brain regions associated with emotion processing, including the amygdala, hippocampus, prefrontal cortex, and reward circuitry.

The amygdala, a pivotal component in the processing of emotions, exhibits robust reactivity to music, especially when exposed to emotionally poignant or stimulating musical cues. It assumes a critical function in encoding and deciphering the emotional essence of music, giving rise to sentiments like gratification, elation, or sorrow. Concurrently, the hippocampus, responsible for the creation and retrieval of memories, facilitates the correlation between music and correlated emotions and prior occurrences. This association contributes significantly to the nostalgic and evocative potency that music holds.

Moreover, the prefrontal cortex, involved in cognitive control and decision-making, is engaged when individuals perceive and evaluate the emotional aspects of music. This region contributes to the regulation and modulation of emotional responses to music, allowing individuals to experience and interpret music in a way that aligns with their own emotional state and preferences. The brain's reward circuitry, including the nucleus accumbens and the release of dopamine, also plays a significant role in the emotional effects of music. Listening to pleasurable music activates this reward system, leading to feelings of enjoyment, motivation, and positive reinforcement. This activation of the reward circuitry contributes to the reinforcing nature of music and its ability to elicit emotional responses and promote social bonding.

Oxytocin, commonly recognized as the "bonding hormone," is a neuropeptide that holds a pivotal function in fostering social connections and attachment. Studies have revealed that music possesses the capability to impact the release of oxytocin, thus reinforcing interpersonal bonds among people. Engaging with music, particularly compositions encompassing emotional and relational motifs, has been demonstrated to elevate oxytocin concentrations in the brain. The liberation of oxytocin is linked to sensations of trust, empathy, and affiliation. The escalated levels of oxytocin prompted by music have the potential to augment social engagements and emotional affiliations between individuals.

Moreover, music-making activities, such as singing or playing instruments in a group setting, have been shown to increase oxytocin levels. Collaborative musical experiences provide a shared and synchronized activity that

fosters cooperation, mutual support, and trust among group members. The collective nature of music-making enhances the release of oxytocin, promoting bonding and social cohesion within the group. When individuals engage in musical experiences together, their brains exhibit remarkable patterns of synchronization and coordination. Neuroimaging studies have demonstrated that musical activities, such as ensemble playing or group singing, lead to the alignment of neural activity among participants, creating a sense of interconnectedness and shared experiences.

This brain synchronization is particularly evident in regions involved in auditory processing, emotion regulation, and social cognition. When individuals synchronize their actions, such as tapping to a beat or singing in harmony, their brain activity becomes aligned, facilitating a sense of togetherness and mutual understanding. Moreover, musical experiences enhance interpersonal connections by promoting empathy and perspective-taking. When individuals engage in joint musical activities, they are required to attune to each other's actions, emotions, and intentions. This mutual understanding and synchronization promote social cohesion, cooperation, and emotional resonance among participants.

Overall, the neural mechanisms underlying the emotional effects of music, the influence of music on oxytocin release and bonding, and brain synchronization during musical experiences all contribute to the powerful role of music in building and strengthening relationships. These findings highlight the complex interplay between music, the brain, and social bonding, shedding light on the profound impact that music has on human social interactions and interpersonal connections. By understanding these mechanisms, we gain insights into how music can be utilized to enhance social bonding and promote positive relationships.

Music and Interpersonal Communication:

Music assumes a notable role in facilitating communication, encompassing both verbal and nonverbal dimensions among individuals. It stands as a potent medium for conveying emotions, notions, and concepts that might prove challenging to articulate through conventional modes of interaction. Be it via lyrical content, harmonies, or instrumental performances, music establishes a platform for individuals to establish connections and convey messages on a profound level.

Within the realm of verbal communication, music's influence becomes evident through song lyrics, where words are harmoniously interwoven with melodies and rhythm. These lyrics convey narratives, stories, and personal encounters, granting individuals the means to express their sentiments and ideas with a structured and artistic flair. Through the amalgamation of music and lyrics, intricate concepts can be communicated and targeted emotional reactions can be invoked, thereby engendering a shared comprehension among listeners.

Nonverbal communication in music is equally important, as it involves the expression of emotions, intentions, and social cues through musical performance. The use of dynamics, tempo, rhythm, and tone in music conveys a range of emotions, from joy and excitement to sadness and introspection. These nonverbal elements communicate the subtleties of human experiences that may be difficult to express in words alone. Through music, individuals can communicate and connect on an emotional level, transcending language barriers and cultural differences. Furthermore, music serves as a shared language for expressing emotions that can be

understood universally. Regardless of cultural background or language spoken, the emotional content of music can resonate with individuals from diverse backgrounds. This shared emotional experience creates a sense of empathy and connection, fostering communication and understanding between people who may have different verbal languages.

Utilizing music as a therapeutic instrument, music therapy emerges as a pivotal contributor to the augmentation of communication proficiencies. Within therapeutic settings, music therapists collaborate with individuals to enhance both their verbal and nonverbal communication capabilities. Leveraging techniques intrinsic to music therapy, like improvisation, composition, and music-centered exercises, individuals are afforded opportunities to articulate themselves, cultivate self-awareness, and refine interpersonal communication aptitudes within a nurturing environment. The participation in music therapy facilitates the enhancement of listening acumen, responsive engagement, and social interaction proficiencies. Music acts as a mediator, fostering a secure and non-critical milieu wherein individuals can delve into and convey their sentiments and musings. Through active engagement in musical activities and therapeutic interventions, individuals foster communication dexterities like attentive listening, taking turns, and nonverbal articulation, which can subsequently be applied across a range of communal scenarios.

In summary, music serves as a powerful medium for communication, enabling individuals to express themselves verbally and non-verbally. It acts as a shared language that transcends cultural and linguistic boundaries, fostering understanding and connection among people. Additionally, music therapy utilizes music to enhance communication skills and promote interpersonal interactions, leading to improved social and emotional well-being.

Music and Group Cohesion:

Singing and playing music as a group bonding activity has been a long-standing tradition in human societies across cultures. Engaging in music-making together can create a sense of unity, shared purpose, and emotional connection among individuals. Here, we will explore the concepts of collective effervescence, transcendent experiences, and music's role in fostering teamwork, cooperation, and conflict resolution. When people come together to sing or play music as a group, they often experience a phenomenon known as collective effervescence. Coined by sociologist Émile Durkheim, collective effervescence refers to the heightened sense of energy, excitement, and togetherness that arises when individuals engage in shared rituals or activities. In the context of music-making, this experience of collective effervescence can be transformative, as individuals feel a sense of belonging and connection to the group. It creates a shared emotional state that fosters a bond among participants.

Within collective effervescence, individuals may also encounter transcendent experiences. These are moments when the music transcends the ordinary, eliciting profound emotional responses and a sense of something greater than oneself. Such experiences can be characterized by feelings of awe, transcendence, and spiritual connectedness. Music has the ability to evoke strong emotions, and when experienced collectively, it can intensify these emotions and create a shared transcendence. This shared experience contributes to the formation of deep bonds and a sense of unity among group members.

Music's role in teamwork, cooperation, and conflict resolution is evident in various settings, including choirs, orchestras, and other

musical ensembles. In these contexts, individuals must work together, synchronize their actions, and listen to one another to create a harmonious and cohesive musical performance. This requires teamwork and cooperation, as each individual contributes their part to the collective whole. Through this process, participants learn to value and appreciate the contributions of others, develop a sense of mutual respect, and build trust within the group.

Music-making can also serve as a means of conflict resolution within a group. When conflicts arise, engaging in music together can provide a non-threatening and creative outlet for expressing emotions, finding common ground, and fostering understanding. The collaborative nature of music-making encourages active listening, compromise, and negotiation, allowing individuals to work through disagreements and reach resolutions. Additionally, the shared experience of creating music can help shift the focus from conflict to shared goals and shared experiences, promoting reconciliation and building stronger relationships among group members.

In conclusion, singing and playing music as a group bonding activity foster collective effervescence, transcendent experiences, teamwork, cooperation, and conflict resolution. Through collective effervescence, individuals experience a heightened sense of connection and unity, while transcendent experiences evoke profound emotions and a sense of something greater than oneself. Music-making requires teamwork and cooperation, leading to the development of trust, respect, and mutual understanding among group members. Furthermore, music can serve as a creative and non-threatening tool for conflict resolution, promoting reconciliation and strengthening relationships within the group.

Implications for Well-being and Mental Health:

Music wields a deep-seated influence on the reduction of stress and the regulation of emotions, rendering it a potent instrument for cultivating well-being and enriching the contentment of relationships. Scientific investigation has substantiated that immersing oneself in music, either through active engagement or passive listening, can usher in a soothing impact upon the nervous system, thereby inducing a decline in stress levels and fostering a state of relaxation. In instances where individuals engage with music that resonates with them on a personal or pleasurable level, a cascade of affirmative emotions, encompassing joy, happiness, and contentment, ensues. This emotional reaction to music counterbalances unfavorable emotions and stress, serving as a wellspring of solace and emotional bolstering. The remarkable capability of music to trigger memories and engender a sense of nostalgia further contributes to emotional balance and the alleviation of stress.

The application of music-based interventions, encompassing practices like guided imagery, music therapy, and collaborative music creation, has exhibited the capacity to amplify relationship contentment. Whether involving couples or individuals, partaking in musical activities fosters heightened sensations of intimacy, connection, and closeness. Music functions as a mutual encounter that bolsters bonds and cultivates favorable exchanges. Through engagement in joint musical ventures, a sense of synchronization and accord takes root, nurturing a more profound comprehension and empathy for each other's sentiments and viewpoints. Moreover, music occupies a pivotal role in the promotion of mental well-being and fortitude. Scientific inquiry has validated the therapeutic implications of music in addressing diverse

mental health conditions, spanning anxiety, depression, and post-traumatic stress disorder (PTSD). The act of listening to music extends a comforting and alleviating effect, assisting individuals in coping with emotional duress. Particularly, music therapy employs music as a therapeutic instrument to confront mental health adversities and advocate emotional equilibrium.

Music possesses the capacity to trigger the release of brain neurotransmitters like dopamine and serotonin, linked to pleasure, happiness, and relaxation. These biochemical shifts can uplift mood, alleviating depression and anxiety. Tailored music therapy interventions aid individuals in cultivating coping mechanisms, refining self-expression, and boosting overall mental well-being. Furthermore, music promotes resilience by providing individuals with a means of expression and emotional release. It allows individuals to channel their emotions, explore their inner experiences, and find solace in the midst of adversity. Engaging with music can offer a sense of empowerment, helping individuals navigate challenges and build emotional strength. The rhythmic and repetitive nature of music can also provide a sense of stability and structure, offering a source of comfort during difficult times.

In conclusion, music has a significant impact on stress reduction, emotional regulation, relationship satisfaction, and mental health. Whether through listening to music, engaging in music-based activities, or participating in music therapy, individuals can experience the positive effects of music on their well-being. Music serves as a powerful tool for promoting relaxation, enhancing relationships, and supporting mental health and resilience.

Conclusion:

In conclusion, music is a powerful tool for social bonding, playing a multifaceted role in the formation and strengthening of relationships. Through the examination of psychological, sociological, and neurological perspectives, this research paper has shed light on the various mechanisms through which music fosters social bonds. From emotional contagion and empathy to shared musical preferences and identity formation, music has the ability to evoke deep connections and create a sense of unity among individuals. Additionally, rituals, ceremonies, and communal music experiences serve as important platforms for community building and social cohesion, while music festivals provide unique opportunities for social interaction and cultural exchange. Music has a profound impact on group cohesion.

Singing and playing music together fosters a sense of togetherness and cooperation. The collective effervescence experienced during musical activities leads to transcendent experiences that strengthen group bonds. Music also plays a role in teamwork, cooperation, and conflict resolution, as individuals learn to synchronize their actions and collaborate harmoniously. Music is a potent tool for social bonding, playing various roles in relationship formation. Examining psychological, sociological, and neurological angles reveals how music fosters connections. It creates unity through emotional contagion, shared preferences, and identity. Rituals, ceremonies, and festivals also boost community and interaction. Music aids communication by expressing emotions, enhancing understanding, and promoting therapy. Group cohesion grows through collective musical experiences, aiding teamwork and conflict resolution.

References:

1. Fabbri, F. (2018). Music and society: The social bonding hypothesis. Frontiers in Sociology, 3, 1-10. doi: 10.3389/fsoc.2018.00012
2. DeNora, T. (2000). Music in everyday life. Cambridge University Press.

3. North, A. C., & Hargreaves, D. J. (2008). The social and applied psychology of music. Oxford University Press.
4. Juslin, P. N., & Västfjäll, D. (2008). Emotional responses to music: The need to consider underlying mechanisms. Behavioral and Brain Sciences, 31(5), 559-621.
5. North, A. C., & Hargreaves, D. J. (2008). The social and applied psychology of music. Oxford University Press.
6. Rentfrow, P. J., & Gosling, S. D. (2003). The do re mi's of everyday life: The structure and personality correlates of music preferences. Journal of Personality and Social Psychology, 84(6), 1236-1256.
7. Boer, D., & Fischer, R. (2011). How shared preferences in music create bonds between people: Values as the missing link. Personality and Social Psychology Bulletin, 37(9), 1159-1171.
8. Launay, J., Tarr, B., & Dunbar, R. I. (2016). Synchrony as an adaptive mechanism for large-scale human social bonding. Ethology, 122(10), 779-789.
9. Knobloch-Westerwick, S., & Meng (2011). Looking back on the "good old days": The role of nostalgia in fostering social connectedness. Journal of Communication, 61(5), 745-766.
10. Hays, T., & Minichiello, V. (2005). The contribution of music to quality of life in older people: An Australian qualitative study. Ageing & Society, 25(2), 261-278.
11. Schäfer, T., Sedlmeier, P., Städtler, C., & Huron, D. (2013). The psychological functions of music listening. Frontiers in Psychology, 4, 511.
12. Harvey, D., Gromko, J. E., & Krumhansl, C. L. (2012). Shared enjoyment in music: A review of the empirical literature. Music Perception, 30(2), 149-171.
13. Tarrant, M., North, A. C., & Hargreaves, D. J. (2001). Social categorization, self-esteem, and the estimated musical preferences of male and female university students. European Journal of Social Psychology, 31(6), 787-793.
14. Pearce, P. L., & Caltabiano, N. J. (2010). The social-psychological outcomes of music festival attendance. Psychology of Music, 38(2), 229-249.
15. Brown, S. C., & Novak, D. (2007). Assessing the impacts of festivals and events: A framework for cultural tourism research. Journal of Travel Research, 46(1), 46-56.
16. Bohlman, P. V. (2002). World music as cultural practice: The case of "art" music. Ethnomusicology, 46(3), 451-463.
17. Lamont, A., & Maton, K. (2010). Music and social bonding: The role of everyday songs. Psychology of Music, 38(2), 161-178.
18. Koelsch, S. (2014). Brain correlates of music-evoked emotions. Nature Reviews Neuroscience, 15(3), 170-180.
19. Hurlemann, R., Patin, A., Onur, O. A., Cohen, M. X., Baumgartner, T., Metzler, S., ... & Kendrick, K. M. (2010). Oxytocin enhances amygdala-dependent, socially reinforced learning and emotional empathy in humans. Journal of Neuroscience, 30(14), 4999-5007.
20. Tarr, B., Launay, J., & Dunbar, R. I. (2016). Silent disco: dancing in synchrony leads to elevated pain thresholds and social closeness. Evolution and Human Behavior, 37(5), 343-349.
21. Pearce, E., Launay, J., MacCarron, P., Dunbar, R. I., & Rotkirch, A. (2016). Singing together or apart: The effect of competitive and cooperative singing on social bonding within and between sub-groups of a university Fraternity. Psychology of Music, 44(6), 1255-1273.
22. Koelsch, S. (2013). From social contact to social bonding: investigating the relationship between interpersonal synchrony and social bonding. Social and Personality Psychology Compass, 7(8), 589-606.
23. Kreutz, G. (2014). Does singing facilitate social bonding? Music and Medicine, 6(2), 51-60.
24. Anshel, A., & Kipper, D. (2018). Conflict resolution through music: A model for music therapy interventions. Nordic Journal of Music Therapy, 27(3), 233-250.
25. MacDonald, R. A., Kreutz, G., & Mitchell, L. (Eds.). (2019). Music, health, and wellbeing. Oxford University Press.
26. Mithen, S. (2005). The singing Neanderthals: The origins of music, language, mind, and body. Harvard University Press.
27. Thoma, M. V., La Marca, R., Brönnimann, R., Finkel, L., Ehlert, U., & Nater, U. M. (2013). The effect of music on the human stress response. PLoS ONE, 8(8), e70156.
28. Clift, S., & Hancox, G. (2010). The perceived benefits of singing: Findings from preliminary surveys of a university college choral society. Journal of the Royal Society for the Promotion of Health, 130(2), 73-78.

Origin, History and Development of Tabla – A Study

Dr. Nikhil Bhagat*

Abstract

In India we find many types of Percussion instruments which are played with folk and classical music. Wide range of variety is found in these instruments with ranging from one faced instruments to multi -faced instruments like Panchmukhi Vadya, Tripushkar etc. looking back into our history we find a great tradition of percussion instruments depicted in many caves and temples from ancient times. According to some experts the today's Tabla is the advanced version of ancient percussion instruments like Tripushrar's Urdhwak and Alingyak, Sambal from Maharashtra and Dukkad. While some scholars claim that Tabla has come from abroad. According to him it is a foreign percussion instrument belonging to Arabian, Sumerian, Mesopotamian or Persian culture. In ancient times, instruments like 'Tabla' and 'Nakkara' were used in Arabia to encourage soldiers in battle. It was played with wood on the back of a horse or camel, which was called "Tabljang". Even today in Arab countries "Tabljang" is a famous instrument, which is played with wood tied around the waist or on the back of a camel. Some people have the belief that Tabla is made from this "Tablaganj". But according to some authors and scholars Tabla is pure an Indian instrument and is deeply rooted with Indian tradition. This paper aims to study the fact related to Tabla's origin.

Key words: *Tabla, Origin, History, Percussion, Drums*

Methodology : *As this research work deals with the origin of Tabla and its development the data required for this particular work was collected from various sources such as Books, journals and some senior artists were interviewed. The research work of Aban Mistry, Umesh Moghe, Yogmaya Shukla, Suresh Talwalkar etc. and some online sources was major source of data collection.*

Introduction:

It is said that instruments are as old as man's existence on this planet. Prehistoric man used his hands, stones etc to produce various sounds and experience rhythm. Prehistoric instruments were '*Laya-vadya*' Tempo instruments and as per his understanding he developed these instruments from sculls, bones, stones and pumpkin etc.[1]

Examples of some earlier rhythmic instruments:-

1. Rattle: - A metal ball or piece put in a hollow body to produce sound. Today's 'Maraccas' is the example of Rattle.
2. Scrapers: - The sound produced by friction caused between two objects is known as Scraper.
3. Clappers: - Sound produced from Jaw bones of slain animals is known as clappers.
4. Stampers: - Sound produced from the instrument using the feet or stamping the feet.
5. Slit Drums: - These instruments were made by carving the wooden body of the trees. There were various sizes of these instruments.
6. Dhol: - This instrument is made by using animal skins applied on hollow portion of the object. The skins of serpents, lizard or

*Assistant Professor of Tabla, Department of Music & Dramatics, Shivaji University, Kolhapur (Maharashtra)

even fish were used. In course of time, these were replaced by skins of deer, ship or cattle. This is considered as one of the most significant developments in the percussion instrument category. Man employed his hands or sticks to produce various sounds from these instruments.[2]

According to eminent writer Yogmaya Shukla, the percussion instruments can be classified as per the number of '*Mukh'* Face of the instrument.

1. Single faced percussion (*Avanaddha Vadya*) instruments (*Ekmukhi Vadya*): - These instruments are single faced instruments where its single side is covered with animal skin. Example: - Tasha, Dundhubi, Khanjeri, Chang, Dhama, *Dukkad* and Tabla.
2. Two faced percussion Instruments (*Dwimukhi*): - These instruments are two faced where both the faces are covered with animal skin to single body of the instrument.

   Example: - Mridang, Khol, Pakhavaj, Dholak, Damru etc.
3. Multi faced percussion instruments (*Bahumukhi*): - The percussion which has three or more faces with skin application on sides of a single body of instruments is known as multi faced percussion instruments.

   Example: -Trimukhi Vadya,Panchmukhi Vadya, Tripushkar etc.

3.2. Coat Application on Percussion Instrument:

The application of coat is given on some of the percussion instruments from ancient times. This coat is made up of wet clay from the banks of river or lake, paste made from dough or a special mixture of black substances with oil. The tradition of pasting a coat of these types is a peculiar feature of Indian percussion instruments which is not found elsewhere in the world. Percussion instruments can be categorized into two parts i.e.

1. Coated percussion instruments
2. Uncoated percussion instruments

Instruments like Chang, Tasha, Duff, Khanjeri Damru etc are not given the coat and instruments like Naggara, *Dukkad*, Dholak, are given coat on single side of the body surface of instrument. Instruments like Mridingam, Khol, Pakhavaj and Tabla are given coat on both the sides of the body.

According to the substance used for coating on percussion instruments the Indian percussion instruments can be differentiated into three categories.

I. Instruments applied with mud coat: - It is mentioned in 'Bharat Natyashastra' about the characteristics of the clay/ loam soil used for coating on percussion instruments. Also in 'Tripushkar' only on two parts i.e. '*Alingyak*' and '*Urdhvak*' the clay coat is applied. Even today in some tribal communities such of coating is found on the percussion instruments used by them.[3]

II. The instruments applied with coat of wheat or barley dough: - Though the application of mixed coat of wheat and barley is not considered as superior according to the theory. Even then in recent times the application of wheat dough paste is prevalent in Pakhavaj and Dhama (made up of wood) which created a satisfied sound during playing.[4]

III. The instruments applied with Coat of '*Syahi'*: - The coat made from mixture of wood ash, rice water (*Mand*) and jaggary is applied to some percussion instruments found in thirteenth centaury. After some time the experiment of putting burnt iron

powder in the above mixture is prevalent even today and due to its black color, the mixture is called '*Syahi*'. Due to this permanent *Syahi* it was more convenient to play the percussion instrument uninterruptedly as there was no need to change the *Syahi* like the coat of clay or dough paste.

In some of the percussion instruments the experiment of wet and soft *Syahi* is used while in some of the percussion instruments the dry and hard *Syahi* is applied. Wet and soft *Syahi* is applied on the inner surface of the *Pudi*. In Nagara, Dholak, Dholki etc. the wet and soft *Syahi* is applied on the inner surface of the *Pudi*. Whereas dry and hard powder form of *Syahi* is applied on the outer surface of some percussion instruments like Pakhavaj, Khol, Mridangam and Tabla.[5]

Origin of Tabla

A lot has been written and said about the invention, History and development of Tabla. The researcher wants to discuss the different views given by studied writers like Aban Mistri, Yogmaya Shukla, Arvind Mulgaonkar, Vijay Shankar Mishra , Umesh Moghe etc.

According to noted writer Aban Mistri in her book 'Tabla *aur Pakhavaj ke Gharane aivem Paramparaye'* mentions that the Instrument which we address today as Tabla-*Bayan*n, we do not get its exact picture form in history until before the seventeenth century. However, this should not lead to the conclusion that no percussion instrument called Tabla was in existence before this. Some of such in different parts of the country, in the sculptures and frescoes percussion instruments are found which are very similar to the modern Tabla-*Bayan*n pair. Since time immemorial, many instruments have been related to the culture of and artistic aspects of our common life. In the sculptures of caves and temples like Bhubaneswar, Konark, Amaravati, Badami, etc. we find pictures of many such percussion instruments, whose form is similar to the pair of Tabla of today. These caves date from about BC 200 to the 6th century AD. These idols and crafts are symbols of the life of the people of that time. The artist describes his era through his art. There is a folk rhythm instrument of Maharashtra. It is called *'Sambal'*. It has many similarities with the Tabla. Its use has been going on for centuries in folk music. *'Dardar'* is an ancient classical instrument. Bharat has discussed this in 'Natya Shastra'. Apart from this, '*Nakkara*' is also an instrument, which is similar to the pair of Tabla. From the 14th century in North India *Khayal* singing-style was launched. This era is also of special importance for the Tabla. It is said that necessity is the mother of invention. Pakhavaj instrument was not suitable for singing styles like the erotic and melodious *Khayal* and *Thumri*. Hence, the need for any other instrument was felt and this necessity became the mother of the birth and development Tabla.[6]

The origin of the Tabla is indeed a topic of debate and mystery among scholars and musicians. There are various theories and legends surrounding its invention, but it's challenging to pinpoint a single inventor or origin. The Tabla has a rich history that is intertwined with the evolution of Indian music.

1. **Evolution from Sambal**: One theory suggests that the Tabla evolved from an instrument called the "Sambal," which is still used in folk music in Maharashtra. The structure of the Sambal is similar to the left Tabla, so some believe that today's Tabla is a refined form of the Sambal.

2. **Influence from Dukkad**: Another theory traces the origin of the Tabla to the "Dukkad" instrument from the Punjab province. The term "Dukkad" means two, and the

instrument is divided into two parts, resembling the Tabla's structure. Hence, some suggest that the Tabla is a refined version of the two-part Dukkad.

3. Evolution from Urdhvaka and Aalangya: Some scholars connect the Tabla's origin to the concepts of Urdhvaka and Aalangya, which are described in Bharata's "Natya Shastra." Tripushkar, a percussion instrument mentioned in the Natya Shastra, had three parts, including Ankika, Urdhvaka, and Aalangya. Over time, the Tripushkar evolved, and the upper and lower parts were removed, leaving only the numeric part. According to this view, the two parts of the Bharata-era Mridang, played standing, may have evolved into an independent percussion instrument, the Tabla Jodi, during the Yavana period.[7]

It's important to note that these theories are based on historical texts, folklore, and conjecture. The exact origins of the Tabla remain uncertain, and it is likely that the instrument developed over centuries through a process of cultural exchange and evolution.

The Tabla is now an integral part of Indian classical music and has gained recognition and popularity worldwide. Its intricate rhythms and unique sound make it a cherished instrument in the world of music.

"Many writers are of the opinion that when Khabbey Hussain Dholakia was defeated by the famous Mridang-player Shri Kudau Singhji (Kudau Sing) in playing, Kudau Singh cut his fingers with the sword. On this, Khabbey Hussain practiced with the left hand of the right and created a lot of softness (sweetness) in the *Bols*, which pleased Kudau Singh. After that it was Khabbe Hussain who cut the Mridang and made it Tabla. All such things are not only unproven but also seem inconsistent which is nothing but personal logic and fictional stories. In the view of the researcher, no intelligent person would believe such irrational things.[8]

Some scholars have considered the Tabla to has come from abroad. According to him it is a foreign percussion instrument belonging to Arabian, Sumerian, Mesopotamian or Persian culture.

In ancient times, instruments like 'Tabla' and '*Nakkara*'were used in Arabia to encourage soldiers in battle. It was played with wood on the back of a horse or camel, which was called "*Tabljang*". Even today in Arab countries "*Tabljang*" is a famous instrument, which is played with wood tied around the waist or on the back of a camel. Some people have the belief that Tabla is made from this "*Tablaganj*". Therefore, the Tabla is a foreign instrument and has come to India with the *Yavanas*. But an instrument similar to *'Tabljung'* is still found in Rajasthan. It is said that it was also played at the time of war. Therefore, *'Tablajang*' may be a foreign instrument, but with our present-day Tabla it has no relation.[9]

According to the research of Gaurang Bhavsaar, a sculpture is found in Idar (Gujarat) where an instrument like Tabla is tied on the waist of the player and the player is in the standing and dancing position where Ghungru like thing is seen in its legs. The sculpture is from 12th century.[10]

According to Suresh Talwalkar's perspective the origin of the Tabla is based on the presence of a unique feature in Indian percussion instruments – the application of Syahi (a black spot or coating) on the drum head. He argues that this distinctive characteristic of the Tabla, which is not found in other cultures or countries, suggests that the instrument's origin is rooted in India.

He also dismisses the idea of linking the Tabla to Middle Eastern countries or cultures like Iran and Persia because he believes that

there are no instruments in those regions that resemble the Tabla closely enough to justify such a connection. He mentions that while there may be instruments with names resembling "Tabla" in those regions, they lack the essential feature of Syahi coating.

Furthermore, Suresh Talwalkar emphasizes the musicality and unique capabilities of the Tabla and Mridang, particularly their ability to produce melodies that mimic the Tanpura's drone notes. He argues that no other percussion instruments in the world can replicate this effect as effectively as the Tabla and Mridang. This, according to him, reinforces the idea that the Tabla is deeply rooted in Indian culture and cannot be attributed to foreign origins. His viewpoint is that the Tabla's distinctive feature of Syahi coating, its musical capabilities, and its historical absence in other cultures make it a uniquely Indian instrument, and claims suggesting otherwise are unfounded. He believes that the Tabla is a product of Indian culture and heritage, and its development and mastery are contributions to Indian music.[11]

According to Umesh Moghe the same story of conversion in the history of the Tabla instrument resonates as well. In Tabla, *laya-taal*, *tali-khali*, *syahi*, *Pudi*, these addresses are from Indian culture. Trital (Tintal), Jhaptal, Rupak, Ektal, Deepchandi, Jhumra, Dadra etc. are also from Hindu culture. But during the era of *'Mirasi'* who became *'mahindar'* in the courts of Mughal rulers in Delhi, Qaida, Peshkar, Raun, Gira, these addresses are Urdu or Persian. Khalifa ustad Inam Khan Sahab, always used to mention *mukh* and *amad* in the Kayda. In it *'Mukh'* is Indian and *'Amad'* is a Persian word.

Numan, in conversation with Saadak Khan, Hakim Khan and Hakam Khan, enumerated the six coarse ragas of these artists, Bhairav (Bhairava), Hindol, Malhar, Kanda, Deepak and Sarang. Bhairav's Bihag, Bibhas, Sub, Maru, Puriya Raginis and Sarang's Malhari, Sorath, Khambati, Bilawal, Mand raginis have been mentioned. All the names of these ragas are Indian. In the tradition of singers, *Kharaj, Rishabh, Gandhara, Madhyam, Pancham, Dhaivat, Nishad* are the Indian words. *Mandra-Madhya-Tara* is an Indian octave. Big and small *Khayal*s are also in *Braj* or Hindi language. Salamat Nazakat Ali Khan Sahab, famous singer of Pakistan, used to call his Gharana as *'Shamchaurasi'* Gharana.

The stories and history of these conversions is, in themselves, a vast subject.

In the origin and history of Tabla, the *Mirasi* of the *Dharis* is so important, that if we ignore this truth, then the true history of Tabla can never come to the fore. In describing themselves as *'dhari'* to these *Mirasis*, it was to be inferior. They started calling themselves *Mirasi*. From this social address, they distanced themselves. When the name *Dhari* was left, then how to tell the relation to the *Dhar* instrument? This was the situation, and those who should have proudly told the history of the *'Dhar'* instrument, they started singing the songs of *Tabl*. This is where the history of Tabla ended. The story of the instrument remained unspoken in the sculptures. The history of the instrument was not asked, the history of the instrument was not heard. Based on the history and facts so far, this is to be said that 'Tabla Instrument' has nothing to do with Middle-East, Persian culture. Camel leather *Pudi*, never heard. Using the leather of the cow and goat on the instruments which were not found in the desert. *Sisam*, *Khair, Babul, Beej* etc. trees also do not grow in the desert to make musical instruments, nor was there any strong singing tradition, in whose accompaniment a musical instrument emerges. That is, *'Dhar'* is the former form of *Tabl*. This instrument used to be played under the name *'Dhar'*, whose name was changed to the same instrument, *'Tabl'*. The alien invaders have

changed the names of many cities-villages-societies. *Dhari* society started calling itself *Mirasi* and this is the history. The *'Dhar'* instrument became *'Tabl'* in the same period, it is also a part of the same history.[12]

Conclusion

After studying the above mentioned facts and figures about the origin and history of the most popular instrument Tabla we can come to a conclusion that today's Tabla is the modified version of *Tripushkar* instrument mentioned in ancient history. Instruments similar to Tabla are found in sculptures and paintings in temples and caves from 5th century to 12th century. But Tabla is still considered as the youngest instrument in Indian Music and its history is considered merely 400 years old. Also it is claimed by some authors that Tabla is arrived from Mesopotamian, Syrian and Arabian cultures to India with the help of Mughals. But after studying the research work done by Yogmaya Shukla and Umesh Moghe and Gaurang Bhavsar we find that Tabla is pure Indian instrument as it is the modified version of the ancient Tripushkar instrument. We also find that the style of applying coat on any percussion instrument was only found in India from ancient time and is still prevalent today. Hence there is no logic in giving credit to cultures of other countries merely having some percussion instruments named *Tabl.*

References :

1. Mulgaonkar, Arvind, (2004), 'Tabla', Marathi, Popular Prakashan, Mumbai, Second edition, 2004. Pp.7,8
2. Naimpalli Sadanand, (2007), "Theory and Practice of Tabla" English, Popular Prakashan, Mumbai, First edition. Pp.5
3. Shukla, Yogmaya, (1987), "Tabley ka Udgam, Vikas Aur Vadan shailiya", Hindi, Delhi Vishwavidyalaya, Delhi, First edition. Pp.42.
4. Ibid. Pp.43
5. Ibid. Pp.44
6. Mistri, Aban, (2000), "Tabla aur Pakhavaj ke gharane evam Paramparaye", Hindi, Swar Sadhana samiti, Mumbai, second edition. Pp. 109,110.
7. Shukla, Yogmaya, (1987), "Tabley ka Udgam, Vikas Aur Vadan shailiya", Hindi, Delhi Vishwavidyalaya, Delhi, First edition. pp. 89.
8. Sharma, Bhagvat Sharan, (2019), "Taal Prakash",Hindi, Sangeet Kayralaya, Hathras, Sixteenth edition, pp.04 .
9. Mistri, Aban, (2000), "Tabla aur Pakhavaj ke gharane evam Paramparaye", Hindi, Swar Sadhana samiti, Mumbai, second edition, pp. 117.
10. Moghe, Umesh, (2019), "Dehli Ka Tabla", Hindi, Umesh Moghe, Pune, First edition,pp. 25-26.
11. Talwalkar, Suresh, (2014), "Avartan", Marathi, Rajhans Prakashan, Pune, First edition, pp. 84-85.
12. Moghe, Umesh, (2019), "Dehli Ka Tabla", Hindi, Umesh Moghe, Pune, First edition, pp. 50-51.

A brief study of Indian Theatre evolution -Architecture and Style

Dr. Jyoti Singh*

Abstract

Indian theatre and their Architecture is very profound and artistic. We can get various theatres in various states, some of them having regional architectural influence. The textual sources for theatre architecture (Vastukala) Sanskrit Plays, Inscriptions, extant auditoriums and dance halls in temples and Palaces-Some well preserved a few in ruins. Although theatre possibly goes beyond the sixth century BC, as we learn from the written evidence. The oldest existing performance space is the Sitabenga cave, perhaps from the third century B.C.

Keywords : *Music, Theatre, Auditorium, Drama, Temple , Architecture*

Methodology : *The study is supported by secondary sources.*

Since the earliest civilization drama and music has been an integral part of human lives. Music and other art forms have been used throughout the ages as a supplementary form of communication, a way to restore the mind, as well as pure entertainment value. Because music has become such an important element of society, there is no surprise to say that humans have been working for millions of years to create environments more conducive to dramatic and musical performances. If we find out the ancient evidences of theatres we see the people used to perform for their own enjoyment in an open area, but whenever he may used to face rain or storm he may need a shelter of caves or any other roofed place, where he or his group could be comfortable and enjoy the performances. Most probably this can be the first concept of theatre.

The Naatyasastra of Bharata Muni, the earliest text mentioning theatre architecture, gives detailed descriptions of three types of auditoriums-Vikrishtha (rectangular), Chaturasra (Square) and Tryasra (Triangular)-each having three sizes : Jyestha (Large), Madhyama (Medium) and Kanisya (Small). Bharata considered the Vikrisht Madhyama (Rectangular Medium sized) theatre the best, me 64 hastas (cubits) by 32 hastas, neither too large nor too small. It had good acoustics and sight lines, with excellent actor-spectator relationship, vital in Sanskrit theatre. Its length was halved into two parts of 32 hastas (cubits) square, the Ranga Mandapa (Stage-Pavilion) and Prekshaka-Nivesana (Audience Accommodation). The Ranga Mandapa was again divided into two halves, Ranga (stage) and Nepathya (Behind the Scenes/stage), each 16 hastas by 32 hastas. The Ranga was further separated into front and back portions, each 8 by 32 hastas. The front consisted of the Rangpitha (Literally 'Stage seat' 8 by 16 hasatas the Central Acting area facing the Audience), and two subsidiary acting areas on either side called Mattavaranis (each eight hastas square and demarcated by four pillars and their corners). Behind was the Rangshirsh (stage top), with the Kutapa Vedika (Orchestra Platform) occupying eight hastas square in the centre.

*Tagore National Scholar, Indira Gandhi Rashtriya Kala Kendra, Varanasi

Vikrisht Chaturaschaiv Tumandapah
Teshani Trini Pramanani Jyestham Madhyam Taathaavram. - Natyashastra- 2/8
Pramanmesham Nirdistham Hastadanda Samashrayam
Shatam Chashtau Chatuhshshtirhasta Dwatrishdeva Cha. - Natyashastra- 2/9

Measurement of Bharata Natyashastra Theatre

Type	Measure	Jyestha (Large)	Madhyama (Medium)	Kanishtha/Awar (Small)
Vikrishtha (Rectangulare)	Cubit (Hast)	108 x 64	64 x 32	32 x 16
Chatusra (Square)	Cubit (Hast)	108 x 108	64 x 64	32 x 32
Tryasra (Triangular)	Cubit (Hast)	108 x 108 x 108	64 x 64 x 64	32 x 32 x 32

After introducing Natyasastra which is the origin of dramatic art and its description begins with the play house. It means one auditorium/play house or a dance hall is important for drama, dance and musical performance. It is the most pertinent inquiry in the context of play production. Whatever might have been their earliest forms, it is certain that the twins-theatre and drama must have been born together. Dance is considered as the earliest form of dramatic art. In India earliest known dance scenes are seen adorning the interior of mesolithic cave. Shelters at Bimbetka in the Madhya Pradesh. Musical Instruments like stringed instruments are seen painted in prehistoric caves in the country. However these paintings did not indicate any structure which may be called as primitive playhouse or theatre.

The Rigveda in its tenth Mandala alludes to the thickening cloud of dust that arises from dancers feet (X.72). It seems, encircled by the admiring audiences, the Vedic nrutus or dancers performed on the plain ground available under the blue canopy of sky. We also find a reference to an open air dance performance in the prithvi sukta of Atharva Veda. The hymn says : This is the earth, on when with clamour clouds, men that are mortal sing and dance.

For the early human habitants dance, ritualistic or otherwise, was a community affair as the ritual developed and became complex, the community got divided into two distinct groups. Performers of ritual and group witnessing it. Same might have happened after the evaluation of dance into some kind of skilled performance. The arena marked for performing dance, ritualistic or otherwise and the place round for spectators were the early phase in the evolution of stage and auditorium which basically comprised the theatre hall.

On the evidence of early Buddhist literature, particularly Jataka Tales. (C.600 BC). We can trace the evolution still further. In many of these tales the description of Samajja, dramatic festivity full of dance, music and dramatic performance were held in the Ranga (theatre). In many Jataka tales including Vidurapan ita Jataka. Guttil Jataka we come across the expression, Chakkatichakke manchatimanche-bandhimsu.

It means building seats circle upon circle tier-above tier around the performing arena called Samajja Mandala. This kind of seating arrangement is described by Bharata as Sopanakriti Pithakam (Means seats like stairs) : 2.90'. Probably early Greek theatres were of the similar type. Frank M. whiting in his work "An Introduction to Theatre." writes : About 499 B.C. The Athenians suffered a minor disaster when some wooden stands collapsed during a

theatrical performance. This has led some scholars to conclude that early greek performances might have been given on level ground.

There are some evidences of cave theatres also in India, One such cave has been described in details by T. Bloch in his article caves and inscriptions in Ramgarh Hills Published in the Archaeological Survey of India Report-1903-4. In pursuit of tracing the evolution of Indian Theatre Archaeological finds may help us to form some ideas. In this context a fragment of a running frieze depicting a dance scene, recovered from the Kankali Tila and Mathura and now housed in the Lucknow Museum (No. : J354) gives us a clue to understand yet another type of theatrical structure prevalent around second century B.C. some scholars contend that this frieze depicts the festivity at the nativity of lord Mahavira while some think that here Apsara-Nilanjana is shown dancing before the first Jain Tirthankara, Lord Rishabhadeva. The Jain Adipurana records the myth of Nilanjana and Rishabhdeva. However this piece of sculpture interest us most not because it depicts Ranga Mandapa (Theatre Hall) and audience watching the dance performance in a particular formation.

This significant find from Mathura speaks a lot about a type of theatre structure prevalent at the time. Along with the sophisticated theatre halls described by Bharata Muni, simple hut-like semi-open air theatre structures were also in vogue. Equally important is the Rani Gumpha (cave) panel depicting near similar Ranga Mandapa (Theatre).

The twin hills, Udaygiri and Khandagiri in Bhuvaneshwar in Orissa contain a series of fascinating Jain caves of great antiquity. One of the caves in Udaygiri which is popularly known as Hathi Gumpha bears the famous inscription of Emperor Kharavela. Dr. K.C. Panigrahi is of the opinion that the execution of the important caves in the hills spread over the period of about 1000 B.C. to 75 B.C.

Carved in relief between the doors of the cell opening in the bottom story corridor of the Rani Gumpha is the dance scene. It is an all female, dramatic spectacle termed by Kautilya as Stree-Preksha in his text Arthashastra. The Musical Orchestra is accommodated to the left imposing dancing figure. Two girls sitting close to the dancer are playing on the drum while the next two are busy with the lyre and lute respectively. Khara-Vela's Hathi Gumpha cave inscription speaks about the celebration of Samajja, a dramatic festival, during his reign. According to scholars Rani Gumpha was the Venue of festivity full of dance, drama and music. The Rani Gumpha dancing scene is considered as one of the oldest sculptures by Indian artists.

What concerns us most in the pavilion under which she is shown performing. It is obviously a rectangular structure with a roof supported by four pillars, out of which two front ones are clearly visible. They have simple, straight, round shafts. A portion of the upper end of the pillar to the left of the dancing figure resembles much the lotiform bell-capital or invered lotus of the Ashokan Pillar without its downward flowing linear design. The motif might have been copied from the Ashokan Pillar at Bhuvaneshwar which was later converted into colossal lingam now seen in the Bhaskareswara Temple. Above it grows a cup-shaped plinth, wider at the top, to lend proper support to the roof. The design of the other pillar top is somewhat different. A square plinth is seen above two thick ring-like designs. Except at the top the pillars are devoid of any other embellishments.

The roof of mandapa is adorned with a series of small towers which, according to Dr.

Fabri, looks well. The whole structure is quite simple, without much ornamentation and archaic in execution. This is the most basic and primary structure in which any primitive theatre architect could conceive four pillars and roof above. A near similar Ranga Mandapa is painted on the walls of cave No. one.

One need at once jump to the conclusion that around 2nd Century B.C. the Indian theatre was a four pillared structure with a roof, open on all sides except probably at the back. These are spectacles or dance and music performances. These two are the earliest sculptural evidence available to us explaining the architecture of the free standing dancing hall or Ranga.

It seems that Bharat brought different architectural elements of different types of Ranga Mandpas together to develop his own improved, sophisticated model. He provided his auditorium with seats tier above tier. He adopted the Ranga (Stage) and Nepathya (tiring room) unit and together gave it a new look. He even suggests that a theatre should look like a cave (Shailguhakar). Probably he was aware of the cave theatres and hill top dramatic festivities.

The Tamil epic Silappadikaram written in the early centuries of the Christian era is a story of a dancer. Naturally the work gives us very valuable data about the contemporary theatrical arts and also speaks elaborately about the play house-of the time. In the third can to it says :

The site for erecting the stage was chosen in accordance with well established tradition, having regard to the nature of the soil. (See the Natyasastra II. 24-26) For the purpose of the measurements of the stage, the Kol which was a piece of bamboo growing in the second high hills, with the length of span between every two of its joints, and with twenty-four thumb breadth, was the standard. The stage was eight kol in length, seven kol in breadth and one kol in height. It has two appropriate doors. The plank platform placed over it was four kols in width. Over the stage were placed painted pictures of the Butam (God), for praise and worship. The graceful lamp illuminating the stage was so placed that the pillars did not cast shadows. The single seen and the screen about the two pillars to the right of the stage, beside the overhanging curtain, were well manipulated by ropes. Added to these was the canopy painted with many beautiful pictures, from which were hanging loosely garlands of pearl and others. Such was the novel and attractive appearances which the stage presented.

The work also mentions some stage conventions. It says first instrument player occupy their seats. Then the chief dancing girl placed her right foot forward and stepped in and stayed by the side of the pillar on the right. Her companions stand near the pillar on the left. As the Jarjara flag-staff of indra was worshipped on the stage of Bharata, here a Talaikol or staff representing Indra's son Jayanta is shown worshipped on the stage.

With the emergence of temple institutions as a centre of sociocultural activities and also due to the concept that the gods are pleased most by the offering of theatrical performance than any other mode of worship a chamber was added to temple structure which is called Nata Mandir or Nava Rang. The Navarang of Channakeshveshvara temple at Belur is remarkable. It has a circular dancing arena just in front of Garbha Griha. Leaving some space Sopanakriti seating arrangement is made, tier above tier. Nata Mandiras of temples at Puri, Bhuvaneshwara, Konark are worth mentioning. However the most magnificent temple theatres are located in the temple premises in Kerala. They are known as Koothambalams. These are regular theatres mostly following Bharata's Natyashastra in architectural details. The Krishna temples in

Manipur are also equipped with Nata mandiras where Rasa plays and dances are enacted on different occasions. We find several inscriptions, literary passages mentioning grants made to the temples for covering expenditure incurred on presenting theatrical performances on festive occasions. Temples maintained fleet of Devdasis or dancing girls. It was their duty to present plays, sing songs and dance. In the spacious monasteries Namghars - of Assam plays based on religious themes are enacted.

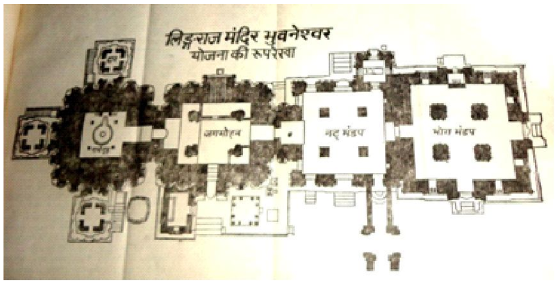

A Land Drawing of Orrissa Temple including Theatre

The Vraj region of Northern India is famous for Krishna cult and dramatic activities since ancient times. Mathura, Vrindavan, Nandagaon, Barasana are known centres of the resurgence of Krishna theatre in the 16th Century. This region has developed a typical structure known as Rasa Mandala theatre. In the Brahmvaivarta purana we find beautiful description of Rasa Mandala theatre in which Krishna dances Rasa with cowherd girls fair as Champalea flowers. The Rasa Mandala of Vraja region is fashionied more or less on the same linjes. Essentially it is a simple raised circular dias with or without a throne in it. More improved variety has a roof above it supported by pillars huf open all sides. Such Rasa theatres usually have a small make-up room or Mepathya just behind the throne. Rasa Mandala of Hita harivanisha Ji at vrindavan and Barai Rasa Mandal of Gwalior (Concept of Raja Man Singh) of this variety.

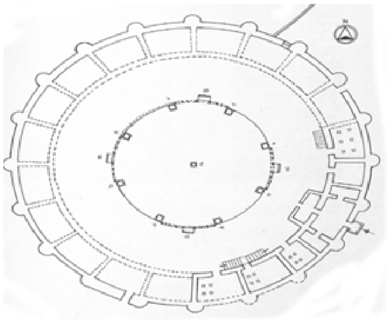

A ground plan of Barai Village Rasmandal in Gwalior

There are several references in literature indicating the existence of some kind of theatre hall or music room or dancing room attached to the king's palace. Great Sanskrit poet Kalidas in his play frequently refers to Sangitshala (Music Hall) in the king's palace. Portuguese Chronicler Domingo's paes who visited the magnificent Kingdom of Vijayanagar Empire in the 16th Century has left for us a very vivid account of kings' dancing halls. It also gives us an idea how the dancers were trained to perform in court.

Among the still extant theatrical monuments is one located at Sibasara in Assam. This stadium was built during the reign of Ahom Kind Parmata Singh (1744-51) and is known as Ranga-Ghar. The king used to see animal fights, sports and games, Bihu dances from these buildings.

As we have seen and talked about different kinds of theatres and their origins, in this context we can say without hesitating that India is having many states and many cultural environments, which creates cultural diversity in theatrical performances and theatre architecture. There is a rich historical background of Indian theatre architecture, since prehistoric period to present time, we must get among those theatres two kind of divisions, one is the theatre for offering music to god or religious purposes, that is not for entertaining for example-temples, Koothambalams and

Namghars etc. Second is for entertainment which is court theatre, modern auditoriums etc. Among the modern theatres in India, early days sometimes there are only ordinary halls used to use, but later days proscenium theatre's impact can be seen very prominently everywhere in Indian theatre architecture.

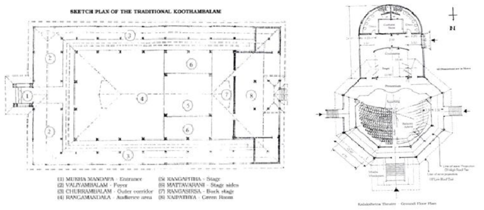

The Plate 1 is Ground Plan of Traditional Temple Theatre Kuttamabalam, Plate 2 is Ground plan of Modern Kuttambalam

This was the brief introduction of evolution of Indian Theatre architecture and style related to various type of musical performances, which is having a rich tradition of architecture in various regional areas, each and every theatre architectural style is depending on their period and cultural environment. The modern theatre of India has been also influenced by Indian traditional theatre architecture, for example the Bharat Kalakshetra theatre and the Kalamandalam, Kerala auditorium is completely influenced by Kutthambalam theatre of Kerala temple theatre. These are the contemporary theatres which is very popular in preservation of Indian culture and heritage

Bibliography :

Rastogi, Dr. Rekha - Prachin Bharat mein Prekshagriha, Prakashan Vibhag Soochna Evam Prasaran Mantrlaya, Govt. of India, 1990.

Sharma, H.V. - Rang Sthapatya, National School of Drama, New Delhi, 2004.

Cheni, Sheldan - The Theatre (Rangmanch), Uttar Pradesh Hindi Sansthan, 2009.

Dwivedi, Dr. Parasnath - Natyashastra, Sampoornanand Sanskrit University, 1992.

Shashtri, Dr. Madhusudan - Natyashastra, Publication Department, Banaras Hindu University.

Upadhyay, Dr. Vasudev - Prachin Stup Guha Evam Mandir, Bihar Hindi Grantha Akademi, 2003.

Daate, Mrs. Roshan - Kathak Adikathak, Granthali Indian Education Society, 2010.

Dikshit Surendranath - Bharat aur Bhartiya Natyakala, Rajkamal Publication, 1970.

Egan, M. David - Architectural Acoustics, J. Ross Publishing, New Delhi, First Edition, 2007

Sarkar, H. - Monuments of Kerala, Archeological Survey of India, New Delhi 1973

Patil, D.R. - Mandu, Archaeological Survey of India, Third Edition, 2004

Sharma, H.V. - Catursra Madhyama Natyamandapa National School of Drama, New Delhi, First Edition, 2004

Ramani, R.V. - Bharat Kalakshetra Theatre Kalakshetra Foundation Chennai, First Edition 2004

Havell, E.B. - The Ancient and Medieval Architecture of India : A Study of Indo-Aryan Civilisation, S. Chand & Company, New Delhi, Second Edition, 1972.

Deva, B. Chaitanya - The Music of India - A Scientific Study. Munshiram Manohar Lal Publisher New Delhi-Second Edition-2011.

Deva, B. Chaitanya - Psychoacoustics of Music and Speech, The Music Academy Madras, First Edition, 1967

Vishwanathan, R.K. - The Physics of Music, Annamalai University, Nagar First Edition, 1948

Culver, Charles A. - Musical Acoustics McGraw-Hill Book Co. London, Fourth Edition, 1956

Benade, Arthur H. - Fundamentals of Musical Acoustics, Oxford University Press, London, First Edition 1976

Eargle, John M. - Music Sound and Technology, Van Nostrant Reinhold

Schubert, Hannelore - The Modern Theatre Pall Mall Press, London

Nath, R. - Mughal Sculpture, A.P.H. Publishing Co.

Chakravarty, Kalyani Kumar - Gwalior Fort - Humanities Press

Gazetteer/Research Paper/Websites :

1. The Gazetteer of India History of Culture (Vol. 2) Ministry of Information and Broadcasting Govt. of India.
2. Web Research Paper of Lisa Egnar - Physics 199, Architectural Acoustics.
3. Encyclopedia of Indian Temple Architecture North and South Volume. M.A. Dhakey, Michael W. Meister

and Krishna Deva, Published by - American Institute of Indian Studies; Oxford University Press, Delhi (1988)

5. Kalidas Magzene, First Edition, Kalidas Akademi
6. Article of T. Blakh- Ramgarh Hills, Published by A.S.I.-1903 (Report)
10. www.tagorecentreiccr.org
11, https://architecturez.net
12. www.shanmukhanand.com
13. www.esarahi.com
14. http://theatredesigner.co.in
15. www.ncpamumbai.com
16. www.kutiyattam.in
17. https://musicacademymadras.in

Harmony in Motion: Exploring the Enigmatic World of Mudras in Indian Iconography and Classical Dance

Simer Preet Sokhi*

Abstract

Mudras, symbolic hand gestures, have profound cultural significance in Indian society, permeating Indian iconography and classical dance. This paper explores the origins and multifaceted roles of mudras, dating back to ancient traditions, where they served as potent means of expression and communication. In Indian iconography, mudras represent divine attributes and actions of deities, epitomizing their benevolent roles as protectors or embodiments of specific virtues. Additionally, these gestures find extensive application in spiritual practices such as meditation and yoga, aiding practitioners in achieving mental focus and energy channelling. In Indian classical dance, mudras acquire a new dimension, becoming a powerful language of movement that enables dancers to convey intricate emotions, vivid ideas, and compelling narratives. Combined with facial expressions, body movements, and rhythmic music, these gestures form a mesmerizing tapestry of artistry on the stage.

Despite their ancient origins, mudras are flexible, allowing dancers to adapt and interpret them in diverse artistic contexts, infusing unique expressions and creating diverse emotional shades in their performances. The contrasting usage of mudras in Indian iconography and classical dance is explored, shedding light on their differing purposes, contexts, styles, and complexities. This research seeks to illuminate the enduring relevance and dynamic nature of mudras, contributing to a deeper understanding of their historical, cultural, and artistic dimensions within the rich tapestry of Indian heritage.

Keywords: *Mudra, Iconography, Dance*

Research Methodology: *This study adopts a multidisciplinary research approach, comprising a literature review, iconographic analysis, field research, and comparative analysis. The research aims to explore the origins, significance, and usage of mudras in Indian iconography and Indian classical dance. Through a meticulous review of academic publications and historical sources, the study establishes a cultural context for mudras. Iconographic analysis of sculptures and temple carvings identifies specific mudras representing deities and divine attributes. Field research involves observing dance performances and interacting with dancers to understand the expressive use of mudras on stage. The comparative analysis highlights the similarities and differences in mudra usage between the two art forms, contributing to a comprehensive understanding of their enduring cultural and artistic relevance in India.*

Introduction:

Mudras, symbolic hand gestures, hold a deep-rooted cultural significance in Indian society, permeating both Indian iconography and classical dance. This paper delves into the origins and multifaceted roles of mudras, dating back to ancient traditions, where they served as potent means of expression and communication. Within the realm of Indian iconography, mudras assume a profound role in representing the divine attributes and actions of deities, epitomizing their benevolent roles as protectors or embodiments

*Assistant Professor, World University of Design, Sonepat, Haryana

of specific virtues. Furthermore, these gestures find extensive application in spiritual practices such as meditation and yoga, aiding practitioners in achieving mental focus and energy channelling. In the captivating world of Indian classical dance, mudras acquire a new dimension, becoming a powerful language of movement that enables dancers to convey intricate emotions, vivid ideas, and compelling narratives. Combined with facial expressions, body movements, and rhythmic music, these gestures form a mesmerizing tapestry of artistry on the stage.

Despite their ancient origins, mudras are not rigid; they possess flexibility, allowing dancers to adapt and interpret them in diverse artistic contexts, infusing unique expressions and creating diverse emotional shades in their performances. The contrasting usage of mudras in Indian iconography and classical dance will be explored, shedding light on their differing purposes, contexts, styles, and complexities. Overall, this research seeks to illuminate the enduring relevance and dynamic nature of mudras, contributing to a deeper understanding of their historical, cultural, and artistic dimensions within the rich tapestry of Indian heritage.

Origins and Significance of Mudras in Indian Culture:

The origins of Mudras can indeed be traced back to the ancient Indian texts, such as the Vedas and the Puranas, which hold paramount importance in Indian religious traditions. In these sacred scriptures, several references to hand gestures, known as Mudras, can be found, indicating their early significance in religious rituals and prayers. Mudras were used as a powerful means of symbolizing and communicating the attributes and actions of deities during worship ceremonies. For instance, the Abhaya Mudra, depicting an open palm with fingers extended upwards, symbolizes fearlessness and is often seen on representations of deities like Shiva and Vishnu, emphasizing their role as protectors.

The early association of Mudras with religious practices played a pivotal role in their subsequent development and integration into various aspects of Indian culture. Over time, Mudras began to transcend the realm of religious ceremonies and expanded into other domains, such as dance, theatre, and even healing practices. The integration of Mudras into the performing arts was particularly significant, as it provided a non-verbal means for artists to express emotions, narrate stories, and convey messages to the audience.

In addition to their religious significance, Mudras also acquired a deeper spiritual connotation, with practitioners and yogis incorporating these hand gestures into meditation and spiritual practices. For example, the Chin Mudra, formed by touching the tip of the index finger to the tip of the thumb while extending the other fingers, is widely used in meditation and is believed to enhance concentration and promote inner peace.

The enduring relevance and adaptability of Mudras in various cultural and spiritual contexts are evident through their diverse applications throughout Indian history. Their significance in contemporary Indian society is rooted in the foundational role established by ancient Indian texts, such as the Vedas and the Puranas. For example, according to the Devi Bhagawat Purana, a specific number of mudras must be demonstrated before chanting daily mantras during worship, and some of these mudras are also utilized in classical dance. As an integral part of India's cultural heritage, Mudras hold a cherished and valued position within the country's artistic and spiritual traditions, contributing significantly to the

richness and diversity of its cultural tapestry.

Symbolism in Indian Dance and Iconography:

Mudras, intricate hand gestures of profound symbolic and expressive significance, trace their origins to ancient Indian traditions. These gestures hold paramount importance in both Indian iconography and classical dance, serving as a means of communication, representation, and storytelling. Rooted in religious texts like the Vedas and the Puranas, mudras embody the attributes and actions of deities. In the context of classical dance, mudras are employed to convey emotions, ideas, and narratives, employing a language that combines precise hand movements, facial expressions, body postures, and rhythmic coordination. The artistry of mudras lies in their ability to encapsulate complex meanings, evoking a wide range of emotions, and fostering a profound connection between the performer, the audience, and the cultural heritage they represent.

Mudras manifest in various visual art forms such as static images, sculptures, and temple carvings, embodying the divine qualities and roles of the depicted deities. For instance, the Abhaya mudra, symbolizing fearlessness, is commonly employed by deities like Shiva and Vishnu as protectors, while the Varada mudra, representing giving, conveys benevolence and generosity by deities like Vishnu and Lakshmi.

In Indian iconography, mudras possess a profound symbolic language, facilitating a tangible means for devotees to connect with the divine presence. For example, the Hamsasya mudra, representing the beak of a swan, is utilized by deities such as Saraswati to signify purity and transcendence, whereas the Anjali mudra, a gesture of prayer, is commonly depicted in devotees' offerings of respect to the deities. Beyond mere artistic expression, mudras embody a spiritual and cultural heritage that fosters a transformative experience for worshippers, evoking a sense of reverence, spiritual transcendence, and a heightened connection to the divine realm.

Moreover, in the realm of Indian classical dance, mudras play a prominent and captivating role, enriching the expressive language of this art form. Each mudra carries a distinct meaning and is meticulously employed to convey emotions, ideas, and narratives, allowing dancers to communicate and evoke a wide range of sentiments. These intricate hand gestures act as the visual embodiment of characters, objects, and natural elements, vividly bringing stories to life on stage. For instance, the Mayura mudra, representing the movements and characteristics of a peacock, is skillfully utilized to portray the grace and vibrancy of the bird, while the Simhamukha mudra symbolizes a lion's face, effectively depicting the strength, power, and fierce nature of a lion in dance performances. In addition, mudras in Indian classical dance convey abstract concepts and emotions, such as love, anger, joy, and compassion, adding depth and emotional resonance to the narrative. The execution of mudras demands precision, fluidity, and meticulous attention to detail, with dancers undergoing extensive training to master these gestures and their integration with other dance elements, culminating in mesmerizing and harmonious performances.

Mudras in Indian Classical Dance:

अङ्गिकंभुवनंयस्यवाचिकंसर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यंचन्द्रतारादितंनुमःसात्विकंशिवम् ।।

His body is the earth, His words all that is spoken; His ornaments are the stars and the moon- to such a sattvika Lord Shiva we offer our prayers (Ganapathi, 2002).

The Abhinaya Darpanam by Nandikeshvara provides vivid descriptions of

hand gestures utilized in Classical dance. Abhinaya, which translates to "bringing forth," involves expressive dance to convey emotions, situations, or personalities. Among the four types of abhinaya, Angikaabhinaya holds a significant role in performing arts. Angikaabhinaya refers to the expression conveyed through various body parts, with Hasta Mudras or hand gestures being a fundamental component of this form. These hand gestures, along with eye movements, neck movements, and head movements, are integral to portray stories, evoke emotions, and enhance the aesthetic appeal within Classical dance. The Abhinaya Darpana categorizes hand gestures into two sections: samyukta (gestures performed with both hands) and asamyukta (single-hand gestures). Classical dance extensively employs hand gestures to narrate narratives, convey emotions, and enhance the artistic essence of the performance.

The Sanskrit treatise Natyashastra enumerates 24 Asamyukta Hastas, which pertain to single hand gestures, and 13 Samyukta Hastas, corresponding to double hand gestures. Similarly, the Abhinaya Darpan expounds upon 28 asamyukta Hastas and 24 SamyuktaHastas. These mudras serve as a means to portray diverse themes in both independent and myriad interconnected forms. The precise applications and techniques of their usage are meticulously delineated through Viniyoga verses.

Similar to Indian iconography, the interpretation of mudras in Indian classical dance showcases the adaptability and versatility of these hand gestures. Dancers have the creative freedom to infuse mudras with their own artistic expression, allowing for nuanced storytelling and emotional communication. By adjusting the intensity of finger movements, duration, or transitions, dancers can convey various emotions and moods during a performance. For instance, the Alapadma mudra, traditionally representing a flag, can be interpreted to evoke the imagery of a blooming flower or a beautiful face, conveying a sense of beauty and grace. Through these subtle adaptations, dancers effectively communicate the desired emotional tone, creating a captivating experience for the audience. Countless depictions can be achieved through the utilization of a single mudra or a combination of mudras.

Indian classical dancers frequently adapt mudras to align with the particular character or mood they intend to portray. The artistic interpretation of mudras grants dancers the ability to infuse their performances with their distinct style and creative essence, breathing life into their movements. These adaptations enhance the richness and diversity of the classical dance form, empowering artists to explore the expressive potential inherent in these age-old hand gestures.

Mudras in Indian Iconography:

अभयवरदहस्तःपाशदन्ताक्षमाला ।
शृणिपरशुदधानोमुद्‌गरंमोदकंच ।।

(Lord Ganesha) Holds the Abhaya and Varada gestures also holds implements such as Pasam, his tusk, the rosary, srini, Parasu, hammer and modakam (Ganapathi, 2002).

The sculptural tradition in this region incorporates dance grammar into sculptural representations. Sculptors must possess a comprehensive understanding of dance forms, enabling them to integrate precise rhythms and measurements while infusing their own perception of beauty. The context of the sculptural image necessitates meticulous shaping and curving of the limbs and posture to convey both aesthetic appeal and the essence of the image. This process may involve exaggerating certain natural bodily characteristics for the desired effect. Detailed specifications concerning mudras (hand gestures) and asanas (body postures) hold particular significance

within the sculptural tradition.

In Indian iconography, the adaptation and interpretation of mudras exemplify the artistic flexibility and creativity within this expressive form. Artists can infuse mudras with unique variations, leading to diverse representations. The portrayal of deities and celestial beings allows for modifications to traditional mudras to convey specific attributes and characteristics. This artistic interpretation enriches the mudra, aligning it with the visual representation and narrative of the artwork. Additionally, the interpretation of mudras permits nuanced storytelling and creative expression through subtle variations in hand movements, finger positions, or intensity to convey different emotional nuances within a piece.

The hands naturally perform five basic actions - bending, gathering together, spreading, stretching, and heaping up - to convey intentions. Shilpa texts have established a specific order for the hands, known as hasta lakshanam, unique to sculpture, enhancing the image's expressions. The hands can be described as the language of the 'soul in movement.'

In total, there are 32 mudras, classified into two main groups: thozhilkai and ezhilkai. Thozhilkai includes functional and expressive gestures with specific meanings, while ezhilkai (natyakaram) adds balance and elegance to the overall form without specific meanings. For instance, an abhaya mudra falls under thozhilkai, whereas a beautiful female figure's relaxed, extended hand represents ezhilkai. Thozhilkai mudras can be one-handed or two-handed, with gnana mudra being an example of the first and anjali mudra of the second.

Comparing Mudras- Indian Classical Dance and Iconography:

Mudras, intricate hand gestures, hold significant cultural and expressive value in both Indian iconography and Indian classical dance traditions. While both traditions share a variety of hand positions and similar meanings for mudras, they serve distinct purposes in their respective contexts. In Indian iconography, mudras symbolically represent deities, their attributes, and significant events from their narratives. On the other hand, in classical dance, mudras are used to convey emotions, portray characters, and narrate captivating stories.

The execution of mudras in Indian iconography involves stylized and rigid gestures, adhering closely to established conventions. In contrast, classical dance utilizes more fluid and expressive mudras, allowing dancers to adapt the gestures to their movements and emotional expressions. While both art forms demand precision and accuracy in executing mudras, classical dance often requires a higher level of skill and training for their precise execution, adding a unique artistic touch to performances.

The shared use of mudras in Indian iconography and classical dance underscores their versatility as a rich language of expression within the cultural heritage of India, transcending the boundaries of time and providing a window into the captivating world of artistic expression and spirituality.

Conclusion:

Mudras, symbolic hand gestures, hold deep cultural significance in Indian society, found in both Indian iconography and classical dance. Their origins can be traced back to ancient traditions, where they served as potent means of expression and communication, representing deities' attributes and actions in religious rituals. In Indian iconography, mudras symbolize divine virtues and are employed in meditation and spiritual practices. In Indian classical dance, mudras become a powerful language of movement, enabling dancers to convey

emotions, ideas, and narratives on the stage. Despite their ancient origins, mudras are adaptable and allow for unique artistic expressions in diverse contexts. The contrasting usage of mudras in Indian iconography and classical dance highlights their differing purposes, contexts, styles, and complexities, enriching India's cultural heritage. The enduring relevance and dynamic nature of mudras continue to contribute to India's rich tapestry of artistic and spiritual traditions, fostering a profound connection between performers, worshippers, and audiences. This research illuminates the significant role of mudras in shaping Indian cultural identity and artistic expression throughout history.

References:

Banerjea, J. N. (1941). The development of Hindu iconography. University of Calcutta Carroll, C., & Carroll, R. (2012).Mudras of India: A Comprehensive Guide to the Hand Gestures of Yoga and Indian Dance. Singing Dragon.

Carroll, R. (2013b). Mudras of Indian Dance: 52 Hand Gestures for Artistic Expression. Singing Dragon.

Classical Indian dance in literature and the arts. (2022).

Devi Mah?bhagavatapur??am: Text with English Translation, Illustrations and Index. (2014).

Ganapathi, V. (2002).Indian Sculpture & Iconography: Forms & Measurements.

Gaston, A. (1985). ?iva in dance, myth, and iconography.

Gupta, S. P. (1980). The roots of Indian art: A Detailed Study of the Formative Period of Indian Art and Architecture, Third and Second Centuries B.C., Mauryan and Late Mauryan.

Gupta, S. P., & Asthana, S. (2007). Elements of Indian Art: Including Temple Architecture, Iconography & Iconometry.

Gupte, R. S. (1980). Iconography of the Indians, Buddhists, and Jains.Stosius Incorporated/Advent Books Division.

Harle, J. C. (1986). The art and architecture of the Indian Subcontinent.

Hindi Book Nitya Karm Pooja Prakash(complete)by Gita Press?: Free download, borrow, and streaming?: Internet Archive. (2014, July 11). Internet Archive.https://archive.org/details/Hindi Book Nitya Karm Pooja Prakash Complete by Gita Press/page/n11/mode/2up

Jones, B. T., & Vatsyayan, K. (1975).Classical Indian dance in literature and the arts.Dance Research Journal, 7(2), 31. https://doi.org/10.2307/1477827

Kothari, S. (2003).New directions in Indian Dance.Marg Publications.

Kramrisch, S. (1986).The Art of India: Traditions of Indian Sculpture Painting and Architecture.

Muni, B. (1996).The N??ya??stra of Bharatamuni.South Asia Books.

Nandike?vara, &Vallabh, A. (2013).Abhinaya Darpanam: An Illustrated Translation.

Rao, T. A. G. (1985). Elements of Indian iconography. Motilal Banarsidass Publications

Sivaramamurti, C. (1974). Nataraja in Art, thought, and literature.

The Arts of India from Prehistoric to Modern Times. Rev. & Enl. (1966).

Vatsyayan, K. (2022). Classical Indian Dance: in Literature and the Arts. DK Printworld (P) Ltd.

Venkataraman, L. (2015). Indian Classical Dance: The Renaissance and Beyond.

Venkataraman, L. (2017). Indian Dance: Through a Critic's Eye.

Venkataraman, L., &Pasricha, A. (2002).Indian Classical Dance: Tradition in Transition. Roli Books Private Limited.

The Science of Sound and Recording : A Brief Study

Dr. Renu Gupta*

Abstract

This research topic is a brief study to understand the dynamics of sound energy. The understanding of the 'Science of Sound and Recording' techniques help musicians in the objectives of composing, recording and presentation. It also helps in providing the best acoustic environment to the performer in auditoriums as well as recording studios. Under this study the physics behind the basic concepts of music have been discussed. Also, the history of recording, it's development, techniques along with analog and digital recording have been mentioned. The knowledge of physics of sound will help the future generation in designing an auditorium or a recording studio.

Keywords : *sound, recording, nada, vibrations, frequency*

Research Methodology : *Descriptive, Explanatory and Experimental methods.*

Study Area : *Music and Physics*

Introduction

Sound is the medium of expression. The name sound is given to the sensation perceived by our ears and to the branch of physics which deals with the mechanism of production and propagation of sound. The production of sound is the vibration of the body from which it originates. It can be verified by touching a sounding bell, strings of sitar, violin etc. A vibrating source of sound sets the air in its vicinity into oscillation and causes waves to travel outwards[1]. On reaching the ear, the waves cause the ear drum to vibrate in a way which reproduces the oscillations of the source.[2]

Our music is the expression of our consciousness, a measure of our fulfilment as human beingi. The musical sound or Nada, as is known in Hindustani music is predominantly the base and a subject of deep scientific study. It is the foundation of the behavior and communication of the entire universe. It is the reason for the different vibrations in this conscious world between living things. It is the sound through which various languages and dialects have originated. The sweetest and most graceful form of sound can be seen in music.

For several years sound has been procured as the source of meditation and understanding by the hermits, philosophers, musicians, and grammarians. Its various dimensions have been studied by them to understand the nuances of Nada. The sound on the root level can be divided into Ahat Nada (that which is produced by striking two objects together) and Anahat Nada (that which is omnipresent). Also, based on texture or sensory audibility, sound can be distinguished as human voice, musical sound, and noise.

Human voice

Let us discuss the mechanism human voice which is the natural source of sound. The body parts which mainly assist in the production of sound are –

1. Power generator - diaphragm lungs, bronchi, trachea, and muscles
2. Vibrator – larynx.

Although the vibrations of the vocal cords

*Associate Professor, Dept. of Music, Kalindi College, Delhi University, East Patel Nagar, Delhi.

are the reason for the production of voice, the nature of vibration has a great impact of the action of respiratory muscles. The intensity, flow and throw of voice, largely depends on the breathing mechanism. It is important to understand the respiratory function, to inhale greater amount of air and exhale it for a prolonged period thus sustaining the swar more and more.

3. Articulators - useful in making speech sound possible like teeth, tongue, lips, etc. It is these organs due to which the instrument voice becomes a human and transcends mechanism.[3]

4. Resonators - nose, throat, mouth, empty spaces, and mouth, head, chest, etc. are the chief acoustic resonators in human body. One of the unique features of the human voice is that the size and shape of the resonators are under the control of the performer. The shape of the resonators can be modified by muscular movements which enable to make hundreds of phonetic sounds.

The stream of air forced through the vocal cords from the lungs are the primary reason for the intensity of sound, the elasticity and vibrations of vocal cords are the reason of frequency of voice whereas the quality of timber depends on the resonators.

Musical sound

Out of the many varieties of sound present in the air, the one which is regular, stable, and pleasing to the ear is known as musical sound[4]. The source of sound, irrespective of vocal or instrumental, should produce a continuous sound in quick succession without any sudden change.

Noise - When the sound produces a jarring or unpleasant effect or is at a much higher level of loudness not acceptable or unbearable for the eardrums is known as noise. Sound produced from the shot of a gun, loudspeakers, industrial machines, fireworks are examples of noise.

It is important to discuss the characteristics of sound which provide the basis of distinction amongst various sounds. The three main characteristics are-

1. loudness or intensity - loudness or intensity of sound largely depends on the sound energy crossing per unit area in one second round a point. Higher the intensity, higher is the sound. The intensity is again dependent on five main factors-

a) Amplitude - loudness is directly proportional to the square of the amplitude of the source of sound. This could be more comprehensible with the example of human being where the amplitude of sound produced by men is large as compared to women and children. Hence the sound produced by latter is feeble in comparison to men.

b) Surface Area - loudness or intensity of sound is also directly proportional to the surface area of the body producing sound. The tabla or drums with the large surface area produce louder sound than those with a small surface. When the two articles are forced to vibrate with the frequency of each other, the apparent surface area increases, hence a loud sound is produced.

c) Distance -The square of the distance between the source and the listener is inversely proportional to the intensity of sound, provided the sound waves are produced in all directions. Greater the distance between the source and the audience, feeble is the sound.

d) Density - The density of the source of sound production is also important. Greater the

density louder is the sound.

e) Motion of the air- Sound needs a medium to travel such as air, water, and solids. The air through which sound travels are longitudinal waves with compressions. If air is blowing in the direction of propagation of the sound waves, loudness increases and vice versa.

2. Pitch - depends upon the frequency of sound produced. A clearer picture can be attained by understanding the voice produced by a female or a child. They both have high pitch due to low frequency of sound. Because of higher frequency, the sound produced by a mosquito is of high pitch. Another observation here is that the pitch of sound changes when either the source or the observer, both are moving.

3. Timber or quality - The waves of sound although having same pitch or intensity can be distinguished on the basis of timber. Also, the timber or quality of sound relies on the presence of overtones which are naturally different in all people. Therefore, in some cases, it is the tonal quality which is the distinguishing factor between two sounds with same dimensions. This could be understood by the example of music heard on the audio mode without visual. A person can easily recognize the source of sound production only by timber or tonal quality.

How does the Sound travel?

The waves of sound are spherical mechanical waves which propagate in all possible directions. When an instrument oscillates or vibrates in the presence of a medium, the waves travel outward carrying energy. The shape which the sound waves create is a sphere. The intensity of sound is equal to the average power output or energy divided by the area that is perpendicular to the motion of the energy.

Intensity = Power (Energy) / Space (Area)

We all know that the bottom range of the frequencies heard by human ear is 20 Hertz which goes up to 20 kHz. The frequency above the range is called ultrasonic and below 20 hertz is called infrasonic. The capacity of hearing, that is, the audibility is more in young age which decreases with time. It is important to discuss in short,' Shruti', the term given to microtomes of sound in music. "Shruyate iti shruti", is an old Sanskrit saying meaning that which is clearly audible can be identified as shruti. The term Shruti has been discussed in our ancient texts like Natya Shastra, Brihaddeshi and Sangeet Ratnakar.

Art of learning to listen

We know that it is the music which enables us to anticipate a visual in any performance. Any form of presentation devoid of sound or music fails to create the desired impact. The multiple possibilities of scenes, dances, acts, videos are actualized by the music which goes along the visual. The delicate balance between the dialogues, the communication or the message delivered to the audience is upholded by the sound in the backdrop.

The sound or Nada requires expertise in listening, which is a sharply nurtured effort of attention.[5] The sound demands from its listeners attention and concentration for creating a deeper effect. Higher the sensibility, greater is the impact. That is why we can see difference in reaction of people watching the same piece of performance.

The gift of listening is rarely inherited in its entirety but can be developed more and more with every year. There is a possibility of modification in our listening capacity by training and effort. Few steps that help us in improving

the art of listening are –

1. Practicing Maun or silence - Maun or silence is the form of Meditation which is the highly important factor that supports sound. It may seem to be the opposite but in fact is the key to the increase of listening capabilities. Infact, a note's character is determined by the silence around it.[6]

2. Self-assessment- One should always adhere to self-judgment or self-analysis for growth. Introspection is helpful if we desire to seek improvement in our work. So self-assessment with focus and target in mind can bear good results.

3. Focus and practice- the next important point to be followed is the focus and practicing the skill of listening on daily basis.

4. Cognitive and emotional-This pertains to not only sound but conversation also in general. Paying attention to the micro tunes or words, comprehending, and integrating with the knowledge is cognitive approach. Staying benign and compassionate while listening and managing emotional overtures is the required emotional balance.

With all the above-mentioned practices, one can make good difference in the listening skills which is extremely helpful especially for musicians and recordists.

History and Science of Sound Recording

It is an undeniable fact that human voice is the only living instrument, beautiful, flexible and exudes a personal warmth. It is also true that none of the musical instruments devised by man, extremely melodious they may be in possible variations of pitch, intensity, and timber, have equaled the human voice. To understand the subtlety of sound and present it with diversifications, science of recording was developed. As soon as we hear the word recording the picture which comes to our mind is of fanciful hard disks and electronic setup used to capture the data or performance in which sounds, or visual images are stored. Hence, we are mainly discussing the process called sound recording.

The year 1877, marks the beginning of the era of sound recording and reproduction. Thomas Alva Edison, the person associated with the name of sound recording made a phonograph through a sheet of tin foil which was wrapped around a cylindrical drum. This drum rotated and moved by turning a handle, passing under a metal stylus attached to one side of a diaphragm. A small mouthpiece was installed on the other side into which the operator spoke. In India, the first demonstration of this cylinder phonographs was held around December 1878 in Calcutta. The company, Maharaj Lal & Company was founded in 1895, and was the oldest dealer for HMV labels in Delhi. It is said that the shape of these cylindrical records was like a stack of bangles and hence were called "Churis"[7].

With the invention and exploration of new technologies, waves of progress were visible in the realms of sound and recording. These techniques brought a revolution in recording, enhancing, and enriching the experience of audio and visual genres for the mankind.

The history of sound recording can be divided into four parts.

1. The Acoustic Era (1877- 1925)

The earliest technology in recording were mechanical devices as mentioned before, these recorders, conical in shape, they collected and focused the physical air pressure of sound waves of the vocal or instrument performers. In India, Gauhar Jan was the first Indian artist who took the opportunity of the advent of recording technology in the year 19102. She was a musician with an outstanding repertoire and cut

nearly 600 records, making a mark in the history.[8]

2. The Electrical Era (1925- 1945)

The second significantly transitional wave occurred in 1925 when western electric's integrated system of electrical microphones, amplifiers, electromechanical recorders were invented. Recording was now a hybrid process, where the sound was captured, amplified, filtered, and balanced electronically. But the process of recording remained mechanical.

3. The Magnetic Era (1945-1975)

The third development wave was visible in the year 1945 when the magnetic tape recording was invented. This German technology gave a new dimension to the audio world and the difference in audio quality of prerecorded programs and live broadcasts were understood.

4. The Digital Era (1975-present)

The current phase of digital era has seen stunningly revolutionary inventions with respect to mechanical, electrical, and digital sound technology. This era has witnessed and is still witnessing rapid, remarkable, and far-reaching changes in the recording and production of sound and visual effects.

Apparently, Science and technology have given some startling innovations due to which we are practically able to perceive various dimensions of sound. It is very crucial for classical, semi classical and all other forms of musicians to understand the know-how of science behind sound and recording technology. Thus, their performance will reach larger audience, and can be preserved as a specimen for coming generations[9]. Employment prospects can also be created. In fact, the study of the "Science of sound" needs to be added in the curriculum of the students.

Recording of sound is perceived as a blend of mechanical, electrical, and digital procedures where the spoken voice, vocal music, instrumental or sound effects are recreated, or we can say formatted as desired. Let us discuss the popular modes of recording sound i.e., Analog, and Digital.

1. Analog recording: is a procedure where a microphone diaphragm senses changes in atmospheric pressure created by acoustic sound waves and records them as a mechanical representation on a medium like phonograph record. The pattern or shape of this recording is like original sound wave i.e., the audio signal is analogous. It is the actual representation of sound and has warmer effect on the listeners. It senses and records the micro tunes but has less possibility of reduction or editing. It is the tried and tested format which limits the tinkering or over effects in a performance. These recordings have chances of deterioration in storage and restrictions of sharing and portability. But the experience of analogue recording is far more satisfying for the listeners.

2. Digital recording: is a conversion of the analog sound which is picked up by the microphone in the digital format. As the word digital suggests, it is related to digits in the form of binary numbers (zeros and ones). The digital audio is reconverted into analog form during playback before amplification to produce sound. The significance of digital recording is that it is easy, has nondestructive editing feature and variety of recording options. It is easily integrated into multimedia, making possible multiple copies and replication alongside. The negative aspect of this recording is that one can face unannounced crash of the computer or corruption of data. In both the cases, the person is at an irreparable loss of entire work. Also, it has been observed that the digital music, with all its hi fi technicalities fails to impress the audience for a longer duration.

What distinguishes analog audio from digital audio can be understood with this example. If we consider the number 1 and 2 on a number line, we can see several infinite points between the two numbers. This is what analog signifies- the infinite number of probabilities between 1 and 2. While digital mode offers certain fixed points along the line between 1 and 2, for example 1& 1/4, 1 &1/2,1& 3/4 and 2. The perception of shruti and swar is identical as people and a specific person[10]. Indian music as based on 'Shruti' or microtones or intermediate tones, relies more on analog recording for accuracy and feel, rather than digital. Therefore, the sound offered by analogue to musicians is with all possible frequencies whereas computers used in digital records translate the sound into a series of numbers which are only at approximate closeness to the actual.

Conclusion

Based on above-mentioned scientific factors of sound and recording, auditoriums and studios are designed. Minute acoustic details are taken into consideration such as sound absorption, echo, reverberation, soundproofing, et cetera. The properties of absorption depend on the density and surface regularity of the material used in designing the studio. The sound engineers find the sweet point, that is, the point where they get the best audio sound and set up the recording apparatus accordingly. There are audio engineering courses which teach us in detail the designing of the studio and the art of recording music.

Endnote :

1. Sumati Mutatkar, *Aspects of Indian Music* (1st edn. Sangeet Natak Academy, New Delhi, 1987)
2. R. C Brown.1954, *Sound* (Longmans, Green and Co Ltd, 1954, pg. 549)
3. S.A.K Durga, *Voice Culture, the art of voice cultivation* (B R Rhythms, Delhi, 2007, pg. 8)
4. G H Ranade, *Hindustani Music , its physics and aesthetics* (3rd edn., Popular Publication, Bombay, 1971 pg. 27)
5. Raghav R Menon, *The sound of Indian Music* (Indian Book Company, Delhi, 1976, pg. 19)
6. S K Saxena, *Hindustani Sangeet, some perspectives some performers* (Sangeet Natak Academy, Delhi, 2010, pg. 5)
7. Sampath Vikram Sampath, *My Name is Gauhar Jaan* (Rupa Publications India Private Ltd, New Delhi, 2012, pg. 76)
8. Id.
9. Kanta Prasad Mishra, *Swar, Vigyan Avum Ganit* (1st edn. Kanishka Publishers, New Delhi, 2009 Pg.29)
10. M Vijaylaxmi, *Sangitsamaysara* (Shivalik Prakashan, Delhi, 2003, pg 11)

References :

1. Chowdhary, Subhash Rani,2017, Sangeet ke pramukh Shastriya Sidhhant, Kanishka publishers, Delhi, pg. 15
2. Brown, R. C.1954, Sound, published by LONGMANS, GREEN AND CO LTD, pg. 549.
3. Mutatkar, Sumati, Aspects of Indian Music1,Sangeet Natak Academy, New Delhi, F.E 1987.
4. Durga, S.A.K, L. E 2007, Voice Culture, the art of voice cultivation, published by B R Rhythms, Ashok Vihar, Delhi, page 8.
5. Durga, S.A.K.,1971, Hindustani Music, its physics and aesthetics, popular publication, Bombay, 3rd edition,pg 27
6. Menon, R Raghav (1976) The sound of Indian Music, published by Indian Book Company, Delhi, p 19.
7. Saxena, S K, 2010, Hindustani Sangeet, some perspectives some performers, Sangeet Natak Academy, Delhi.pg 5
8. Sampath, Vikram, 2012,My Name is Gauhar Jaan, Rupa publications India private limited, Darya Ganj, new Delhi, page 76
9. ibid
10. Mishra, Kanta Prasad, 1st edition 2009, Swar, Vigyan Avum Ganit(Hindi), Kanishka publishers, New Delhi. Page 29
11. Vijaylaxmi M, 2003, Sangitsamaysara, Shivalik prakashan, Delhi. Pg 11.

भारतीय संगीत में गज़ वाद्यों की परम्परा : एक अध्ययन

डॉ. श्वेता कुमारी** **खुश पॉल***

शोध सार

भारतीय संगीत की वैभवशाली परम्परा में विभिन्न प्रकार के वाद्यों का प्रचलन एवं विशेष महत्व रहा है। सर्वप्रथम वाद्यों के निर्माण का प्रयोजन गायन संगीत के साथ संगति द्वारा गायन संगीत को अत्याधिक रसयुक्त तथा आनंदप्रद बनाना था किन्तु कालांतर में वाद्यों के वशिष्ट गुणों के कारण भारतीय संगीत में वाद्यों के स्वतंत्र वादन संगीत की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान समय में भी स्वतंत्र वादन संगीत की प्रथा का भारतीय संगीत में सफलतापूर्वक निर्वाह हो रहा है । साथ ही नवोन्मेष से यह प्रथा नित नूतनता की ओर अग्रसर हो रही है। वाद्यों का प्रथम लक्ष्य गायन संगीत की संगत ही था। वैदिक काल से ही गायन विधा, वाद्यों के अभाव में अपूर्ण मानी जाती रही है। भारतीय संगीत में गायन की संगति के लिए विभिन्न प्रकार के वाद्यों का प्रयोग देखने को मिलता है किन्तु सभी प्रकार की वाद्यों में से गज़ तत वाद्यों की ध्वनि अत्यधिक कर्णप्रिय होने के कारण गज़ तत् वाद्यों को गायन की संगति के लिए अनुकूल माना जाता है। भारतीय संगीत में गज़ वाद्यों की परम्परा अत्यंत समृद्ध रही है तथा वर्तमान काल में भी विभिन्न प्रकार के गज़ तत वाद्यों के निर्माण का क्रम अविराम रूप से गतिमान है। भारतीय संगीत के लगभग हर पहलु को गज़ तत वाद्यों ने अपनी उपस्थिति से सुशोभित किया है।

सूचक शब्द : *भारतीय, संगीत, वाद्य, गज़, तार, तत्, वीणा*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों का उपयोग किया गया है।*

भूमिका

भारतीय संगीत विश्व की प्राचीनतम संगीत परम्परा है। वैदिक काल से ही संगीत समस्त मानव जाति को एक सभ्य समाज के रूप में स्थापित करने का सफल प्रयास करता रहा है। संगीत सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक उत्कृष्टता एवं कुरीतियों को अभिव्यक्त करने का सशक्त साधन है। भारतीय संगीतज्ञों, मनीषियों एवं संगीत–प्रेमियों द्वारा सर्वसम्मति से भारतीय संगीत के तीन अंग गायन, वादन एवं नृत्य माने गये हैं। इन तीनों विधाओं के मिश्रण को ही संगीत की संज्ञा दी गयी है। तीनों विधाओं में से गायन को श्रेष्ठ माना जाता है तथा गायन विधा को समृद्ध एवं अधिक शोभनीय बनाने के लिए समय–समय पर विभिन्न प्रकार के वाद्यों का निर्माण हुआ। वैदिक काल में स्वर वाद्यों में तत तथा सुषिर दोनों प्रकार के स्वर वाद्यों द्वारा गायन की संगत के साक्ष्य मिलते हैं किन्तु आधुनिक काल में गायन की संगत के लिए सुषिर वाद्यों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता। सभी प्रकार के तत वाद्यों में से गज से बजाए जाने वाले वाद्यों की ध्वनि मानव कंठ से अत्यधिक निकट मानी जाती है। मानव कंठ की सभी विशेषताओं एवं सूक्ष्मताओं को गज वाद्यों द्वारा सहज ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी कारण आधुनिक काल में गज वाद्यों को कंठ संगीत की संगत के लिए अत्यधिक उपयुक्त माना जाता है। वर्तमान समय में भारतीय संगीत में गायन की संगत, ताल वाद्यों के स्वतंत्र–वादन में संगत, नृत्य के साथ संगत, स्वतंत्र वादन, लोक संगीत, सुगम संगीत आदि; संगीत की लगभग सभी प्रकार की विधाओं में गज़ वाद्यों का प्रयोग प्रचुरता से हो रहा है। सारंगी, बेला, इसराज, दिलरुबा आदि विभिन्न प्रकार के गज़ वाद्यों ने भारतीय संगीत को अपनी विशेषताओं के कारण समृद्ध किया है।

शोध विषय

भारतीय शास्त्रीय संगीत की तीनों विधाएँ अपने आप में पूर्ण होने के बाद भी एक–दूसरे के बिना अपूर्ण है। गायन, वादन तथा नृत्य में गायन श्रेष्ठ है, किन्तु वाद्य संगीत रहित गायन में अपूर्णता का आभाव स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। भाव तथा माधुर्य संगीत का अत्यंत आवश्यक तत्व माना जाता है, गायन के साथ वाद्यों

*शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**सहायक आचार्या, गायन विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

की संगति इसी भाव तथा माधुर्य में वृद्धि करती है। वर्तमान काल में गायन के साथ संगत के लिए तत वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। वादन–क्रिया के आधार पर तत वाद्यों के विभिन्न प्रकार हैं, जैसे– मिजराब अथवा कोण से बजाए जाने वाले वाद्य, गज द्वारा बजाये जाने वाले वाद्य आदि। सभी प्रकार के वाद्यों में से गज से बजने वाले वाद्यों को गायन की संगति के लिए अत्यधिक उपयुक्त माना जाता है। गज वाद्यों की मुख्य विशेषता है ध्वनि में निरंतरता अर्थात् एक ही स्वर पर अधिक देर तक ध्वनि को बिना खण्डित किये ठहरना। इसी विशेषता के कारण गज वाद्यों की ध्वनि अत्यधिक कर्णप्रिय लगती है। गज को अन्य नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे :–इशीका, वेतस, सलाका, कमानी, धनुष तथा गज। इनमे से 'इशीका', गज़ का प्राचीन नाम है किन्तु वर्तमान में 'गज' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है।

भारतीय संगीत में गज वाद्यों का प्रचलन अधिकतर विद्वान रामायण7काल से मानते हैं, रामायण–काल में रावण द्वारा निर्मित वाद्य "रावणहस्त वीणा" (जिसे लोक में रावणहत्था कहा जाता है) प्रथम गज वाद्य माना जाता है। किन्तु वैदिक ग्रंथों का गहराई से अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि गज वाद्यों का प्रयोग वैदिक काल से ही आरम्भ हो गया था। वेदों में "वाण" नामक एक वाद्य का उल्लेख मिलता है, यह वाद्य 100 तार युक्त था तथा "इस वाद्य की तंत्रियाँ मौन्जी की बनी हुई होती थी तथा इसका वादन इशीका अथवा वेतस के वक्राकार दण्ड से किया जाता था।"[1] उक्त कथन से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत में गज़ वाद्यों की परम्परा रामायण काल से नहीं अपितु वैदिक काल से चली आ रही है। गज़ वाद्यों की परम्परा वैदिक काल से प्रारंभ होकर आधुनिक काल तक निरंतर प्रवाहमान है। वैदिक काल में तत वाद्यों का प्रयोग केवल गायन की संगत के लिए किया जाता था, किन्तु आधुनिक काल में गज़ वाद्यों का प्रयोग संगीत की लगभग हर विधा में देखा जा सकता है।

भारतीय वादन संगीत में वाण तथा रावणहस्त वीणा के पश्चात् समय–समय पर अनेक गज वाद्यों का प्रचलन देखने को मिलता है। वैदिक काल से प्रारम्भ हुई गज वाद्यों की परम्परा वर्तमान काल में भी निरंतर समृद्धि एवं प्रगति के पथ पर अग्रसर है। भारतीय वादन संगीत के प्रमुख गज वाद्यों का वर्णन निम्नलिखित है–

भारतीय संगीत के प्रमुख गज तत वाद्य–

1. वाण
2. रावणहस्त वीणा
3. पिनाकी वीणा
4. सारंगी
5. बेला
6. इसराज
7. दिलरुबा
8. मयूरी वीणा
9. कमायचा
10. सारिंदा

1. वाण

"वाण" वाद्य का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में वीणा शब्द का उल्लेख नहीं मिलता अपितु 'वाण' शब्द का उल्लेख अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि "वाण" शब्द वैदिक काल में सभी प्रकार के तत वाद्यों के लिए सामान्य संज्ञा थी। वैदिक काल में सभी प्रकार के तत वाद्यों के लिए वाण शब्द का प्रयोग तो होता ही था, इसके अतिरिक्त 'वाण' नामक एक स्वतंत्र वाद्य के उपलब्ध होने के साक्ष्य भी मिलते हैं। वाण वाद्य में 100 तार लगाये जाते थे। "कात्यायनश्रौत सूत्र के अनुसार इसकी तंत्रीय मूंज और दर्भ्य (घास का एक प्रकार) की बनी होती थी।"[2] यह वाद्य गज द्वारा बजाया जाता था, इसका प्रमाण हमे "जैमिनीय ब्राह्मण" ग्रन्थ में मिलता है, "जैमिनीय ब्राह्मण में वाण वाद्य को उद्गाता एवं प्रस्तोता द्वारा विभिन्न मंत्रों के प्रयोग सहित औदुम्बर की लकड़ी के बने आसन पर बैठकर सब तारों को कसकर इषीका से बजाने का उल्लेख मिलता है।"[3] डॉ. अंजना भार्गव के अनुसार वाण नामक वीणा पर इषीका या वेतस के दण्ड से वादन किया जाता था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में प्रयोग होने वाला वाण नामक वाद्य एक गज वाद्य था। अतः स्पष्ट है कि "वाण" भारतीय संगीत का प्रथम गज वाद्य है।

2. रावणहस्त वीणा

रावणहस्त वीणा का उल्लेख सर्वप्रथम रामायण में मिलता है। कहा जाता है कि भगवान शिव को प्रसन्न

करने के लिए रावण ने इस वीणा का निर्माण किया था। आज भी श्रीलंका में धुमक्कड जातियों द्वारा इस प्रकार के एक वाद्य का प्रयोग देखने को मिलता है जिसे वह "बीनवाह" कहते है। संगीतराज ग्रन्थ के अनुसार रावणहस्त वीणा लंकापति रावण ने बनाई थी, जिसमें दो तार होते थे, तथा इसे गज़ से बजाया जाता था। इसके अतिरिक्त इस वाद्य का उल्लेख 'संगीत पारिजात' तथा 'संगीत मकरंद' में भी मिलता है। भारत में यह वाद्य राजस्थान तथा गुजरात में 'रावणहत्था' के नाम से प्रचलित है। रावणहत्था, राजस्थान का प्रमुख एवं लोकप्रिय, लोक वाद्य है। रावणहस्तवीणा या रावणहत्था के दो प्रकारों का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है, एक में दो से तीन तार तथा दूसरे में तीन से चार तार होने का उल्लेख प्राप्त होता है। यह घोड़े के बालों से बने गज से बजाया जाता है।

3. पिनाकी वीणा

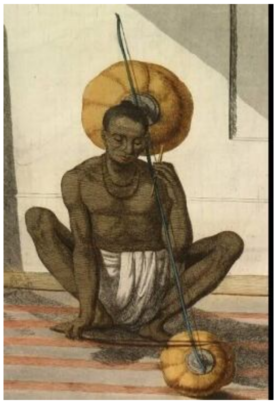

पिनाकी वीणा का सर्वप्रथम उल्लेख 'संगीत सुधाकर' (1175 ई०) ग्रन्थ में पं. हरिपाल द्वारा किया गया। इसे तांत से बनी तंत्री को धनुष की डोरी के समान दण्ड से बांध कर दाहिने हाथ में रखना चाहिए तथा "पांच मुट्ठी लम्बे धनुष से जो सफेद गुगुल के चूर्ण से मांजे गये घोड़े के बाल से युक्त हो, बाएं हाथ में रखकर बजाना चाहिए।"[4] पिनाकी वीणा का उल्लेख 'संगीतराज', 'संगीतरत्नाकर', 'संगीत पारिजात' आदि ग्रंथो में भी मिलता है। पं. सुधाकलाश इस वीणा को धनुष के सामान तुम्बा वाली वीणा कहते है। 'आईने अकबरी' में "पिनाकी वीणा का दूसरा नाम "सुरवितान" भी लिखा है।"[5] पिनाकी वीणा में तंत्रियों की संख्या के विषय में विभिन्न ग्रंथो में भिन्न–भिन्न संख्या का उल्लेख मिलता है। अधिकतर ग्रन्थकार इसमें एक से दो तंत्रियों तथा दो से तीन तुम्बों का उल्लेख करते हैं। वर्तमान समय में पिनाकी वीणा लुप्त हो गयी है।

4. सारंगी

वर्तमान काल में सारंगी उत्तर भारतीय संगीत में सर्वाधिक प्रचलित गज वाद्यों में प्रमुख वाद्य है। इस वाद्य की उत्पति के विषय में अनेक मत पाए जाते हैं, एक मत के अनुसार वाजिद अली शाह के दरबार में सारंग खां नामक संगीतज्ञ ने इसका आविष्कार किया तथा इन्हीं के नाम से इस वाद्य का नाम सारंगी हुआ। पं. राम नारायण के अनुसार इस वाद्य का नाम सर्वप्रथम सौरंगी था, कालांतर में इस वाद्य का नाम सौरंगी से सारंगी हुआ। एक अन्य मत के अनुसार, सारंगी का आविष्कार मिया कल्लू खां ने किया। महोम्मद करम इमाम के अनुसार हाकिम बकरात इसके अविष्कारक हैं। पं. अरविंद पारिख के अनुसार अमीर खुसरो ने प्राचीन वाद्य साजरंग में सुधार कर सारंगी का आविष्कार किया। कुछ विद्वान सारंगी का सम्बन्ध 'संगीत मकरंद' में वर्णित सैरन्ध्री वीणा तथा 'संगीत सुधाकर' में वर्णित सारंग वीणा से जोड़ते हैं, अतः सारंगी वाद्य का आविष्कार किसके द्वारा हुआ यह कहना कठिन है। वर्तमान समय में प्रचलित सारंगी में मुख्य तारों की संख्या तीन से चार होती है। "आजकल प्रायः चार तारों के प्रयोग का प्रचालन अधिक है।"[6] सारंगी में तरब के तारों की संख्या विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मानी है। कुछ विद्वान तरब के तारों की संख्या 10 से 15, कुछ विद्वान 11 से 13, कुछ विद्वान 15 से 22, कुछ विद्वान 24, कुछ विद्वान 34 से 35 तथा कुछ विद्वान 56 मानते हैं। सारंगी का गज लगभग दो फुट लम्बा होता है। जिसे शीशम या आबनूस की लकड़ी से बनाया जाता है। इसमें घोड़े की पूंछ के लगभग 300 बाल लगाये जाते हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित भिन्न–भिन्न प्रकार के लोक संगीत में सारंगी के विभिन्न प्रकारों का प्रयोग देखा जा सकता है, जैसेः– जोगिया सारंगी, गुजरातन सारंगी, सिन्धी सारंगी, धानी सारंगी तथा आलावु सारंगी आदि। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में गायन के साथ संगत के लिए सारंगी वाद्य लगभग सभी कलाकारों की पहली पसंद है।

5. बेला

बेला सम्पूर्ण भारतवर्ष में सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय वाद्य है। वर्त्तमान समय में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत, दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, भजन संगीत, सुगम संगीत तथा चित्रपट संगीत बेला का प्रयोग हर स्थान पर प्रचुरता से हो रहा है। बेला के आविष्कार के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। कुछ विद्वान इसे विदेशी वाद्य तथा कुछ विद्वान इसे भारतीय वाद्य मानते हैं। बेला वाद्य विदेशी है या भारतीय यह आज भी शोध का विषय है। "प्रारंभ में (ई० सन् 1510–30) बेला वाद्य में तीन तार लगाये जाते थे।"[7] कालांतर में बेला वाद्य में चार तारों के प्रयोग का प्रचलन प्रारंभ हुआ। वर्तमान समय में तीन तार युक्त बेला वाद्य लुप्त हो गया है तथा 4, 5, अथवा 6, तारों से युक्त बेला का प्रचलन देखने को मिलता है किन्तु चार तार युक्त बेला सर्वाधिक प्रचलित है। कुछ भारतीय विद्वानों ने बेला वाद्य में तरब के तार लगाने का सफल प्रयोग भी किया है। बेला वाद्य के गज में घोड़े की पूंछ के 150 से 250 बाल लगाये जाते हैं। बेला, भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य है।

6. इसराज

इसराज एक भारतीय गज़ वाद्य है जिसका निर्माण सितार और सारिंदा के मिश्रण से हुआ है। इसके निर्माता के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसमें मुख्यतः चार तार होते हैं तथा 15 से 20 तरब के तारों का प्रयोग किया जाता है। इसका गज, सारंगी के गज़ के सामान होता है।

7. दिलरुबा

इस वाद्य का निर्माण इसराज के आधार पर, सितार और सारंगी के मिश्रण से हुआ है। इसके निर्माण के विषय में भी कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु एक मत के अनुसार दिलरुबा का आविष्कार सिखों के दशम गुरु श्री गुरु गोबिंद सिंह द्वारा किया गया था। इसमें मुख्यतः चार तार होते हैं। कुछ विद्वान् इसमें तारों की संख्या 6 मानते हैं। इसमें तरब के तारो की संख्या 20 से 22 होती है। "इसका गज़ इसराज के सामान होता है।"[8]

8. मयूरी वीणा

मयूरी वीणा के आविष्कार के विषय में कहा जाता है कि सिखों के छठे गुरु, श्री गुरु हरगोविंद जी ने इस वाद्य का निर्माण किया था। इस वाद्य को 'ताउस' भी कहा जाता है। इस वाद्य की ध्वनि तथा आकृति मोर के समान है तथा पर्शियन भाषा में मोर को ताउस कहा जाता है, इसीलिए इस वाद्य को ताउस या मयूरी वीणा कहा जाता है। इस वाद्य को शीशम की लकड़ी से बनाया जाता है। इसमें मुख्य चार तथा 28 से 30 तरब के तार लगाये जाते हैं। इसका गज भी घोड़े की पूंछ के बालों से बनाया जाता है। इस वाद्य का अधिकतर उपयोग गुरमत संगीत में किया जाता है।

9. कमायचा

"कमाँयचा, कमाँचा अथवा कमाँगा ईरानी वाद्य है।"[9] भारत में मुसलमानों के आगमन के साथ यह वाद्य भारत पहुंचा। अरब के अनेक देशों में कमाँयचा के विभिन्न प्रकारों का प्रचालन है, जिनमे एक, दो, तीन अथवा चार तारों का प्रयोग किया जाता है। भारत में कमाँयचा एक लोक वाद्य के रूप में प्रचलित है, इसमें 3 मुख्य तार तथा 8 तरब के तारों का प्रयोग किया जाता है। इसका वादन गज़ द्वारा किया जाता है। वर्तमान में कमाँयचा कश्मीर तथा राजस्थान के लोक वाद्य के रूप में जाना जाता है।

10. सारिंदा

सारिंदा, गज़ से बजने वाला एक लोक वाद्य है। इसे सारंडा अथवा सरिंडा भी कहते हैं। इस वाद्य में तारों की संख्या तीन होती है। भारत में पंजाब, बंगाल, राजस्थान, असम तथा त्रिपुरा के

परम्परिक लोक गीत तथा नृत्य के साथ इसका उपयोग किया जाता है। सारिंदा वाद्य की ध्वनि अत्यन्त मधुर होती है। इसे एक ही लकड़ी के टुकड़े को काट कर बनाया जाता है। इसके गज़ में भी घोड़े के बालों का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त प्रमुख गज (तत) वाद्यों के अतिरिक्त भारतीय संगीत में समय–समय पर विभिन्न प्रकार के गज वाद्यों का प्रचालन रहा है, जैसे :– सुर सागर, बेला बहार, सारंगा, ललित वीणा, सुर प्यार आदि।

गज़ वाद्यों की इतनी वृहत् एवं समृद्ध परम्परा भारतीय संगीत के अतिरिक्त विश्व के किसी अन्य संगीत में नहीं पाई जाती। अतः गज वाद्य भारतीय संगीत की विशेषता भी है और गौरव भी। भारतीय संगीत को सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित करने में गज वाद्यों का योगदान चिरस्मरणीय है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध–पत्र में भारतीय संगीत में गज़ द्वारा बजाये जाने वाले वाद्यों पर चर्चा की गई है। भारतीय संगीत में गज वाद्यों का प्रचलन वैदिक काल से निरंतर चला आ रहा है। विभिन्न प्रकार के गज वाद्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से आधुनिक काल तक वाद्यों के लिए विभिन्न प्रकार तथा आकार के गज का प्रयोग होता रहा है किन्तु सभी प्रकार के गज में घोड़े की पूंछ के बालों का ही प्रयोग देखने को मिलता है, आधुनिक काल में भी घोड़े की पूंछ के बालो से युक्त गज को ही उपयुक्त मन जाता है। भारतीय संगीत में गज वाद्यों की परम्परा अत्यंत प्राचीन होने के बाद भी वर्तमान समय में अपने श्रेष्ठतम रूप में विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि गज (तत्) वाद्यों के अभाव में भारतीय संगीत नीरस अथवा प्रभावहीन हो सकता है। अतः गज (तत्) वाद्य भारतीय संगीत का अपृथक अंग है, जिसके अभाव में भारतीय संगीत की कल्पना निरर्थक है।

संदर्भ सूची :

1. कुमार, डॉ. अतुल, भारतीय तंत्री वाद्यों का ऐतिहासिक विवेचन, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ संख्या – 37
2. महाडिक, डॉ. प्रकाश, भारतीय संगीत के तंत्री वाद्य, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1994, पृष्ठ संख्या– 19
3. वही
4. वही, पृष्ठ संख्या– 54
5. मिश्रा, डॉ. लाल मणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ संख्या– 107
6. महाडिक, डॉ. प्रकाश, भारतीय संगीत के तंत्री वाद्य, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1994, पृष्ठ संख्या–161
7. वही, पृष्ठ संख्या–149
8. वही, पृष्ठ संख्या– 171
9. मिश्रा, डॉ. लाल मणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ संख्या– 246

Ethnic Community and Cultural Tradition in The Context of Globalization: A Study on Dimasa Ethnic Group of Barak Valley, Assam

Dr. Binoy Paul*

Abstract

The northeastern Indian state of Assam serves as a meeting place for several ethnic groups, each with its own distinctive culture, including the Boro Kachari, Garo, Deori, Dimasa, Karbi, Kuki, and Mising. The biologically diverse Assamese people have a diverse culture, and they have traditionally traded cultural artifacts among one another. Assam's largest tribal and most culturally diverse population is the Dimasas. It belongs to the Bodo stock and the Tibeto-Burman Linguistic family. The term 'Dimasa' means the son of big river-Di means water Ma-means big and Sa-means son. It may be presumed that the Dimasa consider themselves to be the descendants of the Brahmaputra. According to some scholars Dimasa descended from Hidimba, the princes of Kamrupa who married Bhima (the 2nd Pandaba). The present study is an attempt to understand historical and cultural tradition of Dimasa.

Key words: *Ethnic community, Globalization, Dimasa ethnic group, Festivals, Art & Craft*

Methodology : *This research paper is supported by secondary informations.*

Geographical location:

In Assam's Dima Hasao, Karbi Anglong, Nowgong, and Cachar districts, there are sizable settlements of Dimasa Kachari people. A few Dimasa people have also made Nagaland their home. Barmans are the term for the Dimasa Kacharis of the Cachar area. 3,786 square kilometre Cachar District is located in the lower and southern region of Assam. South of the Barak River, across the North Cachar Hills, is where Assam's bottom half begins. The primary river in this area is called Barak, and the valley bears its name. North Cachar Hills (Dima Hasao District) and Jaintia Hills (Meghalaya state) encircle the area on both sides. Cachar is bordered by the states of Manipur to the east, Mizoram to the south, Tripura to the west, and Sylhet district of Bangladesh to the east. Cachar, Karimganj, and Hailakandi are the three districts that make up Barak Valley. The most significant social, cultural, and economic centre in the area is Silchar, the administrative centre of the Cachar district.

Dimasa villages in Cachar District:

Khaspur, Silchar, Dhalai, Bikrampur, Kumachera, Dalaichera, Joypur, Barkhala, Kalahaor, Sheorartal, Ganganagar, Lakkhinagar, Bilaipur.

Historical background of Dimasa Kachari:

According to a widely accepted myth among the Dimasa people, their forefathers resided near the meeting point of the rivers Dalaobra and Sangibra. There was a gigantic banyan tree in that lovely location, and its canopy completely shaded the area. Many birds and other creatures made their homes in the tree. That area of extremely rich land was near the coast and was abundant with reed and maize plants. The location was thus ideal for creating a province and ultimately a monarchy. The aboriginal people eventually opted to depart the region since it had become too crowded and had settled in nearby and distant locations. Some of the inhabitants stayed behind, but the majority travelled to the Nilachal along the Tini-Sangibra

*Former Research Scholar, Department of Visual Arts, Assam University, Silchar

(Brahmaputra) river's upstream flow.

The Barman dynasty was established in the fourth century C.E. by Pushyavarman, who eventually defeated the ancient Kacharis who had governed Kamarupa. They then founded their kingdom at Sadiya, where they ruled for several centuries and added the contemporary North Cachar Hills to their realm, as well as the area beyond the river Dishang up to Namsang in the Naga Hills. Their main office was located in Dimapur, close to the Dhansiri river. The Ahoms conquered Assam's Brahmaputra valley in 1228. There has long been strife between the Ahoms and the Dimasas. The Dimasa conquered the Ahoms in the early years. However, the Ahoms progressively overcame the Dimasas' resistance to their attacks and ultimately vanquished them. The Dimasas fled Dimapur and the Dhansiri valley following a conflict in 1536 and went south, establishing Maibong as their new capital.

The Dimasas overcame the Ahoms under Jasanarayan's rule (early 17th century), and Jasanarayan proclaimed himself an independent king. He asserted that the Dimasa kingdom was known as the Heramba kingdom and that he was a descendant of Ghatotkacha, the son of Hidimba and Bhima in the Mahabharata. In a silver coin he produced, he identified himself as the "Herambeswara," or "Lord of Heramba," and as a devotee of the Hara-Gouri, or Siva and Durga. The term "Heramba," which later commonly appears in inscriptions, coins, and other chronicle sources, is used for the first time on this oldest coin of the independent dynasty. There is no historical proof to back up the Dimasa myth that they are Ghatotkacha ancestors.

A century later, about 1750, the Dimasa monarchy was moved to Khaspur, where the Dimasas gradually began to be influenced by Hinduism. In a ceremony held in front of Brahmins, Raja Krishna Chandra and his brother Govinda Chandra renounced their Hindu faith, joined the Kshatriya caste, and adopted the surname "Barman."

In 1813, Raja Krishna Chandra passed away, and his brother Govinda Chandra succeeded him as ruler. Throughout his leadership, the Burmese launched many raids and took control of Assam, Manipur, Jayantia, and Cachar. It is known as "Barmar Bhagan" and was a time of severe sorrow for those who had to spend extended periods of time in hiding. Raja Govinda Chandra signed a pact with David Scott, Agent to the Governor-General of the Eastern Frontier, in 1824 after asking the East India Company for protection. The Raja was required to "listen to at all time the counsel provided for the benefit of his subjects by the Governor General in Council," but the Company would not meddle in the state's internal affairs. If the Raja failed to pay an annual tribute of 10,000 rupees, the Company was free to capture as much land as would be required to collect the debt. In exchange, the Company would defend the regions of Cachar from external foes. The Manipuri soldiers murdered Raja Govinda Chandra in Haritikar in 1830. The Dimasa or Heramba dynasty ended with his death on August 18, 1832, and Cachar was ruled by the British because he had no heir.

Living in a multicultural and economically diverse society:

Despite being one of India's patriarchal societies, Dimasa culture features some well-known matriarchs. The standing of men and women is equal. Endle had remarked that child marriage was not practised and that the relationship between the sexes was of a more "sound and healthy nature" than in many nations professing "greater civilization." A Dimasa man views his wife as an equal and his lifelong friend. A Dimasa lady has independence and respect

from her lover and society in both her early and married life. The Dimasas closely adhere to monogamy, which promotes gender equality and makes both boy and girl births a cause for celebration.

The clan system is used in Dimasa society; there are 42 female clans and 40 male clans (known as Semphong) (known as Julu). The same-clan marriage is not permitted. No matter what, a male cannot wed a girl from his mother's clan, and a girl cannot wed a boy from her father's tribe. Sons and daughters receive an equal share of the family's assets. Sons typically inherit the father's possessions, including real land, weapons, money, and livestock. On the other hand, daughters or the closest female family inherit the mother's possessions, such as jewellery, clothing, and handlooms.

Even though most of their ceremonies are mixed with animism, the Dimasas consider themselves devoted Hindus. They consider themselves to be the offspring of Bangla Raja and the heavenly bird Aarikhidima. According to legend, their ancestors' deities are the "six sons" of Bangla Raja and Aarikhidima, also known as Sibrai, Doo Raja, Naikhu Raja, Waa Raja, Ganyung-Braiyung, and Hamiadao. They refer to those ancient deities as Madai; the Madai are responsible for overseeing various sections of the Dimasa settlement and have their own territorial jurisdictions, known as daikho (similar to sacred groves). It is said that the Madai, or spiritual entity, who resides in a certain daikho guards the neighbourhood residents and determines their fates. The daikho is revered by the Dimasa once a year. When they do worship, they designate an earthen mound as the deity rather than any image or idol.

In Dimasa community, agriculture is the major source of income. They continue to engage in jhum (slash-and-burn) farming in steep places. They also grow castor, sesame, cotton, chilly, pumpkin, gourd, ginger, brinjal, mustard, pineapple, and orange in addition to rice and maize. They use the same farming techniques as non-tribal people in the plains regions. In January, they commemorate the winter crop with their primary celebration, Bishu, which includes religious rites, folk dances, music, and food. On such occasions, it is customary to give hand-woven textiles to family and friends in lieu of traditional clothing made by Dimasa women.

In the Dimasa community, handloom weaving is a craft mostly practiced by women, as it is in other tribal tribes in North-east India. The Dimasa have a proverb to the effect that their women are natural weavers. In their civilization and culture, weaving, food production, and agriculture are all intertwined to the point that one cannot exist without the other. A long-standing custom of the Dimasa Kacharis is to cultivate castor plants in order to rear the eri cocoon (the eri pupa consumes the castor leaf), develop it into fibre, reel and spin the fibre into yarn, and then weave the fabric. Women in Dimasa weave eri fabric that is of a significantly higher calibre than that produced in other regions of Assam.

The practice of weaving is so intrinsic to Dimasa culture and their way of life that it frequently appears in their folklore, folktales, and folksongs. The daily craft of the Dimasa women is weaving. Traditionally, all of the supplies and machinery required for weaving are obtained locally. The art of weaving has been quickly developing in recent years. The usage of yarn, dye, motifs, designs, and the producing method have undergone several alterations. The current study aims to recognize the value of traditional practice as well as any potential long-term consequences brought on by modifications to the practice, notably in Dimasa culture. Various Dimasa villages in the Cachar district were visited in order to document the weaving process. To comprehend the most recent altering

patterns, the data is analysed in light of the current regional and national textile industry scenarios.

Simple versions of flora and animals are incorporated into Dimasa textile themes, which draw inspiration from their environment. On plain-weave fabric, the motifs are incorporated using the extra-weft method and colourful yarns, primarily in the colours orange, green, yellow, blue, red, and black. Only for home usage and ceremonial purposes do Dimasa women weave clothes. The majority of the time, weaving is not done for profit or for commercial objectives; but, occasionally, after meeting home requirements, extra textiles are sold. They earn extra money in this manner.

The Dimasa Kachari Festivals:

Festivals, which are an essential component of culture, offer a wealth of possibilities for people to get together, foster cultural vitality, and improve social bonds. The Busu Dima festival, which is significant in every Dimasa home, is one such celebration for the Dimasas. In conjunction to their jhum harvesting season, the Busu festival is held. After several months of rigorous effort, it is time to celebrate and unwind. The celebration helps the Dimasas get over the annoyances of daily living. As a result, after a year of arduous labour, the agricultural people look forward to busu and celebrate it as an auspicious day. Depending on the level of preparation and the number of days to be committed, there are several methods to commemorate Busu Dima. The length of the celebration varies from town to village; some may last three days, while others may last as long as seven. There are three methods to commemorate the magnificent Busu festival. Three days of Busu celebrations are known as Busu Jidap, five days of Busu celebrations are known as Surem, and seven days of Busu celebrations are known as Hangseu Busu.

The Busu festival celebration continues with singing and dancing to the accompaniment of the khram (drum) and the moori, two traditional musical instruments (blowing instrument). These two musical instruments are very necessary and unavoidable in any performance of the Dimasa dances. The primary dance style that is shown is called Baidima and it demonstrates the enthusiastic participation of the populace in ancient ceremonies, rituals, and customs. Up till the early hours of the morning, they dance. The Dimasa women dress in their vibrant traditional clothes, which they weave themselves, during this celebration.

The women of the Dimasa tribe are skilled weavers who produce fabrics with elaborate and creative patterns. Three articles of clothing-Rigu, used to cover the bottom part of the body, Rijamphain, used to wrap the middle portion of the body up to the breast, and Rikhausa, used to cover the top part of the body-are worn by women to cover themselves. A article of clothing that resembles a Gamocha and is typically worn by males in the classic dhoti style, which ends just above the knees. Different ideas and activities are included in religion as a social institution. Similar to the Dimasas, the Dimasas have their own conception of gods and goddesses, including clan gods, gods of a particular region, and many others. They practise their own religion, and they hold the view that the lives of the populace are governed by the gods of a specific region with scattered shrines. The Dimasas also hold numerous deities and spirits to be responsible for the causes of illnesses, and as a result, they believe that they must occasionally be appeased for the wellbeing of the individuals as well as the society as a whole.

The Dimasa Kachari Textiles:

Cotton and castor plants, together with other crops, are grown in their fields as the first

step in the weaving process. As the eri pupa consumes castor leaf, castor leaf is necessary for raising the eri cocoon. The Dimasa women boil the eri cocoons with khari, a type of alkali derived from banana stem ash, which helps to untangle the fibres from the cocoon and aids in spinning the fibres as the cocoons develop. The elderly women spin the fibres into eri yarn in their own time using drop spindles. Every Dimasa home has an eri yarn ball because the yarn is essential to all significant rites and ceremonies in their community and has a significant ceremonial importance. Even while most homes do not still acquire hand-spun eri yarn nowadays, they do do for ceremonial purposes. Clothes can also be made with eri yarn. Rihthap is the name of the primary fabric created from eri yarn. It is a delicately woven cloth made by Dimasa women that resembles a shawl.

Cotton fibre is the most often used yarn for weaving, aside from eri yarn. Cotton is grown in the jhum fields in the same manner as castor is. Previously, Dimasa women would gin cotton fibre at home and then spin it on a spinning wheel to manufacture cotton yarn (Hagzer, 1974). To colour the cotton yarn, they used to create dye from natural bushes. Zenglong and Gisimlai are two wild bushes used to make red and black dyes. The dyeing of the yarn itself comprises several phases and various extra materials. It takes about a week to finish the procedure; the success of the entire dying process is also dependent on the environment. Cotton yarn is now mostly supplanted by synthetic yarns, and the whole indigenous process of spinning cotton fibre into yarn and dying the yarn has ceased, since a wide range of colourful synthetic yarns are readily accessible on the market.

The loom and its components, as well as other weaving equipment, are fashioned from several species of bamboo and the trunk of the betel-nut tree. These components are created by the ladies themselves. They have different names for each weaving tool and names for each stage of weaving in the Grao-Dima language, demonstrating their intimate affinity with weaving. This extensive lexicon demonstrates the significance and participation of weaving in the lives of the Dimasa people. They mostly employ throw shuttle frame looms; fly shuttle looms are uncommon. It is also because throw shuttles are easy to employ for the extra weft pattern and motifs that they create in the cloth when weaving.

The themes utilised in Dimasa textiles may be found in their traditional and cultural encyclopaedia. The motifs are reduced representations of resources found in their surroundings, and each motif has a name and a purpose. The themes provide insight into the nature and natural resources found within the Dimasa dwellings' region. The river is extremely important in Dimasa culture.

The themes are divided into masculine and female categories. The themes distinguish and identify all of the outfits. Male motifs are basic in design and employ fewer colours. Female clothing is more colourful and has a wider range of themes. Dimasa textile motifs are notable for their use of a wide range of colours in their designs. It demonstrates their weaving ability since, for each different coloured yarn, they must develop a separate lifting strategy for warps and manage the same amount of pirn. Weavers with advanced weaving skills can only manage this many different types of yarn at once. Thorishamin, for example, is a popular design for a masculine scarf called Risha Ramai. The motif is a relatively simple geometrical design, but the application of three to four colours makes it more sophisticated in construction and visually appealing. There are also themes that are exclusively used in certain types of clothing, such as the chest wrapper for ladies known as RhijhamphaiBeren and RhijhamphaiGufu, which contain unique motifs. The community's

traditional colours are red, black, maroon, yellow, blue, and purple. They make such colour colours by themselves utilising natural bushes. Both the male and female outfits are unstitched handwoven fabrics.

Conclusion:

The current Dimasa society is undergoing upheaval as a result of increasing urbanization. It is natural to feel insecure and to be affected by other dominant civilizations. At this time, it is critical to instill in them the value and importance of their own culture, as well as to raise awareness among them about the necessity of a sustainable lifestyle and the preservation of cultural variety. It is critical to create a knowledge system that highlights the value of intangible cultural heritage and cultural variety, as well as how to protect it.

References :

Bhattacharjee, G. (2018, 09 28). https://www.sahapedia.org/the-dimasa-kacharis-of-cachar-district-overview. Retrieved 12 24, 2022, from www.sahapedia.org: https://www.sahapedia.org

Bhattacharjee, J. B. (1977). Cachar Under British Rule in North East India. new Delhi: Radiant Publishers, New Delhi.

Bhattacharjee, G. (2017). Sustainability and Authenticity of Indigenous Craft Tradition of Assam. In 2nd International Conference on Design Pedagogy & Contextual Aesthetics (pp. 31-38). Calicut: National Institute of Technology.

Bhuyan, A. (2014, January 17). Weaving a region?s story. Business Standard. Retrieved from https://www.business-standard.com

Bordoloi, B. N. (1984). The Dimasa Kacharis of Assam. Tribal Research Institute, Assam

Choudhury, S. (2006). Shrihatta Cacharer Prachin Itihas. Silchar: Dinkal Press Limited.

Danda, D. (1978). Among the Dimasas of Assam. New Delhi: Sterling Publishers, New Delhi.

Endle, S. (1911). The Kacharis. London: Macmillan and Co Limited, London.

Gait, S. E. (1963 [1933]). A History of Assam. Calcutta: Thacker, Spink and Co.

Hagzer, N. (1974). Dimasa: A Study on the Dimasa tribe of Assam. Jorhat, Assam: Assam Sahitya Sabha.

Menon, M. (2018, September 27). Illegal variants of Bt cotton are growing popular in India, further threatening indigenous crops. Scroll.In. Retrieved from https://scroll.in

Native Varieties of Cotton Disappearing. (2016, March 29). The Hindu. Retrieved from https://www.thehindu.com

Nunisa, R. (2021, 08 11). https://neda.org.in/2021/08/11/a-glimpse-of-the-dimasa-culture/. Retrieved 12 24, 2022, from www.neda.org.in: https://neda.org.in

Sarma, P. C. (2003). The Dimasa : Child of the Big River. Guwahat: Vivekananda Kendra Institute of Culture,Guwahati.

Thaosen, S. R. (1962). Dimasa Kachari' in Asomor Janajati ed. P.C. Bhattacharya. Gauhati: Asom Sahitya Sabha.

Lalsim, R. (2005). The Tribes of N. C. Hills Assam. N. C. Hills: North Cachar Hills Autonomous Council Publication Series.

Laitala, K., Klepp, I., & Henry, B. (2018). Does Use Matter? Comparison of Environmental Impacts of Clothing Based on Fiber Type. Sustainability, 10 (7), 2524. https://doi.org/10.3390/su10072524

कालिदास की रचनाओं में प्रकृति–चित्रण के शिल्पगत सौंदर्य की अभिव्यंजना

डॉ. रंजना उपाध्याय*

शोध–सार

कवियों की विराट परम्परा में ऐसे कवि कम ही ज्ञात होते हैं जिन्हें राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्ति देने की कला पर अधिकार प्राप्त हो, परन्तु निःसन्देह यह अधिकार कविकुलगुरू संस्कृत साहित्य के भूषण कालिदास को प्राप्त है। यही कारण है, कि कालिदास की रचनाओं में प्रकृति के जिस श्रृंगारिक रूप की अभिव्यंजना प्राप्त होती है, वह अन्यत्र देख पाना असम्भव है । काव्य मर्मज्ञों ने महाकवि कालिदास को 'कविता कामिनी का विलास' की संज्ञा दी है। कविकुलगुरू की प्रकृति–चित्रण विषयक रचनाओं से आधार–सामग्री प्राप्त कर प्रत्येक कालखण्ड में अनेक प्रकृति–कवियों व दार्शनिकों ने प्रकृति के लावण्यमयी स्वरूप का विशद् विवेचन अपनी कृतियों में किया है। न केवल मेघदूत, ऋतुसंहार खंडकाव्य अपितु महाकवि कालिदास के काल विजयी नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में प्रकृति के साथ मानव साहचर्य का अद्भुत वर्णन दर्शनीय है।

मुख्य शब्द : *कालिदास, प्रकृति, ऋतु, रचना, सौन्दर्य*

शोध–प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र में वर्णात्मक एवं व्याख्यात्मक शोध–प्रविधि का प्रयोग किया गया हैं तथा शोध–पत्र लेखन हेतु विविध सन्दर्भ ग्रंथों, कालिदास की साहित्यिक रचनाओं से सम्बंधित पुस्तकों एवं विषयगत शोध–आलेखों का अध्ययन किया गया हैं।*

उद्देश्य– प्रस्तुत शोध–पत्र संस्कृत साहित्य के विराट व्यक्तित्व, कवियों की विराट परम्परा में प्रातः स्मरणीय कविकुलगुरु कालिदास की रचनाओं में प्रकृति के मनोहारी स्वरुप का दिग्दर्शन कराने का प्रयास है।

प्रस्तावना–

प्रकृति जगत और मानव जीवन का अनादि काल से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मानवता का विकास प्रकृति के ही विशाल प्रांगण में हुआ है। प्रकृति के साथ मानव का सुखदुःखात्मक सम्बन्ध अटूट रहा है। मानव को सच्चा सुख, शान्ति और आनन्द प्रकृति की गोद में ही मिला है। प्रकृति–नटी के बहुरंगी रूप मानव को सदा आकर्षित करते रहे हैं। ''भारतीय चिन्तन में मानव प्रकृति जगत में जन्म लेता है। उसका जीवन प्रकृति–जीवन का ही अंग है। उसकी सौन्दर्य परिकल्पना प्रकृति से उद्भूत है। दोनों का परिचालन एक ही प्रकार के नियमों से होता है। इसी कारण भारतीय कवि मानव और प्रकृति के आन्तरिक और घनिष्ठ सम्बन्ध को कभी नहीं भूलता।''[1] सम्पूर्ण प्रकृति का जितना लावण्यमय श्रृंगारिक संयोजन कालिदास की रचनाओं में यत्र–तत्र दिखायी देता है, उतना अन्य नहीं।

''प्रकृति सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है अथवा उस बड़े शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा–सा नमूना है''[2]

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतोर्लब्धाय।
स्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां।
मुक्तास्थूलास्तरूकिसलये प्वश्रुलेशः पतन्ति।। 43।। मेघदूतम्[3]

''हे गुणवती हिमालय की गोद से जो हवा दक्षिण की ओर चलती है, जो देवदारू द्रुमो के किसलय पुट को भेद करने के कारण उसके क्षरित दुग्ध से सुगन्धित बनी होती है और हिमालय की तुषार राशि के स्पर्श से शीतल बनी रहती है, उसे भी मैं ह्रदय से लगाता हूँ इस आशा से कि इसने तुम्हारे अंगों का स्पर्श किया होगा और मैं भी कदाचित, उसका स्पर्श पाकर धन्य हो सकूँगा।

भारत का विशाल भूखण्ड भौगोलिक दृष्टि से एक अविभाज्य इकाई है । उत्तर में पवर्तराज हिमालय दोनों भुजाओं से पूर्व और पश्चिम समुद्र को छूता हुआ इस प्रकार छाया हुआ है मानों पृथ्वी का मानदण्ड हो। कालिदास ने कहा भी है–अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा हिमालयो नाम

*सहायक आचार्य, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नागाधिराजः पूर्वापरौ तोयनिधिवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।। 1।। कुमारसम्भव[4]

हिमालय के प्रदेशों को कालिदास ने देवभूमि कहा है और हिमालय पर्वत को देवात्मा । कालिदास संस्कृत भाषा के महान कवि व नाटककार थे, उन्होंने भारत की पौराणिक कथाओं और दर्शन को आधार बनाकर रचनाएँ की। उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन और दर्शन के विविध रूप तथा मूल तत्व निरूपित हैं। कवि हृदय के नाते कालिदास मानवीय संवेदना से परिपूर्ण हैं। कण–कण पर उनका अनुराग है। नदी, निर्झर, वन, पर्वत, उपत्यका, खेत, खलिहान, बाग, बावड़ी, उपवन, वृक्ष, लता, खग, मृग, पशु, बालक, नर, नारी, आकाश, अन्तरिक्ष, मेघ, विद्युत, नक्षत्र आदि प्राकृतिक पर्यावरण के समस्त घटकों के प्रति उनमें आत्मभाव है। मनुष्य को पर्यावरण एवं उसके विभिन्न घटकों का ज्ञान प्राचीन काल से ही था जिसकी चर्चा भारतीय प्राचीन ग्रन्थों, यथा– रामायण, महाभारत, गीता आदि में भी हुई है। हमारी भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के भौतिक घटकों को प्राणीमात्र के जीवन का आधार माना गया है और कहा गया है –''क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा, पंचतत्व ते रचत शरीरा।'' अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु से प्रत्येक प्राणी के शरीर की रचना हुई है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी रामायण महाकाव्य के किष्किन्धाकाण्ड खण्ड में प्रकृति के मनोहारी स्वरूप की अभिव्यंजना की है, कालिदास उस युग के रचनाकार थे जब वैदिक परम्पराओं का स्थान पौराणिक मान्यताएँ ले चुकी थीं, यद्यपि पुराण वेदों के उपवृंहण माने जाते हैं, गीता में भी स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है–

''अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'' ।।10 (26)।। गीता[5]

इसी प्रकार पौराणिक सन्दर्भों में कल्पवृक्ष, देवदार, पारिजात, संजीवनी बूटी, हिमालय पर्वत, कैलाश पर्वत, सुमेरू, गंगा, नर्मदा, यमुना कमल, ब्रह्मकाल आदि अनेक वृक्षों, पर्वतों नदियों व फलदायी वनों का विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

कविकुलगुरू कालिदास द्वारा रचित समस्त कृतियों में भी प्रकृति का आत्मिक विवेचन प्रभावी व श्रृंगारपूर्ण रूप से प्राप्त होता है। नागरिक और वन्य–जीवन में इतना सामंजस्य, संवेदना की दृष्टि से इतना एकरूप्य कि दोनों भिन्न नहीं रह जाते, मानव तथा प्राणिजगत में इतना भाईचारा वाल्मीकि में भी कम ही था। वाल्मीकि के पात्र प्रकृति के मुग्ध दर्शक हैं और कालीदास के पात्र प्रकृति के साथ तादात्म्य रखने वाले।

कविकुलगुरू की रचनाओं की बात करें तो वर्तमान साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने सात ग्रन्थों को कालीदास कृत स्वीकार किया है, इन रचनाओं में रघुवंश और कुमार संभव दो महाकाव्य हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'मालिविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' तीन नाटक हैं तथा 'ऋतुसंहार' व 'मेघदूत' दो गीतिकाव्य हैं। इनमें मेघदूत तथा अभिज्ञानशाकुन्तल विदेशों में भी प्रतिष्ठाप्राप्त रचनाएँ हैं।

ऋतुसंहार गीतिकाव्य कालिदास की प्रथम काव्य–रचना है। इसका शाब्दिक अर्थ है ऋतुओं का समूह। संस्कृत काव्यों में ऋतुओं के ऊपर लिखी जाने वाली एकमात्र रचना ऋतुसंहार ही है। ऋतुसंहार के छः सर्ग गीतात्मक स्वरों में हैं। इसके 144 श्लोकों में ग्रीष्म, प्रावृट, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं का वर्णन किया गया है। ये ऋतुएँ क्रमशः ज्येष्ठ–आषाढ़, श्रावण–भाद्रपद, क्वांर–कार्तिक, अगहन–पौष, माघ–फाल्गुन और चैत्र वैशाख में आती है।

प्रथम ऋतु ग्रीष्म में कवि ने मनुष्येत्तर प्राणि वर्ग पर पड़ने वाले ग्रीष्म के प्रभाव का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने सिंह, गज, मयूर, सर्प, वराग, भेक कपि, सारस, गवय आदि की पीड़ा व्यक्त की है तथा विन्ध्य पर्वत श्रृंखला–क्षेत्र में ग्रीष्म की प्रचण्डता व दावाग्नि का प्रत्यक्ष निरूपण किया है। द्वितीय सर्ग में प्रावृट् का वर्णन है जिसमें प्रकृति पर पड़ने वाले वर्षा के प्रभाव का श्रृंगारिक वर्णन है, तृतीय सर्ग में शरद ऋतु का वर्णन है इसमें प्राकृतिक सुषमा का वर्णन है, मन्द–मन्द बहती वायु तथा चारों ओर के पुष्पित–पल्लवित वातावरण का वर्णन है। इसके पश्चात् हेमन्त ऋतु में जौ, गेहूँ, आदि अन्न के पौधे में सुन्दर पत्ते निकल आते हैं, लोध्र के वृक्ष फलते हैं, धान पूरी तरह पक जाता हैं, ओस गिरती है और कमल नष्ट हो जाते हैं, पंचम सर्ग में शिशिर ऋतु का वर्णन किया गया है, इस ऋतु में भी शीत की उग्रता व घने, कोहरे के कारण वायु के ठण्डेपन का चित्रण है, अन्तिम सर्ग के 28 श्लोकों में वसन्त श्री का वर्णन हैः–

''द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवत्रः सुगन्धिः। सुखाः प्रदोषा दिवासाश्च रम्याः सर्व प्रिये चारूतरं वसन्ते।।'' ।।6 (2) ।। ऋतुसंहार[6]

वसन्त श्रृंगारिक ऋतु है, प्रकृति में चहुँओर

उल्लास है। अतः कालिदास ने भी इस ऋतु में प्राकृतिक श्रृंगार का चित्रण प्रस्तुत किया है।

''रम्य प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभास पुस्कोकिलस्य विरुतं पवन सुगन्धिः।
मत्तालियथविरुतं निशि सीधुपानं सर्व रसायनमिद कुसुमायुधस्य।।6 (35)।। ऋतुसंहार[7]

''रमणीय संध्या, प्रस्फुटित चन्द्रिका, कोयल की काकली, सुरभित पवन, मतवाले भ्रमरों का गुंजन तथा रात में वारुणी–पान, ये सभी कुसुम.बाणों को धारण करने वाले भगवान कामदेव के उद्दीपक रसायन हैं।''

संस्कृत साहित्य में ऋतु–वर्णन की परम्परा का प्रारम्भ आदिकवि वाल्मीकि से ही हो गया है, रामायण में भी प्रसंगानुसार प्रकृति के भव्य एवं विराट चित्रणों के साथ वर्षा आदि ऋतुओं का हृदयाग्राही वर्णन है। ऋतुसंहार से अनेक कवियों ने ऋतुवर्णन की प्रेरणा प्राप्त की है।

इसी प्रकार, मेघदूत खण्डकाव्य के सहारे कवि ने चित्रकूट से लेकर उत्तर हिमालय (अलकापुरी) तक का वर्णन किया है, इस खण्डकाव्य में यक्ष ने मेघ से प्रार्थना की है कि वह मित्र बनकर उसका सन्देश यक्ष की प्रिया तक ले जाय। इसमें कवि ने मेघ से अलकापुरी का मार्ग बतलाते हुए रागगिरि से कनखल तक मार्ग के मध्य पड़ने वाले पर्वतों, नदियों, जनपदों, नगरों का मनोहारी वर्णन किया है, इस खण्डकाव्य में रामगिरी, मालक्षेत्र, आम्रकूट, दार्शार्णः, विदिशा, निर्विन्ध्या, सिन्धु, अवन्ति, विशाला, गम्भीरा, देवगिरि, चर्मण्वती, दशपुर, ब्रह्मवर्त,सरस्वती आदि जनपदों व नदियों की विशेषताओं को पृथक–पृथक रेखांकित कर मेघ को कनखल पहुँचा दिया है जहाँ गंगा, भूमि पर अवतरित होती है। 'कुमारसंभव' महाकाव्य की प्रसिद्धि का प्रमुख कारण हिमालय वर्णन है, देवदारू के वृक्षों, हिमालय पर होने वाले भूर्ज वृक्षों और उनकी छाल जिस पर पत्र और ग्रन्थ लिखे जाते थे तथा वहाँ कीचकों (बाँस के पोले वृक्षों) जो वायु के वेग से बाँसुरी– जैसा शब्द करते हैं, रात्रि में चमकने वाली औषधियों, बर्फ, गुफाओं के अन्धकार और उन्हें चारों ओर से घेरे हुए मेघों, चमरी मृगों और भागीरथी के शीतल जलकणों से युक्त देवदारू को कम्पित करती हुई, वायु का मनोहारी चित्रण है जो अन्यत्र दुर्लभ है–

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले बहति सलिलोद्गारमुचौविमाना
मुक्ताजालंग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ।। 60 ।। पूर्वमेघ[8]

''हे इच्छानुरूप संचरण करनेवाले मेघ ! जिसकी गंगा–रूपी साड़ी सरक गई है, ऐसी उस अलका को प्रणयी कैलास के क्रोड़ में बैठी हुई देखकर तुम उसे अवश्य पहचान जाओगे । वर्षाकाल में जब उसके ऊँचे महलों पर घिरकर तुम सलिल की धारा वरसाने लगोगे, तब वह ऐसी सुशोभित हो उठेगी जैसे किसी कामिनी के सिर पर मोतियों की जाली से गूंथा हुआ मंद्र केश.वन्ध चमकता हो''

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि मेघ की श्यामल कान्ति से कवि अधिक चमकृत है और ललित उपमाओं द्वारा उसकी भावना कराने के लिए वह व्यग्र है–

विद्युत्वन्तं ललितवनिता सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैविशषेः।। 9 ।। उत्तरमेघ[9]

''अलका के महल अपने इन ..इन गुणों से तुम्हारी प्रतियोगिता करेंगे, तुम्हारे पास बिजली हैं तो उनमें मोहिनी वनिताएँ हैं। तुम्हारे पास इन्द्रचाप हैं तो उसमें सुरम्य चित्र अंकित हैं। तुम्हारे पास मधुर गम्भीर गर्जन है, तो उनमें संगीत के मृदङ्ग ठनकते रहते हैं। तुम्हारे भीतर जल भरा है, तो उनमें मणि चमकीले भूमि खण्ड हैं। तुम आकाश में उन्नत उठे हुए हो, तो वे गगन का चुंबन करते रहते हैं।''

इसी प्रकार 'रघुवंश' महाकाव्य में भी वसन्त ऋतु का वर्णन मृगयावर्णन प्रसंग में प्राप्त होता है। नाटकों की श्रृंखला में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' कालिदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। विश्वविख्यात जर्मन कवि गेटे ने कहा है ''यदि स्वर्ग और पृथ्वी को एक स्थान पर देखना चाहते हो तो शाकुन्तल पढ़ो'' विश्व की प्रायः समस्त भाषाओं में यह अनुवादित है तथा प्रत्येक शास्त्रीय नृत्यशैली में मंचित किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में ऋषि विश्वामित्र तथा मेनका द्वारा उत्पन्न शाकुन्तला नामक कन्या तथा पुरूवंशीय राजा दुष्यन्त की प्रणय कथा है, चूँकि शकुन्तला का पालन–पोषण कण्व के आश्रम में हुआ, अतः वह प्रकृति के सानिध्य में रही, शकुन्तला को कवि ने प्रकृति की औरस पुत्री माना है। उसका अंग–अंग प्रकृति परिवेष्टित है–

''अधरः किसलय–रागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमेषु सन्नद्धम्''।।1(2)।।
अभिज्ञानशाकुन्तल[10]

"उसके ओठ किसलयों की लाली जैसे और बाहें कोमल विटपों जैसी हैं और अंग–अंग में दमकता यौवन लता में लगे फूलों के समान है।"

इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी प्राकृतिक सौन्दर्य का उपमानों के रूप में श्रृंगारिक चित्रण हुआ है, शकुन्तला स्वयं भी प्रकृति–प्रेमी नायिका है, शकुन्तला के चतुर्थ अंक में महर्षि कण्व कहते हैं:–

"हे तपोवन के तरूओं! जो तुमको पहले पिलाये बिना कभी स्वयं पानी नहीं पीती, भूषण पहनने का शौक होने पर भी जिसमें तुम्हारे प्रति स्नेह के कारण कभी तुम्हारे पल्लव नहीं तोड़े, तुम में पहला फूल खिलने पर जो पुत्र–जन्म जैसा उत्सव मनाती थी, वह शकुन्तला आज पति के घर जा रही, तुम सब इसे विदा करो।"

उम्गलिअदब्भकवला मित्र परिवत्तणञ्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू वित्र लदाओ।" ।।
उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनतंना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।। 4 (2) ।।
अभिज्ञानशाकुन्तल[11]

"(शकुन्तला की बिदाई से दुःखी होकर) हरिणियाँ चबाई कुशा के कौर उगल रही हैं, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताओं से– पीले–पीले पत्ते इस प्रकार रीत रहे हैं, मानों उनके आँसू गिर रहे हों।"

निष्कर्ष :

उपरोक्त समस्त प्रसंगों में प्रकृति–चित्रण की अभिव्यंजना ही कालिदास के शिल्प–कौशल की अवर्णनीय विशेषता है, उन्होंने मनुष्य तथा प्रकृति के सम्बन्ध को जितने शिल्पगत सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत किया है उतना विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं दिखायी देता, वे प्राकृतिक संवेगों के चतुर शिल्पी थे, वे केवल कवि हैं, शत–प्रतिशत कवि, विशुद्ध कलाकार उनका वन्य जगत वास्तव में इतना भव्य है कि एक बार उसमें प्रविष्ट हो जाने पर उसकी रमणीयता से बाहर निकलने को जी नहीं करता।

प्रकृति का मानवीकरण भारत ही नहीं, अपितु विदेशों में भी बहुधा हुआ है किन्तु प्रकृति के तरल ओस–कण से लेकर परूष शिलाओं तक का जितना विश्वास और साख्य कालिदास को प्राप्त है उतना अन्यत्र किसी को नहीं कहना अनुचित न होगा।

सन्दर्भ सूची :

1. रघुवंश डॉक्टर, प्रकृति और काव्य, पृष्ठ सं. 6
2. प्रसाद जयशंकर, चित्रधार, पृष्ठ सं. 128
3. कालिदास, मेघदूत, श्लोक सं.– 43
4. कुमारसम्भव, श्लोक सं.– 1
5. गीता, दशम सर्ग, श्लोक सं. –26
6. ऋतुसंहार, षष्ठ अंक श्लोक सं. – 2
7. ऋतुसंहार, षष्ठ अंक श्लोक सं. – 35
8. कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक सं.– 60
9. कालिदास, मेघदूत, उत्तरमेघ, श्लोक सं.– 9
10. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम, प्रथम सर्ग श्लोक सं.– 2
11. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम, चतुर्थ अंक श्लोक सं.– 2

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. अग्निहोत्री, डॉ0 प्रभुदयाल (1998), महाकवि कालिदास, प्रथम खण्ड (स्थान, काल और कृतियाँ), ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली
2. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद (1980), मेघदूत एक पुरानी कहानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. तिवारी, डॉ राम शंकर (2018), महाकवि कालिदास, प्रथम संस्करण, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी
4. विद्यालंकार, महेश (1994), कालिदास और जयशंकर प्रसाद की महाकाव्य सृष्टि, भारतीय विद्या प्रकाशन, प्रथम संस्करण
5. प्रसाद, जयशंकर (2020), चित्रधार, डायमंड बुक्स
6. डॉक्टर रघुवंश (2005), प्रकृति और काव्य, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
7. कुमार, प्रो. पुष्पेन्द्र (2013), कालिदास के साहित्य में सौन्दर्य एवं सामंजस्य, भारतीय बुक कोर्पोरेशन
8. Chettiarthodi, R. (2005)- Humanizing Nature : A study in the imagery of Kalidasa- Cracow Indological studies, 7, 19-27
9. Srivastava, R., Singh, S-N- (2020). A Canvas of Perinnial Beauty of Nature : An Ecocritical Study of the Works of Kalidas-International Journal of Creative Research Thoughts, 8(5), 2857-2861.
10. Kale, M.R. (2011). The Meghduta of Kalidasa- Motilal Banarasidas Publication Delhi.

संगीत के परिप्रेक्ष्य में : भूत, वर्तमान और भविष्य

डॉ. रोज़ी श्रीवास्तव*

सार

कल, आज और कल, सृष्टि के हर पल को अपने में समेटे हुए हैं। यही समय–चक्र सृष्टि की हर गतिविधियों को, हर परिकल्पनाओं को एक सूत्र में पिरोये हुए है। भारतीय पृष्ठभूमि की चिन्तन–श्रृंखला में संगीत का उद्‌गम सृष्टि के मूल से जुड़ा है। संगीत अपनी विकास–यात्रा की टेढ़ी–मेढ़ी पगडंडियों से होकर अनेक उतार–चढावों के फलस्वरूप अपने वर्तमान स्वरूप में स्थापित हुआ है। अतः इस समय चक्र की परिधि में संगीत की दशा एवं दिशा पर संक्षेप में चर्चा करना प्रस्तुत लेख का केन्द्र बिन्दु है।

मुख्य शब्द : *संगीत, विकास, पृष्ठभूमि, चिन्तन*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों से प्राप्त सामग्री का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है ।*

आज हम जिस छोर पर खड़े हैं वहीं से बीते कल, आज और आने वाले कल के बारे में संगीत के संदर्भ में दृष्टि डालें तो सांगीतिक परम्परा का प्राचीनतम युग वैदिक काल माना गया है। तत्कालीन संगीत की दो धाराएं समानान्तर रूप से विकसित हुईं, यथा– पहली मार्गी, दूसरी देशी। मार्गी संगीत शास्त्र के नियमों में बंधा था जबकि देशी संगीत लोक में व्याप्त था। भारतीय कला संस्कृति और साहित्य ''सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम्'' की त्रिकुटी से प्रेरित है तथा तीनों ही विधाओं ने ''पुरूषार्थ–चतुष्टय'' की अवधारणा का निर्वाह किया अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का प्रमुख ध्येय रहा है। हमारे ऋषि–मुनियों एवं संगीतज्ञों ने अपने लक्ष्य की सिद्धि हेतु संगीत को सर्वोपरि माना है। ''वैदिक काल में संगीत धर्म और अध्यात्म से जुड़ा था।''[1] सामगान परम्परा धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति का सरलतम माध्यम रही है, वहीं मुगल काल में संगीत रजवाड़ों और कोठों की धरोहर बनकर रह गया। जहाँ अर्थ और काम आदि को महत्व दिया गया। तत्पश्चात् अंग्रेजों के काल में संगीत की गतिविधियाँ नगण्य–सी रहीं किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संगीत के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया और वहीं से संगीत का शैक्षिक और उसका व्यावसायिक पक्ष, दोनों पहलू समान रूप से उभरकर सामने आये। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता है कि ये दोनों पहलु संगीत के क्षेत्र में पहले नहीं थे बल्कि ये दोनों ही प्रक्रियाएँ साथ–साथ विकसित हुईं। प्रारम्भ से ही संगीत–शिक्षा गुरूकुल की छाया में पल्लवित हुई । फिर मुगल काल में घरानों की परिधि में फली–फूली और वर्तमान में विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और संगीत संस्थाओं से जुड़ी।

वास्तव में युग की गति एवं नये परिवर्तनों के आधार पर शिक्षा के साथ–साथ विषय के प्रयोजन एंव दृष्टिकोण में भी बदलाव आता है। विकास के मार्ग में खुलते नित नये आयाम एक चुनौति का कार्य करते हैं और कुछ उद्देश्यों को अपने में समाहित किये रहते हैं। पर यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि कौन किससे प्रभावित होता है? कला परिवेश से या कला से परिवेश ? यूं देखें तो संगीत के दो पहलु रहे हैं– पहला उसका कला पक्ष, दूसरा उसका शास्त्रीय पक्ष। इस तत्व की गहराई में जाएँ तो कला का व्यावसायिक पक्ष परिवेश के अनुसार चलता है जबकि उसका शास्त्रीय पक्ष कला के नियमों में बंधा होता है। यह सत्य है कि परिवर्तन प्रकृति का सार्वभौम नियम है, यह अलग बात है कि कभी परिवर्तन की गति धीमी रही तो कभी तेज, तो कभी परिवर्तन कम हुए, कभी अधिक। किन्तु परिवर्तन, परिवर्तन ही है। वास्तव में परिवर्तन व्यक्ति, समाज, संगठनों और समूहों को बदल देता है यह स्वाभाविक है कि इनसे जुड़े सभी पहलु, सभी क्षेत्र प्रभावित हुए बिना नहीं रहते और यही कारण है कि जहाँ प्राचीन वर्तमान का आधार स्तम्भ रहा है वहीं वर्तमान पर भविष्य की नींव टिकी हुई है। समय एवं परिस्थिति बदलने के साथ–साथ आवश्यकताएं, परम्पराएं और सोच के नजरिये में भी स्वतः ही बदलाव आता है और परिस्थिति का नये दृष्टिकोण से

*सह–आचार्य, संगीत (कंठ), राजकीय महारानी सुदर्शन महाविद्यालय, बीकानेर।

मूल्यांकन होता है। देखा जाय तो इस परिवर्तन में कई महत्वपूर्ण घटक कार्य करते हैं, जैसे– राजनैतिक उथल–पुथल, भौगोलिक स्थितियाँ, सामाजिक प्रथाएं, आर्थिक ढांचा आदि। किन्तु संगीत के परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो नित नये बदलाव के बाद भी वह अपनी मूल से कहीं अलग नहीं हुआ। अतः भारतीय संगीत–परम्परा में सौष्ठव, सुघड़ता और शास्त्रबद्धता जो देखने को मिलती है वह बेजोड़ है।

संगीत के संदर्भ में यदि समय चक्र की तीनों कड़ियों को यानि हर काल में संगीत के अस्तित्व को, वर्चस्व को अलग–अलग करके देखें तो किसी एक के बारे में आंकलन करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। निःसंदेह हम बीते कल को संगीत का स्वर्णिम युग कह सकते हैं। किन्तु सोचने का विषय यह है कि आज के संदर्भ में संगीत का चाहे व्यावसायिक पक्ष हो या फिर शैक्षिक, इनकी क्या स्थिति है? क्या उपयोगिता है? वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कितनी सार्थकता है? और भविष्य में क्या वह अपनी कसौटियों पर खरा उतरेगा? तो संगीत के प्रयोजन की सीमायें अनन्त हैं। संगीत देश काल, भाषा, शब्दों की सीमाओं से परे है। संगीत में सामूहिक चेतना छिपी है। भारतीय इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं कि समाज से लेकर सत्ता तक सभी ने संगीत का उपयोग एवं उपभोग किया है। युद्ध से लेकर अर्चना तक सभी पृष्ठों में संगीत के हस्ताक्षर रहे हैं। देश को दशा एवं दिशा देने का कार्य बखूबी निभाया है। प्राचीन से वर्तमान तक संगीत ने कहीं–न–कहीं प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से लोक के मानस पटल पर अपनी छाप अंकित की है। इस बात को हम अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि हमारी लोक कलाओं, गीत–संगीत ने विराट स्वरूप को आधार दिया है जिसका प्रभाव हमारी भारतीय चेतना की गहराई तक स्थित है। हमारे संगीत के उस निकटतम अनुभव में जीवंतता, गति और लय है, पूर्णता–समग्रता–संतुलन–एकाग्रता–अखण्डता से ओत–प्रोत है। वर्तमान में हमारा लक्ष्य धर्म, मोक्ष के स्थान पर अर्थोपार्जन पर आकर टिक गया है, इसी परिधि में ही सीमित होकर रह गया है। इसे अनदेखा नहीं कर सकते हैं कि बदलते परिवेश के कारण संगीत के प्रयोजनों में भी बदलाव आया है, चाहे संगीत का शैक्षिक पक्ष हो या व्यावसायिक। संगीत शिक्षा के क्षेत्र में पहले की अपेक्षा गुणात्मकता बढ़ी है तो वहीं गुणवत्ता पर प्रश्न चिन्ह भी लगा है। ''गुरुकुल पद्धति की कमियों को दूर करना ही संस्थागत शिक्षण के जन्म का मूल उद्देश्य रहा है।''[2] वर्तमान संगीत शिक्षा की प्रक्रिया परम्परावादी होने के साथ–साथ प्रयोगवादी प्रवृत्तियों को भी आत्मसात करने के लिये दृढ संकल्पित है। संगीत को इतिहास, मनोविज्ञान, धर्म, दर्शन, योग, चिकित्सा सभी विषयों से परस्पर जोड़ा गया है। रोजगार की सम्भावनाओं के संदर्भ में यदि संगीत की बात करते हैं तो शैक्षिक और व्यावसायिक पक्ष दोनों की ही समान भागीदारी रही है। आज इस भौतिकतावादी, प्रौद्योगिक युग में जीवन इतना संघर्षमय और गतिशील हो गया है कि व्यावसायिकता की इस लम्बी दौड़ में प्रत्येक व्यक्ति की सोच, विषय में रोजगार–सम्बन्धी सम्भावनाओं को लेकर काफी जागरूक है। स्वावलम्बी बनने हेतु, पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और पैसा भरपूर मिल सके। इसके लिये प्रत्येक विद्यार्थी विषय चयन के प्रति बेहद सजग हैं। यह कहने में कहीं संकोच नहीं है कि संगीत में विद्यार्थी का भविष्य उज्ज्वल है। सच तो यह है कि हमारे देश की अर्थ–व्यवस्था का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो फिल्मी संगीत, लोक संगीत, सांस्कृतिक आदान–प्रदान और पर्यटन विभाग पर निर्भर है। आज जहाँ सम्पूर्ण विश्व ''ग्लोबलाईजेशन'' के दौर से गुज़र रहा है। आज सम्पूर्ण विश्व को हम एक रंगमंच पर देख सकते हैं। इस विराट मंच पर संगीत की भूमिका पर यदि हम गहराई से विचार करें तो आज के इस अर्थ प्रधान युग में मानव अपने शाश्वत मूल्यों से दूर होता जा रहा है, यही नहीं मानवीय संवेदनाएं भी अर्थजन्य स्वार्थों के नीचे दब कर रह गयी हैं। हम चाहे कितना भी सोचकर यह तसल्ली दे लें या फिर अपने आप को सांत्वना दे लें कि हमने विकास की पराकाष्ठा को छू लिया है किन्तु सत्य तो यही है कि हम अपने आप में ही इतनी समस्याएँ समेटे हुए हैं जो ज्वलन्त रूप धारण कर आज हमारे समक्ष मुंह बांये खड़ी हैं, जैसे भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद आदि। ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियों पर कैसे अंकुश लगाया जाये? तो मैं सभी का ध्यान आकर्षित करना चाहूंगी कि संगीत ही एक ऐसा सरल, सहज एवं सशक्त माध्यम है जिससे कहीं–न–कहीं वैयक्तिक सोच को कुछ प्रतिशत बदला जा सकता है। हमारा संगीत विश्व बंधुत्व की आधारशिला प्रेम, दया, सहयोग, एकता आदि भावनाओं को परिपोषित करता है। हमारा संगीत सदा से ही ''वसुधैव–कुटुम्बकम्'' की भावना का पक्षपाती रहा है। आज हमारे बीच पनप रहे राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, आक्रोश, घृणा जैसी भावनाओं के समाधान हेतु, उनके उन्मूलन हेतु

ऐसे संदेशों की आवश्यकता है, ऐसी रचनाओं की आवश्यकता है जो समय–सीमा और जात–पात से परे हैं, जैसे– वन्देमातरम्, ऐ मेरे वतन के लोगों, मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, मिले सुर मेरा तुम्हारा आदि। आज भी इन रचनाओं को सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये आवाजें दिल के किसी कोने को चीरकर दस्तक देती हैं, हमें जगाती हैं और सावधान करती हैं, उस भविष्य से जिससे हम बेखबर हैं। ऐसे समय में यदि एक जुट होकर प्रयास न किया गया तो कहीं ऐसा न हो कि वर्तमान युगीन कोलाहल में हम अपनी दिशा खो दें। दिशाहीनता की इस स्थिति में किसी दोराहे–चौराहे पर न आ खड़े हों। यही सोच, यही चिन्ता प्रस्तुत लेख में व्यक्त की गयी है। संगीत ही इस मार्ग में हमारा दीपक है, पाथेय है और है हमारा ध्रुव ध्येय।

सन्दर्भ सूची :

1. काव्या, लावण्य कीर्ति सिंह, पं. ओंकारनाथ जी ठाकुर एवं उनकी शिष्य परम्परा, पृ. 1
2. चौधरी, डॉ. सुभद्रा, संगीत संचयन, पृ. 16

नाट्यशास्त्र में भरत की रस परिकल्पना

डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय*

शोध सार

नाग युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना भरत मुनि का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' का निर्माण होना है।

आधुनिक काल में प्रचलित संगीत का आदि पुरुष कहलाने का अधिकार आचार्य भरत को ही है क्योंकि संगीत के इतिहास में सर्वाधिक प्राचीन कृति इनकी ही है । 'नाट्यशास्त्र' की रचना इन्होंने तृतीय शताब्दी के लगभग की थी। भरत कृत नाट्यशास्त्र भारतीय संगीत की अनुपम और अद्वितीय देन है। इसको नाट्यशास्त्र, योगशास्त्र, अथवा मोक्षशास्त्र भी कहा जा सकता है। श्रुति–विषयक अति सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन के कारण यह नाट्य शास्त्र अनहद नाद एवं नृत्य का सम्बन्ध योग के साथ बताने के कारण यह योगशास्त्र है।[1] मोक्षशास्त्र इसलिए है क्योंकि अनहद संगीत एवं स्वयंभू नृत्य, के योग के सर्वोत्तम कारण है।

बीज शब्द– *संगीत, ग्रन्थ, नाट्यशास्त्र, रस परिकल्पना*

प्रविधि– *इस शोध–पत्र के लिए द्वितीयक माध्यमों से सहायता ली गई है ।*

भूमिका

भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्य तथा संगीत का वृहद् कोष है तथा दोनों के सम्बन्ध में प्राचीन और प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है। रस, छन्द, भाषा, वेषभूषा, रंगमंच, अभिनय, संगीत तथा नृत्य में से ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका विवरण इस ग्रन्थ में न हुआ हो। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कहा कि कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग या कर्म नहीं है, जो नाट्य में न दिखाई देता हो,

''न तद्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते''।[2]

नाट्यशास्त्र काव्य और कला का विश्वकोष है। साथ ही, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों की विराट चेतना का अप्रतिम संग्रह भी है। इसके सैंतीस अध्यायों में भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास के रहस्य छिपे हुए है। वैदिक काल से पूर्व की सभ्यता और कला के रूप की कालिन्दी बह रही है, भारतीय धर्म और दर्शन की कहानी सजी हुई है और आदिम सभ्यता से आज तक के मानव समाज के विकास की यात्रा का दिग्दर्शन होता है नाट्यशास्त्र में ललित कलाओं के सभी विषयों काव्य, संगीत, नृत्य, शिल्प नाट्य एवं अन्य कलाओं का विस्तार से विवरण है। मुगल आक्रमण से पूर्व भारत में भले ही अलग–अलग राज्य थे, पर उन सबकी मूल धारा में एक सांस्कृतिक भूमिका थी। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक राष्ट्र के रूप में था। यही कारण था कि अनेक नाट्य–ग्रंथों के होने पर भी पूर्व पश्चिम–उत्तर दक्षिण में ललित कलाओं के अध्ययन–प्रदर्शन का मुख्य ग्रंथ मौलिक रूप से भरत का नाट्यशास्त्र ही था।[3] भारतीय दृष्टि कोण के अनुसार भरत का नाट्यशास्त्र 'नाट्यवेद' के नाम से सम्मानित रहा है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वह चार वेदों के अतिरिक्त पंचम तथा सर्ववर्णिक वेद है।

भरत की रस–कल्पना :–

भरत का नाट्यशास्त्र, रस–सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ है। भरत के अनुसार, प्रत्येक ललित कला का उद्देश्य रसानुभूति है। रस–सम्बन्धी विवरण 'नाट्यशास्त्र' के अध्याय 6 में प्रमुख रूप से हुआ है। भरत के अनुसार रस के बिना कोई कार्य पूर्ण नहीं होता–

''न हि रसावृत्ते कश्चिदृष्यर्थः प्रवर्तते।।''[4]

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत रस को प्रमुख स्थान दिया गया है– भाव, अभिनय, धर्म, वृत्ति, स्वर, गान, आतोद्य तथा रंग सभी रस–निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं। उन्होंने नाट्य में आठ रसों की स्थिति बतायी है–श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत।

रस निष्पत्ति

भरत मुनि ने बताया है कि विभाव, अनुभाव तथा

*सहायक आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

व्यभिचारी भावों के संयोग से 'रस निष्पत्ति' होती है। इस निष्पत्ति का प्रथम सोपान स्थायी भाव है। स्थायी भाव आठ है– रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शोक। रसोत्पत्ति के लिए द्वितीय आवश्यक उपादान विभाव है। उसके दो रूप हैं– (1) आलम्बन (2) उद्दीपन।[5] रस बोध जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के सम्बन्ध में होता है वह आलम्बन तथा बाह्य परिस्थितियाँ जो स्थायी भावों को उत्तेजित करती हैं, वह 'उद्दीपन' कहलाती है। इसके अतिरिक्त रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में अन्य भावों की स्थिति रहती है. जो क्षण–क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं जैसे संचारी भाव (चिन्ता, शंका, ग्लानि, हर्ष इत्यादि) इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से होता हुआ स्थायी भाव रस– रूप में परिणत हो जाता है। भरत के अनुसार, नाट्य का प्रत्येक अंग रसोत्पत्ति को लेकर अग्रसर होना चाहिए। नाट्य में उत्पन्न रस के अनुकूल उन्होंने पाँच अंगों का भी वर्णन किया है। स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंग। भरत के अनुसार चार वर्ण हैं–उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा कम्पित इन वर्गों का प्रयोग विशिष्ट रस के अनुकूल सिद्ध हो सकता है। काकु एक ऐसा ध्वनि–विकार है जो विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। विशिष्ट Pitch तथा Tempo में काकु का प्रयोग विभिन्न रसों की निष्पत्ति में सहायक में होता है। 'ध्रुवा' नामक गीतों का विवेचन भरत ने नाट्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर किया है। ध्रुवा गीत तथा षड्जादि ग्राम रागों का प्रयोग नाट्य में अभीष्ट रस का पोषक है। अध्याय 28 के अन्त में तथा 29 के आरम्भ में जातियों का आठ रसों के साथ सम्बन्ध भरत के द्वारा स्थापित हुआ है।[6] इन जातियों का ज्ञान विशुद्ध अथवा गीत निरपेक्ष न होते हुए भी ध्रुवा गीतों के साथ किया जाना निहित है। जाति गान में उन्हीं ध्रुवाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए जो रस, कार्य तथा अवस्था के अनुकूल है।

भरत का रसविषयक विवेचन शब्द–प्रधान संगीत के लिए उचित है, न कि उस संगीत के सम्बन्ध में जो आधुनिक परिभाषा में स्वर–प्रधान कहा जाता है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र को आज भारतवर्ष की सभी संगीत–परम्पराओं में गांधर्ववेद के समान प्रमाणभूत माना जाता है। साहित्य तथा संगीत में इस निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में इस ग्रंथ की बहुत बड़ी देन है। भरत की धारणा थी कि संगीत का अंतिम लक्ष्य रसानुभूति है जो संगीत श्रोताओं को रसमग्न नहीं कर सकता वह संगीत ही नहीं।

भरत मुनि के ''नाट्यशास्त्र'' से संगीत जगत् की जो सेवा हुई है, वह किसी से छिपी नहीं है। भरत से पूर्व हमें कोई प्रामाणिक ग्रन्थ संगीत पर नहीं प्राप्त है। आज यह ग्रन्थ समस्त भारतीय संगीत का आधार है।

सन्दर्भ सूची :

1. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, 'सौन्दर्य रस एवं संगीत', प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 129
2. जुनेजा डॉ. वेदप्रकाश, 'भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र', सिद्धान्त पब्लिकेशन्स करनाल, प्रथम संस्करण, पृ. 136
3. महाजन, डॉ. अनुपम, भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं सौन्दर्यशास्त्र, परनामी, प्रिन्टिंग प्रेस, महेशपुर, पंचकुला, 1993, पृ. 215
4. शुक्ल, डॉ. रामलखन, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ. 195
5. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, निबन्ध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस, द्वितीय संस्करण, 1989, पृ. 99
6. दूबे, डॉ. श्याम चरण, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–1972, पृ. 122

निम्बार्क सम्प्रदाय के मन्दिरों में प्रचलित गायन विधाएँ

डॉ. गौरव शुक्ल*

सारांश

निम्बार्क सम्प्रदाय के मन्दिरों में संगीत विधाओं की विभिन्न परम्परायें प्रचलित हैं, जैसे– एकल गायन, समाज गायन, वाद्य वादन आदि। इन सभी सांगीतिक विधाओं के माध्यम से इस सम्प्रदाय में भगवद् आराधना किया जाता है। इस सम्प्रदाय में श्री राधा कृष्ण की रसोपासना प्रातः मंगला आरती से लेकर रात्रि शयन आरती तक संगीत के विभिन्न राग–रागिनियों के माध्यम से किया जाता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष पर्वों पर संगीत का विशेष समारोह आयोजित किया जाता है।

मुख्य शब्द : *निम्बार्क सम्प्रदाय, संगीत, विधा, अष्टयाम सेवा*

प्रविधि : *प्राथमिक और द्वितीयक माध्यमों द्वारा यह शोध–पत्र तैयार किया गया है।*

सनकादि ऋषियों को ईश्वरीय हंसावतार से ब्रह्मज्ञान की गूढ़ शिक्षा प्राप्त हुई जिसका प्रथम उपदेश उन्होंने नारद को दिया। इसके प्रतिनिधि प्रवर्तक निम्बार्क थे और इनके अनुयायियों को 'निम्बार्क सम्प्रदाय' कहा गया। यह सम्प्रदाय चार वैष्णव सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्राचीन है। इस सम्प्रदाय को हंस सम्प्रदाय, कुमार सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय भी कहा गया है ।

आगे, निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाले गायन विधाओं का हम वर्णन करेगें।

एकल गायन

इस सम्प्रदाय में एकल गायन का प्रयोग मुख्यतः अष्टयाम सेवाओं में किया जाता है। प्रातः मंगला आरती यानि भगवान को जगाने से लेकर रात्रि, शयन तक समयानुसार रागों का प्रयोग यहाँ के वाणी ग्रन्थों के पदों के माध्यम से किया जाता है जिसका गायन यहाँ के प्रायः साधु संत करते हैं।

समाज गायन

यहाँ दूसरी सांगीतिक विधाओं में समाज गायन का आयोजन होता है। यह सम्प्रदाय में आचार्यों की जयन्ती या उत्सवों पर आयोजित किया जाता है। ब्रज के विभिन्न सम्प्रदायों में प्राचीनतम माने जाने वाले इस सम्प्रदाय में समाज गायन की परम्परा अति प्राचीन है। यहाँ की कीर्तन व्यवस्था भी समाज गायन से अभिहित की जाती है। **महावाणी** में कहा गया है–

''मोहन मंदिन चौक में, मिलि सब सखी समाज''।
बीन बजावहिं, गावहि, मधुर–मधुर सुर साज''।।[1]
''बजत बधाई महल में आई सखी समाज''।[2]
''मंगल साज समाज सौं गावत मंगल गीत''।[3]
सुनियो रे आज नचावै नन्द को हिलि मिलि सकलसमाज''।[4]

समाज गायन से तात्पर्य संगीत के कतिपय गायकों का ऐसा समूह जो मंदिरों में उत्सव–महोत्सवों पर एक साथ बैठकर अनेक वाद्यों के साथ वाणी ग्रन्थों के पदों का गायन करते है। अब हम समाज गायन के विषय में विस्तार से अवलोकन करेगें।

'समाज' विभिन्न क्रीड़ाओं या कलाओं से सम्बन्धित अथवा उत्सवों या गोष्ठियों के लिए प्रयुक्त एक प्राचीन नाम है। ऋग्वेद में 'समन' नामक एक सामाजिक उत्सव का उल्लेख मिलता है, जो मेले के रूप में आयोजित होता था। इसमें अनेक कलाकार नर–नारी, गणिकाएँ, कवि, घुड़सवार, धनुर्धर इत्यादि अपनी–अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते थे, और रात–रात भर नर–नारियों के सामूहिक नृत्य होते थे। यही 'समन' उत्सव आगे चलकर 'समज्जा' नाम से प्रचलित हुआ।[5]

वैदिक काल के पश्चात् इतिहास पुराण–काल में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त विविध प्रकार के नाट्य, उत्सव और यात्राओं इत्यादि का प्रयोग होने लगा था।

*सहायक आचार्य, सितार, संगीत विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

'समाज' शब्द का प्रयोग 'रामायण' और 'महाभारत' में अनेक बार हुआ है, जो ऋग्वेदकालीन 'समन' का अपभ्रंश है। महाभारत काल में भी 'समाज' को समज्जा' कहते थे।

बौद्ध–ग्रन्थ 'संयुक्त–निकाय' में 'समज्जा' (समाज) का उल्लेख है। विदूषक समाजोत्सव के अवसर पर अपनी कला के प्रदर्शन से लोगों को हँसाता था। बौद्ध भिक्षुओं के लिए समाज के प्रेक्षण का निषेध किया गया था। मगध में होने वाले एक आँखों देखे उत्सव का निरूपण फाह्यन ने अपनी यात्रा के वर्णन में किया है। यह उत्सव 'समज्जा' या 'समाज' कहलाता था।[6]

वात्स्यायन ने भी 'समाज' का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मास या पक्ष में एक दिन सरस्वती के मंदिर में समाज का आयोजन किया जाता था, जिसमें नर नर्तक कलाकार विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन करते थे। बाहर के कलाकारों को भी आमन्त्रित किया जाता था। प्रदर्शनकर्ताओं को दूसरे दिन पुरस्कार दिया जाता था, तथा अच्छे कलाकारों से कुछ दिन और ठहरने का अनुरोध किया जाता था।

इस प्रकार, निम्बार्क सम्प्रदाय में भी 'समाज गायन' की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के आचार्य श्री वृन्दावन देव जी ने समाज संगीत की परम्परा के विषय में कहा है–

**'दयो विधाता प्रथम इह नारदादि कौं चाहि।
विधिवन्नारदादिक हूँ धरनि उतारयो याहि।।
नाद ब्रह्म गान्धर्व है या बिनु सुर नहिं नृत्य।
नहीं गीत या बिनु कुछ तातैं यह है नित्य।।
उठत वायु तैं नाद है जातै सुर संघात।
सुरते उपजत राग सुनि जन विह्वल है जात।।
या ही तै कलि काल में सब साधन में मुख्य।
कह्यों कीर्तन व्यास शुक ज्यौं नरवतनि में पुष्प।।**[7]

तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रदाय में गायन की परम्परा देवर्षि नारद जी से प्रारम्भ मानी जाती है, जो वर्तमान समाज गायन का आधार है। श्री ब्रजवल्लभ शरण शास्त्री के अनुसार, प्राचीन हस्तलिखित पद–ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि विक्रम सं. 1700 से यह समाज गायन–परम्परा अबाध रूप से चली आ रही है।

समाज गायन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार श्री नारद जी 'प्रेमोन्मत्तो विकालेन् गायत् ध्रुवपदानि वै' इत्यादि प्रमाणों के अनुसार प्रेमोन्मत्त ही ध्रुवपदों का गायन करते थे, उसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय का समाज गायन उसी ध्रुपद की परम्परा से चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय का आचार्य पीठ श्री पुष्कर क्षेत्र, निम्बार्क तीर्थ, अजमेर, राजस्थान में है। वहाँ पर ही जगतगुरू श्री निम्बार्काचार्य श्री वृन्दावन देव जी ने वि0 सम्वत् 1740 के लगभग चौदह घाटों वाली 'गीतामृत–गंगा' ग्रन्थ का नव निर्माण किया था। उस समय समाज गायन करने वाले विशिष्ट महानुभाव वहाँ रहते थे। श्रीवृन्दावन देव जी के गुरू श्री नारायण देवाचार्य के गुरूभ्राता और उनके शिष्यों में श्री गोविन्द देव जी, विरजानंद, आनन्दघनजी, नागरीदास जी आदि सभी समाज गायन के विशेषज्ञ थे।[8] आनन्दघन जी और ब्रजानन्द जी उस समय समाजगायन के मुखिया थे। उस समय किशनगढ़ राज्य के दैनिन्दनी पत्रकों से ज्ञात होता है कि ब्रजानन्द जी तथा आनन्दघन जी को किशनगढ़ नरेश उत्सवों–महोत्सवों पर समाज गायन करने के लिए सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया करते थे।

''विक्रम संवत् 1786 मिति जेठ सुदी 2 विसपतवार श्री ठाकुरद्वारे कुण्डवारो हुयौ, स्वामी श्री विरजानंद जी वा आनन्दघन जी नै बुलाया कुण्डवारा नै 125 स्वामी श्री विरजानन्द जी कै रसोई माल पुआ की 30''।

श्री रूपरसिक देव जी ने श्री कृष्ण जन्मोत्सव पर सखियों द्वारा मंगलगीत गाये जाते हुए 'समाज' शब्द का प्रयोग किया है–

'बजत निसांन विधान गांत त्रिय सब सरसांन समाज'।[9]
'मिलि महल समाजें हो हो हो हो, अतिरस चांचरि खेले'।[10]
'सर समाजनि सरस सुन्दर बजत मधुर मृदंग'।[11]
'चले गिरराज तें मिश्र समाज में साज सबै नटराज कौ किये'।[12]

समाज शब्द का अर्थ सभा, समूह, दल, समुदाय इत्यादि होने से इतना स्पष्ट कह सकते है कि उस समय श्री युगलप्रिया की विभिन्न लीलाओं का गायन पाँच, छः भक्त संगीतज्ञ एकत्र होकर करते होंगे क्योंकि उनकी वाणियों में भी जहाँ–जहाँ युगलप्रिया का सखियों द्वारा गायन किया गया है वहाँ संखियों के अनेक समूह ही श्री लाडिलीलाल की प्रशंसा में गाते हुए दिखाए गए हैं।

उदाहरणस्वरूप–

'जूथ जूथ मिलि जुगल रिझावैं, नृत्य करैं गावैंस बजावैं'[13]
'झूंडनि झूंडनि गावन राग मलार मिलि ब्रज नारी तू'[14]
'गौवन आगे सखिन जूथ में, दुलहिन लाल गवाती'[15]

समाज गायन प्राचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत के गायन की एक वैष्णवी शैली है, जिसमें संत समूह में मिलकर आचार्यों की वाणी पदों का गायन करते हैं। रसिक संतों व आचार्यों द्वारा राधाकृष्ण के युगल स्वरूप की दिव्य लीलाओं की जो काव्यमय अभिव्यक्ति है, वही वाणी है और इन वाणियों का सामूहिक गायन ही समाज गान है।

समाज गायन के समय सभी साधु संत दो दलों मे विभक्त होकर दो पंक्तियों मे आमने–सामने बैठते हैं। दोनों पक्तियां अपने सेव्य विग्रह के सामने दांयी और बांयी ओर होती है। दाहिनी ओर वाले दल को 'मुखिया दल' और बांयी ओर वाले दल को 'झेला दल' कहते हैं। मुखिया दल के सबसे निपुण कलाकार को 'मुखिया' पुकारा जाता है। मुखिया पहले तानपूरा लेकर बैठते थे पर आजकल हारमोनियम इस्तेमाल करने का चलन हो गया है। उनके अगल–बगल में कई अन्य श्रेष्ठ साधु–संत कुछ अन्य वाद्य, जैसे– सारंगी, सितार, तानपूरा, बांसुरी आदि लेकर बैठते हैं। सेव्य विग्रह के बांयी ओर झेला दल एक या अधिक संत झांझ या मंजीरा आदि बजाते हैं। दोनों पंक्तियों के मध्य मे रिक्त स्थान पर अंतिम छोर पर मृदंग वादक बैठता है, जो सेव्य विग्रह के बिल्कुल सम्मुख होता है। दोनों दलों के मध्य ऊंची चौकी पर रखी वाणी को समाज श्रृंखला के नाम से जाना जाता है। अन्य समाजियों के सामने भी ऊंची चौकी पर अथवा रेहल पर वाणी की प्रतिलिपियां रखी होती हैं जो पहले हस्तलिखित हुआ करती थीं पर आजकल मुद्रित भी होती हैं। परम्परागत रूप से सर्वप्रथम मुखिया व अन्य दो वरिष्ठ संत समाज का शुभारम्भ करते है। सर्वप्रथम मंगलाचरण रूप में मंगल के दो पद गाए जाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–छोटा मंगल, व बड़ा मंगल। बड़ा मंगल पहले गाया जाता है, जो सूहा विलावल में गाया जाता है। इस बड़े मंगल में तद्तद् आचार्य को उत्कर्ष गाया जाता है। जबकि बाद में गाया जाने वाला छोटा मंगल प्रणामात्मक व मंगल सूचक होता है। समाज के आरम्भ होने पर कुछ समय पश्चात् पुजारी बाबा द्वारा वाणी जी व अन्य समाजियों का माला, चंदन, इत्र आदि से आदर सत्कार किया जाता है। समाजियों को गायन के मध्य में ही मिश्री, काली मिर्च, पान–बीरी, इलाइची आदि का भोग देते हैं। मंगल के दोनों पंदों के गायन के उपरांत श्रीभट्ट जी की रचना युगल शतक से किसी एक पद का गायन होता है। युगल शतक में 100 पद हैं। फिर श्री हरिव्यास जी की रचना महावाणी से एक पद गाया जाता है। तद्पश्चात् आचार्यों की बधाईयां हंसवंश यश सागर व अन्य बधाई की पुस्तकों के पदों द्वारा गाई जाती है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के समाज गायन में मुख्य रूप से सूहा विलावल, यमन कल्याण, श्याम कल्याण, देव गंधार, काफी, मल्हार, बिहाग, भूपाली, मालकोश, केदार, बहार, भीमपलासी, सोरठ, पीलू, मारू, वृंदावनी सारंग, आसावारी, भैरवी, देश, भैरव, रामकली, चैती गौरी, धानी, खमाज, बागेश्वरी अडाना, बिहागडा व दरबारी आदि रागों का प्रयोग किया जाता है। तालों में प्रमुख रूप से चौताल, झपताल, तीनताल, कहरवा, दादरा, रूपक, दीपचंदी आदि का प्रयोग होता है। समाज गायन में गाए जाने वाले पद का प्रस्तुतिकरण दो प्रकार के लय में किया जाता है। पद को विलम्बित लय में शुरू कर द्रुत लय में ले जाते हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में मुखिया व झेला का क्रम कब से चला आ रहा है, यह तो शोध का विषय है, किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय में समाज गायन में मुखियों की परम्परा इस प्रकार रही है–श्रीरमन दास, गोपाल दास, गोकुल दास, पूरन दास, प्रेमदास, गोविन्द दास, रूपकिशोर दास, रसिक दास व वृन्दावन बिहारी।

निम्बार्क सम्प्रदाय के समाज गायन के वर्तमान मुखिया वृन्दावन बिहारी जी के अनुसार दंडक गायन इस सम्प्रदाय की विशिष्ट शैली है। दंडक का अर्थ है दंड के समान लंबा। झपताल में गाये जाने वाली इस शैली में कवित्त आदि छंदों की लंबी–लंबी पंक्तियों का प्रयोग होता है। यह निम्बार्क सम्प्रदाय के समाज गायन के अंतर्गत सभी उत्सवों में यहां गाया जाता है।

समाज गायन के मुखिया वृन्दावन बिहारी के जी अनुसार समाज गायन की मूलधारा श्रद्धा व उपासना पर आधारित है। यह किसी राजा आदि के सामने गाए जाने वाली मनोरंजन प्रधान गायकी नहीं है। उन्होंने यह कहा कि अमूमन समाज गायन के लिए राग के ज्ञान की नहीं, अनुरागमय ध्यान की आवश्यकता है। वस्तुतः जिस समय एकाग्र मन से संत जन गाने लगते हैं तो सारा वातावरण ही दिव्य हो जाता है।

निष्कर्ष :

एकल गायन और समाज गायन निम्बार्क सम्प्रदाय की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है जो वर्तमान में प्रायः लुप्त होती जा रही है। ऐसे पुण्य, ऐतिहासिक और विशाल संगीत परम्परा का संरक्षण अति आवश्यक है ।

सन्दर्भ सूची :

1. हरिव्यास देव, महावाणी, दोहा नं. 5, पृ. 67
2. वही, दोहा नं. 11., पृ. 138
3. रूपरसिक देव श्री वृहदुत्सव मणिमाल, पद सं. 168, पृ. 67
4. वही, पद सं. 17., पृ. 69
5. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, ब्रज संस्कृति और लोक संगीत, पृ. 129
6. वही, पृ. 129
7. वृन्दावन देव जी, गीतामृत गंगा, घाट 14, दोहा 4–5
9. श्री रूपरसिक, बृहदुत्सव मणिमाल, पद सं. 1., पृ. 150
10. वहीं, पद सं. 59, पृ. 25
11. वही, पद सं. 257, पृ. 125
12. श्री वृन्दावन देव, गीतामृत गंगा, पद सं. 13, पृ. 6
13. हरिव्यास देव, महावाणी, पद–146, पृ. 166
14. वृन्दावनदेव, गीतामृत गंगा, पद–46, पृ. 66
15. भट्ट देव, युगल शतक, पृ. 47

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. चौधरी, सुभद्रा (व्याख्या और अनुवादक), शारंगदेकृत संगीत रत्नाकर, (सरस्वतीटीका), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2001
2. सचदेव, रेनू, धार्मिक परम्परायें एवं हिन्दुस्तानी संगीत, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1999
3. शर्मा, डॉ. सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास (आध्यात्मिक एवं दार्शनिक), संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1996
4. सिंह, डॉ. पर्णदत्त, भावप्रकाशन और रसार्णवसुधाकर में रस–विमर्श, वेंकटेश प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् 2005
5. शर्मा, प्रो. सत्यभान, पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की संगीत–परम्परा, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1999

'संगीत शिरोमणि' पंडित प्रह्लाद प्रसाद मिश्र 'दास पिया' : संगीत और व्यक्तित्व

डॉ. सौरव कुमार नाहर*

सारांश

जिस प्रकार भगवान के उपासक के सृजित इस संसार के सुख–दुख से विचलित न होकर अंतर्यामी प्रभु को समर्पित रहते हैं उसी प्रकार एक विशिष्ट साधक एक सांसारिक मानव होते हुए भी पूर्व उपार्जित संस्कार के कारण अपनी साधना में सतत रहकर अपनी संगीत–साधना के बल पर ही व्यक्तिगत अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी कला एवं ज्ञान की अलौकिक किरण से आसपास के लोगों को ही नहीं बल्कि सुदूर देश के मानव को भी आलोकित एवं आकर्षित करते रहते हैं। पटना निवासी स्वर्गीय पंडित प्रहलाद प्रसाद मिश्र ''दास पिया" उन्हीं महान विभूतियों में थे जो पटना नगर में रहकर अपनी अनवरत संगीत–साधना के बल पर पटना नगर में ही नहीं, बल्कि देश के विभिन्न नगरों में अपनी संगीत शिक्षा एवं प्रदर्शन तथा रचनात्मक प्रतिभा के माध्यम से संगीत मर्मज्ञ तथा संगीत प्रेमियो तक पहुंचाया। प्रस्तुत शोध–पत्र में बिहार के भागलपुर संगीत परंपरा के मिश्र घराने के मूर्धन्य कलाकार एवं उपासक पंडित प्रहलाद प्रसाद मिश्र ''दास पिया" के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने की कोशिश की गई है।

मुख्य–शब्द : *संगीत, व्यक्तित्व, विभूति, परंपरा, शिरोमणि*

शोध माध्यम– *इस लेख के लिए द्वितीयक माध्यमों द्वारा सामग्री संकलित की गई है।*

संगीत और व्यक्तित्व में इतरेतराश्रय संबंध है अर्थात् एक–दूसरे के अधीन है। संगीत से व्यक्तित्व का निर्माण होता है और व्यक्तित्व से संगीत में सफलता मिलती है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि संगीत के द्वारा मानव व्यक्तित्व का निर्माण किस प्रकार होता है। तदनंतर इस बात पर प्रकाश डालना है कि व्यक्तित्व से संगीत पर क्या प्रभाव पड़ता है। परंपरापेक्षी पदार्थों का यह सार्वभौमिक नियम है कि वे एक–दूसरे पर पूर्ण तथा आधारित होते हैं।

संगीत का चरम लक्ष्य है ईश्वर की प्राप्ति। मनोरंजन उसका संक्षिप्त रूप है। मनोरंजन के द्वारा क्षणिक आनंद की प्राप्ति होती है और ईश्वर की प्राप्ति से अत्यधिक आनंद की अनुभूति होती है। दोनों दृष्टिकोणों से मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है । मनोरंजन की प्रवृत्ति आनंद तत्व की खोज का परिचायक है । अतः जो व्यक्ति संगीत के लक्ष्य को सीमित मानता है अर्थात् उससे केवल मनोरंजन चाहता है वही धीरे–धीरे उपासना की ओर अग्रसरित होता है । संगीत में वह विद्यमान है जिसकी साधना से मानव में ऊपरित उत्पन्न होती है और वह इस प्रपंचात्मक विश्व के चमत्कार पूर्ण वैभव से प्रवाहित नहीं होता । मनोरंजन संगीत के चरम लक्ष्य तक पहुंचने का प्रथम सोपान है। यदि मनोरंजन की प्रियता मानव में न होती तो उसकी खोज में संगीत का आश्चर्य न लेता। अतः संगीत में तन्मयता उत्पन्न करने के लिए मनोरंजन की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है।

संगीतज्ञ अपने संगीत–प्रदर्शन के द्वारा अपने मनोरंजन के साथ–साथ दूसरों का भी मनोरंजन करता है। जिस समय संगीतज्ञ के द्वारा समाज को आधिकाधिक लाभ पहुंचने लगता है उस समय उसका व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, व्यक्ति को जीवन–निर्वाह करने के लिए समाज पर और समाज स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति का अवलंबन ग्रहण करना पड़ता है। अतः यदि संगीतज्ञ अपनी उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न करता है तो उसका व्यक्तित्व निसंदेह उच्च हो जाता है। संगीत कला एक ऐसी कला है जिसके आनंद के सदृश्य संसार के समस्त आनंद तिरस्कृत हो जाते हैं। इसलिए कलाकार सांसारिक वैभव की अपेक्षा संगीत कला को अत्यधिक श्रेयस्कर मानता है। इसलिए उसका व्यक्तित्व साधारण कोटि के व्यक्तियों से ऊंचा होता है। संगीतज्ञ में आत्म प्रतिष्ठा तथा अपनी मर्यादा की रक्षा की भावना निरंतर जागृत रहती है । जो सच्चा कलाकार होता है उसके सामने संसार की बड़ी से बड़ी विभूतियाँ नतमस्तक

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत एवं मंच कला विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली

हो जाती हैं । संगीत सदा मर्यादित तथा सभ्य संगीत प्रेमियों से घिरा रहता है । वह जहां भी जाता है, उसको पूर्ण सम्मान प्राप्त होता है। इस प्रकार संगीतज्ञ के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास होता है।

सांस्कृतिक परंपराओं और धार्मिक विरासतों से परिपूर्ण बिहार राज्य का प्रमुख नगर भागलपुर और भागलपुर में संगीत साधकों का परिवार "मिश्र घराना" जिसमें समय–समय पर एक–से–एक ख्यातिप्राप्त संगीतज्ञ, कलाकार एवं संगीत मर्मज्ञ हुए हैं, जिन्होंने न केवल अपनी संगीत–परंपरा के विकास में योगदान ही दिया है, अपितु संगीत में अपनी अप्रतिम प्रतिभा के माध्यम से देश एवं समाज की अमूल्य सेवा भी की है। "मिश्र घराना" राज्य में एक प्रतिष्ठित संगीतज्ञ परिवार के रूप में विख्यात है और अपनी परंपरा के अनुसार भारतीय संगीत के क्षेत्र में इसने कई विद्वानों को देश के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'संगीत शिरोमणि' स्वर्गीय पंडित प्रह्लाद प्रसाद मिश्र इसी मिश्र घराना के स्तंभ थे, जिनकी संगीत प्रतिभा आज भी राज्य व देश के संगीत जगत में अमूर्त रूप में विद्यमान है, जिनके बारे में कुछ कहने– लिखने में तो लेखनी सक्षम नहीं है, फिर भी संक्षिप्त परिचयात्मक बोध स्वरूप श्रद्धा शब्द–सुमन प्रस्तुत है ।

पंडित प्रहलाद प्रसाद मिश्र का जन्म 1919 में भागलपुर में हुआ, संगीतमय पारिवारिक वातावरण रुपी सरोवर में बाल क्रीड़ा करते, डुबकियाँ लगाते आपने पहले तबला की शिक्षा अपने मामा पंडित वासुदेव मिश्र से और बाद में गायन की शिक्षा अपने पिता सुविख्यात संगीतज्ञ पंडित बद्री सेवक मिश्र से प्राप्त किया । लगभग 18 वर्ष की अल्पायु में ही पिता के निधन के पश्चात् आगे का मार्गदर्शन अपने अग्रज पंडित शारदा प्रसाद मिश्र एवं पंडित केदारनाथ मिश्र से ग्रहण करना शुरू किया । बाल्यकाल से ही अपनी लगन अथक परिश्रम एवं प्रखर बुद्धि के फलस्वरुप अपने अल्पायु में ही काफी उपलब्धि अर्जित कर ली थी। आपने कुछ वर्षों तक सितार वादन की भी शिक्षा सुविख्यात उस्ताद अमीर खान (जयपुर वाले) से भी प्राप्त की थी।

युवावस्था आते आते गायकी की अपनी विशिष्टता के कारण आप अपना अलग स्थान रखने लगे और तब पटना में अपने पितामह भ्रातृद्वय पंडित हीरालाल मिश्र एवं मुकुट लाल मिश्र "रंग कवि" के संरक्षण में स्थाई रूप से रहना प्रारंभ किया। वहीं बाद में सन 1960 ईस्वी में पटना विश्वविद्यालय के संगीत संस्थान में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हुई और तब से लगातार उक्त पद पर रहते हुए आपने संगीत की सेवा जीवन–पर्यंत की।

जीवन काल में आप राज्य के सभी प्रमुख शहरों के अतिरिक्त देश के कई प्रमुख नगरों में भी अपना सफल कार्यक्रम प्रस्तुत कर संगीतज्ञ वर्ग एवं संगीत–प्रेमी समूह द्वारा अनेकों बार प्रशंसित एवं पुरस्कृत किए जा चुके थे। आप मुख्य रूप से ख्याल गायन–शैली के मर्मज्ञ थे, परंतु साथ ही साथ ध्रुपद, धमार, ठुमरी, एवं टप्पा गायन शैली पर भी आपका समान अधिकार था। जोरदार आवाज, तीनों सप्तको में सहज भाव से शैली गत प्रस्तुति, राग की शुद्धता एवं बड़ा ख्याल की शैली पूर्ण ढंग से बढ़त आपके गायन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं।

जहाँ एक ओर आप उच्च स्तरीय कलाकार थे, वही आपकी शिक्षण पद्धति भी अत्यंत वैशिष्ट्य पूर्ण ढंग से सरल एवं ग्राह्य थी। आपने संगीत क्षेत्र में अनेक शिष्य तैयार किए जो विभिन्न संस्थानों से संबंधित रहकर संगीत की सेवा कर रहे हैं। कुछ प्रमुख शिष्य हैं– स्वर्गीय पंडित राम नरेश मिश्र, केंद्रीय विद्यालय बेगूसराय, पंडित संगीत कुमार नाहर, आकाशवाणी पटना, पंडित ओम्कारेश्वर मलिक, इंटर कॉलेज पिंडी (देवरिया), श्रीमती मंजुलिका मुखर्जी, मगध महिला कॉलेज, पटना, पंडित श्याम लाल मिश्र, केंद्रीय विद्यालय पटना, इसके अलावा श्री सुधांशु कुमार एवं पंडित श्याम दास मिश्र, पटना इत्यादि ने भी कई वर्षों तक संगीत में आपसे मार्गदर्शन ग्रहण किया था। गायन के अतिरिक्त आपने वायलिन, तबला एवं सितार की भी शिक्षा क्रमशः डॉ. संतोष कुमार नाहर, डॉ. राजकुमार नाहर, तथा प्रो. साहित्य कुमार नाहर को दी थी। डॉक्टर संतोष कुमार नाहर एवं राजकुमार नाहर आकाशवाणी में कार्यक्रम प्रमुख के पद पर कार्यरत हैं, तथा प्रोफेसर साहित्य कुमार नाहर मध्य प्रदेश के ग्वालियर में स्थित राजा मानसिंह तोमर विश्वविद्यालय में कुलपति के पद पर कार्यरत हैं।

पंडित प्रहलाद प्रसाद मिश्र का संगीत में एक और महत्वपूर्ण योगदान यह है कि आपने हाई स्कूल से लेकर एम.ए. स्तर तक के प्राय सभी रागों में "दास–पिया" उपनाम से सैकड़ों उत्कृष्ट बंदिशों की रचना की है, जो साहित्य संगीत की दृष्टि से उत्तम गेय रचनाएं हैं। इनमें

से कुछ बंदिशों का संकलन इस प्रकार हैः–

1. राग **अड़ाना**– में तीनताल की रचना

स्थाई– जगत जननी माता कालिका
पहिरी मुंड मालिका, खड़ग खप्पर सहित
हरनी भूव भार नलिनी

अंतरा– शुंभ निशुंभ महिषासुर मर्दिनी
दैत्य वंश संघार करनी तूव
दास पिया को ले हूं अपनी शरणी

2. राग **देसी**–में तीनताल की रचना

स्थाई– रटत पपीहा, पीयू पीयू करत,
मेरो मन बिरह अगन दहन लागत

अंतरा– इतनी बात दास पिया को सुनाओ
पिया बिन कछु न सुहात

3. राग **मियां मल्हार**– में मध्यलय एकताल की रचना

स्थाई– ऐसी धूम मचाई, बादरवा घिरन लागी,
पावस ऋतु बैरी आई, आए ना मुरारी

अंतरा– पूर्वा नित बहे बयार, रिमझिम बरसे फुहार
दास पिया अब न सह, वेदना तुम्हारी

इस प्रकार उपर्यक्त साहित्य संगीत से निहित अनेकानेक उत्कृष्ट रचनाओं का सृजन आपके द्वारा किया गया। आपके द्वारा बिहार के भागलपुर संगीत–परंपरा के लिए किए गए कार्य संजीवनी की तरह रहे क्योंकि इनकी सोच सबसे अलग रही जब तक जीवित रहे संगीत की सेवा करते रहे और कलाकारों के बीच अपनी विद्वता के लिए जाने गए । संगीत शिरोमणि पंडित प्रह्माद प्रसाद मिश्र जीवनपर्यंत संगीत की सेवा करते हुए अप्रैल 1990 में ईश्वर में विलीन हो गए ।

संदर्भ सूची :

1. खुराना, सन्नू खयाल गायकी के विविध घराने : सिद्धार्थ पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण नईदिल्ह्ली
2. सिंह, गजेंद्र नारायण, बिहार की संगीत परंपरा, शारदा प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, खजांची रोड पटना 4
3. बसंत, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय हाथरस
4. चौबे, डॉ. सुशील कुमार, हमारा आधुनिक संगीत, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ, द्वितीय संस्करण–1983
5. मिश्र, शंभू नाथ, हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की घराना परंपरा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण–2002

संत कबीर की विचारधारा में हठयोग के सिद्धान्तों का समीक्षा

डॉ. ज्योति शर्मा *

सारांश

कबीर सारे धर्म–सम्प्रदायों के कर्म काण्डों से मुक्त होकर सहज साधना और भक्ति का आदर्श प्रस्तुत करते हैं । कबीर के लिए योग–पद्धतिमानवी करण का ही अंग है । वे योग के साथ–साथ अपने आराध्य के प्रति समर्पण और भावानुकूलता भी लाते है । कबीर के लिए साधना का क्षेत्र एक प्रकार का युद्ध क्षेत्र है । काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि को जीतकर ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है । कबीर के लिए योग–साधना केवल ईश्वर–प्राप्ति का माध्यम ही नहीं है बल्कि मानवीय समानता और समदृष्टि का मुख्य सूत्र भी है । कबीर की साधना में तृतीय अवस्था लय योग साधना की मानी जाती है जिसमें उनका ध्यान परिपूर्ण रुप से बाह्य साधनों से हट कर आन्तरिक साधनों की ओर लग गया था, जिसमें उन्होंने ध्यानयोग, नादयोग, लययोग जैसे हठयोग के सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

मुख्य शब्द : *कबीर, हठयोग, भक्ति, साधना, कुण्ड़लिनी*

प्रविधि : *अनेक पुस्तकों के अध्ययनोपरान्त शोध–पत्र तैयार किया गया है ।*

प्रस्तावना–

सामान्यतः 'योग' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। इसका सामान्य अर्थ जोड़ना अथवा मिलन होता है। दर्शन शास्त्र में योग का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा के मिलन के संदर्भ में होता है। इस सम्बन्ध को प्राप्त करने की प्रक्रिया को 'योग' कहते हैं। भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम पतंजलि ने योग–सूत्र की रचना की । उनके द्वारा प्रतिपादित योग को राजयोग की संज्ञा दी गयी । इससे भिन्न हठयोग है जिसकी उत्पत्ति तन्त्र ग्रन्थों से मानी जाती है । योगसूत्र में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को साधना का बाहरी साधन माना गया है जबकि ध्यान, धारणा और समाधि को आंतरिक साधन माना है। कबीर काफी हद तक गोरखनाथ से प्रभावित थे और अपनी कविताओं में हठयोग की शब्दावली का प्रयोग भी करते हैं।[1] वस्तुतः कबीर का योग–चिन्तन पतंजलि और गोरखनाथ से भिन्न है परन्तु उनकी विचार–धारा पर हठयोग साधना का प्रभाव दिखाई देता है, उनकी रचनाओं में प्रयुक्त हुए अनेक शब्द हठयोग साधना के महत्व को परिभाषित करते हैं। उनका योग भक्तियोग है जो जनसुलभ है। वे मनुष्यता के लिए शाश्वत मूल्य और मर्यादाएँ निर्धारित करते हैं। उन्होंने मनुष्य की समस्त विभाजक रेखाओं को अस्वीकार करते हुए मानव मात्र की एकता, समता तथा बंधुत्व को आदर्श रखा । उनके अनुसार किसी भी साधना–पद्धति का अंतिम लक्ष्य मानव–जाति का कल्याण होना चाहिए।

संत कबीर की साधना– भारत में कबीर और उनसे भी पहले नाथ पंथी योगियों से लेकर 19वीं शताब्दी तक योग साधना की एक अविरल धारा निरन्तर प्रवाहित दिखाई देती है। कबीर के एक बीजक की एक रमेनी संख्या 69[2] से यह स्पष्ट है कि उनके समय में योगियों का एक अच्छा संगठन बन गया था, आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों के रुप में विविध प्रान्तों में इन योगियों ने अपना प्रभाव स्थायी बना लिया था। इन सभी सम्प्रदायों से किसी–न–किसी रुप में संत कबीर को अवश्य प्रेरणा प्राप्त हुई होगी, प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय संत तुकाराम ने नामदेव, ज्ञानदेव तथा एक नाथ के साथ कबीर की गणना उन चार महापुरुषों में की है जो वस्तुतः अनुकरणीय हैं। कबीर सारे धर्मसम्प्रदायों के कर्म काण्डों से मुक्त होकर सहज साधना और भक्ति का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। कबीर के लिए योग–पद्धति मानवीकरण का ही अंग है । वे योग के साथ–साथ अपने आराध्य के प्रति समर्पण और भावानुकूलता भी लाते है । कबीर के लिए साधना का क्षेत्र एक प्रकार का युद्ध क्षेत्र है । काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि को जीत कर ही परम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है । कबीर के लिए योग

*सहायक प्राध्यापक, स्वास्थ्य और कल्याण विभाग, श्री श्री विश्वविद्यालय, कटक (उड़ीसा)

साधना केवल ईश्वर प्राप्ति का माध्यम ही नहीं है बल्कि मानवीय समानता और समदृष्टि का मूल मंत्र भी है।[3] कबीर की साधना में तृतीय अवस्था **लययोग** साधना की मानी जाती है जिसमें उनका ध्यान परिपूर्ण रुप से बाहय साधनों से हटकर आन्तरिक साधनों की ओर लग गया था, जिसमें उन्होनें ध्यानयोग, अनाहतयोग, शब्द सुरति या उनसे सम्बन्धित **नाद–बिन्दु** लययोग आदि का वर्णन किया है।[4]

संत कबीर अपनी वाणी में कहते हैं–

जब लग त्रिकुटीसंधि न जानै, ससिहर कैध रिसूर न आने।
जब लग नाभिकवल नहीं सौधे, तो हीरै हीरा कैसे बैंधे अनेक।।[5]

अर्थात् जबतक त्रिकुटीसंधि की ज्ञान नहीं होता, तब तक साधक के हृदय में सूर्य रूपी ज्ञान नहीं आता है। जब तक नाभिकवल को ज्ञान नहीं मिलता, तब तक हीरे को हीरा कैसे बांध सकता है। इस दोहे में संत कबीर द्वारा बताया गया है कि आत्मज्ञान और समझ के बिना, आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। त्रिकुटी संधि का अर्थ है किसी विशेष क्षेत्र के गहरे ज्ञान की अभी तक न जानने की स्थिति। जिसका परिणाम यह है कि व्यक्ति के अंदर जब तक परमात्मा की ओर समर्पण नहीं होता, तब तक उसके अंदर की आत्मा का प्रकाश नहीं आता। नाभिक वल का अर्थ होता है मन की गहराईयों में आत्मज्ञान की खोज करना। सौधा उस आत्मज्ञान की तलाश में होने वाले प्रयासों को दर्शाता है। इसके बिना, जैसे हीरे को हीरा बांधने के लिए सही उपाय नहीं मिलता, वैसे ही आत्मज्ञान के बिना आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाने का सही रास्ता नहीं मिलता।

इस दोहे में संत कबीर ने आत्मा की महत्ता और आत्मज्ञान की आवश्यकता को बताया है। वे यह सिखाते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है, जिससे हम अपने आत्मा के प्रकाश को समझ सकते हैं और सही मार्ग पर चल सकते हैं।

साधना के सभी मार्ग उत्तम हैं परन्तु मधुर वही है जिसमें सहज रुप में ब्रह्म की प्राप्ति की जा सके। कबीर का ब्रह्म–सम्बन्धी ज्ञान उपनिषदों के अद्वैत वाद से भी प्रभावित है जो हठयोग परम्परा का भी मूल स्रोत है, आदि से अन्ततक उनकी ब्रह्म–भावना अद्वैत से सम्बन्धित है। संत कबीर उस समय धर्म, आध्यात्म और समाज सुधार के लिए आगे आए जब परमात्मा और आत्मा के नाम पर अनेक भ्रामक भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। वे केवल समाज–सुधारक महान काव्य–धर्मी और दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु एक पहुँचे हुए योग साधक भी थे।

हठयोग के सिद्धान्तों की समीक्षा– विद्वानों के अनुसार उनकी योग–साधना तान्त्रिक, यौगिक और शक्ति योग साधना से प्रभावित थी। उन्होंने निर्गुण ज्ञान मार्गी होते हुए भी साकार साधकों के सिद्धान्तों को भी अपनी साधना में शामिल किया। यही कारण है कि उनकी साधना केवल अंतर्मुखी न होकर संतुलित है। कबीर ने ब्रह्म को नाद स्वरुप माना है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उन्होंने नाद–योग साधना को सर्वोत्तम माना है। उनकी कविताओ में नाद–योग साधना की विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें कहा गया है, ब्रह्माण्ड़ नाद का ही स्थूल रुप है और पिण्ड उस ब्रह्माण्ड़ का संक्षिप्त रुप है। यही बात शास्त्रों में भी– 'यथा पिण्डे तथा ब्रहमाण्डे' के रुप में बताई गई है।[6]

कबीर का नाद योग हठयोग और कुंडलिनी योग से सीधा सम्बन्ध रखता है।[7] इनकी कविताओं में कुण्डलिनी का जो बार–बार वर्णन आता है वह इसी बात की पुष्टि करता है। योग तन, मन और आत्मा सहित चेतना की सभी स्थितियों के उन्नयन और परिमार्जन का एक सशक्त माध्यम है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के काव्य पर विचार करते हुए लिखा है– कबीर की भक्ति योग के क्षेत्र में प्रेम का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी । कहने का तात्पर्य है कि उनकी भक्ति का मूल आधार योग ही था। वस्तुतः कबीर के काव्य में योग, प्रेम, भक्ति आदि तत्व निहित हैं। उनमें एक विचित्र प्रकार की समरसता है। यही कारण है कि कोई उन्हें योगी कहता है, कोई ज्ञानी तो कोई भक्त एवं संत।

कबीर भक्ति–काल के संत कवियों में श्रेष्ठतम स्थान रखते हैं। योग भारत की सम्पूर्ण विश्व को दी गई अद्भुत देन है। कबीर न केवल योग की महिमा से परिचित थे अपितु अपने काव्य द्वारा उसे नवीन प्रतिष्ठा भी दिलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि– ''जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान–मार्ग का एक निरुपण था, उसे कबीर ने सूफियों के सहज योग की प्रतिष्ठा द्वारा जन सुलभ बनाया हैं। वे अपने काव्य में जिस स्वानुभूतसत्य का उदघाटन करते हैं, वह योग अनुभव पर ही आधारित है। कबीर परिपक्व ज्ञान और भक्ति में कोई

तात्विक अन्तर नही मानते, क्योंकि यह ज्ञान शुद्ध चित्त होने के उपरान्त ही प्राप्त होता है। जो योग द्वारा ही सम्भव हैं। हम देखते हैं कि हठयोग भी चित्त शुद्धि को अपनी साधना में विशेष महत्व देता है, कबीर योग–साधना में गुरु की भूमिका को विशेष महत्व देते हैं। कबीर की दृष्टि में मनुष्य योग–साधना द्वारा अहंकार रहित और सांसारिक विषयों से उदासीन हो जाता है। यह आत्मिक पवित्रता ही उसे अच्छे कार्यों और ईमानदार प्रयासों की और उन्मुख करती है।[8] में महत्वपूर्ण बताया है, कबीर की साधना में हमें विकास की विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जीवन के सहजाचरण के रुप में अंत मे वे जिस सहजयोग की प्रतिष्ठा करने में सफल हुए वहाँ तक वे सहज रुप से नहीं पहुँच गए, मार्ग की कितनी दुर्गम घाटियों को उन्हें पार करना पड़ा होगा, यह कौन जानता है? परन्तु इस कठिन मार्ग को पार करने में दो बातें उनकी विशेष सहायक हुई जो उन्हें एक सच्चे साधक का रुप दे सकी, ये विशेषताएँ थीं, आत्म–विचार और निजी अनुभव। कबीर ने इन दोनों को ही अपनाया। जिस समय कबीर ने योगसाधना में प्रवेश किया उस समय नाथ पंथी हठयौगिक साधना का ही चारों ओर बोलबाला था। अतः कबीर का ध्यान भी सर्वप्रथम इसी साधना की ओर आकर्षित हुआ। उन्हीं का अनुकरण कर वे अपनी साधना स्तर में काया का महत्व, प्राणायाम, इडा–पिंगला, सुषुम्ना, घटशोधन, भाटकर्म, प्राणायाम साधना, कुण्डलिनी, चक्र बेधन, ब्रह्मरन्ध्र, शून्य गुफा, दशम द्वार, अनाहतनाद, त्रिकुटि सन्धि आदि शब्दों का विस्तृत वर्णन करते हैं। उनका विश्वास है कि श्रम की प्राप्ति के लिए हठयोग साधना परम आवश्यक है, किन्तु आगे चलकर उनका यह विश्वास इस रुप मे स्थिर न रह सका। वे मंत्रयोग की और उन्मुख हुए जिसमें केशव ही उन्हें सच्चे योगी के रुप में दिखायी देने लगे। जब हम कबीर के योग विषय पर चिंतन करते हैं तो पाते हैं कि पिंड और ब्रह्माण्ड की जिस एकता का वर्णन किया है उसकी सर्वप्रथम चर्चा अथर्वेद में हुई है। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है–

अष्टचक्रानव द्वारा देवानां पूर योध्या
तस्यांहिरण्मयः कोशः स्वर्गोज्योतिषाव तः।।[9]

अर्थात् यह मानव शरीर आठ चक्र और नौ द्वारों से युक्त देवों की कभी पराजित न होने वाली नगरी है, इसी पुरी में ज्योति से ढका हुआ, परिपूर्ण हिरण्यमय, स्वर्णमय कोश है, यह स्वर्ग है। आत्मिक आनन्द का भण्डार परमात्मा इसी में निहित है।

प्रमुख बिन्दु–

आत्म–साक्षात्कार की महत्ता–हठ योग और कबीर दोनों के सिद्धांतों में आत्म–साक्षात्कार की महत्ता की बात की गई है। हठ योग में ध्यान और साधना के माध्यम से आत्मा के प्रति जागरूकता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। कबीर भी अपने दोहों और भजनों के माध्यम से आत्मा के अद्वितीयता की महत्ता को प्रकट करते हैं।

भगवान की प्रतीति का अनुभव–हठ योग और कबीर दोनों के सिद्धांतों में भगवान की प्रतीति को व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। हठ योग में ध्यान और साधना के द्वारा भगवान की प्राप्ति होती है। कबीर भी अपने भजनों में अपने अंतरात्मा की पहचान के माध्यम से भगवान के साक्षात्कार के महत्व को बताते हैं।

समग्रता और सभी का समान दर्शन– संत कबीर और हठ योग दोनों के सिद्धांतों में समाज में समग्रता और सभी का समान दर्शन की उपयोगिता को उजागर किया गया है। हठ योग में सभी को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दिशा में प्रोत्साहित किया जाता है ताकि समाज में समग्रता बन सके। कबीर भी अपने दोहों में सभी मानवों को एक समान दृष्टिकोण से देखने के महत्व को प्रदर्शित करते हैं।

भक्ति और प्रेम का महत्व–हठ योग और कबीर के सिद्धांतों में भक्ति और प्रेम के महत्व की व्याख्या की गई है। हठ योग में भगवान के प्रति भक्ति और प्रेम के माध्यम से आत्मा के साक्षात्कार की प्राप्ति होती है । कबीर भी अपने भजनों में प्रेम और भक्ति के माध्यम से भगवान के प्रति अपने अनुराग को व्यक्त करते हैं।

इन सामानताओं के बावजूद हठ योग और संत कबीर के सिद्धांतों में भिन्नताएँ हैं और वे अपने–अपने उपायों के माध्यम से परमात्मा, जगत और मुक्ति के महत्वपूर्ण पहलुओं को समझाते हैं। कबीर का योग–चिंतन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योकि उसके माध्यम से वे मनुष्य के भीतर की अनंत सभावनाओं को टटोल कर जगाने और

सक्रिय करने का प्रयास करते हैं। कबीर के लिए कुंडलिनी के जगाने से मनुष्य की सुषुप्त आंतरिक शक्ति का जागना है। बिना जागे न तो मनुष्य स्वयं को विकसित कर सकता है और न समाज और न हि राष्ट्र को। योग हमें जगाकर अपनी शक्तियों के सदुपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है।

निष्कर्ष :

हठयोग परम्परा में कबीर का योगदान महत्वपूर्ण है, क्योकि उन्होंने उसके विकृत रूप को दूर कर उसे सामान्य जन तक सर्वसुलभ जनसाधारण भाषा में पहुँचाने का काम किया है, उसे लोकोपकारी बनाया है। वास्तव में कबीर के रुप में भारतीय जनता ने एक ऐसे सन्त को अपने मध्य अनुभव किया जो निजी अनुभवों द्वारा हठयोग के इस कठिन मार्ग में उनके लिए ऐसे सहज पंथ का निर्माण कर सके जिस पर चलकर मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सके। आज भी कबीर द्वारा निर्मित उनके निर्गुण भक्तिमार्ग से अनेक साधक सहज प्रेरणा तथा मानवीय मूल्यों को प्राप्त करने के साथ ही हठयोग परम्परा में निहित साधना का सरलीकृत रूप भी उनकी वाणी में प्राप्त करते है।[10] उस प्रकार हम हठयोग परम्परा में कबीर के योगदान से परिचित होते हैं।

संदर्भ सूची :

1. त्रिलोक, राजीव जैन. (2011). सम्पूर्ण योग विज्ञान : भूमिका. मंजुल पब्लिशिंग हाउस.
2. दास, श्यामसुन्दर. (2023). कबीरग्रन्थावली. पृ.सं. 117. राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली.
3. दास, श्यामसुन्दर. (2023). कबीर ग्रन्थावली. पृ.सं. 53. राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली.
4. शुक्ल आचार्य, रामचन्द्र. (2017). हिन्दी साहित्य का इतिहास. पृ.सं. 56. प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली.
5. दास, श्याम सुन्दर. (2023). कबीर ग्रन्थावली. पृ.सं. 157. राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली.
6. जी, स्वामी दिगम्बर. घरोटे, डॉ. एम. एल. (1997). घेरण्ड़ संहिता पृ.सं. 87. कैवल्य धाम समिति लोणा वाला.
7. जी, स्वामी दिगम्बर. झा, डॉ. पीताम्बर. (1998). हठ प्रदीपिका पृ.सं. 67. कैवल्य धाम समिति लोणा वाला.
8. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. (2017). हिन्दी साहित्य का इतिहास. पृ.सं. 64. प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली.
9. शर्मा, पं. जयदेव. (2014). अथर्व वेद 10/2/31. डी. ए. वी. पब्लिकेशन डिवीजन नई दिल्ली.
10. बडथवाल, डा. पीतात्बर दत्त. (1994). हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय : भूमिका भाग. तक्षशिला प्रकाशन.

उत्तरी तथा दक्षिणी संगीत के पृथक् होने से पूर्व की स्थिति, उसके कारण तथा प्रभाव

डॉ. शालिनी ठाकुर*

सारांश

*संगीत के इतिहास को समझने के लिए अनेक ऐसी बातें जाननी पड़ती हैं जिनका सीधा संबंध तो संगीत से नहीं होता किंतु अप्रत्यक्ष रूप से उनका संबंध संगीत से होता है। भारत में संगीत कई दृष्टिकोण से अद्वितीय है। वह न केवल प्राचीनता के कारण विशिष्ट है वरन् उसकी लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी परंपरा के विकास का इतिहास भी अद्वितीय है। सर्वोत्तम कलाएँ एकसूत्र में गुथी हैं। इन्हें एक–दूसरे से अलग करना कठिन है। संगीत केवल एक शब्द ही नहीं, अपितु एक धारणा है जो हमें ईश्वर से जोड़ती है। 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार– **"गीतंवाद्यंनृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते।"***

अर्थात् संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समावेश हैं। इन तीनों के सम्मिश्रण का प्रमाण हम नारदीय शिक्षा, मांडुक्य शिक्षा, पाणिनी शिक्षा आदि में देख सकते है। मानव के आध्यात्मिक विकास के साथ संगीत भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा। संगीत की उपासना का माध्यम प्रादुर्भाव तथा विकास मंदिरों तथा देवालयों में हुआ।

भारतीय संगीत की परंपरा ईश्वरप्रदत्त मानी जाती है। नारद की वीणा, कृष्ण की वंशी, शिव का तांडव और गंधर्व तथा सरस्वती की वीणा आदि इस कथन की पुष्टि करते है कि संगीत और नाट्यकलाएँ दोनों ईश्वर प्रदत्त हैं।

मूल शब्द– *वैदिक युग, सांगीतिक, सर्वोत्तम कला, प्रादुर्भाव, ईश्वरप्रदत्त, आलपनम।*

प्रविधि– *इस शोध–पत्र को तैयार करने में द्वितीयक माध्यमों का उपयोग किया गया है ।*

भारतीय संगीत का इतिहास वैदिक युग से प्रारंभ होता हैं। ऋग्वेद और सामवेद की ऋचाएँ संगीतबद्ध शब्दावली का प्राचीनतम उदाहरण हैं। भारतीय संगीत की परंपरा ईश्वर प्रदत्त मानी जाती हैं। नारद की वीणा, कृष्ण की वंशी, शिव का तांडव और गंधर्व तथा सरस्वती की वीणा आदि इस कथन की पुष्टि करते हैं कि संगीत और नाट्यकलाएँ दोनों ईश्वरप्रदत्त हैं। पंडित दामोदर ने संगीत की उत्पत्ति पशु तथा पक्षियों से मानी है। उनके अनुसार मोर से स, चातक से रे, बकरा से ग, कौवे से म, कोयल से प, मेंढक से ध तथा हाथी से नी स्वर की उत्पत्ति हुई।[1]

संगीत केवल एक शब्द ही नहीं, अपितु एक धारणा है जो हमें ईश्वर से जोड़ती है।

संगीत रत्नाकर के अनुसार– **"गीतंवाद्यंनृत्यंच त्रयं संगीत मुच्यते।"**[2]

अर्थात् संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समावेश हैं। इन तीनों के सम्मिश्रण का प्रमाण हम नारदीय शिक्षा, मांडुक्य शिक्षा, पाणिनी शिक्षा आदि में देख सकते है। मानव के आध्यात्मिक विकास के साथ संगीत भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा।

इस दृष्टिकोण के अंतर्गत फ्रायड के अनुसार– "संगीत का जन्म एक शिशु के समान मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ जिस प्रकार एक शिशु हंसना या रोना अपने–आप ही सीख जाता हैं। उसी प्रकार संगीत का प्रादुर्भाव भी मानव के मनोवैज्ञानिक के आधार पर हुआ है।[3] संगीत का प्राचीनतम रूप धार्मिक, दार्शनिक, औपदेशिक तथा नैतिक था। संगीत के उपासना का माध्यम प्रादुर्भाव तथा विकास मंदिरों तथा देवालयों में हुआ। उदाहरणार्थ उत्तर भारत के ध्रुपद का लालन–पालन एवं वृन्दवाद्य आदि का जगन्नाथ आदि वैष्णव मंदिरों में तथा सोमनाथ, विश्वनाथ आदि शैव मंदिरों में हुआ। इसी प्रकार कर्नाटक संगीत को भी भक्ति संगीत के रूप में स्वीकार किया गया।

दक्षिण के आधुनिक संगीतकार भी त्यागराज के

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समान रहस्यवादी तथा धार्मिक संगीत कृतियों की रचना करने में संलग्न है।

संगीत के इतिहास को समझने के लिए अनेक ऐसी बातें जाननी पड़ती हैं जिनका सीधा संबंध संगीत से नहीं होता किंतु अप्रत्यक्ष रूप से उनका संबंध संगीत से होता हैं। अतः संगीत के इतिहास को समझने के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तथ्यों का अवलोकन करना होगा और उन तथ्यों का भी अनुशीलन करना होगा। जिनका दूरगामी संबंध भी संगीत से हैं। भारत में संगीत कई दृष्टिकोण से अद्वितीय है। वह न केवल प्राचीनता के कारण विशिष्ट हैं वरन् उसकी लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी परंपरा के विकास का इतिहास भी अद्वितीय है। सर्वोत्तम कलाएँ एक सूत्र में गुंथे हैं। इन्हें एक–दूसरे से अलग करना बहुत कठिन हैं।

यह कहा जाता है कि वैदिक संगीत के नियम कश्मीर से कन्याकुमारी तक समान रहे और हर संगीत शास्त्री यह मानते हैं कि भारतीय संगीत की उत्पत्ति वेदों से हुई है। भरत (नाट्य शास्त्र), शारंगदेव (संगीत रत्नाकर) द्वारा प्रतिपादित नियम उत्तर से दक्षिण तक समान रूप से मान्य थे। उत्तर तथा दक्षिण के संगीतज्ञों में घनिष्ट संबंध रहा। उत्तर के शारंगदेव तथा दक्षिण के पुण्डरीक विट्ठल (सद्राग चन्द्रोदय) इनके अतिरिक्त अनेक ग्रंथकार हैं पर इनमें जिनमें से दो ऐसे हैं जिनके सिद्धांत एक मूल पर आधारित हैं। दोनों के सम्पर्क तथा विचारों के आदान–प्रदान का एक उदाहरण यह भी है कि दक्षिण के पुण्डरिक विट्ठल, भावभट्ट, अहोबल आदि ने दक्षिण से उत्तर में आकर ग्रंथों की रचना की। शताब्दियों से देशव्यापी संगीत की प्रथा का रूपान्तर सम्भव न होता यदि उस पर ऐतिहासिक तथा राजनैतिक आधार न पहुँचते। संगीत के बारे में आदिकाल से लेकर दसवीं शताब्दी तक जो भी विवरण उपलब्ध है उससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि समस्त भारत में संगीत की एक ही पद्धति प्रचलित थी।

आज उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय दोनों प्रकार का संगीत भारत में प्रचलित है परंतु प्राकृतिक अड़चनों ने दोनों भागों को एक–दूसरे से बहुत कम ही मिलने दिया है। अतः दोनों भागों में जो विकास हुआ है, वह लगभग एक–दूसरे से अलग–अलग ही रहा है। निश्चित हैं कि दोनों प्रणालियों का उदगम एक ही स्थन पर हुआ है परंतु सदियों के कालखण्ड में उनके आस–पास के वातावरण का प्रभाव उन पर पड़ा और इस प्रकार उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित हुआ। संगीत का दो शाखाओं में विभाजन विदेशी प्रभावों के फलस्वरूप हुआ जो कालान्तर में उत्तर तथा दक्षिण भारत के संगीत की दो अलग–अलग प्रणालियाँ हिन्दुस्तान तथा कर्नाटक संगीत के नाम से प्रचलित हैं।

उत्तरी तथा दक्षिणी संगीत पद्धति के पृथक होने के कारण

भारतीय संगीत तुर्को के आगमन के पूर्व स्थानीय राजाओं के शासन काल में चरम सीमा पर पहुँच चुका था। कैप्टन विलियर्ड ने अपने ग्रंथ ‘A Treatise of the Music of Hindustan’ में वर्णित किया है कि मुस्लिम राजाओं के शासन काल में धीरे–धीरे सभी हिन्दू कलाओं और विभाजन के साथ–साथ संगीत का भी ह्रास हुआ। इसका प्रभाव उत्तर भारत में अधिक पड़ा जबकि दक्षिण भारत इस प्रभाव से वंचित रहा।

सामवेद की ऋचाओं का प्रयोग ‘खरहरप्रिया’ राग के अंतर्गत उत्तर और दक्षिण भारत के संगीतज्ञों द्वारा किया जाता था। कश्यप और मतंग आदि संगीतज्ञ आज भी उत्तर और दक्षिण भारतीय संगीत के विशेषज्ञ माने जाते हैं। उत्तर और दक्षिण भारत के संगीतज्ञ ‘सामवेद’, ‘नाट्यशास्त्र’, ‘नारदीय शिक्षा’ तथा ‘पाणिनी शिक्षा’ को अपने संगीत का आदि स्रोत मानते हैं। 1294 ई. में मल्लिक काफुर के आक्रमण के समय तक उत्तर भारतीय संगीत लगभग फारसी हो चुका था। श्री हरिपाल द्वारा उत्तर भारत के संगीत को ‘हिन्दुस्तानी’ संगीत कहा गया। दक्षिण भारतीय संगीत को ‘कर्नाटक’ संगीत कहा गया। संगीत विभाजन का रोपा गया वह बीज विदेशी शासन काल में सुदृढ़ पौधे के रूप में विकसित हुआ जो अलग–अलग शैलियों के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है।

इनका साहित्य तथा शोध–ग्रंथ अलग–अलग हैं। दक्षिण भारत के संगीत तथा उत्तर भारत के संगीत में बिल्कुल समानता नहीं रही । इसका मुख्य कारण यही हैं कि उत्तर भारत पर अनेक आक्रमण होते रहे। अनेक विजेताओं के संघर्ष से उत्तर भारत को गुजरना पड़ा जिससे उत्तर भारत के संगीत पर विजेताओं के संगीत का प्रभाव पड़ा तथा उत्तर का संगीत विदेशी संस्कृति के अनुरूप ढलता गया। परंतु ये आक्रमणकारी दक्षिण भारत

न पहुँच सके। दक्षिण भारत को जीतने में प्राकृतिक कठिनाइयाँ विशेष रूप से थी। ताकि वे अपनी संस्कृति को विदेशी आक्रमण से बचा सके। आज भी दक्षिण भारत के संगीत में भारतीयता की पावनता एवं धार्मिकता पायी जाती हैं किंतु उत्तर भारतीय संगीत में उतनी नहीं पायी जाती। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उत्तर भारत का संगीत दक्षिण भारत के संगीत से हीन है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन विंध्य पहाड़ियों की श्रृंखलाओं ने दक्षिण भारत के संगीत की विदेशियों से रक्षा की और उसके पुनीत गौरव सदैव अक्षुण्ण रखने में सहायता प्रदान की।

हिन्दुस्तानी संगीत के विकास को तीन काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। सबसे पहले अलाउद्दीन खिलजी के काल में अमीर खुसरो ने हिन्दुस्तानी संगीत को एक नया मोड़ दिया। उनके शासन काल में संगीत धर्म से परे अन्यत्र भी इसका प्रयोग पहली बार हुआ। भौतिक विकास की अभिरूचि के हेतु संगीत की बनावट यहीं से शुरू हो गई। राजा–महाराजाओं की सेवा में संगीत का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। आगे चलकर मियाँ तानसेन ने अकबर की प्रशंसा हेतु संगीत की रचना की और खुद भी अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक बन गए। उस काल का संगीत प्रायः ध्रुपद में समाया हुआ था।

हिन्दुस्तानी संगीत के विकास का एक और कालखण्ड सदारंग के जमाने से माना जाता है। मोहम्मद शाह के दरबार में उनकी प्रशंसा हेतु संगीत की रचना की और ख्याल के अनेक प्रकारों को जन्म दिया, इसे उत्तरी संगीत की क्रांति ही कहना चाहिए। इस क्रांति में चीजों की शब्द रचना में परिवर्तन हो गए। चीज़ शब्द आज भी गायकी में प्रचलित हैं। परंतु वह स्वर–व्यंजनों का आकार स्वरावलि तक ही सीमित है। यहाँ से आगे संगीत का प्रवाह स्वरावलि के प्रकाशन में होता गया।

कर्नाटक संगीत प्रणाली की तुलना में हिन्दुस्तानी संगीत ताल के विषय में उदार है। इस प्रणाली में प्रायः 20 ताल प्रचलित हैं। कर्नाटकी गायक ताल की प्रत्येक मात्रा के विषय में अत्यधिक सजग और सावधान रहता है, यहाँ तक कि आधी मात्रा के लिए भी। हिन्दुस्तानी संगीतकार मछली की भाँति तैरता है और अवसर पाते ही स्थायी पर आ जाता है। राग सीमा के भीतर वह स्वच्छंदतापूर्वक अपनी स्वर–लहरी की उड़ाने भर सकता हैं।[4]

स्वरों के आविष्कार से स्वरप्रधानता और लयप्रधानता के आधार पर घराने निर्मित हुए। साहित्य की अपेक्षा स्वर पर ध्यान केन्द्रित करना, लय पर ध्यान केन्द्रित करना, स्वर और लय का एक साथ समन्वय करना आदि विभिन्न विचारों के कारण घरानों का निर्माण हुआ। फलस्वरूप हिन्दुस्तानी संगीत स्वर, ताल, लय तान आदि बातों को लेकर वैभव सम्पन्न हुआ है। उसके श्रृंगार सजावट बढ़ गए। कुछ लोगों का यह कहना है कि घराने अब अदृश्य होने के रास्ते पर हैं। पर यह बात यहाँ प्रमाणित नही है। कर्नाटक संगीत बिना बाह्य प्रभाव के और अशान्त हुए बिना विकसित होता गया है। उसकी यात्रा धार्मिक विचारों के प्रवाह के किनारे होती है। इस संगीत को सबसे पहले प्रभावित करने का श्रेय 15वीं सदी के संत पुरिन्दर दास को जाता है। पुरिन्दर दास एक महान संगीतज्ञ होने के साथ–साथ महान संत भी थे। वे कर्नाटक संगीत के जनक माने जाते थे। कर्नाटक संगीत को उन्होंने एक रचनात्मक मोड़ पर ला दिया। उसे वैज्ञानिक बैठक तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से उन्होंने उसे संगीतोपयोगी बना दिया तथा 72 मेलकर्ता सिद्धांत के वे जनक थे। व्यंकटमखी ने उसे परिपूर्ण कर दिया। परंतु उन्होंने ईश स्तुति पर (विट्ठल की ईश स्तुति पर) आधारित कई पदों की रचना की है, और उन पर सुयोग्य सुरों का साज चढ़ा कर आकर्षक तर्जे भी चढ़ाई।

उनके तापसी जीवन ने उनके पदों को अधिकाधिक लोकप्रिय बना दिया। इसके पश्चात् त्यागराज, श्यामाशास्त्री तथा दीक्षितर आदि इन तीन श्रेष्ठ संतों ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में दक्षिणी संगीत पर बड़ा ही प्रभाव डाला। दीक्षितर ने बनारस के संगीतज्ञों से ध्रुपद की शिक्षा प्राप्त की थी। इन ध्रुपदों का प्रयोग केवल ईश स्तुति और भक्ति मार्ग के लिए किया जाता था। इन तीनों श्रेष्ठ संतों ने आध्यात्मिक तथा भक्ति मार्ग की दृष्टि से कर्नाटक संगीत की लोकप्रियता को बढ़ा दिया और बड़ी लगन से इसका प्रचार–प्रसार किया। उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत के प्रेम, विरह, दुख आदि भविष्य कारकों से कर्नाटक संगीत को अछूता रखा और आध्यात्मिक चिंतन पर ही जोर दिया। इस संदर्भ में 17 नवम्बर 1967 के 'टाईम्स ऑफ इंडिया' में किसी दक्षिणी संगीत के टीकाकारण का प्रकाशित एक निवेदन उद्धृत किया जा रहा है। दक्षिण का शास्त्रीय संगीत एक कला है और यह विज्ञान और आध्यात्मिक क्षेत्र में उत्थान का एक साधन हैं। उनके 95

पदों में किसी–न–किसी देवता की प्रशंसा पाई जाती है। कुछ पदों में आध्यात्मिक दर्शन समाविष्ट है तो कुछ पदों में सुंदर काव्य रचना दिखाई देती हैं। जिस प्रभावपूर्ण ढंग से गायक इन रचनाओं को पेश करेंगे उतनी ही मात्रा में श्रोता (स्रोता) मंत्र–मुग्ध होते जाएंगे। इससे कर्नाटक संगीत का सुनिश्चित लक्ष्य दिखाई देता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कर्नाटक संगीत में कला के लिए कला के सिद्धांत को अपनाया है।

इससे उसकी कला का कलात्मक विकास हो सका। उत्तर हिंदुस्तानी संगीत भौतिकवाद पर आधारित और कर्नाटक संगीत आध्यात्मिकवाद पर केन्द्रित है। इस मूलभूत फर्क को अच्छी तरह समझ लेने पर दोनों प्रणालियों में रहने वाले फर्क ध्यान में आएंगे। इसके स्पष्टीकरण के लिए यह कहा जा सकता है कि उत्तरी संगीत के कलात्मक विकास तथा उसके उद्देश्य को स्वीकार किए जाने से आलापचारी के लिए धीमी लय अनिवार्य बन गई क्योंकि बिना इस प्रकार के धीमी लय राग का स्वर विस्तार, वादी–संवादी सिद्धांत का प्रभाव, उसके अनगिनत पहलुओं की स्वरावलियों के आधार पर स्वरों के कण निर्मित नहीं हो सकते। ये ही बातें आध्यात्मिक चिंतन के लिए आवश्यक होती हैं। साधना और स्वर–मधुरता दूसरे प्रकार से गौण बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। यहीं इन दोनों में फर्क का आभास कराता है। एक में संगीत ही साध्य हैं और दूसरे में वह आध्यात्मिकता का साधन है। इसका मतलब यह नहीं कि दक्षिणात्य गायक अथवा श्रोता अधिक पारमार्थी हैं। बस इस दृष्टि से विचार करने पर कर्नाटक संगीत बड़ी ही सहजता से घर–घर में प्रवेश पा सका है। इतना ही नहीं, बल्कि संगीत बहुतांश कुटुंबियों के दैनिक जीवन का एक अटूट अंग बन गया है। अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि दोनों प्रकार प्रणालियों की मूलभूत आवश्यकताएँ भिन्न है।

दोनों प्रणालियों में कुछ समानताएँ पाई जाती है जैसे आदि तालम (त्रिताल, रूपक और झपताल) आदि। उत्तर और दक्षिण दोनों में वाद्यों का बाहुल्य पाया जाता है।

अपितु यह कहा जाता है कि उत्तर भारत में तंतु वाद्यों और दक्षिण भारत में आघात अर्थात् ताल वाद्यों की प्रधानता है। कर्नाटक संगीत के 'ताल वाद्य कचहरी' का विशिष्ट स्थान है। परंतु उसका प्रभाव धीरे–धीरे हिंदुस्तानी संगीत में भी आता दिखाई दे रहा है। कर्नाटक संगीत में रागों का वर्गीकरण 72 मेलकर्ता पर आधारित है। 12 स्वर स्थान पर 72 जनक राग है। अन्य रागों की संख्या अनगिणत हैं। यह वर्गीकरण विधि बड़ी वैज्ञानिक तथा गणित संगत है। हिंदुस्तानी संगीत पद्धति में पंडित भातखंडे द्वारा चुने गए 10 थाट (मेल) आधारित 'थाट राग पद्धति' उत्कृष्ट है। यह पद्धति संगीत के विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा ग्रहण करते समय सुलभ और स्पष्ट प्रतीत होती है। हिंदुस्तानी संगीत पद्धति में रागों का वर्गीकरण समय के आधार पर किया गया है। किंतु कर्नाटक संगीत में समयानुसार राग–गायन का प्रतिबंध प्रचलित नहीं है। हिंदुस्तानी संगीत में समयानुकूल राग गायन का बंधन यथासंभव मान्य है। उत्तर भारत के श्रोता इससे इस प्रकार अभ्यस्त हो चुके हैं कि प्रतिबंध को तोड़ना उन्हें सदैव अखरता है। एक आकर्षक बात यह है कि दोनों प्रणालियों में रागों की सूची निम्न है जो कुछ विशिष्ट रचनाओं के आधार पर की गई है–

(1) **भौगोलिक रचना** – स्वराष्ट्रीय, बंगला, सिंधु, जौलपूरी आदि।

(2) **ऋतु** – बसंत, हिंडोला, हेमंत, हेम आदि।

(3) **उपासना विधि** – भैरवी (शिव उपासना), नट नारायण (विष्णु उपासना), कपड़ा (कृष्ण की उपासना) कृष्ण से प्राप्त शब्द काहड़ा।

(4) **फूल** – मालती, सरस, नलिन कांति, रूहे आदि।

(5) **पशु–पक्षी** – बडहंस, मयूरी, हंसध्वनि, नागध्वनि, पुराजी, बिहागड़ा आदि।

तालों में दोनों प्रणालियों में समानता पाई जाती है जैसे– आदि तालम–त्रिताल, छप ताल, रूपक आदि उत्तर और दक्षिण दोनों में वाद्यों का बाहुल्य पाया जाता है। अपितु यह कहा जाता है कि उत्तर भारत में तंती वाद्य की प्रधानता है। हिंदुस्तानी तथा कर्नाटक संगीत में कुछ समान वाद्य देखने को मिलते हैं। शहनाई, नागस्वरम्, सुंदरी, मुखवीणा, पखावज, मृदंगम्, वीणा– गोटु वाद्य, दक्षिण के तंजौर में प्रचलित तानपूरे की आकृति उत्तर के मिराज के तानपूरे की आकृति से भिन्न होती है। उत्तर तथा दक्षिण में वायलिन को सस्वरित (ट्यूनिंग) करने की विधि में अंतर हैं। दक्षिण की विधि उत्तर की विधि से उत्तम हैं। दक्षिण में वीणा अधिक प्रचलित है। उसका स्वर गंभीर

तथा समृद्ध होता है। उत्तर में सरस्वती वीणा कम सुनने को मिलती है। ऊंचे स्वर वाली बांसुरी तथा नीचे स्वर वाली बांस की बांसुरी का प्रयोग उत्तर में किया जाता है। आज के संगीतकारों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। तीव्र यातायात के साधन भी सुलभ हो गए है। रेडियो, चलचित्रों, रिकॉर्डिंग्स आदि के द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार में अधिक उन्नति हुई है। इन सब आधुनिक साधनों के कारण उत्तर तथा दक्षिण के संगीतज्ञों की पारंपरिक संपर्क में उनकी वृद्धि हो रही है जिससे संगीत को लाभ ही होगा।

उत्तरी तथा दक्षिण संगीत के एकीकरण के सकारात्मक प्रभाव

हिंदुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत पद्धति में अनेक साम्य भी हैं। इसलिए यह संभव है कि कुछ समय पश्चात् ये दोनों पद्धतियाँ बहुतांश में एक–दूसरे से मिल जाएँ । यदि ऐसा मिश्रण उत्तम अधिकारी विद्वानों द्वारा हुआ तो इन दोनों पद्धतियों का हित ही व्यापक होगा। ऐसा होने से हिंदुस्तानी संगीत के विद्यार्थियों को कर्नाटक संगीत के ग्रंथों को पढ़ने का भी अवसर प्राप्त होगा यथा– 'स्वरमेलकलानिधि', 'संगीतसारामृतम्', 'रागलक्षणम्' आदि । इसी प्रकार दक्षिण संगीत भारतीय के विद्यार्थी भी उत्तर भारतीय संगीत के ग्रंथों को पढ़ने में अत्यधिक रुचि लेंगे।

इस संदर्भ में यही कहना उचित होगा कि इन दोनों पद्धतियों के समन्वय से संगीत के साधनों को विकसित कर नई दिशा का अनुभव एवं आनंद प्राप्त किया जा सकता हैं।

पंडित भातखंडे ने स्वयं अपनी 'क्रमिक पुस्तक मालिका' में कर्नाटक संगीत के सिद्धांतों का समन्वय किया हैं। रागों में निबंद्ध लक्षण गीतों में हिंदुस्तानी थाट के समरूप कर्नाटक मेल का उल्लेख किया है। उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय संगीत की गायकी में काफी समानता है। उदाहरण के लिए हिंदुस्तानी संगीत में राग का गायन आलाप से प्रारंभ होता हैं और कर्नाटक संगीत में भी आलपनम से गायन का प्रारंभ होता है। हिंदुस्तानी एवं कर्नाटक दोनों पद्धतियों में राग के बर्ताव में तानें ली जाती हैं और तानें, सरगम में भी लेते हैं। दोनों पद्धतियों में निबद्ध और गायकी का समान रूप से विवर्तण हुआ है। प्राचीन प्रबंधों से ध्रुपद की उत्पत्ति हुई और प्राचीन रूपकालप्ति से ख्याल प्रभावित हुआ हैं और इसी से दक्षिण में पल्लवी गायन प्रभावित है। दोनों में कल्पना का बाहुल्य है। उत्तर का ठुमरी गायन अभिनयात्मक है । इसी प्रकार उत्तर तथा दक्षिण की अन्य गायन शैलियाँ भी परस्पर मिलती हैं।

हिंदुस्तानी	**कर्नाटक**
अलंकार	अलंकारम
लक्षणगीत	लक्षणगीतम
सरगम	स्वरजति
मध्यख्याल	मध्यमकलाकृति
द्रुत ख्याल	द्रुतकलाकृति
विलंबित ख्याल तथा ध्रुपद धमार	रागम तानम पल्लवी
ठुमरी, टप्पा	पद्मजावली

दोनों पद्धतियों में सप्तक के अंतर्गत 22 श्रुतियाँ मानी जाती हैं और दोनों पद्धतियों का आधार ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' तथा 'संगीतरत्नाकर' को माना जाता है। इन दोनों पद्धतियों में षड्ज तथा पंचम को माना गया। उत्तरी संगीत में म को छोड़कर बाकी सभी शुद्ध स्वरों को तीव्र भी कहा जाता है और उसकी विकृति के लिए कोमल संज्ञा दी जाती है किंतु कर्नाटक संगीत में स्वर की पहली स्थिति है। इसके बाद की स्थिति को विकृति की संज्ञा दी जाती है। इसलिए कर्नाटक शुद्ध स्वर उत्तरी संगीत के कोमल स्वरों के बराबर सिद्ध होता है।

मूल रूप से दोनों ही प्रणालियाँ समान है और दोनों में वही स्वर और वही श्रुतियाँ प्रयुक्त होती हैं। इन्हीं स्वरों और श्रुतियों पर आधारित रागों के प्रस्तुतिकरण और गायन की विशिष्ट शैलियों के द्वारा दोनों प्रणालियों में भेद होता है। यही स्वर, श्रुतियाँ तथा राग प्रस्तुत करने का ढंग दोनों प्रणालियों में अंतर उत्पन्न करता है। वर्तमान समय में हमारा परंपरागत दुख कम होता जा रहा है और हम एक–दूसरे की कला को बड़े ही अपनत्व के साथ देख रहे हैं। यही कारण है कि उत्तरी तथा दक्षिणी संगीत शैलियाँ समीप ही नहीं आई बल्कि कई तरह के आदान–प्रदान भी आरंभ हो गए हैं जिसके फलस्वरुप आज यह देखा गया है कि उत्तर भारत में दक्षिण के कई कलाकारों को तथा गायन शैलियों को अपनाया गया है। साथ ही, उनकी विशिष्ट मुर्कियाँ, सरगम, स्वर लगाने का ढंग तथा गमक आदि भी अपनाया गया है। इसी प्रकार,

उत्तर भारतीय संगीत की लंबी तानें, खड़े स्वर, खट्के आदि के प्रयोग दक्षिण भारतीय संगीत में विशेष रूप से प्रकट हो रहें है।

संगीत चाहे उत्तर का हो या दक्षिण का; दोनों का एक ही उद्देश्य है और वह है शास्त्रीय संगीत के पवित्रता को बनाए रखना और उसके संदर्भ में वृद्धि करना । दोनों प्रणालियों में रागप्रस्तुतीकरण का माध्यम आलाप या आलपनम हैं। दक्षिण में इसकी अभिव्यक्ति न, ते, र, म, तोम आदि निरर्थक शब्दों से की जाती है। जैसा कि उत्तर में ध्रुपद, धमार, गायन से पूर्व होता है। दक्षिण की कृति तथा उत्तर के ख्याल के प्रस्तुतिकरण में स्वर और वर्णोचारण के ढंग के अलावा अंतर यह है कि कृति श्रोताओं द्वारा उसके प्रभावों का अनुभव कर सकने के पूर्व ही प्राप्त हो जाती है जबकि ख्याल अपने बराबर विस्तार से श्रोताओं को पूर्णतः प्रभावित करता है। एक घंटे के कार्यक्रम में दक्षिणी संगीत की आधी दर्जन कृतियाँ सुनी जा सकती हैं जबकि उत्तर का ख्याल एक घंटे में आधा भी नहीं हो पाता। दक्षिण भारत में एक और प्रकार की बंदिश है जिसे 'जावली' कहा जाता है। यह सुगम संगीत के अंतर्गत आता है। इसका उद्देश्य प्रेम–भाव प्रदर्शित करना है। इसका प्रयोग अभिनय के पार्श्व संगीत में भी होता है किंतु यदि ऐसा है तो यह उत्तर की ठुमरी के समान है। ठुमरी में विभिन्न प्रकार के श्रृंगार–भाव छोटे–छोटे फ्रेजों से भरपूर होती है। उसी की विभिन्न प्रकार से आवृत्ति की जाती है। इसमें आत्माभिव्यक्ति, ध्वनि के मनोधर्म, मुख–मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति और संगीतकार के हाव–भाव की पूरी छटा रहती है। इसमें संगीतकार धातु की अनुकूलता से गीत का विस्तार करता है।

उत्तर का तराना और दक्षिण का तिल्लाना शब्द चातुर्य और वैविध्य के प्रदर्शन की समान गायन शैलियाँ हैं। पंडित शारंगदेव और कल्लिनाथ के समय हिंदुस्तानी तथा कर्नाटक संगीत में कोई भेद नहीं था। यदि भेद रहा भी होगा तो प्रादेशिक भेद अथवा भाषा भेद अवश्य रहा होगा। भाषा, विभाषा, अंतरभाषा और विभाषा में रागों की श्रेणी भेद से पता चलता है कि इनमें प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय अंतर हैं किंतु संगीत की आम रूपरेखा समूचे देश में समान थी।

उतरी तथा दक्षिणी संगीत पद्धति के विभाजन का नकारात्मक प्रभाव

इन दोनों संगीत पद्धतियों में पृथकता तब शुरू हुई जब मुसलमानों ने भारतीय संगीत में नई सृष्टि करने का प्रयास किया। उत्तर और दक्षिण के सांगीतिक सिद्धांत एवं व्यावहारिक अभिव्यक्ति के मूल सिद्धांत अक्षुण्ण रूप से कायम रहे। इन दोनों प्रणालियों में यदि कोई अंतर है तो एक ओर कुछ रागों में तो दूसरी ओर गमक अथवा स्वर उच्चारण में ऐसा अनुभव किया गया है । उत्तर भारतीय संगीत में कुछ दक्षिणी राग लाने से वह समृद्ध ही हुआ है। पंडित भातखंडे ने कई दक्षिणी राग उत्तर भारत में प्रचलित किए, जैसे– हंसध्वनि, हंस किंकणी, दुर्गा (बिलावल थाट), साबेरी, श्रीरंजनी, आभोगी, आहिरी, बसंतमुखारी, देवरंजिनी आदि ।

कर्नाटक संगीत में लय के संबंध में सुभद्रा चौधरी ने लिखा है– "कर्नाटक संगीत में लयों का दुगना–दुगना संबंध अभी भी है यानि द्रुत की ठीक दुगनी मध्य और मध्य की ठीक दुगनी विलंबित होती है। लेकिन लय के बजाय 'कालम्' शब्द का प्रयोग होता हैं।[5] मनोधर्म संगीत में अपनी विशेष दक्षता या क्षमता रखने वाले गायक या वाग्गेयकार को कर्नाटक संगीत में पल्लवी विद्वान के नाम से संबोधित किया जाता है। "The Pallavi Vidvan is a specialist in manodharma sangita."[6]

हिंदुस्तानी और कर्नाटक दोनों प्रणालियों की वर्तमान बंदिशों की प्राचीन प्रबंधों के साथ तुलना करने से पता चलता है कि कई प्रकार से इनमें मेल नहीं है। इसका कारण संभवतः है यह है कि कुछ प्रबंधों में (मेदिनी–जाति–प्रबंध) एक को छोड़कर अन्य अंग रचयिता अथवा गायक की मर्जी पर छोड़ दिए गए। कुछ प्रबंधों (मेदिनी–जाति) में कई खंडों के लिए विभिन्न राग और तालों का प्रयोग किया गया। संभवतः इसी कारण बाद में कर्नाटक संगीत में 'रागमालिका' और 'तालमालिका' की सृष्टि हुई। हिंदुस्तानी संगीत में भी रागमालिका है, किंतु उसका नाम 'रागसागर' है, यद्यपि वह कर्नाटक संगीत के समान अधिक प्रयोग में नहीं है। उस समय प्रबंधों के कई प्रकार थे किंतु आज दोनों संगीत प्रणालियों में कुछ ही प्रकार उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष :

भारत एक विशाल देश है जिसमें अनेक धर्म व संप्रदाय के लोग अपने–अपने धर्म व संस्कृति के रंगों में

रंगे इस विशाल वृक्ष–रुपी देश को हरा–भरा बनाए हुए हैं। सांस्कृतिक भिन्नता के इस रूप की झलक हमें यहाँ प्रचलित लोकगीतों में भी देखने को मिलती है। इन्हीं लोकगीतों का सुसंबद्ध रूप शास्त्रीय संगीत है। यदि भारत में संगीत के अस्तित्व की बात करें तो इसका संकेत हमें प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है। वेद, जिसे भारतीय इतिहास के प्रथम वक्ता कहा जाता है जिसमें सर्वप्रथम लिखित रूप में इतिहास के प्रमाण मिलते है, उस काल में भी सामवेद के रूप में संगीत जन–मानस में प्रचार में था। उसके बाद उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में भी संगीत की चर्चाएँ मिलती हैं। संगीत की वह धारा आज भी अनवरत रूप से कुछ परिवर्तन के साथ चली आ रही है। प्रारंभ में संपूर्ण भारतवर्ष में शास्त्रीय संगीत की केवल एक ही धारा प्रवाहमान थी किंतु बाद में लगभग 12वीं शताब्दी के मध्य शास्त्रीय संगीत की दो धाराएँ अर्थात् पद्धतियाँ प्रचार में आई। वर्तमान में भी भारत में मुख्य रूप से दो ही पद्धतियाँ प्रचार में हैं– उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति एवं दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति। संगीत की इन दोनों प्रणालियों के नियम समान है परंतु समय के साथ इनमें कुछ परिवर्तन भी हुए हैं। संगीत चाहे उत्तर का हो या दक्षिण का दोनों का एक ही उद्देश्य है और वह है शास्त्रीय संगीत की पवित्रता को बनाए रखना और उसके सौंदर्य में वृद्धि करना।

संदर्भ सूची :

1. जोशी, उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ.–98
2. वसंत, संगीत विशारद, पृ.–35
3. जोशी, उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ.–55
4. संगीत, मासिक पत्रिका, ताल अंक, पृ.–16
5. चौधरी, प्रो. सुभद्रा, भारतीय संगीत में निबद्ध, पृ.–142
6. Sambamoorthy, Prof. P., South Indian Music (Book-IV), p.4

हरियाणवी लोकगीतों में भावों के उद्‌गारक तत्त्व

डॉ. रचना*

शोध सार

हरियाणा के लोकगीतों में हरियाणवी संस्कृति रची बसी है या हरियाणवी संस्कृति में लोकगीत, यह कहना थोड़ा–सा मुश्किल है। इस अनुसंधान पत्र में हरियाणा की संस्कृति की झलक किस प्रकार यहाँ के लोकगीतों से मिलती है, इस पर चर्चा करने की चेष्टा की गई है। लोकगीतों का अर्थ, उनकी उत्पत्ति व हरियाणवी गीतों में भावों के उद्‌गार व विषय पर चर्चा की गई है। हरियाणवी लोकगीत का समाज व संस्कृति के आधार पर वर्गीकरण जिनसे भिन्न–भिन्न रस उत्पन्न किस प्रकार होते हैं व प्राचीन परंपराओं को इन गीतों द्वारा किस प्रकार आधुनिक पीढी तक पहुँचाया जाता रहा है, जो हरियाणवी संस्कृति को सुरक्षित किए हुए हैं पर कार्य करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : *हरियाणवी लोकगीत।*

प्रविधि : *इस शोध–लेख के लिए द्वितीयक माध्यमों से सहायता ली गई है।*

लोकगीत जनमानस की अभिव्यक्ति के गीत हैं। लोकगीत मानव की सहज प्रवृत्ति का स्वरुप है। मानव ने प्रकृति से प्रेरणा पाकर जिन गीतों का निर्माण किया, ये लोकगीत कहलाते हैं। वास्तव में लोकगीत मनुष्य की भावनाओं से प्रेरणा पाकर ही उत्पन्न होते हैं व धड़कन की लय से ही इन्हें संगीतमय किया जाता है। इंसान अपने सुख–दुःख, प्रेम, दुश्मनी, रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार, त्यौहार, अनुष्ठान, धर्म–संस्कृति, रहन–सहन, आस्था–विश्वास आदि से संबंधित अपनी भावनाओं को जब गायन के माध्यम से प्रस्तुत करता है, तो वे 'लोकगीत' कहलाते हैं। वास्तव में इन्हीं लोकगीतों द्वारा मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति व संस्कृति को संरक्षित भी करता है।

लोकगीत आमजन की भावनाओं का उद्‌गार है, जो सरल (आम बोलचाल की) भाषा, सरल काव्य व सरल धुनों से निर्मित होते हैं।[1]

लोकगीत दो शब्दों के संयोग से बना है लोक + गीत, लोक शब्द का अर्थ – आमजन व गीत शब्द का अर्थ है– गायन। इसका अर्थ हुआ आमजन द्वारा गाया जाने वाला गीत। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में 'लोक' शब्द धातु में 'धञ्' प्रत्यय लगने से बना है, जिसका अर्थ है– देखने वाला। 'लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित है'।[2] वास्तव में लोकगीत जन समुदाय से जन्म लेने वाले गीत हैं। ये गीत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मौखिक गायन–परंपरा से आते हैं। ये गीत संस्कृति के मुहँ बालते चित्र हैं[3], इन्हीं लोकगीतों द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी व दूसरी पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जाता रहा है। इस प्रकार, लोकगीतों द्वारा संस्कृति के प्रस्थान की यह परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। अपितु यदि यह कहा जाए कि आधुनिक काल के बालकों को हरियाणा की संस्कृति का ज्ञान ही हरियाणवी लोकगीतों द्वारा होता है, तो अनुचित नहीं होगा।

'गीता पेन्टल' के मतानुसार, लोकगीत किसी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, मानव मन में जब भावों का मंथन होता है तो लोकगीतों का जन्म होता है। लोकगीतों का कोई शास्त्र नहीं होता अपितु स्थाई बोली द्वारा व्यक्त हृदय के उद्‌गार हैं,[4] हरियाणा के लोकगीत भी ऐसे ही हैं, जिनमें दैनिक जीवन की छोटी–छोटी गतिविधियों का चित्रण मार्मिक तरीके से किया गया है। यह गीत देहातों से उत्पन्न माने गए हैं किंतु शहरों में भी प्रचलित रहे हैं।

हरियाणा लोकगीतों के विषय :

हरियाणवी संस्कृति को दर्शाते हरियाणवी लोकगीतों के विषय दैनिक जीवन से संबंधित रहे हैं, ये लोकगीत स्वयं ही मुख से उत्पन्न होने वाले हैं, जैसे– सोते बच्चे को देख कर माता में वात्सल्य भाव का उत्पन्न होना व अनायास ही उसके होठों से कुछ शब्द गाने के

*सहायक प्रवक्ता, आदर्श महिला महाविद्यालय, भिवानी (हरियाणा)

रूप में प्रकट हो जाना, ऐसे ही हरियाणवी लोकगीतों के विषय। लोकगीतों का कोई शास्त्र नहीं होता यह निर्मल मन की निश्चल उद्गार रूपी धारा के समान हैं, जो कहीं से भी प्रस्फुटित हो सकते हैं। एक विद्वान का कथन है– ''हृदय में भावनाओं का आवेश आते ही कल्पना तरंगे लेने लगती है, उसी समय पहले संगीत का फिर काव्य का जन्म होता है, इस काव्य का विषय कुछ भी हो सकता है। जिन भावों से हृदय में आवेश पैदा होता है, वही हरियाणवी लोकगीतों के विषय बनते हैं।[5] हरियाणवी लोकगीतों के विषय अनेक हैं क्योंकि किसी भी वस्तु या स्थिति में मानव मन के भावों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है व उस स्थिति को देखकर या सुनकर गायन करना भी उतना ही स्वाभाविक है। विभिन्न त्योहारों पर गाये जाने वाले गीतों के विषय, देवी या देवताओं संबंधित, ऋतुओं से संबंधित, दैनिक कार्यों से संबंधित विषय, जैसे– फसलों की रोपाई, बुवाई, कटाई, चक्की पीसते हुए व चरखा चलाने के विषय संबंधित गीत। ये लोकगीत मनोरंजन के उत्तम साधन के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। इसलिए रिश्तों से संबंधित विषय के गीत भी बहुतायत में मिलते हैं, जैसे– देवर–भाभी, सास–ननंद के ताने, हास्य पूर्ण तरीके से ससुराल की बुराई करते हुए लोकगीत।

कुछ हरियाणवी लोकगीत प्रश्नोत्तरी के रूप में भी गाये जाते हैं। इन गीतों में कभी–कभी एक व्यक्ति प्रश्न करता है और दूसरा व्यक्ति गीत के माध्यम से ही उत्तर देता है। इन गीतों में दुःख–सुख, प्रेम–वियोग, पुत्र–जन्म के अवसर के, वात्सल्य पूर्ण, हर्ष–उल्लास, करुणा, चूड़ी बेचना[6], विवाह–संबंधी, युद्ध संबंधित, वीरता की कथाओं के गीत, प्रेम गीत, भगवान की आराधना संबंधित अनेक विषय हरियाणा के लोकगीतों में हमें प्राप्त होते हैं। ये केवल विषय नहीं है, अपितु प्राचीन काल की संस्कृति हैं जो लोकगीतों द्वारा हम तक पहुँचती है। अतः हरियाणा की संस्कृति में लोकगीत पूर्णतः रचे बसे हैं, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा।

हरियाणा के वासियों के रहन–सहन, रीति–रिवाज, भाषा व बोल–चाल के तरीके के आधार पर हरियाणा की संस्कृति में रचे बसे लोकगीतों को सामाजिक परिपाटी या संस्कृति व परंपराओं के आधार पर कुछ वर्गों में वर्गीकृत किया गया है, जो इस प्रकार है–

संस्कार–संबंधी लोकगीत :

हिंदू समाज में संस्कारों को जीवन में इस प्रकार समाहित किया हुआ है कि अब वे समाज के अभिन्न अंग हो गए हैं, जिनके अभाव में समाज की कोई भी प्रक्रिया पूर्ण नहीं मानी जाती। संस्कार के गीत भी समाज की उसी प्रक्रिया का हिस्सा है। 'संस्कार' शब्द 'सम' उपसर्ग 'कृ' धातु से 'धञ्' प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है– 'संस्कार वह है, जिसके होने से कोई भी योग्यता होती है।'[7] वस्तुतः संस्कार भारतीय जीवन की नींव है। वैदिक साहित्य में इन संस्कारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्न ग्रंथों में मतभेद है 'आश्वलायन गृहसूत्र' में ग्यारह संस्कार, 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में बारह संस्कार, 'मनुस्मृति' तथा 'महाभारत' के वनपर्व में तेरह संस्कार कहे गए हैं व आजकल सोलह संस्कारों की परंपरा प्रचलित है जिसका वर्णन 'व्यासस्मृति' में मिलता है। हरियाणा की संस्कृति में इन सभी संस्कारों से संबंधित लोकगीत है। यहाँ का आमजन चाहे बड़े–बड़े साहित्यों का सही ज्ञान न रखता हो पर मनुष्य के जीवन में जन्म से लेकर अपितु जन्म के पहले से लेकर मृत्यु तक के सभी परिवर्तनों से संबंधित लोकगीत हरियाणा में गाये जाते रहे हैं। गर्भधारण के गीत, पुत्र–पुत्री होने के पश्चात् के लोकगीत, नामकरण के गीत, जनेऊ धारण करते समय गाये जाने वाले गीत, केशान्त (प्रथम बार केश कटवाने) के गीत, विवाह में गाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के गीत, मृत्यु के गीत आदि इसका उदाहरण है कि हरियाणा की संस्कृति को दर्शाने वाले लोकगीत, हरियाणा के प्राचीन जन्म से पहले से लेकर मृत्यु तक के जीवन के प्रत्येक संस्कारों में गाये जाते रहे हैं।

हरियाणा के रस–संबंधी लोकगीत :

हरियाणा के लोकगीत रस व भावों से परिपूर्ण है। वास्तव में लोकगीत मानव के भावों से उत्पन्न होते हैं, इसीलिए यह पंक्ति दर पंक्ति रस से सराबोर होते हैं। हरियाणा प्रदेश के गीतों में श्रृंगार रस (संयोग) से परिपूर्ण गीतों की एक लंबी श्रृंखला है, जिनमें पनघट के गीत, ननंद–भाभी के गीत। चांदनी रात में नायिका का श्रृंगार कर पानी ले जाने के गीत, जैसे –

'चाँदणी सी रात छिटक रहे तारे, जल चन्द्रावल पाणी,
कैसे भर जाऊँ जमना जल नीर।'

इसी प्रकार, वीरों की भूमि होने के कारण हरियाणवी गीतों में वीर रस की भी भरमार है। हरियाणा के बहुत से वीरों ने रणभूमि में वीरगति को प्राप्त किया व शत्रुओं के हौसलों के छक्के छुड़ाए हैं। उन्हीं वीरों की शौर्य गाथा से संबंधित गीत हरियाणवी संस्कृति को दर्शाते हुए आज के युवाओं में भी हौसला व उत्साह उत्पन्न कर देते हैं।[8] उसी का एक उदाहरण इस प्रकार है –

लाखां छोहरे हरियाणे के, जल, थल, सेना म्हं काम करै,
आंख उठा कोय दुश्मन देखै, उसका काम तमाम करें।।

ऐसे गीतों को सुनकर स्वतः ही उत्साह उत्पन्न हो जाता है। ठीक इसी प्रकार, हरियाणा के लोकगीतों में करूण रस के गीतों की भी भरमार है, ये गीत मार्मिकता की ऊँचाइयों को भी छूते हैं तथा हृदय में कहीं गहरे पैठ भी जाते हैं। जच्चा गीत, चरखा गीत, विदाई के गीत, सौतन के गीत, हृदय के सूक्ष्म तारों को झंकृत कर अंतरात्मा के मर्मस्थल को छूने में सक्षम है। हास्य रस के गीतों में हरियाणवी लोकगीतों का कोई जवाब नहीं है। हास्य के माध्यम से कठोर से कठोर बात, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सरल ढंग से आवाज उठाई जाती रही है। यह हरियाणा के लोकगीतों से ही ज्ञात होता है। यहाँ के गीतों में ठिठोली, बन्ना–बन्नी, सीठने, बारातियों पर की जाने वाली छीटांकशी के गीत, जीजा–साली के गीत, परंपराओं को दर्शाने के साथ–साथ हास्य रस की फुहार भी करते हैं। हरियाणवी लोकगीतों में सभी रस पूर्णतः विद्यमान हैं, जिनके विषय में यहाँ विस्तार से बताना संभव नहीं है, अतः यही कहना उचित होगा कि रस–भाव से परिपूर्ण हरियाणवी गीत सुनते ही हृदय में समा जाते हैं।

ऋतुओं एवं व्रत के लोकगीत :

भारत ऋतु–प्रधान देश है। यहाँ की प्रत्येक ऋतु का अपना सौन्द्रर्य है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी तरफ आकर्षित करती है। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति की छटा ही भिन्न होती है व उस विशेष ऋतु के गीत हरियाणा में खूब प्रचलित हैं। सावन–भादो में झूला झूलते हुए सावन के गीत व विशेष ऋतु में आने वाले व्रत व त्यौहारों के गीत संस्कृति को दर्शाते हैं, जो इस प्रकार है, ग्रीष्मकाल में अक्षय तृतीया, वैशाखी, सावन में तीज, जन्माष्टमी, गुगा आदि त्योहारों के गीत, करवा चौथ के गीत, नवरात्रों, सांझी, दीपावली, भाईदूज, गोवर्धन पूजा, कार्तिक स्नान के गीत, बसंत पंचमी, माझी पूर्णिमा, शिवरात्रि, होली, शीतला माता, संक्रांति, रामनवमी ऐसे न जाने कितने ही व्रत व त्यौहार हैं जिन पर गीत गाये जाते हैं व ये सभी गीत विशेष तिथि व देवी–देवता से संबंधित कथा व कहानी का भी ज्ञान प्रदान करते हैं।[9]

सामाजिक व ऐतिहासिक हरियाणवी गीत :

लोकगीत समाज की अभिव्यक्ति है। लोकगीतों को स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न होने वाला भी कहा जाता है। हरियाणवी लोकगीतों में समाज के समस्त पहलू विद्यमान रहते हैं, जैसे– दुःख–सुख, आशा–निराशा, ईर्ष्या–द्वेष, रीति–रिवाज, आचार–विचार, रहन–सहन, विश्वास, मान्यताओं एवं परंपराओं आदि सामाजिक पहलुओं का सजीव चित्रण गीतों से प्राप्त होता है।

लोकगीतों में सभी सामाजिक रिश्ते, जैसे पति–पत्नी, भाई–बहन, माता–पिता, देवर–भाभी से संबंधित गीत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त समाज में प्रचलित जाति–प्रथा के आधार पर जाति पर गीत भी मिलते हैं जिनमें मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हार, लोहे की सामग्री बनाने वाले लोहार, सुनार आदि सभी के विषयगत गीत भी हैं व इन सबका समाज में क्या स्थान है ? यह भी गीतों द्वारा पता चलता है। इनके अतिरिक्त इतिहास की झलक सुनाने वाले गीत भी हरियाणा में प्रचलित रहे हैं, जिनमें राजा महाराजाओं के किस्से, उनकी बहादुरी व युद्ध की गाथाएं सम्मिलित हैं। इन्हें लोकगीतों की मौखिक परंपरा के माध्यम से ही पीढ़ियाँ इतिहास से परिचित रही हैं।

विविध गीत परंपरा :

विविध गीतों में सभी प्रकार के गीतों का समावेश किया जाता है, जैसे चक्की पीसते हुए, चरखा कातते हुए, दूध निकालते हुए गाए जाने वाले गीत, एकतारे पर भीख मांगते हुए गाए जाने वाले गीत, खेती के कार्य करते हुए गाए जाने वाले गीत, लोरी के गीत, बच्चों द्वारा खेल खेल में गाए जाने वाले 'पोसमपा भई पोसमपा' जैसे गीत वे सभी गीत हैं जो किसी विशेष त्यौहार, उत्सव, समारोह से पृथक होते हैं, जो अनायास ही फूलों, पहाड़ों, पशु–पक्षियों, पशुओं व खेलते हुए बच्चों को देखकर मुख से प्रस्फुटित हो जाते हैं। हरियाणा के जन–जन से अवतरित लोकगीत वास्तव में हरियाणवी संस्कृति व सभ्यता को खुद समेटे हैं।

हरियाणा में एक कहावत रही है, यहाँ हर कोस पर बोली में परिवर्तन आ जाता है। यहाँ के लोकगीतों में भी यह परिवर्तन देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त यहाँ आम बोल–चाल के कुछ शब्दों का प्रयोग भी गीतों में सुंदरता के साथ किया जाता है, जैसे– हे राम, है मनै तेरी सू, हां ए, हो, नाऽऽ, ऐ राम आदि जो उस स्थान की प्रचलित भाषा और शब्दों का बोध कराते हैं।[10]

निष्कर्ष :

हरियाणा के लोकगीत वास्तव में हरियाणा की संस्कृति के मौखिक चित्र हैं, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी न जाने कब से हरियाणवी संस्कृति को स्वयं में समाहित किए हुए व आधुनिक पीढ़ी तक उस संस्कृति को पहुँचा रहे हैं। ये हरियाणवी लोकगीत ही हैं, जिनसे हम जान पाते हैं कि हरियाणा की संस्कृति कितनी समृद्ध रही है। हरियाणा की पारंपरिक वेशभूषा, खान–पान, रहन–सहन का तरीका व हरियाणा की प्रचलित परंपराएं क्या रही हैं? ये सब लोकगीतों द्वारा ही जानना संभव है। इसके अतिरिक्त इन गीतों में मन की भावनाओं को झंकृत कर देने वाले रस, व भाव भी पूर्णतः समाहित हैं, जिससे हरियाणवी गीत अत्यंत मनमोहक लगते हैं। प्रत्येक ऋतु, त्योहार, पूजा, व्रत आदि के अवसर पर गाये जाने वाले भिन्न–भिन्न गीत भी हरियाणा की संस्कृति का हिस्सा रहे हैं या यूं कहा जाए कि प्रत्येक कार्य को करते हुए गाये जाने वाले गीत हरियाणा की संस्कृति का भाग रहे हैं। वास्तव में हरियाणवी लोकगीत हरियाणा के कण–कण में समाहित हैं, जो पूर्णतः समृद्ध हैं व आने वाली पीढ़ी को हरियाणवी संस्कृति तक पहुँचाने को तत्पर है।

संदर्भ सूची :

1. डॉ. विमल, हिंदी चित्रपट संगीत का इतिहास, संजय प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 190
2. जैन, डॉ. शांति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 7
3. कुमार, डॉ. अविनाश, लोकगीतों का संपादन एवं मूल्यांकन, दीपक पब्लिशर्स, माई हीरा गेट जालंधर, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 23
4. प्रसाद, माता, लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर, सम्यक प्रकाशन 32/3, पश्चिम पुरी, नई दिल्ली– 63, प्रथम संस्करण, 2007, पृ. 10
5. डॉ. रमाकांत, भारतीय लोकगीतों में हरियाणा का योगदान, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 107
6. धनकर, डॉ. रीता, हरियाणा तथा पंजाब की संगीत परंपरा, संजय प्रकाशन, 4378/4 दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ. 35
7. जैन, डॉ. शान्ति, लोकगीतों के सन्दर्भ ओर आयाम, विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 12
8. सक्सेना, डॉ. राकेश बाला, लोकगीतों में संगीतिक तत्व, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990, पृ. 31
9. जैन, डॉ. शान्ति, लोकगीतों के सन्दर्भ ओर आयाम, विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 19
10. धनकर, डॉ. रीता, हरियाणा तथा पंजाब की संगीत परंपरा, संजय प्रकाशन, 4378/4 दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ. 36

विज्ञापन–कला द्वारा उपभोक्ता–समाज की भाषिक संवेदना का विदोहन

डॉ. प्रियंका श्रीवास्तव*

शोधसार

भाषा समाज में एक–दूसरे से संपर्क या बातचीत का एक महत्त्वपूर्ण साधन होती है। इस साधन से मनुष्य अपने मन और व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है। समाज में भाषा समाज के विचार तथा संस्कृति का प्रतिबिम्ब होती है। वह समाज के चेतन तथा अवचेतन मनोभावों को अभिव्यक्त करती है। भाषा का अत्यधिक प्रभाव भी उसकी जनता पर होता है। इसलिए किसी प्रभावशाली विज्ञापन के लिए भाषा महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। विज्ञापन द्वारा उपभोक्ता पर प्रभाव बनाने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम उपभोक्ता की भाषा में विज्ञापन को संप्रेषित किया जाता है। संप्रेषण के नियम के अनुसार संप्रेषण में सदैव उस भाषा का उपयोग किया जाता है, जो ग्रहीता को समझ आए। इसलिए विज्ञापन में उपभोक्ता की समझ के अनुसार भाषा का उपयोग कर संप्रेषण किया जाता है।

बीज शब्द : *विज्ञापन, भाषा, उपभोक्ता समाज, भाषिक संवेदना, विदोहन, सम्प्रेषण*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र में विषयवस्तु विश्लेषण–प्रविधि का उपयोग किया गया है।*

भाषा द्वारा समाज में भी एक–दूसरे की संवेदना, अनुभव, भाव, विचार तथा उद्देश्य आदि को साझा किया जाता है। इसलिए मनुष्य की मानसिकता तथा भावना की चित्रात्मक अभिव्यक्ति भाषा होती है। भाषा का प्रभाव ही है कि जहाँ वीर रस की कविता मनुष्य को उत्साहित करती है तो वहीं करुण रस की कविता उसे शोक में डूबो देती है। किसी की शानदार भाषण शैली पर हम मंत्रमुग्ध हो जाते हैं, तो किसी की भाषा द्वारा सोचने पर मजबूर हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भाषा मनुष्य के चित्त, विचार तथा संवेदना को सर्वाधिक प्रभावित करती है।

कोई भी उत्पाद जनता के लिए बनता है। ये जनता उत्पाद के लक्षित समाज विशेष से संबंधित होती है। ऐसे में उसके विज्ञापन में उस समाज की जनता से जुड़ने की विशेषताएं डाली जाती हैं। ये विशेषताएं चित्र, रंग, संकेत, भाषा, समाज तथा सांस्कृतिक विचार इत्यादि के रूप में होती हैं जो विज्ञापन को प्रस्तुत करती हैं। लेकिन भाषा विज्ञापन–प्रस्तुति की विशेषताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह किसी उत्पाद के विज्ञापन को मौखिक रूप से प्रस्तुत करती है। इसके शब्द और वाक्य विज्ञापन को अर्थ देते हैं। भाषा का अत्यधिक प्रभाव भी उसकी जनता पर होता है। इसलिए किसी प्रभावशाली विज्ञापन प्रचार के लिए भाषा महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। यह कहना गलत है कि विज्ञापन में भाषा महत्त्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में विज्ञापन में बहुत बार भाषा चित्रात्मक प्रभाव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

विज्ञापन एक ऐसी कला है जो संप्रेषण का प्रभावशाली माध्यम है। इसका प्रमुख उद्देश्य उपभोक्ता का ध्यानाकर्षित करना होता है। यह ध्यानाकर्षण उपभोक्ता को उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित करता है। विज्ञापन द्वारा उपभोक्ता में विश्वास भी भरा जाता है जिसके द्वारा यह संप्रेषित किया जाता है कि उत्पाद उनके लिए ही बना है। उपभोक्ता की स्मृति में ज्यादा समय तक उत्पाद तथा ब्रांड के नाम को स्मृति पूर्ण बनाने का भी कार्य विज्ञापन करता है। इस प्रकार विज्ञापन उत्पाद का व्यापार बनाए रखने के लिए ध्यानाकर्षण, विश्वास, स्मृति पूर्ण बनाने तथा जरूरत पैदा करने जैसे विभिन्न प्रकार की तकनीकियों का उपयोग करता है। भाषा इन विभिन्न तकनीकियों को मौखिक अभिव्यक्ति देती है जिससे उत्पाद का विज्ञापन देख कर उपभोक्ता खरीदने के लिए तैयार हो जाता है। इसलिए उपभोक्ता का ध्यान उत्पाद की ओर ले जाने तथा उसके विषय में बातचीत करने के लिए सर्वप्रथम विज्ञापन को भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। बहुत बार इसके लिए विज्ञापन लक्षित समाज की विशिष्ट भाषा में प्रस्तुत होती है। इससे लोगों पर तथा उनके व्यवहार पर

*पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, भारतीय सामाजिक विज्ञान परिषद, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। भाषा का शक्तिशाली प्रभाव इसलिए भी पड़ता है, क्योंकि लोग अपनी भाषा में सर्वाधिक संप्रेषण करते हैं। लूना और पेराच्चियो (1999,2001:28:2) ने अपने अनुसंधान में कहा है कि दो भाषा जानने वाले अपनी भाषा में विज्ञापन देखना इसलिए पसंद नहीं करते कि यह उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान से जुड़ी होती है, बल्कि इसलिए पसंद करते हैं क्योंकि द्वितीयक भाषा में विज्ञापन को समझना उनके लिए ज्यादा कठिन होता है।[1] इन सभी तर्कों से स्पष्ट है कि विज्ञापन को शक्तिशाली माध्यम बनाए रखने के लिए चित्र, रंग, शारीरिक भाषा, वेश–भूषा तथा सांस्कृतिक प्रभाव जैसे तत्त्व तथा विभिन्न प्रकार की तकनीकों के अतिरिक्त भाषा की आवश्यकता सर्वाधिक है।

सामान्य तौर पर विज्ञापन का उपयोग सूचना देने के लिए किया जाता है लेकिन इस प्रतियोगी समाज में संप्रेषण के सभी माध्यमों द्वारा विज्ञापन का उपयोग उपभोक्ताओं का ध्यान आकर्षित तथा प्रभावित करने के लिए किया जाने लगा है। विज्ञापन के इन सभी क्रियाओं में भाषा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी। अब सूचित, प्रभावित, प्रेरित तथा ध्यानाकर्षण जैसे पद्धतियों के लिए भाषा का उपयोग किया जाने लगा है। भाषा के इस उपयोग में छोटे वाक्यों, नये नारों, ध्वनियों तथा शीर्षकों के विभिन्न पद्धतियों में विज्ञापन को प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे विज्ञापन उपभोक्ता की स्मृति में समाहित हो कर उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार विज्ञापन में भाषा का माध्यम के रूप में विभिन्न प्रकार से उपयोग होता है। तारिगन (1993:23:70) ने भाषा के चार उपयोग बताए हैं, जो उपभोक्ता को प्रभावित करते हैं। तरिगन के चार भाषा उपयोग हैं– अभिव्यक्ति, व्याख्या, कला तथा समझ बनाना।[2] विज्ञापन भाषा की इन्हीं पद्धतियों से ध्यानाकर्षित करता है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन की प्रस्तुति शब्दार्थ और व्यवहारिक भी होती है।

विज्ञापन द्वारा उपभोक्ता पर प्रभाव बनाने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम उपभोक्ता की भाषा में विज्ञापन को संप्रेषित किया जाता है। संप्रेषण के नियम के अनुसार संप्रेषण में सदैव उस भाषा का उपयोग किया जाता है, जो ग्रहीता को समझ आए। इसलिए विज्ञापन में उपभोक्ता की समझ के अनुसार भाषा का उपयोग कर संप्रेषण किया जाता है। उदाहरणार्थ, टू यम्मी (Too Yammi) मल्टीग्रेन चिप्स (multigrain chips), पॉवर ऑफ सेवेन ग्रेन्स (power of seven grains), बेक्ड नॉट फ्राइड (baked not fried) इस विज्ञापन में उत्पाद को उपभोक्ता की भाषा विशेष में संप्रेषणीय बनाया गया है। यहां साधारण तथा विशेषणयुक्त शब्दों द्वारा उत्पाद की खासियत की ओर ध्यान दिलाया गया है। ये सभी शब्द सरल और अपने आप में संप्रेषणीय भी हैं जो उपभोक्ता को आसानी से समझ आ जायेंगे।

विज्ञापन में मुहावरे वाली भाषा का उपयोग कर उत्पाद के उपभोक्ता को आकर्षित किया जाता है। मुहावरे मनुष्य के जीवन में हर दिन प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य मुहावरों में बातों को कहने और सुनने का ज्यादा अभ्यस्त रहता है। मुहावरे, लक्षणा तथा व्यंजनायुक्त होते हैं जो तेजी से अपने समाज को आकर्षित करते हैं। इसका उपयोग कोई बड़ी बात को संक्षिप्त में कहने के लिए किया जाता है या किसी बात पर विशेष ध्यान दिलाना हो तो विज्ञापन में मुहावरे का उपयोग किया जाता है। विज्ञापन में भी बहुत बार विशेष ध्यान दिलाने के लिए ज्यादा बात कहने की बजाय एक पंक्ति में बात कही जाती है। भाषा की इस पद्धति द्वारा विज्ञापन निर्माता उपभोक्ता का ध्यानाकर्षण करता है। बहुत बार बड़े–बड़े विज्ञापनों में एक छोटी पंक्ति में कही गयी बात उपभोक्ता को इतनी भा जाती है कि वह उसे स्मरण कर लेता है तथा विज्ञापन के बारे में सोचने लगता है। उदाहरणार्थ, अमूल द टेस्ट ऑफ इंडिया (Amul The Test of India) अमूल ब्रांड का यह विज्ञापन मुहावरे की छोटी–सी पंक्ति द्वारा अपने को सर्वश्रेष्ठ दिखा कर पूरे भारतीय जन मानस में प्रसिद्ध हो गया। इस उत्पाद की बिक्री में विज्ञापन भाषा का सहयोग रहा है। विज्ञापन बहुत से नये मुहावरों को भी गढ़ते हैं। उदाहरणार्थ डर के आगे जीत है और कर लो दुनिया मुट्ठी में गढ़े गए नये विज्ञापन मुहावरे लोगों को जल्दी स्मरण हो गए हैं। लोकोक्तियों का उपयोग कर विज्ञापन को आकर्षक बनाया जाता है। लोकोक्तियां लोक भाषा से संबंधित होती हैं। वह स्थिति विशेष के विज्ञापन में प्रयोग होती हैं। इससे विज्ञापन की भाषा में सजीवता आती है तथा क्षेत्र–विशेष के लोग ज्यादा लगाव भी महसूस करते हैं। उदाहरणार्थ जुग–जुग जियो, सदा सुहागन रहो तथा बारिश ने मुझे सॉलिड पप्पू बनाया आदि लोकोक्ति वाले विज्ञापन संदेश से लोग जल्दी जुड़ जाते हैं, क्योंकि यह उनके क्षेत्र के देशज शब्दों से बने हैं। प्रभावशाली संप्रेषण के लिए विज्ञापन में भावनाओं को भड़का कर उत्पाद की ओर ध्यान दिलाया

जाता है। इसके लिए भावनात्मक भाषा का उपयोग किया जाता है। भावनात्मक शब्दों द्वारा उपभोक्ता को उत्तेजना, उदासी, प्रेम या भय आदि का अनुभव कराया जाता है। यह तकनीक उपभोक्ता को उत्पाद के प्रति भावनात्मक रूप से जुड़ने को मजबूर करती है। इसमें भावना से संबंधित शब्द दर्शकों से भावनात्मक अपील भी करते हैं। उदाहरणार्थ अ गिट ऑफ लव (A gift of love), ऑन हर वेडिंग डे (on her Weding day), फॉर अ लाइफ टाइम हप्पिनेश (For a life time happiness), उषा स्यूइंग मशीन (Usha sewing machine)। उषा सिलाई मशीन का यह विज्ञापन भावनात्मक शब्दों का उपयोग कर बेटी की शादी में सिलाई मशीन के उपहार को देने की अपील करता है। जो अ गिट ऑफ लव (A gift of love), ऑन हर वेडिंग डे (on her Weding day), फॉर अ लाइफ टाइम हप्पिनेश (For a life time happiness) जैसे पदों से बेटी की शादी से संबंधित पलों के प्रति भावनात्मक जुड़ाव बना रहा है।

विज्ञापन में उपभोक्ता से जुड़ने के लिए ध्वन्यात्मक भाषा के साथ **काव्य और संगीत** का उपयोग किया जाता है। मानव स्वभाव है कि वह सांगीतिक तत्त्वों, यथा– ध्वनि, लय, ताल, सुर, कविता इत्यादि से तेजी से जुड़ता है और ये सारी चीजें उसे तेजी से स्मरणीय भी हो जाती हैं। विज्ञापन की भाषा कविता के रूप में उपभोक्ता की स्मृति को ज्यादा प्रभावित करती है। जिस प्रकार कविता में लय, स्वरों की एकता तथा तुकबंदी होती है, वैसे ही विज्ञापन की भाषा में भी इस पद्धति का उपयोग कर के उत्पाद के प्रति उपभोक्ता का ध्यानाकर्षित किया जाता तथा उत्पाद को स्मरणीय बनाया जाता है। इसके लिए विज्ञापन उपभोक्ता की भाषा में अलंकार, छंद तथा ताल का उपयोग करता, जिसकी ध्वनि से उपभोक्ता सम्मोहित होता है। कविता वाले संदेश से विज्ञापन उपभोक्ता की भावना और कल्पना को अपील भी करता है। उदाहरणार्थ, बड़ी गजब की भूख लगी, खेल कूद के आए दिन, खूब लुटेरा मैगी बिन, दोस्तों का जमघट, मांगे मैगी झटपट, मम्मी बड़ी गजब की भूख लगी, जब सोता हूं, जब उठती हूं, दो मिनट रुक सकते हैं, सर के बल रह सकते हैं, क्योंकि बड़ी गजब की भूख लगी, मैगी चाहिए मुझे अभी। मैगी के इस विज्ञापन ने अपनी कविता वाली भाषा से भारतीय घरों में जगह बना ली थी, क्योंकि इसकी कवितात्मक, लयात्मक तथा तुकबंदीयुक्त भाषा का उपयोग विज्ञापन की ओर उपभोक्ता का ध्यानाकर्षित करता था। यह विज्ञापन तकनीकों में सबसे अच्छा तकनीक माना जाता है। जब विज्ञापन में कवितायुक्त नारे या संदेश का उपयोग किया जाता है तो कोशिश रहती है कि ब्रांड का नाम उपभोक्ता की स्मृति में बस जाए। कवितायुक्त संदेश में ब्रांड को पहचान दिलाने के लिए तुकबंदी में भी प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ, फर्नीचर का साथी, जिसकी निसानी है हाथी, फेविकोल! फेविकोल ऐसे जोड़ लगाए अच्छे से अच्छा न तोड़ पाए । विज्ञापन की इस तुकबंदी में फेविकोल को तुकांतयुक्त भाषा में प्रस्तुत कर उपभोक्ता का ध्यान फेविकोल पर केन्द्रित किया गया है। लयबद्धता के कारण किसी भी चीज को याद किया जा सकता है। इसलिए विज्ञापन संदेश को लयबद्ध बनाया जाता है। जिससे उत्पाद स्मरणीय बना रहे। बहुत बार विज्ञापन की लय के कारण उपभोक्ता इसे गुनगुना कर स्मरण कर लेते हैं। लय द्वारा ही उपभोक्ता अवचेतन मन से इसे स्मरण कर लेता है। प्रायः गाने को उसकी धुन व लय से पुनः याद किया जाता है। उदाहरणार्थ, जो मेरा है, वो तेरा, जो तेरा है वो मेरा– एयरटेल का यह विज्ञापन अपनी कविता और लय के कारण उपभोक्ताओं का पसंदीदा बन गया था।

विज्ञापन में लाक्षणिक भाषा का उपयोग कर उपभोक्ता के बीच उत्पाद को पहचान दिलाया जाता है। लाक्षणिक भाषा द्वारा उस शब्द का उपयोग किया जाता है, जो विज्ञापित वस्तु की तुलना किसी विशेष चीज या गुणों से कर उपभोक्ता के दिल में विज्ञापन की महानता को निर्मित करता है। भाषा के लाक्षणिक अभिव्यक्ति के लिए संज्ञा और विशेषण पद का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, वाशिंग पाउडर निरमा, दूध–सी सफेदी निरमा से आए, रंगीन कपड़े भी खिलखिल जाए । इस विज्ञापन की लाक्षणिक भाषा में वस्तु के गुण को बढ़ा–चढ़ा कर उपभोक्ता का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की गई है। इस संदेश में निरमा द्वारा दी जाने वाली सफेदी को दूध की तरह सफेद बताया गया है जिससे साफ कपड़े की इच्छा रखने वाले इस विज्ञापन की ओर आकर्षित होंगे। भाषा में यह लाक्षणिकता **संगीतात्मक रूप** से प्रस्तुत हो कर और भी संप्रेषित हो रहा है।

विज्ञापन द्वारा अर्थ–संप्रेषण व्यंजना–पद्धति द्वारा किया जाता है। इसमें विज्ञापन संदेश में कही गई बात का अर्थ उपभोक्ता अपनी समझ के अनुसार लगाता है।

व्यंजना–पद्धति का विज्ञापन में उपयोग बहुत बार किया जाता है। व्यंजना–पद्धति द्वारा विज्ञापन की भाषा में अनेकार्थ छवियों को गढ़ा जाता है। इससे विज्ञापन उपभोक्ता में रोचकता उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, जिंदगी के साथ भी, जिंदगी के बाद भी विज्ञापन की यह भाषा आर्थिक सुरक्षा की बात को व्यंजित कर रही है लेकिन उपभोक्ता इस के और भी अर्थ लगा सकता है।

विज्ञापन उत्पाद का प्रचार सा.श्य भाषा का उपयोग करता है। किसी भी अनुभव को हू–ब–हू चित्रित करना मुश्किल होता है। शब्द अनुभवों को वर्णित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए विज्ञापन भाषा द्वारा उत्पाद की प्रकृति को अनुभव कराया जाता है। इस प्रकार के अनुभव के लिए साहित्य के समान ही विज्ञापन की भाषा में बिम्ब, प्रतीक और अलंकार का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ अलार्म अभी बजा नहीं, किसान अभी मरा नहीं, अभी ये ब्रिज गिरा नहीं, खिलाड़ी अभी हारा नहीं और अभी यहां रेप हुआ नहीं। ब्रिज गिरने दो, किसान को आत्महत्या करने दो, मैडल हारने दो और रेप होने तो दो, अलार्म थोड़े बजने तो दो। अलार्म बजेगा, हम उठेंगे, फिर काफी काम है हमें। कैंडिल मार्च यहां, हड़ताल वहां। व्हाट्सअप पर आग लगाना है। फेसबुक पर गुस्सा दिखाना है। ब्लैक फ्राइडे, हंगरस्ट्राइक, कालाबैंड पहनना है, एक्टिविजम को जगाना। वी वांट जस्टिस, वी वांट जस्टिस। पर फिलहाल अलार्म बजा नहीं। अगला अलार्म बजने से पहले, जागो, जागो, जागो रे। टाटा टी। टाटा टी चाय के विज्ञापन में ब्रिज गिरने, खिलाड़ी के हारने, रेप होने को दुर्घटनाओं के रूपक में प्रस्तुत किया जा रहा है। 'अलार्म बजेगा' शब्द यहां इन घटनाओं के प्रति सतर्क होने के बिम्ब को रच रहा है। इन घटनाओं के बाद भारतीय जनता के बे–परवाह व्यवहार को भी बिम्बित कर रहा है। जागो रे जागो को आलंकारिक प्रस्तुति दी गयी है। भावनात्मक तथा संवेदनशील भाषा द्वारा विज्ञापन में मुद्दों के प्रति उपभोक्ताओं को जागरूक किया जा रहा है। उत्पाद का भी ईमानदार बिम्ब बनाया जा रहा है। भाषा द्वारा ये सभी सादृश्य प्रस्तुति उत्पाद से जुड़ने के लिए उपभोक्ताओं को प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित कर रहे हैं।

विज्ञापन में प्रेरणाप्रद भाषा का उपयोग कर उत्पाद से जुड़ने तथा जीवन के प्रति प्रेरित होने का भावनात्मक संप्रेषण किया जाता है। उदाहरणार्थ, अपने परिवार को अपने दम पर जीना सिखाओ, एचडीएफसी लाइफ सर उठा के जियोए एचडीएफसी लाइफ इनश्योरेन्स के इस विज्ञापन की भाषा परिवार के मनोभाव प्रेरित कर रहा है।

विज्ञापन भाषा द्वारा कहानी या नाटकीयता को दर्शा कर भी उत्पाद से उपभोक्ता को जोड़ा जाता है। इसके लिए कहानी द्वारा ब्रांड से उपभोक्ता को जोड़ने के लिए नाटकीय प्रस्तुति दी जाती है जिसमें ब्रांड के मूल्य, प्रस्ताव और व्यक्तित्व को कहानी की भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। यह एक लघु फिल्म की भांति होती है। इसमें भाषा उत्पाद की कहानी को कई दृश्यों में दिखाती है। उदाहरणार्थ, मुझे देखते हुए ही आपके मन में एक सवाल आया होगा कि मुझे फूल किसने पहनाया? मम्मी ने। बचपन से पहनाती है और मैं पोनी को। यूं ही बचपन में भईया–दीदी, हम सब पूरा दिन खेलते और मैं रेफरी बन जाती। हम अपने आप को कम्फर्टेबल बनाने के लिए अलग–अलग टेक्निक्स यूज करते हैं। मुझे भी करनी पड़ती है। बस भईया–दीदी से थोड़ी अलग। कहानियों से पता चलता है कि लाइफ में कुछ न कुछ प्राब्लम्स तो सबको होती है। बस मेरी प्राब्लम सबको नजर आते हैं। लेकिन किसी की बड्डे पार्टी हो तो मैं नजर नहीं आती। मेरी स्किन कंडीशन का नाम इयुसेस है। ये इंफेक्सियेस नहीं, पैदाइशी है। इसका कोई इलाज नहीं। कुछ लोगों के नजरिए की तरह। ये 10 लाख लोगों में से एक को होता है। पर लाखों में एक तो मेरी मम्मी है। मेरी बीमारी मेरी जिन्दगी का एक हिस्सा है। मेरी पहचान नहीं, क्योंकि मेरी कहानी में वो सब कुछ है जो बाकी कहानियों में होता है। कुछ होप्स, कुछ ड्रीम्स, कुछ कोशिशें। पर ये कहानी शुरू ही नहीं होती। अगर 17 साल पहले दो लोगों ने मिल कर एक फैसला नहीं लिया होता। मुझे अडॉप्ट करने का फैसला। और ये फैसला उन्होंने कोई चौरिटी करने के लिए नहीं लिया था। लिया था तो बस खुशी के लिए, प्यार के लिए। आज आप वही फैसला लेने वाले हैं, जो उन्होंने 17 साल पहले लिया था। इसी ऑर्फन एज में। पता है आप यहां अपने बच्चे को कैसे पहचान पाओगे। अगर उसे देखते ही आप के मन में वही सवाल आता है, जो मुझे देखते ही मेरे मम्मी और पापा के मन में आया था, क्या ये हमारी नहीं बन सकती, विक्स टच ऑफ केयर। इससे स्पष्ट हो रहा है कि एक अच्छी कहानी उत्पाद से उपभोक्ता को जोड़ती है। इस कहानी वाले विज्ञापन से उपभोक्ता भावनात्मक रूप से जुड़ रहा है। उत्पाद के प्रति

सहानुभूति भी जग रही है। उपभोक्ता इस कहानी से ऐसे जुड़ता है, जैसे ये उसकी कहानी हो।

विज्ञापन आदेशात्मक भाषा का उपयोग कर उपभोक्ताओं पर प्रभाव डालता है। इस तरह की भाषा तर्क की जगह नहीं देती और लोग अपनी भाषा में विज्ञापन द्वारा निर्देशित हो कर उत्पाद खरीदने को तैयार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ। भारत सरकार का यह विज्ञापन बेटियों को बचाने और उन्हें शिक्षित करने का निर्देश प्रभावशाली भाषा में दे रहा है जिससे स्पष्ट हो रहा है कि इस आज्ञा का पालन करना जरूरी है। विज्ञापन में भाषा द्वारा उत्पाद का मानवीकरण कर उपभोक्ता को जोड़ा जाता है। विज्ञापन भाषा द्वारा यह कार्य अच्छी तरह करता है। उदाहरणार्थ, अब अपने बालों को कहो जुग–जुग जियो। केशकांति शैम्पू के इस प्रचार में बालों का संबंध मानवीय भावनाओं से जोड़ दिया गया है। इससे बालों को मानवी आचार–व्यवहार में प्रस्तुत करने के लिए जीने से जोड़ दिया गया। जीना जीव से संबंधित होता है। बाल जीते नहीं है। लेकिन यहां बालों के साथ मनुष्य जैसी उपमा दे कर उपभोक्ता को आकर्षित किया गया है।

भाषा संकर द्वारा भी विज्ञापन जन–सामान्य को आकर्षित करता है। इस तरह के विज्ञापन की भाषा में दो भिन्न भाषाओं के शब्दों से तुक मिला कर संदेश प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी के विज्ञापनों में अंग्रेजी के शब्दों का इस्तेमाल कर संदेश को प्रसारित किया जाता है। उदाहरणार्थ, दिल वाले दुल्हनियां फाइनली ले जाएंगे (अमूल), नया मिंटास खाओ बिगर, सॉटर, बेटर। विज्ञापन में विशेषण भाषा उपयोग कर उपभोक्ताओं को आकर्षित किया जाता है। उदाहरणार्थ ठंडो–ठंडो साफ–साफ। विज्ञापन के इस भाषा में उत्पाद की विशेषता विशेषण शब्दों का उपयोग कर बताया गया है जिससे उपभोक्ता आकर्षित होता है। इस प्रकार के विज्ञापन भाषा उपयोग से उपभोक्ता जल्दी प्रभावित होते हैं। विशेषणयुक्त शब्द उपभोक्ता को आकर्षित करते हैं। विशेषणयुक्त शब्द उपभोक्ता को उत्पाद में विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं। यह उत्पाद के गुणों को मजबूती से प्रस्तुत करते हैं। सही विशेषण उपयोग से उत्पाद के प्रति सकारात्मक स्थिति बनती है। उदाहरणार्थ, सब वे (Sub Way) का विशेषणयुक्त विज्ञापन इट फ्रेश (Eat fress) या फ्रूटी का विज्ञापन मैंगो फ्रूटी, फ्रेश एन जूसी (mango fruity, fresh n juicy) खाने के सामानों को ताजा होने की गुणवत्ता तथा स्वास्थ्य के लिए ताजा खाने की अनिवार्यता जैसे विशेषण शब्दों से उपभोक्ताओं को आकर्षित कर रहा है। विशेषणयुक्त शब्दों द्वारा उत्पाद का उपभोक्ता तक पहुंच बनाना आसान होता है।

क्रिया और क्रिया विशेषणयुक्त भाषा का उपयोग विज्ञापन में कर उपभोक्ता के खरीदने के व्यवहार को आकर्षित किया जा सकता है। एप्पल का थिंक डिफरेंटली (Think Differently), नाइके (Nike) का जस्ट डू इट (Just do It) और यूनाइटेड कूकर का खाते जाओ, खाते जाओ और यूनाइटेड के गुन गाते जाओ, जैसे क्रिया तथा क्रिया–विशेषणों का उपयोग कर आसानी से उपभोक्ताओं को विज्ञापन से जोड़ा गया है। एप्पल का अलग सोचने तथा नाइके का कर डालने की अपील दर्शकों को सक्रिय करती है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार भाषा का सही उपयोग उपभोक्ता को उत्पाद से भावनात्मक स्तर पर मजबूती से जोड़ता है। दृश्य और डिजाइन का दर्शक पर भले ही गहरा प्रभाव पड़ता है। लेकिन भाषा विज्ञापन को उपभोक्ता के लिए स्मरणीय बनाती है तथा उन्हें गहरे में प्रभावित करती है। यह उत्पाद के लिए सकारात्मक उपभोक्ता को बनाती है। विज्ञापन में उपभोक्ता को प्रभावित करने के लिए भाषा का सही उपयोग भी एक कौशल होता है तथा इस कौशल के सही उपयोग द्वारा उत्पाद के लिए उपभोक्ताओं की एक विशाल संख्या निर्मित होती है। इसलिए भाषा की बाजार तथा विज्ञापन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

संदर्भ सूची :

1. Tan, J. (2008). Advertising Bilinguals: Dose the Language of Advertising Influence The Nature of Though (Dissertationt). Retrieved from https://www.academia.edu/1441678/Advertising_to_bilinguals_Does_ the_language_of_advertising_influence_the_nature_of_thoughts. P.2.
2. Hum, M., S., S., & Widyahening, E., T. (2015). The Role of Language in Advertisement. Retrieved from https://media.neliti.com/media/publications/169682-EN-the-role-of-language-in-advertisement.pdf.
3. Mulvey, J. (7 June, 2012). Why Sex Sell…More Than Ever. Bussines News Daily. Retrieved from https://www.businessnewsdaily.com/2649-sex-sells-more.html

संदर्भ ग्रंथ :

अय्यर, विश्वनाथ, एन., ई. (1992). अनुवाद भाषा और समस्या. दिल्ली : ज्ञान गंगा.

गर्गेश, रविन्द्र एवं गोस्वामी, कुमार, कृष्ण (2007). अनुवाद एवं भाषांतरण. दिल्ली : ओरिएण्टल लॉन्गमैन.

गोपीनाथ, जी. (2004). अनुवाद सिद्धांत और प्रयोग. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

गोस्वामी, कुमार, कृष्ण. (2008). अनुवाद विज्ञान की भूमिका. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

तिवारी, भोलानाथ. (1972). अनुवाद विज्ञान. नई दिल्ली : आकार प्रकाशन.

दिनकर, सिंह, रामधारी. (2008). संस्कृति, भाषा और राष्ट्र. नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन.

धवन, मधु. (2010). विज्ञापन कला. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

शर्मा, कुमुद (2010). विज्ञापन की दुनिया. नई दिल्ली : प्रतिभा प्रतिष्ठान.

शर्मा, रामविलास (2017). भाषा और समाज. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

सेट्ठी, रेखा (2016). विज्ञापन : भाषा और संरचना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

विश्वविद्यालयीय संगीत शिक्षा में शिक्षण प्रविधि व नई शिक्षा नीति

डॉ. श्वेता केशरी*

सारांश

भारतीय संगीत का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव की उत्पत्ति व विकास का। फलस्वरूप भारतीय संगीत परम्परा विश्व की सबसे प्राचीन परम्परा मानी गई है, जो अनेक चरणों से होते हुए आज हमारे समक्ष अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त है। प्राचीन काल मे शिक्षण का स्वरूप गुरू–शिष्य परम्परा थी, जिसके अन्तर्गत गुरू के सानिध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त की जाती थी। संगीत–शिक्षण का स्वरूप भी यही था, जो मध्यकाल में घराना के रूप में परिवर्तित हो गया। किन्तु वर्तमान में विश्वविद्यालय स्तर पर पाठ्यक्रम में संगीत विषय के समावेश से संगीत के क्षेत्र में एक क्रान्ति–सी आ गयी। चूंकि मेरा विषय मुख्य रूप से विश्वविद्यालयीय शिक्षा में संगीत शिक्षण की विभिन्न विधियों पर आधारित है। अतः प्रस्तुत किये जाने वाले प्रपत्र में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक की विभिन्न शिक्षण विधियों व वर्तमान में विश्वविद्यालयीय स्तर पर उसे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु कौन–कौन से परिवर्तन अपेक्षीय है, इस पर चर्चा की जायेगी।

मुख्य शब्द : *संगीत शिक्षा, नई शिक्षा, शिक्षण प्रविधि, विश्वविद्यालयीय शिक्षा*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों द्वारा वर्णात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है ।*

किसी भी विषय का आधार ज्ञान होता है और उसी ज्ञान को विशुद्ध व व्यवस्थित रूप में विद्यार्थी को देकर उसका ज्ञानवर्द्धन करना ही गुरू व शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होता है। यह शिक्षा विभिन्न माध्यमों से दी जाती है जो उसकी प्रविधियां या विधियां कहलाती हैं। इन शिक्षण प्रविधियों का स्वरूप हमें भिन्न–भिन्न काल में अलग–अलग रूपों में देखने को मिलता है। चूंकि विषय मुख्य रूप से विश्वविद्यालयीय संगीत शिक्षा की शिक्षण प्रविधि पर आधारित है, अतः यहां विभिन्न काल में संगीत शिक्षण प्रविधियों की चर्चा करते हुए वर्तमान विश्वविद्यालयी शिक्षण प्रविधि व उसे और अधिक उन्नत बनाने के लिए सम्भव प्रयासों की चर्चा की जायेगी।

संगीत शिक्षण प्रविधि

प्राचीन काल : गुरु–शिष्य–परम्परा

प्राचीन काल में शिक्षण का स्वरूप गुरू–शिष्य परम्परा था, जिसमें विद्यार्थी गुरुकुल में रहकर गुरू के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त करता था। (जैसा कि हमें रामायण एवं महाभारत की कथाओं मे देखने को मिलता है कि एक निश्चित आयु के पश्चात् बालक का गुरूकुल में प्रवेश होता था, जहां वह अन्य विषयों के ज्ञान को अर्जित करने के साथ ही संगीत की साधना भी करता था।) विद्यार्थी जब तक गुरूकुल में रहता, पूरी निष्ठा व लगन के साथ संगीत की साधना करता था। ''गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करके कठोर अनुशासन नियमित एवं संयमित जीवन बिताते हुए एवं सतत् साधना करते हुए गुरु द्वारा दी गई सम्पूर्ण शिक्षा को पूरा कंठस्थ करना ही शिक्षा का साधन था ।''**[1]** संगीत–जैसा विषय जो एक मौखिक कला है केवल गुरू मुख से ही सीखी जा सकती है, के लिए शिक्षण की यह व्यवस्था विद्यार्थियों के लिए सबसे उत्तम व्यवस्था थी जिसमें समय का कोई बन्धन नहीं होता था। वहां संगीत की साधना किसी लक्ष्य को पाने हेतु न होकर स्वानन्द के लिए की जाती थी।

मध्यकाल : घराना–पद्धति

प्राचीन काल की गुरू–शिष्य परम्परा ने ही मध्यकाल तक आते–आते घराना का रूप ले लिया जो गुरु–शिष्य परम्परा का ही थोड़ा परिवर्तित रूप है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी चली आ रही परम्परा ही घराना कहलाई। प्रत्येक घराना की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं जो उसे दूसरे घरानों से अलग व विशिष्ट बनाती है तथा जिससे उस घराने की पहचान होती है, जैसे–स्वरों व आवाज का

*प्रवक्ता, गायन विभाग, किशोरी रमण महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा।

लगाव, राग की बढ़त, आलापचारी व तान लेने की ढंग, बन्दिशों की विशेषता इत्यादि। प्रत्येक घराने के शिष्य अपने गुरू की गायकी का अनुसरण करते हुए उन्हें अपने में आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं। वे उन गुणों को अपनी गायकी में इस तरह आत्मसात् कर लेते हैं कि केवल श्रवण मात्र से ये बताया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति अमुक घराने का शिष्य है। घराना–पद्धति ने भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर के संरक्षण में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है जिसने हमें पं० ओम्कार नाथ ठाकुर, पं. भीमसेन जोशी व पं० जसराज जैसे अनेक संगीत रत्न दिये हैं।

आधुनिक काल : विश्वविद्यालयी शिक्षा

लगभग 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब संगीत का प्रवेश एक विषय के रूप में विभिन्न विद्यालयों व विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में किया गया उस समय संगीत के क्षेत्र में मानों क्रांति आ गई। इस कार्य में पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर व पं० विष्णु नारायण भातखण्डे का योगदान अतुलनीय है जिनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप शैक्षिक विषय के रूप में संगीत को सर्वप्रथम पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर शिक्षा का अंग बनाया गया। इसके साथ ही स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने भी संगीत के विकास की ओर ध्यान दिया। रेडियो, संगीत सम्मेलनों व शिक्षा के लिए संगीत संस्थाओं की स्थापना कर उनके लिए अनुदान की व्यवस्था की। विभिन्न संस्थाओं, जैसे– संगीत नाटक अकादमी, सांस्कृतिक केन्द्रों, महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों में संगीत विषय के प्रवेश के फलस्वरूप संगीत से जनसाधारण लाभान्वित हुआ। मध्यम वर्गीय परिवार से आये वे लोग जिनके लिए संगीत की शिक्षा लेना एक स्वप्न मात्र था, वे भी अब संगीत के लिए कार्य कर रही विभिन्न निजी संस्थाओं तथा विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रवेश के द्वारा संगीत की शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। संगीत के क्षेत्र मे यह कार्य सर्वप्रथम भारत वर्ष की उपलब्धि है जिसने संगीत के प्रयोगात्मक एवं क्रियात्मक दोनों ही पक्षों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया जिसकी चर्चा एवं सराहना देश–विदेश में भी हुई। वर्तमान में भारत वर्ष में संगीत के लिए अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं व इसे और अधिक उन्नतशील बनाने हेतु समय–समय पर अनेक संगीत–सम्मेलनों व सेमिनारों का आयोजन किया जाता रहा है।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। गुजरते वक्त की मानसिकता के साथ ही साथ शिक्षण–व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ। जो शिक्षा गुरु–शिष्य परम्परा में एक अमूल्य दान समझा जाता था मध्यकाल में उस प्रवृत्ति मे थोड़ी संकीर्णता आ गयी और वर्तमान में तो प्रत्येक कला या विद्या पूर्णतः अर्थपूर्ण हो गई जिसका एकमात्र उद्देश्य धनोपार्जन मात्र रह गया है, जिससे संगीत भी अछूता नहीं है। किन्तु यह इसका एक पक्ष है, इसका दूसरा पक्ष यह है कि विश्वविद्यालयों में संगीत विषय के प्रवेश से संगीतज्ञों व कलाकारों को एक दिशा मिली है उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आया है। जिन्हें समाज में हेय की दृष्टि से देखा जाता था आज समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी है। संगीत विषय जो घरानेदार शिष्यों व उनके परिवारों तक ही सीमित हो गया था, वह सर्व जनसुलभ हो गया। वर्तमान में देश–विदेश से प्रतिवर्ष अनेक विद्यार्थी संगीत की शिक्षा लेने भारत आते हैं जिससे देश–विदेश में भारतीय संगीत की ख्याति हो रही है। वर्तमान समय में अन्य विषयों की अपेक्षा संगीत सीखने के लिए विभिन्न देशो से अनेक विदेशी नागरिक भारत आते हैं जो हमारे लिए गर्व की बात है। संगीत, जो भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है, जिसके आगे सम्पूर्ण विश्व नतमस्तक है उस धरोहर को यथारूप बनाये व सुरक्षित रखने के लिए हमें सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसी अमूल्य धरोहर के संरक्षण की दिशा में 21वीं शती में नई शिक्षा पद्धति का पदार्पण शिक्षा जगत में किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का है जिसमें विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर अथवा स्वावलम्बी बनाया जा सके। इसी उद्देश्य के लिए ही नई शिक्षा नीति में बहुविषयकता व समग्रता पर पर विशेष रूप से बल दिया गया है। भारत में समग्र व बहुविषयक शिक्षा नीति की परम्परा प्राचीन काल से रही है। तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था देखने के साथ ही ऐसे अनेक व्यापक साहित्य हैं जो शिक्षण व्यवस्था में विषयों की समग्रता पर प्रकाश डालते हैं। बाणभट्ट ने कादम्बरी में 64 कलाओं के ज्ञान की बात कही। इन 64 कलाओं में न केवल गायन व चित्रकला जैसे विषय सम्मिलित हैं अपितु वैज्ञानिक क्षेत्र भी, जैसे– रसायनशास्त्र और गणित, व्यावसायिक क्षेत्र, जैसे– बढ़ई का काम और कपड़े सिलना, औषधि तथा

अभियान्त्रिक और साथ ही साथ सम्प्रेषण, चर्चा और वाद–संवाद करने का व्यावहारिक कौशल भी सम्मिलित है। यह विचार कि मानवीय सृजन के सभी क्षेत्र को कलाओं के रूप में देखा जाना चाहिए, यह भारतीय चिन्तन की देन है। विभिन्न कलाओं के ज्ञान के इस विचार को आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में लिबरल आर्टस् के रूप में स्थान देना एक अच्छी पहल है। सभी कलाओं का लक्ष्य निर्धारित है । संगीत सहज रूप में हमारे कानों तक पहुँच कर अमूर्त आनन्द को प्राप्त कराता है । अर्थात् ''जहाँ अन्ततोगत्वा अन्य कलाएँ पहुँचना चाहती हैं, वहाँ संगीत पहले से स्थित है ।''[2] इसके साथ ही, शिक्षण व्यवस्था को लचीला बनाने का भी प्रयास नई शिक्षा नीति में किया गया है, जैसे– किसी भी कोर्स के दौरान प्रवेश व निकास की लचीली व्यवस्था व व्यवसायपरक पाठ्यक्रम का समावेश आदि कुछ पुरानी नीतियों में बदलाव कर नई व्यवस्था को स्थान देने का एक मात्र उद्देश्य है– विद्यार्थी को आत्मनिर्भर बनाना व उसका समग्र विकास करना। किन्तु नई शिक्षा नीति जिन उद्देश्यों को लेकर चल रही है उनकी सार्थकता संगीत विषय में देखने का प्रयास करें तो वह कहां तक साकार होती दीख रही है, यह विचारणीय बात है।

वास्तव में यदि हम विचार करें तो आज जिस शिक्षण व्यवस्था में रहकर संगीत की शिक्षा दी जा रही है क्या वह शिक्षा का उद्देश्य पूरा करने में पूर्ण रूप से सक्षम है। क्योंकि–सेमेस्टर व्यवस्था के अन्तर्गत आज विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में संगीत की 45 मिनट या 1 घण्टे की कक्षा में गुरू किसी राग को शुरू कर बन्दिश, आलाप, तान आदि के माध्यम से उसका स्वरूप बताता है तथा 3–4 कक्षाओं में वह उस राग को समाप्त भी कर देता है। और वह कहीं न कहीं ऐसा करने के लिए बाध्य भी है, जहां नई शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत सेमेस्टर व्यवस्था में एक शिक्षक को 6 माह में पाठ्यक्रम पूर्ण करना होता है वहां पर्याप्त समय के आभाव में विद्यार्थियों से अलग–अलग सुनना व उनकी त्रुटियों को दूर करना भी सम्भव नहीं हो पाता है। जहां न चाहते हुए भी आज शिक्षा व शिक्षक की पहली प्राथमिकता पाठ्यक्रम को पूरा करना बन गया है। किन्तु विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का यह स्तर क्या उचित है? क्योंकि यह शिक्षा का वह पड़ाव है जिसके बाद एक विद्यार्थी अपने को स्थापित करने का प्रयास करता है। किन्तु मेरे विचार से संगीत जैसे अनन्त सम्भावनाओं वाले विषय का मार्ग रोजगार की दृष्टि से बहुत सीमित है। वर्तमान शिक्षण व्यवस्था के तहत एक विद्यार्थी के समक्ष जो एकमात्र विकल्प सामने रह जाता है वह है अध्यापन का। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी घराने से संगीत की शिक्षा लेना सम्भव नहीं है। कारणवश समाज का एक बड़ा वर्ग शिक्षा हेतु पूर्ण रूप से विभिन्न सरकारी संस्थाओं पर आश्रित है। अतः शिक्षण विभाग में विभिन्न पदों पर कार्यरत अधिकारियों एवं शिक्षक गणों की यह जिम्मेदारी एवं कर्तव्य बनता है कि वे शिक्षण प्रणाली में सुधार हेतु संगीत शिक्षण प्रविधियों व उसके क्षेत्र में उचित सुधार करें।

मेरे विचार से वे कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु जिन पर विचार व सुधार कर हम अपनी शिक्षा प्रणाली को और अधिक उन्नत बना सकते हैं या जिनको ध्यान में रखकर शिक्षण प्रविधि में सुधार किया जाना अपेक्षीय है। सर्वप्रथम हमें इस बात का पूर्ण आभास होना चाहिए कि विश्वविद्यालय स्तर पर यदि कोई विद्यार्थी अपने विषय के रूप में संगीत का चयन करता है तो निश्चित रूप से उसका लक्ष्य संगीत के क्षेत्र में ही कुछ करने का होता है। अतः उसकी शिक्षा–दीक्षा उस रूप में होनी चाहिए जिससे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पूर्ण रूप से योग्य बन सके। यह भी बात ध्यान देने की है कि वर्तमान शिक्षण प्रणाली हमें आर्थिक रूप से सबल तो बना सकती है किन्तु एक कलाकार नहीं। हम जितने भी कलाकारों को सुनते हैं वे किसी–न–किसी घराना से संगीत की तालीम लिए होते है, मात्र विद्यालयी शिक्षा के दम पर उनका विकास एक कलाकार के रूप में नहीं हो पाता है। वर्तमान में संचालित संगीत के विभिन्न शिक्षण संस्थान हमें डिग्री तो प्रदान कर रहे हैं किन्तु वह योग्यता नहीं जो एक घराना से सीखे हुए विद्यार्थी में होती है। संगीत के क्रियात्मक स्तर को ऊँचा उठाने का श्रेय निश्चित रूप से घराना–पद्धति को ही जाता है। किन्तु, प्रत्येक के लिए घराना में शिक्षा प्राप्त करना सम्भव नहीं है जिसके आभाव में तो न जाने कितने ही योग्य विद्यार्थी संगीत की शिक्षा से वंचित ही रह जाते हैं। अन्य विषयों की अपेक्षा संगीत के विद्यार्थी प्रायः कम देखने को मिलते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य विषयों की तुलना में संगीत विषय अपेक्षाकृत अधिक खर्चीला है क्योंकि शिक्षण संस्थाओं में दी जाने वाली शिक्षा पूर्ण रूप से पर्याप्त नहीं होती कि एक विद्यार्थी परीक्षा में गाने एवं स्वयं को उसमें निपुण बना सके जिसके लिए उसे प्राइवेट क्लासेस पर निर्भर रहना पड़ता है। साथ ही, छात्रों की

संख्या में कमी का यह भी एक बड़ा कारण हो सकता है कि सभी विश्वविद्यालयों में संगीत विषय उपलब्ध नहीं है। संगीत एक प्रायोगिक विषय है जिसकी शिक्षा किसी किताब या ग्रंथ से नहीं ग्रहण की जा सकती। यह एक ऐसी विद्या है जो गुरूमुख से ही सीखी जा सकती है, अतः कक्षा में पर्याप्त समय न होने के कारण सभी विद्यार्थियों पर ध्यान दे पाना व उनसे अलग–अलग सुन कर होने वाली त्रुटियों में सुधार कर पाना प्रायः सम्भव नहीं हो पाता है। आज की शिक्षण प्रणाली ने संगीत का क्षेत्र बहुत ही सीमित कर दिया है जिसमें नई सम्भावनाओं का मार्ग खोल पाना सम्भव नहीं है। संगीत के एक विद्यार्थी के लिए कलाकार बनने एवं अध्यापन के क्षेत्र में जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग शेष ही नहीं रह जाता है। कलाकार बन पाना तो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सम्भव नहीं है, अतः मुख्य रूप से एकमात्र अध्यापन का क्षेत्र ही शेष रह जाता है जिसे पाने के लिए विद्यार्थियों में होड़ मची हुई है। इसके साथ ही सुदृढ़ आधार का अभाव भी विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के शिक्षा के निम्न स्तर का प्रमुख कारण है। यह हमारी शिक्षा–व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी है जिसका भुगतान विद्यार्थियों को अपने सम्पूर्ण शिक्षण–काल में करना पड़ता है।

सुझाव

वास्तव में संगीत एक विषय नहीं अपितु एक कला है जिसमें ज्ञान के साथ साधना का भी उतना ही महत्व है। अतः इसकी समानता हम अन्य विषयों से नहीं कर सकते। यदि विचार किया जाये तो यह एक ऐसी कला है जिसके लिए गुरु–शिष्य–परम्परा या घराना पद्धति ही उपयुक्त है किन्तु नई शिक्षा नीति में जो एक महत्वपूर्ण बात कही गयी है कि Integration of professional education into higher education and high quality of liberal education अर्थात् उच्च शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा के साथ उदार शिक्षा–नीति पर बल देना जिसमें विभिन्न विषयों को एक–दूसरे के साथ जोड़ते हुए नई सम्भावनाओं को और अधिक विस्तार दिया जाय। इसके तहत हम संगीत विषय को भी अन्य विषयों के साथ जोड़ते हुए व्यवसायिक दृष्टि से इसके क्षेत्र को और विस्तारित कर सकते हैं जो इन शिक्षण–संस्थाओं में ही सम्भव है, जैसे– संगीत को मेडिकल साइंस से जोड़कर 'म्यूजिक थेरेपी' की सम्भावना देख सकते हैं।

'म्यूज़िक थेरेपी' एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें चिकित्सा जगत में संगीत के माध्यम से उपचार कर उसके सफल परिणाम की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। इस पर कई सफल परीक्षण भी किये जा चुके हैं। ऐसा नहीं है कि ये कोर्स नहीं चलाए जा रहे किन्तु इस कोर्स की जानकारी कम होने व प्रत्येक विश्वविद्यालय में न होने के कारण विद्यार्थी इससे अभी भी अनभिज्ञ हैं। भारत वर्ष में मात्र एक–दो संस्थान ही ऐसे हैं जो इस विषय में कोर्स चला रहे हैं। जबकि इसके विपरीत यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें कार्यक्षेत्र की अनन्त सम्भावनाएं देखी जा सकती हैं, जैसे– **Care Homes, Child Development Centres, Community Spaces, Day Care Centres, School and Nurseries, Prison Services** आदि । दूसरी तरफ, संगीत को भौतिक विज्ञान से जोड़कर देखें तो 'साउण्ड रिकार्डिंग' भी ऐसा क्षेत्र है जिसमें अपार सम्भावनाएं हैं। इसके अलावा **परफार्मर, कम्पोज़र, म्यूज़िक डायरेक्टर, म्यूज़िक क्रिटिक, इवेन्ट प्लानर, लिरिसिस्ट, साउण्ड इंजीनियर, थेरापिस्ट, कमेन्टेटर, रेडियों जॉकी, शो होस्ट** व **जर्नलिस्ट** इत्यादि अनेक कार्य–क्षेत्र हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश संगीत विषय में जो कोर्स सरकारी शिक्षण–संस्थानों में एक विद्यार्थी के समक्ष होते हैं वे उन्हें अधिक मार्ग उपलब्ध नहीं करा पाते हैं। जबकि इसके विपरीत स्नातक व परास्नातक स्तर पर भी यदि इनकी कक्षाएं चलाई जायेंगी तो एक विद्यार्थी को अपनी क्षमता आंकने के लिए पर्याप्त समय मिलेगा। अतः संगीत की शिक्षा उस प्रकार भी दी जानी चाहिए जिससे एक विद्यार्थी स्वयं का आकलन करते हुए स्वयं को उस योग्य बना सके।

संगीत के क्रियात्मक पक्ष की बात की जाये तो शैक्षिक संस्थाओं में संगीत विषय आ जाने से यह जन सुलभ तो हो गया है किन्तु गायन का वह स्तर नहीं रह गया जो किसी घराना से सीखे हुए विद्यार्थी का होता है। अतः यदि हम विश्वविद्यालयी शिक्षण–प्रणाली को घराना का रूप देने का प्रयास करें तो हमें निश्चित रूप से कुछ सफल परिणाम देखने को मिलेंगे। फलस्वरूप हमें वर्तमान विश्वविद्यालयी शिक्षण प्रविधियों में कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे, जैसे– कक्षा को घराना का रूप देते हुए यदि एक ही कक्षा के विद्यार्थियों की शिक्षा एक ही गुरू के सानिध्य में की जाये तो एक विद्यार्थी को गुरू की गायकी का अनुकरण करने एवं एक शिक्षक को अपनी कक्षा के प्रत्येक

विद्यार्थी की कमियों व योग्यता को जानने के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा। विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार यदि एक ही कक्षा के विद्यार्थियों को अलग–अलग वर्गों मे बांट कर उनके स्तर के अनुरूप उन्हें उसी प्रकार की शिक्षा दी जाय तो निश्चित तौर पर कमियों को दूर करने में एक शिक्षक और विद्यार्थी को पर्याप्त समय मिलेगा। एक घराना की पहचान उसकी कुछ विशेष विशिष्टताओं से होती है, जैसे– स्वरों व आवाज का लगाव, आलापचारी का ढंग, राग की बढ़त, लय का काम, तानों के पैटर्न इत्यादि, जो उसे दूसरे घरानों से अलग बनाती है। जिस तकनीक का अनुसरण करते हुए रियाज करने से कुछ समय पश्चात् विद्यार्थी उसमें निपुण हो जाता है और यह उसकी गायकी में झलकने लगता है जिसका आभाव हमें विद्यालयीय शिक्षण विधियों में देखने को मिलता है। अतःइस कमी को दूर करने हेतु पाठ्यक्रम में रियाज के तरीकों जैसी मूलभूत बातों का भी होना आवश्यक है। एक अच्छी प्रस्तुति ही एक संगीत के विद्यार्थी की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। जिसके लिए उसका गायन में अच्छा होने के गुणों के साथ ही कुछ तकनीकी जानकारी का होना भी आवश्यक है। अतः शिक्षण के साथ–साथ विद्यार्थियों को प्रस्तुति–सम्बन्धी बातों की भी शिक्षा दी जानी चाहिए, जैसे– अपनी आवाज के अनुरूप माइक सेटिंग, वॉल्युम सेटिंग तथा गायन को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु इको डिले, रिवर्ब जैसी तकनीकी अंगो के प्रयोगों का ज्ञान इत्यादि। समय–समय पर कार्यशाला, व्याख्यानों एवं सेमिनारों का आयोजन किया जाना चाहिए जिसके माध्यम से विद्यार्थियों के ज्ञान का विस्तार हो सके। सुविधा के लिए शिक्षण में वैज्ञानिक उपकरणों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। इन सब के साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि संगीत एक प्रायोगिक विषय है जिसमें डी० म्यूज अर्थात् प्रायोगिक क्षेत्र में शोध की उपाधि का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि साधारणतया यह देखा जाता है कि जो बच्चे प्रयोग में अच्छे होते हैं उनका शास्त्र पक्ष उतना प्रबल नहीं होता है। अतः ऐसे विद्यार्थी डी० म्यूज के माध्यम से शोध कर सकते हैं। आज के समय की विकट समस्या है कि शोध के कारण सभी का प्रयोग पक्ष कमजोर हो गया है। अतः उस स्थिति से भी बचा जा सकता है। यदि हमें विश्वविद्यालयीय स्तर पर संगीत शिक्षण में सुधार करना है तो सर्वप्रथम हमें बुनियाद अर्थात् संगीत की प्रारम्भिक कक्षाओं की शिक्षण–व्यवस्था में सुधार करना होगा।

निष्कर्ष :

एक योग्य गुरू ही अपने विद्यार्थियो को भी योग्य बना सकता है। हम चाहे शिक्षण प्रविधियों को कितना ही अधिक उन्नत कर लें किन्तु उन प्रविधियों के माध्यम से शिक्षा देने वाला यदि योग्य नहीं होगा तो सफल शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती हैं। जैसा कि हम आज देख रहे हैं कि यू० जी० सी० संस्था जो विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की नियुक्ति के लिए मानकों का निर्धारण करती है, उन नियमों के अनुसार कोई भी विद्यार्थी जो नेशनल एलिजिबिलिटी टेस्ट (नेट) उत्तीर्ण कर लेता है वह शिक्षक पद हेतु योग्य बन जाता है। यह परीक्षा संगीत के शास्त्र (लिखित) पक्ष पर आधारित होती है। किन्तु संगीत विषय का योग्य गुरू बनने के लिए यह पर्याप्त नहीं हैं। संगीत में प्रायोगिक पक्ष भी उतना महत्व का है जितना कि शास्त्र। अतः संगीत का शिक्षक बनने हेतु शास्त्र–पक्ष के साथ साथ उसके क्रियात्मक–पक्ष का ज्ञान होना भी अति महत्वपूर्ण है। यह एक अति महत्वपूर्ण विषय है जिस पर विचार किया जाना आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची :

1. ऋषितोष (डॉ.), कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ. 95
2. नेहरंग, डॉ. प्रदीप दीक्षित, 'स' रस संगीत, पृ. 113

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की समस्याएँ एवं समाधान : संगीत के संदर्भ में

डॉ. ममता यादव*

सारांश

संगीत में महिला शक्ति की प्रेरणा के अनेक रूप हैं : कहीं उपदेशक के रूप में, कहीं देवी के रूप में, कहीं साधना के रूप में तो कहीं प्रेयसी के रूप में। वर्तमान समय में यह धारणा है कि महिलाओं को आजकल अधिक महत्व दिया जा रहा है। यह पूर्ण रूप से भ्रामक है, यदि हम इतिहास के पन्ने उलटें तो पायेंगे कि महिलाओं को धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में सदैव महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिसमें किसी महिला का योगदान न रहा हो। भारतीय दर्शन में नारी को न केवल शक्ति, विद्या एवं ज्ञान की देवी के रूप में पूजा गया है, बल्कि विद्या की देवी माँ सरस्वती देवी, माँ दुर्गा का भी पूजन–अर्चन यह सिद्ध करता है कि भारतीय समाज में महिलाओं का विशिष्ट स्थान व भूमिका रही होगी। भारतीय संस्कृति सदा से ही आदर्श एवं धर्म की पृष्ठभूमि पर प्रवाहित होती रही है जिसका उद्देश्य समाज में लोक कल्याण एवं नैतिकता स्थापित करना है।

जब हम संगीत के क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका पर विचार करते हैं, तो हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही नारी और संगीत का बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। वर्तमान में महिलाओं को संगीत सीखने में जो समस्याएँ आती हैं, वह अनेक रूपों में देखा गया है, परन्तु महिलायें उन सभी समस्याओं से लड़कर आगे बढ़ रही हैं और सकारात्मक सोच व परिवर्तन के साथ अपनी सत्ता को स्थापित कर रही हैं।

कुंजी शब्द : *संगीत, महिला, समस्या, समाधान, परिस्थितियाँ, परिवर्तन*

प्रविधि : *पुस्तकों, पत्रिकाओं का अध्ययन किया गया है तथा प्राथमिक स्रोत के रूप में दैनिक जीवन में प्राप्त अनुभवों का विश्लेषण किया गया है ।*

प्रत्येक कार्य में निपुणता हासिल करने के लिये व्यक्ति को किसी–न–किसी प्रकार अनेक समस्याओं का सामना करना होता है, परन्तु संगीत–शिक्षण के क्षेत्र में आने वाली केवल उन समस्याओं से अवगत कराना है, जो किसी पुरुष की अपेक्षा केवल महिलाओं को ज्यादा आती है।

यदि हम भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें देखने को मिलता है कि भारतीय महिलाओं ने परिवर्तनशील सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य पर अनेक उत्थान और पतन देखे हैं। कभी उसे देवी, लक्ष्मी जैसे शब्दों द्वारा सम्मानित कर सम्बोधित किया गया तो कभी उसे सीमा तक नकारते हुये तिरस्कृत भी किया गया। विगत कालों में जिन महिलाओं ने अपनी बुद्धि, विवेक एवं कला कौशल से इस चहारदीवारी को तोड़ा है, उन्हें कालान्तर में भारतीय समाज ने स्वीकार करते हुये नाम और प्रसिद्धि देकर अन्ततः यशोगान किया है। इनमें तारा, अहिल्या, जीजाबाई, चांदबीबी, लक्ष्मीबाई, सरोजनी नायडू, इन्दिरा गाँधी, किरण बेदी तथा कई अन्य उदाहरण हमारे सामने हैं। इसी क्रम में संगीत सीखने हेतु सामान्य महिलाओं की समस्याओं की बात की जाये तो देखने को मिलता है कि मुगलों के आक्रमण के पश्चात् अथवा स्वतंत्रता के पूर्व भारत में विशेष रूप से उत्तर भारत में संगीत का बहुत ही अधिक व निम्न स्तर तक ह्रास हुआ। मुगलों द्वारा उनके शोषण, अत्याचार व संगीत के प्रति दुर्व्यवहार के कारण संगीत की स्थिति बहुत नीचे तक गिर गई, जो संगीत ईश्वर की उपासना तथा योग के रूप में पूजा जाता था वह अब दरबारों के नवाबों एवं शासकों को खुश करने व उनके मनोरंजन का साधन बन चुका था। इसी कारण सामान्य परिवारों की महिलाओं के लिये संगीत को सीखना व गाना–बजाना वर्जित हो गया।[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संगीत का प्रचार–प्रसार भारतीय संगीत जगत के दो महान संगीतज्ञ/विभूति पं. विष्णु नारायण भातखण्डे और पं0 विष्णु दिगम्बर पलुष्कर के अथक प्रयासों के कारण संगीत आज संस्थागत अथवा

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर (सितार), गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय शिक्षण–विधि में संगीत का प्रचार व प्रसार तीव्र गति से होने से संगीत अब केवल नवाबों या बादशाहों की धरोहर नहीं है, अपितु जन–सामान्य की कला बन गई है।

इस प्रकार, स्वातंत्र्योत्तर काल में महिलाओं के लिये संगीत शिक्षा के प्रति कुछ धारणा बदली। समाज में किसी भी नई सोच व धारणा को अपनाने में वक्त लगता है इसलिए कई दशकों के उपरान्त आज जन–सामान्य और विशेष कर महिलाओं ने धीरे–धीरे संगीत शिक्षा ग्रहण करना शुरू कर दिया। यद्यपि इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि संगीत जगत में ऐसी कई महान कलाकार हुई हैं जिन्होंने अपने कार्य से बहुत प्रसिद्धि व लोकप्रियता को हासिल किया परन्तु कई महिलाओं के संगीत शिक्षण व साधना में रूकावट डालने वाली कुछ निजी एवं सामाजिक समस्याएँ भी दिखलाई देती है, जिनसे उनके संगीत क्षेत्र में अपनी पहचान व प्रसिद्धि पाने में अत्यन्त कठिनाईयाँ आयीं अथवा आती हैं।

भारतीय समाज में महिलाओं की कई समस्याएँ हैं, परन्तु उस समस्या में प्रमुख एक यह समस्या है कि वे महिला हैं। अपने परिवार तथा पुरुष–प्रधान समाज के प्रति उनके अनेक दायित्व होते हैं। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि गृहस्थ जीवन की पूरी जिम्मेदारियाँ महिलाओं का दायित्व हैं या उनकी कमजोरी हैं। सामान्य परिवारों की महिलाओं के लिये गृहकार्य की जिम्मेदारियाँ उनके संगीत–साधना को निश्चित रूप से सीमित कर देती हैं। एक महिला अपने विशाल ह्रदय के कारण एक पत्नी, माँ, बहन कहलाने में भी अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है।[2]

नारी चाहे विवाहित हो या अविवाहित, भारत में नारी को घरेलू प्राणी समझा जाता है। हमारे मध्यमवर्गीय समाज में गृहस्थी उसकी साधना में जीवन के किसी–न–किसी समय व्यवधान उत्पन्न करती है। आधारभूत शिक्षा न मिलने से वह अपने अन्दर स्वाभिमान और अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत नहीं हो पाती। यदि वह वैवाहिक जीवन से पहले संगीत क्षेत्र में प्रसिद्ध हो जाये तो क्या वह अपनी साधना को सतत बना सकती है? यह एक प्रश्नवाचक चिन्ह है। अनेक ऐसी महिलायें हैं, जो विवाह के पूर्व संगीत के क्षेत्र में अपना एक स्थान बना चुकी थी, विवाह के बाद उन्हें केवल गृहिणी बनकर ही सन्तोष करना पड़ा और यदि पति एवं पति–पक्ष के सदस्य अनुकूल हैं, तो कठिनाई कम होती है। परन्तु ऐसा न होने पर किसी–न–किसी रूप में समझौता करना ही पड़ जाता है और जब परिवार बढ़ने लगता है, तो शिशु के लालन–पालन का उत्तरदायित्व भी उस पर ही आ जाता है। महिलाओं की कुछ शारीरिक सीमाओं के कारण शिशु–जन्म के उपरान्त संगीत–साधना में भी बाधा उत्पन्न होती है। यदि तीव्र इच्छा शक्ति, लगन व प्रयास तथा परिवार का सहयोग हो तो ही वह पुनः संगीत को जीवित रख सकती है, अन्यथा सम्भव नहीं है। अगर हम दूसरे या अन्य क्षेत्रों से तुलना करें तो संगीत के क्षेत्र में अधिक समय, परिश्रम एवं ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः गृहस्थी में आने से कई प्रकार की समस्याएँ उसकी कला–साधना को प्रभावित कर सकती है। अविवाहित महिलाओं को भी संगीत सीखने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सर्वप्रथम तो पुरुष–प्रधान भारतीय समाज में संरक्षण की समस्या प्रमुख रूप से देखने को मिलती है। स्वतंत्र महिलाओं से पुरुष वर्ग की अपेक्षाएँ भी कुछ अधिक होती हैं, साथ ही आर्थिक समस्याएँ भी बहुत महत्व रखती हैं। एकाकी जीवन जीने वाली तथा अविवाहित महिलाओं के लिये संगीत–साधना को जारी रखने हेतु आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी अन्य व्यवसाय को करते रहना गृहस्थी से भी अधिक बड़ी समस्या हो जाती है और छात्राओं के लिये संगीत का क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से भी एक व्यवधान है।

अन्य शिक्षा–क्षेत्र की अपेक्षा संगीत–शिक्षा व संगीत का क्षेत्र अधिक खर्चीला है और यदि एक कलाकार बनने की इच्छा हो तो शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है। हमारे समाज में महिलाओं को लेकर उसक परिवार में कन्या के विवाह में अर्थ–व्यय अधिक होगा। यह सोचकर भी अपनी पुत्री को संगीत की विधिवत् शिक्षा नहीं दिला पाते।

आज समाज में दिन–प्रतिदिन बलात्कार, हत्याएँ तथा अन्य प्रकार से शोषण इत्यादि देखने व सुनने को मिल रही है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी माँ–बाप अपनी बेटियों को घंटो घर से बाहर रहकर संगीत–शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति नहीं देते और देते भी हैं तो अत्यन्त संकुचित भाव से क्योंकि वे इन सब बातों की अनदेखी भी नहीं कर सकते। संभवतः कुछ ऐसी महिलाओं को छोड़कर जिनके घरों में ही संगीत सीखने की व्यवस्था होती है या

हो सकती है। सामान्य परिवार की महिलाएँ संगीत सीखने की इच्छा रखते हुए भी इस संगीत विधा से वंचित रह जाती हैं। कारण यही है कि आज की सामाजिक परिस्थितियों में यह संभव नहीं हो सकता।[3] घोर संकट होता है महिलाओं के समक्ष ।

''संगीत एक श्रव्य कला (सुनने की कला) अथवा गुरुमुखी विद्या है। इसके लिये गुरु–शिष्य का व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ एवं कदम–कदम पर गुरु का मार्गदर्शन मिलना बहुत जरूरी है तथा जब तक किसी गुरु के सान्निध्य में रहकर संगीत–साधना न की जाये, कला में वो भाव नहीं पैदा हो पाता और ऐसी परिस्थिति में संगीत की गहन व उच्च शिक्षा के लिये जब तक किसी योग्य गुरु एवं उदारचित्त गुरु की शरण में बैठकर 'गुर' न सीखा जाए तब तक संगीत की गहराइयों में उतर पाना मुमकिन नहीं है। ऐसे गुरु का सान्निध्य मिलना भी भाग्य से ही हो पाता है। विशेषकर किसी महिला को ऐसे उदारचित्त एवं योग्य गुरु का आर्शीवाद प्राप्त होना, कहते हैं कि पूर्वजन्म के कुछ बहुत अच्छे कार्यों के फलस्वरूप ही हो सकता है। हमारे समाज में प्रायः यह देखा गया है कि माता–पिता व परिवार के सदस्य अपनी बेटियों को किसी भी पुरुष के पास संगीत शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजने से कतराते हैं। यहाँ एक और बात सामने आती है कि समाज के हर क्षेत्र में कुछ ऐसे गुरुजन भी देखे गये हैं और हैं जिन्होंने अपने समस्त शिष्य–शिष्याओं को अपने पुत्र व पुत्रीवत रूप में संगीत की शिक्षा एवं उचित मार्गदर्शन प्रदान करते रहते हैं। यद्यपि यह कहना भी ठीक नहीं होगा, सबके लिये नकारात्मक धारणा रखना भी न्यायपूर्ण नहीं होगा। कई बार देखने को ऐसा मिलता है कि कोई गुरु अपनी शिष्या को बहुत ईमानदारी व श्रद्धापूर्वक संगीत की शिक्षा दी, वह एक सुयोग्य शिष्या भी बनी और उसके संगीत का विकास उच्च स्तर पर भी हो गया तो उसकी शादी हो गई, फिर क्या? वह अपनी संगीत–साधना को सतत रख पायेगी? अगर पति–पक्ष को संगीत की कद्र है या संगीत के प्रति लगाव है तब तो ठीक है, अन्यथा संगीत बहुत ही पीछे छूट जाता है। ऐसे में जिस गुरु ने इतने परिश्रम से विद्या दी, उसे बहुत दुःख व निराशा की अनुभूति होती है। ऐसे कई परिवार जो विवाह के पूर्व संगीत की सराहना कर रहे होते हैं, फिर विवाह उपरान्त संगीत के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं। और तो और, संगीत–साधना तक बन्द कर देने की सलाह भी मिलने लग जाती है। ऐसी बहुत–सी महिलायें या तो अपनी परिस्थिति से समझौता कर लेती हैं या उनका वैवाहिक जीवन ही असफल हो जाता है। यह भी महिलाओं के लिये बहुत ही बड़ी समस्या है।

कुछ ऐसे भी परिवार होते हैं, जहाँ महिलाओं को स्वेच्छा से काम करने की आजादी व परिवार का पूरा सहयोग प्राप्त होता है। मुझे स्वयं यह बनाने में गर्व की अनुभूति हो रही है कि मैं स्वयं सितार वादिका हूँ तथा मेरे परिवार पक्ष का सदैव सहयोग प्राप्त है। अधिकांश परिवारों में यह सुनने को मिलता है कि लड़की जात है, मंच पर गायेगी, बजायेगी तो लोग व समाज क्या बोलेंगे, तथा कहीं इस कारण विवाह में कोई बाधा न आ जाये।''[4]

महिलाओं के संगीत शिक्षा एवं कलाकार बनने में बाधा उत्पन्न होने का यह भी कारण दिखाई पड़ता है कि वह कहीं दूर जाकर अच्छे संगीतज्ञ के पास सीख नहीं सकती। ये जरूरी नहीं है कि हर शहर में गुणी व घरानेदार कलाकार हों। ऐसी परिस्थिति में परिवार के सदस्य उसे दूर भेजना या लम्बे समय तक अपनी आँखों से ओझल करना नहीं चाहते। अगर पुरुष वर्ग के पहलू को भी देखा जाय तो वह दूर–दराज के गुणीजनों के घर जाकर या वहाँ रहकर संगीत शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु एक महिला के लिए अधिकांशतः यह संभव नहीं हो पाता है।

उपरोक्त सभी परिस्थितियाँ एक समान नहीं होती। सभी महिलाओं का सांगीतिक शोषण हो, ये जरूरी नहीं। अगर ऐसा होता तो अन्नपूर्णा देवी, केसरबाई केरकर, जरीन दारूवाला, सितारा देवी, गंगूबाई हंगल, गिरिजा देवी, डॉ. प्रेमलता शर्मा, शरण रानी, डॉ. एन राजम् इत्यादि अनेक महिला कलाकार संगीत जगत् को कहाँ मिल पातीं। यह भी सत्य है कि इन विदुषी महिलाओं को दोनों, पितृ–पक्ष एवं पति–पक्ष का पूरा सहयोग मिला है। भरपूर सहयोग, सही ज्ञान तथा सही दिशा सांगीतिक सफलता के प्रथम सोपान है।[5]

समाधान :

महिलाओं द्वारा वाद्य–वादन के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं तथा भारतीय शास्त्रीय संगीत के महत्वपूर्ण अंश भारतीय चित्रकला में, रागमाला–चित्र आदि में देखने को मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में महिलाएँ वाद्य–वादन करती थी। परन्तु विडम्बना यह है कि आज के वर्तमान समय में भी लोग उन्हें संगीत की

अन्य विधाओं की भांति शीध्रता से स्वीकार नहीं कर पाते। जैसे कि पहले चर्चा की गई है कि आजादी के पश्चात् संगीत जगत् के दो मूर्धन्य संगीतज्ञ पं. विष्णुनारायण भातखण्डे एवं पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के अथक प्रयासों के बाद जब संगीत की स्थिति बदली तब महिलाओं ने रूढ़ियाँ तोड़कर गायन–वादन तथा नृत्य सीखना तथा उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना आरम्भ किया। स्वतंत्रता के बाद धीरे–धीरे महिलाओं के जीवन में बहुत सुधार आ गया है। आज महिलायें समस्त क्षेत्रों में अपनी अलग–अलग पहचान बना रही हैं। संगीत के क्षेत्र में भी महिला कलाकार हिम्मत, विश्वास, धैर्य एवं कठिन परिश्रम के द्वारा अपनी एक पहचान ही नहीं बल्कि उसे व्यवसायिक रूप से अपनाकर उसमें उच्च नाम व स्थान भी बनाने लगी हैं। देखा जाय तो आज देश–विदेश की अनेक संस्थाओं, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों इत्यादि में महिलाओं द्वारा शिक्षण–प्रशिक्षण कार्य संचालित किया जा रहा है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ संगीत–सम्बन्धी विषयों पर अधिक जोर दे रही हैं। इस प्रकार महिलाओं की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। महिला चाहे विवाहिता हो या अविवाहिता, गृहस्थी उसकी साधना में जीवन के किसी–न–किसी पड़ाव पर व्यवधान बनती है। किन्तु दृढ़–संकल्प शक्ति से प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाई जा सकती है। आज महिलायें बढ़–चढ़ कर अपना योगदान दे रही है, चाहे वे किसी भी क्षेत्र में हैं।[6]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महिलायें आज शिक्षिका के रूप में, ग्रन्थकार के रूप में, संगीत आयोजिका के रूप में, रचनाकार के रूप में, मंचीय प्रदर्शन के क्षेत्र में हमारे समक्ष दिखाई देती हैं और भविष्य में ये भी सम्भावना है कि महिलायें इन सब विषयों पर बढ़–चढ़ कर हिस्सा लें और इसी प्रकार महिलाएँ आगे आती रहीं एवं इस क्षेत्र में पुरुषों के साथ कन्धा–से–कन्धा मिलाकर अपनी सार्थक भूमिकाएँ निभाती रहीं तो निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकेंगी।

निष्कर्ष :

यद्यपि आज समय और परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। आधुनिक समाज की स्वतंत्र मानसिकता एवं पुरुषों की सकारात्मक सोच ही है, कि किसी–न–किसी रूप में कहीं पिता के रूप में, शिक्षक के रूप में तथा जीवनसाथी के रूप में इन महिलाओं को प्रोत्साहन एवं मनोबल प्राप्त हो रहा है। आज महिला कलाकारों के विकास हेतु विभिन्न संस्थाओं द्वारा भी अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। ऐसे कई अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है जिसमें सिर्फ महिलायें ही प्रतिभागिता कर रही हैं। इन सभी सकारात्मक सोच व परिवर्तन से आज महिलायें अन्य क्षेत्रों में ही नहीं अपितु संगीत क्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त कर रही हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, (सं.) संगीत पत्रिका, महिला संगीत अंक, जनवरी–फरवरी 1986, पृ.सं. 76–78
2. वही
3. वही, पृ.सं. 80
4. द्विवेदी, पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 2009, इलाहाबाद, पृ.सं. 116
5. वही, पृ.सं. 117
6. संगीत पत्रिका, महिला अंक, फरवरी 2010, पृ.सं. 89

सोहराई चित्रकला एवं संस्कृति

सितेन्द्र रंजन सिंह*

शोध सारांश

भारत में जनसंख्या की दृष्टि से गोंड और भील के बाद तीसरा सबसे बड़ा आदिवासी समुदाय 'संथाल' है । सोहराई चित्रकला संथाल समुदाय की ही चित्रकला है । झारखंड में सोहराई कला का महत्त्व प्राचीन समय से रहा है। परंपरागत रूप से घर की महिलाएं सोहराई की छुट्टी के दौरान अपने घरों की मिट्टी की दीवारों पर पेंटिंग करती हैं । पेंटिंग्स मातृ सत्तात्मक परंपरा को दर्शाती हैं जिसमें कला का रूप उनकी माताओं द्वारा बेटियों को विरासत के रूप में दिया जाता है । इस तरह इन चित्रों का एक प्रमुख विषय माँ–बच्चे का बंधन है। सोहराई चित्रों में दीवारों की पृष्ठभूमि मिट्टी के मूल रंग की होती है। उस पर कत्थई राल, गोंद (कैओलीन) और काले (मैंगनीज) रंगों से आकृतियाँ बनाई जाती हैं। सोहराई पर्व, दीवाली के तुरंत बाद, फसल कटने के साथ मनाया जाता है। संथाल आरम्भ से ही कृषि–कार्य बैलों, भैसों के माध्यम से ही करता आया है, इसलिये इस पर्व में माता लक्ष्मी की तरह पशुओं की पूजा की जाती है और धन–संपत्ति की वृद्धि की कामना की जाती है। सोहराई पेंटिंग की सबसे बड़ी विशषता यह है कि यह एक गाँव से दूसरे गाँव और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में भिन्न–भिन्न होती हैं।

बीज शब्द : *सोहराई कला, मिट्टी की दीवारों, आदिवासी कला, देसज दुधि माटी, वृद्धि मंत्र, खुटा बंधन अनुष्ठान*

प्रविधि : *द्वितीयक माध्यमों के अतिरिक्त लोक–व्यवहार से प्राप्त जानकारियों को शामिल किया गया है ।*

परिचय

वर्तमान में सोहराई चित्रकला किसी परिचय का मोहताज नहीं है। इसकी एक अलग पहचान है । इसमें पशु–पक्षी, सांप के अलावा कमल और पौधों की आकृतियों के लिए भी जाना जाता है। चित्रों में अक्सर गर्भवती पशु–पक्षियों को दिखाया जाता है। चूजों और मुर्गियों को अक्सर एकसाथ चित्रित किया जाता है, जबकि आडू के बच्चों को अक्सर मोरनी के साथ चित्रित किया जाता है। सोहराई की पेंटिंग मातृसत्तात्मक प्रतीकों से भरा हैं। प्राकृतिक मिट्टी के गेरू रंग का, साल के पेड़ की चबाने वाली टहनियों का उपयोग पेंट, ब्रश के रूप में किया जाता है। पृष्ठभूमि बनाने के लिए सूती कपड़े का उपयोग किया जाता है। लाल गेरू या गेरुआ मिट्टी, पीला गेरू या पिला मिट्टी, मैंगनीज या पिसा हुआ कोयला या काली मिट्टी, और सफेद मिट्टी या दूधी चरक मिट्टी चार रंग हैं जिनका उपयोग किया जाता है। यह हमें संथालों की संस्कृति से भी अवगत करता है।

विश्लेषण

सोहराई कला एक आदिवासी कला है। इसका प्रारंभ हजारीबाग जिला के बादम क्षेत्र में कई वर्ष पूर्व हुआ था। पहाड़ियों की गुफाओं में इस कला के प्रमाण देखे जा सकते हैं। बादम राजाओं ने इस कला को काफी प्रोत्साहित किया था। दुर्भाग्यवश इस कला के प्रति उपेक्षा से इसके अस्तित्व पर संकट आ गया है। राज्य के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में सोहराई पर्व के दौरान देसज दुधि माटी से सजे घरों की दीवारों पर महिलाओं के हाथों से बने सोहराई कला अब कम देखने को मिलती है। दुधि माटी की जगह अब चूने का उपयोग होता है। इसके कलाकार और इसे जाननेवाले लोगों की संख्या वर्तमान में बहुत कम रह गयी है। हजारीबाग जिला के बड़कागांव प्रखंड की रहनेवाली रूक्मणी का कहना हैं कि यह कला मैंने अपनी मां से सीखी थी और मां ने अपनी मां से। वे बताती है कि आज इस कला को सीखना तो दूर, लोग इसे जानते तक नहीं हैं। रूक्मणी के अनुसार, आदिवासी संस्कृति में इस कला का महत्त्व जीवन में उन्नति से लिया गया था, इसलिए इसका उपयोग दीपावली और शादी–विवाह जैसे अवसरों पर किया जाता था जिससे धन और वंश की वृद्धि हो सके। इस कला के पीछे के इतिहास को लोग जानते तक नहीं हैं। बादम राज में जब किसी युवराज का विवाह होता था और जिस कमरे में युवराज अपनी नवविवाहिता से

*सहायक प्राध्यापक, दृश्य कला, शिक्षाशास्त्र में स्नातक विभाग, महिला कॉलेज, चाईबासा, प. सिंहभूम, झारखण्ड,

पहली बार मिलता था उस कमरे की दीवारों पर यादगार के लिये कुछ चिह्न अंकित किये जाते थे। ये चिह्न सफेद मिट्टी, लाल मिट्टी, काली मिट्टी या गोबर से बनाये जाते थे। इसमें कुछ लिपि का भी इस्तेमाल किया जाता था जिसे 'वृद्धि मंत्र' कहते थे। बाद में लिपि की जगह कलाकृतियों ने ले ली जिसमें फूल, पत्तियां एवं प्रकृति से जुड़ी चीजें शामिल होने लगीं। इन्हीं चिन्हों को बाद में सोहराई कला के रूप में जाना जाने लगा। धीरे–धीरे यह कला राजाओं के घरों से निकलकर पूरे समाज में फैल गयी। इस चित्रकला में नैसर्गिक रंगों का उपयोग किया जाता है। झारखंड के अनेक जिलों में सोहराई की परंपरा रही है। इस अवसर पर आदिवासी अपने घर की दीवारों पर चित्र बनाते हैं। सोहराई के दिन गाँव के लोग पशुओं को सुबह जंगल की ओर ले जाते हैं एवं अपराह्न में उनका अपने द्वार पर स्वागत करते हैं। इस क्रम में वे अपने घर के द्वार पर अरिपन का चित्रण करते हैं। अरिपन भूमि पर किया जाता है। जमीन को साफ कर उस पर गोबर का लेप लगाया जाता है। फिर चावल के आटा से बने घोल से अरिपन का चित्रण किया जाता है। ज्यामितीय आकार में बने इन चित्रों पर चलकर पशु घर में प्रवेश करते हैं। यह चित्रण भी घर की महिलाओं के द्वारा ही किया जाता है । चबाने वाली टहनियों का उपयोग पेंट ब्रश के रूप में किया जाता है, जबकि कपड़ा के चिथड़ों का उपयोग बेस कोट लगाने के लिए किया जाता है।

इस्कोरॉक कला के रूपांकनों और स्थानीय लोगों के आवासों की दीवारों पर चित्रित चित्रों के बीच एक अजीब समानता की खोज की गई। उन्होंने दो अवसरों पर पेंटिंग बनाईं– एक बरसात के मौसम के बाद और फसल के मौसम से पहले, और दूसरी शादियों के दौरान। बरसात के मौसम के बाद बनाई गई पेंटिंग, विशेष रूप से दिवाली के हिंदू त्योहार के आसपास, 'सोहराई' के रूप में जानी जाती थी, जबकि विवाह के आसपास बनाई गई पेंटिंग 'कोहबर' के रूप में जानी जाती थी।

सोहराई पेंटिंग का निर्माण

संथालों की जनसंख्या भारत में 1.5 करोड़ है। इस समुदाय का सबसे बड़ा त्योहार सोहराई पर्व है। सोहराई का अर्थ है बधाई या शुभकामना। यह उत्सव झारखंड के अलावा असम, बिहार, उड़ीसा, प.बंगाल, त्रिपुरा, मेघालय और मिजोरम में भी मनाया जाता है। भारत के बाहर नेपाल और बांग्ला देश में भी सोहराई पर्व मनाया जाता है । बरसात का मौसम समाप्त होने और धान की फसल का मौसम शुरू होने के बाद, पशुधन को धन्यवाद देने के लिए सोहराई का उत्सव मनाया जाता है। सोहराई दिवस दिवाली के हिंदू उत्सव के ठीक एक दिन बाद आता है। उसी दिन, हिंदू गोवर्धन पूजा का त्योहार मनाते हैं, जो मवेशियों का भी सम्मान करता है। इस उत्सव का महत्व इतना है कि इस त्योहार के लिए मिट्टी के घरों को मिट्टी से रंगा जाता है जिसे अब सोहराई पेंटिंग के रूप में जाना जाता है। कुछ जन–जातियों के लिए, उनका उपयोग केवल सजावट के लिए किया जाता है, लेकिन दूसरों के लिए, वे जानवरों के देवताओं का सम्मान करने का एक तरीका हैं। परंपरागत रूप से,पेंटिंग घर की महिलाओं द्वारा बनाई जाती हैं। झारखंड के हजारीबाग जिले के भेलवारा गांव में सबसे शानदार सोहराई त्योहार मनाया जाता है। सोहराई पेंटिंग मिट्टी के घरों को सुशोभित करती हैं। उनके बैल की पीठ पर, या सोहराई घोड़ा, जैसा कि इसे स्थानीय भाषा में जाना जाता है, मवेशियों के देवता या पशुपति को दर्शाया गया है, जिन्हें हिंदू भगवान शिव का एक संस्करण कहा जाता है। मवेशियों को सुबह–सुबह खेतों में ले जाया जाता है और गांव के तालाब में साफ किया जाता है। जब वे वापस लौटते हैं तो उन्हें मालाओं, सिर पर सिन्दूर और पूरे शरीर पर औपचारिक घेरे से सजाया जाता है। उन्हें आरती दिखाई जाती है और घर में ले जाया जाता है, जहां वे चावल के आटा और पानी से बने, हाथ से बनाए गए चक्रों पर कदम रखते हैं। खूंटा बंधन अनुष्ठान अगले दिन होता है। मवेशियों को एक खंभे से बांध दिया जाता है और उनकी ताकत का परीक्षण विनोदी अंदाज में सूखे चमड़े की चादर से उनसे बचकर किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि मवेशी जितनी अधिक जोरदार प्रतिक्रिया करता है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है। यह समारोह कुछ स्थानों पर प्रतियोगिता का रूप भी ले सकता है। यह त्यौहार लगभग 2–3 दिनों तक चलता है।

सोहराई पेंटिंग बनाने की प्रक्रिया

सोहराई पेंटिंग के चित्रों में रंग के लिये प्राकृतिक मिट्टी के गेरू का उपयोग किया जाता है, जो क्षेत्र में आसानी से उपलब्ध है। साल के पेड़ की चबाने वाली टहनियों का उपयोग पेंट ब्रश के रूप में किया जाता है। पृष्ठभूमि बनाने के लिए सूती कपड़े का उपयोग किया जाता है। लाल गेरू या गेरुआ मिट्टी, पीला गेरू या पिला

मिट्टी, मैंगनीज या पिसा हुआ कोयला या काली मिट्टी, और सफेद मिट्टी या दूधी चरक मिट्टी चार रंग हैं जिनका उपयोग किया जाता है। गेरू, लाल और पीले दोनों, स्थानीय रूप से प्राप्त किए जा सकते हैं या पहाड़ियों और पहाड़ी नदियों में पाए जा सकते हैं। उचित स्थानों पर खुदाई करने से पीला गेरू प्राप्त होता है, जबकि पहाड़ी नदियों से हेमेटाइट के रूप में लाल गेरू प्राप्त होता है। कोयला खदानों के आसपास, काली मिट्टी मैंगनीज के रूप में पाई जाती है, या यदि वह उपलब्ध नहीं है, तो इस उद्देश्य के लिए कोयले का पाउडर बनाया जाता है। चूना पत्थर की खदानों से सफेद मिट्टी निकाली जाती है।

सोहराई चित्रकला में आकृतियाँ

सोहराई पेंटिंग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे एक गाँव से दूसरे गाँव और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में भिन्न होती हैं। इस्को गांव की सोहराई पेंटिंग भेलवाड़ा गांव की सोहराई पेंटिंग से अलग है, जबकि सहेदा गांव की सोहराई पेंटिंग अन्य दो से अलग हैं। यह राज्य भर के अन्य समुदायों में भी सच है। कलाकार आमतौर पर अपने आस–पास जो देखते हैं, उसे चित्रित करते हैं, इसलिए हम मैदानों पर अधिक फूलों और पक्षियों की आकृतियाँ देखते हैं। ढलान वाले इलाके में अधिक जंगली जीव पाए जाने की संभावना है। चूँकि ये पेंटिंग माँ से बेटियों को हस्तांतरित होती हैं, जब एक लड़की की शादी दूसरे गाँव में होती है, तो वह अपने साथ अपनी कला लाती है, और हम कभी–कभी एक ही समुदाय के भीतर भी विभिन्न प्रकार की पेंटिंग देखते हैं। प्रकृति, मातृसत्ता, सिंधु घाटी के प्रतीकों और बिना किसी विशेष महत्व वाले अमूर्त चित्रण सोहराई पेंटिंग में सबसे आम विषय हैं। भेलवाड़ा गाँव अपने सिंधु घाटी रूपांकनों के लिए जाना जाता है, सहेदा गाँव अपने पशु–चित्रों के लिए जाना जाता है, और इस्को गाँव अन्य चीजों के अलावा अपने कमल और पौधों की आकृतियों के लिए जाना जाता है। चित्रों में अक्सर गर्भवती पशु–पक्षियों को दिखाया जाता है। चूजों और मुर्गियों को अक्सर एक साथ चित्रित किया जाता है, जबकि आडू के बच्चों को अक्सर मोरनी के साथ चित्रित किया जाता है। सोहराई की पेंटिंग मातृसत्तात्मक प्रतीकों से परिपूर्ण हैं।

सोहराई कला का वर्तमान परिदृश्य

श्री बुलु इमाम की अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों के परिणामस्वरूप इन चित्रों को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई, फिर भी वे अपने ही देश में अज्ञात रहे। हजारीबाग में तैनात सीआरपीएफ कर्मी श्री मुन्ना सिंह ने 'पेंट माई सिटी' पहल शुरू की, जिससे उन्हें स्थानीय लोकप्रियता हासिल करने में मदद मिली। बाद में, जिला सरकार ने इस दृष्टिकोण को अपनाया और इन कला–रूपों को शहर की दीवारों पर चित्रित किया जाने लगा। जब हमारे माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने नवनिर्मित रेलवे स्टेशन का उद्घाटन करने के लिए हजारीबाग का दौरा किया, तो उन्होंने बहुत जरूरी राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने शहर की दीवारों और रेलवे स्टेशन पर ये भित्ति चित्र देखे। अपने साप्ताहिक रेडियो शो मन की बात में उन्होंने इन पेंटिंग्स पर चर्चा की। तब से, इन कार्यों ने राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान आकर्षित किया है, कुछ अभ्यास कलाकारों को कई कला शिविरों में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया है। पेंट माई सिटी' अभियान राज्य भर के अन्य शहरों में फैल गया, और हर जिला अपनी दीवारों पर सोहराई को चित्रित करने के लिए इतना उत्सुक था कि इसकी वैयक्तिकता खो गई थी। गैर–पारंपरिक सोहराई कलाकारों ने अधिकांश क्षेत्रों में पैटर्न और रंग संयोजन को अपनी समझ, स्थान, समय और उनके पास मौजूद धन के अनुसार बदल दिया। इस कला रूप के प्राकृतिक आवास में जीवित रहने की राह में दो बड़ी बाधाएँ हैं। पहला है ''विकास'', जिसमें मिट्टी की झोपड़ियों की जगह आधुनिक कंक्रीट के मकानों ने ले ली है, और दूसरा है कोयला खनन के कारण गाँव का विस्थापन। दुर्भाग्य से, दोनों में से कोई भी कभी खत्म नहीं होगा। कई कलाकारों ने अभ्यास करना बंद कर दिया है, और कई ऐसा करने की राह पर हैं। माताएं अपनी बेटियों को ये पेंटिंग सिखाने की परंपरा छोड़ रही हैं क्योंकि उन्हें इनमें कोई मूल्य नहीं दिखता। इस खूबसूरत सांस्कृतिक परंपरा के अस्तित्व को सुनिश्चित करने का एकमात्र तरीका इस कला को प्रोत्साहित करना है। इन चित्रों को, जिन्हें उनके प्राकृतिक आवासों से बाहर धकेला जा रहा है, जीवित रहने के लिए नए घरों की आवश्यकता है। इन चित्रों को हाल ही में भौगोलिक संकेत प्राप्त हुआ है, जो उन्हें आशा देता है, लेकिन केवल आशा ही परंपराओं को कायम नहीं रखती, इसके लिए कार्रवाई होती है और हमें तुरंत कार्रवाई करनी चाहिए!

पुनरपि, झारखंड की सोहराई कला की चर्चा अब पूरे देश–दुनिया में होने लगी है। 'पद्मश्री' बुलू इमाम

ने दुनिया के कई देशों में प्रदर्शनी लगाकर इसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वहीं अब उनके पुत्र जस्टिन इमाम और बहु अलका इमाम की ओर से इस लोक कला को बढ़ावा देने के लिए एक सेंटर की भी स्थापना की गई है। सोहराई कला सेंटर में नई और युवा पीढ़ी को प्रशिक्षण देने का जिम्मा अलका इमाम संभाल रही हैं। महिलाएं अब दीवारों के साथ ही टी–शर्ट, बैग, खिलौनों और अन्य वस्तुओं में कलाकृतियां बना रही हैं जिसके कारण क्षेत्र में आने वाले पर्यटक उनके हस्तशिल्प उत्पाद की खरीदारी कर रहे है।

सोहराई कला की प्राचीनता

इसकी प्राचीनता के बारे में 1991 में बड़कागांव के निकट इस्को जंगल स्थित एक गुफा से मिली पत्थरों में बने शैलचित्र का अध्ययन करने के पता चलता है कि यह करीब 10 हजार साल पुरानी है। शैलचित्र भी सोहराई कला का एक उदाहरण है। रॉक आर्ट को देखने से पता चलता है कि इस इलाके में सोहराई कला भी हजारों साल पुरानी रही होगी। झारखंड के सोहराई–कोहबर चित्रकला की धमक अब विदेशों में भी है. दीपावली और शादी–विवाह के मौके पर की जानेवाली झारखंड की इस विशिष्ट चित्रकारी को पिछले साल ज्योग्राफिकल इंडिकेशन (Geographical indication) टैग हासिल हुआ है। इस बार दीपावली पर 'सोहराय–खोवर' पेंटिंग वाली कलाकृतियों की मांग देश–विदेश से हो रही है। झारखंड के हजारीबाग स्थित सोहराई आर्टिस्टों द्वारा तैयार किए गए इस चित्रकला वाले लैंप की मांग सबसे ज्यादा है। उन्हें जापान, इटली, फ्रांस और देश के कई हिस्सों से इस बार अच्छी संख्या में ऑर्डर मिले हैं। यह सोहराई लैंप नेपाली राइस पेपर से बनाया गया है। लैंप में कोई महत्वपूर्ण टेक्नॉलोजी नहीं है पर इसमें झारखंडी कला सोहराई की झलक है।

कब और कैसे शुरू हुआ 'सोहराई'

इस सन्दर्भ में दन्त कथाएँ हैं– आदिवासियों के इतिहास में ऐसा माना जाता है कि धरती की रचना के बाद मानव को निर्मित किया गया। कृषि उपज व बीज फसल दिए गये। इसके साथ ही पालतू पशु भी दिये गये। किसान इन पशुओं के कारण कृषि के जरिये धनवान हो गया और पशु पर अत्याचार करने लगा। पशुओं द्वारा इसकी शिकायत मिलने पर मरंग बुरु के रूप में ईश्वर ने इन सभी पशुओं को अपने पास बुला लिया। तब गाँव में अकाल तथा महामारी होने लगा। जब संथालों को यह पता चला कि पशुओं पर अत्याचार के कारण ऐसा हुआ तो उन्होंने मरंग बुरु से पशुओं को देने के लिये प्रार्थना किया, तब उन्हें पशु वापस मिले। उसके बाद से उन्होंने पशुओं की पूजा–पाठ शुरू किया। दूसरी कथा के अनुसार, एक अनाथ परिवार में पांच भाई और एक बहन थी। बड़ी बहन ने पांचों भाइयों को पाल–पोस कर बड़ा किया। बहन के प्रति श्रद्धा के कारण आज भी सोहराई में बहन को निमंत्रण दिया जाता है।

यह पर्व संथाल समुदाय के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि हाथी से इसकी तुलना की गई है। संथाली इसे 'हाथी लेकान पर्व' यानि 'हाथी जैसा पर्व' कहते हैं।

परिणाम

सोहराई चित्रकला क्या है? कितनी पुरानी है? किसके द्वारा बनाया गया है? किस क्षेत्र में यह बनाया जाता है? परम्परा क्या है? इस चित्रकला का विषय क्या है? किस सामग्री का प्रयोग बनाने में किया जाता है? इसका क्या महत्व क्या है? अभी इसकी क्या स्थिति है ? महिलायें इससे किस प्रकार जुड़ी हैं? इसपर हमें क्यों गर्व है? आदि प्रश्नों का जवाब इस लेख को पढ़ने से आसानी से मिल जाता है।

निष्कर्ष :

भारत प्राचीन काल से ही समृद्ध सभ्यता संस्कृति वाला देश रहा है। अतः हम यह गर्व से कह सकते हैं की दस हजार साल पुरानी सोहराई चित्रकला से विश्व पटल पर भारत का नाम कला के क्षेत्र में एक बार फिर से चमक रहा है। जब दुनिया के कई भागों में लोगों को झोपड़ी–बस्ती तक की जानकारी नहीं थी, उस समय यहाँ सोहराई चित्रकला मौजूद थी। यह महिलाओं द्वारा बनाया गया चित्रकला है और अधिक गौरवान्वित भी करती है।

संदर्भ सूची :

1. बालासुब्रमनियम, चित्रा, द ब्यूटी ऑफ सोहराई एंड कोहबर पेंटिंग्स
2. द जंगल बुक दृसोहराई पेंटिंग, ट्रेडिशनल इंडियन आर्ट प्रीमियम क्वालिटी आर्ट प्रिंट्सवाल डेकोर
3. रंजन, डा. मनीष, भारतीय कला एवं संस्कृति, झारखण्ड राज्य प्रकृति संस्कृति, प्रभात पब्लिकेशन
4. सोहराई व कोहबर चित्रकला, झारखण्ड स दृष्टि द विजन

The Application of Wood Gravure Printing in Dasha Mahavidya

Jayanta Naskar*

Abstract

Mother Kali has been described here as the progenitor, protector and the conqueror of the world. It contains 10 descriptions of her, printed in an wood engraver's press, 10 finely painted patachitras and 10 images pf various yantras, though any descriptive text regarding the yantras is absent The images mentioned here are – Kali Rahasya, Tara Rahasya, Shorasha Rahasya, Bhubaneswari Rahasya, Bharaivi Rahasya, Chinnamasta Rahasya, Dhumawati Rahasya, Bagladi Rahasya, The idols of Matangi and Kamalakantika, size of the images 8 by 13 cm. On viewing the images, one can understand it carries the proficiency and expertise of an artist trained in an art school. The etched lines, light and shadow, and technique, the painted field remains the same. Though the image of Kali rahasya looks apparently done by a different artist, but etched by the same artist that started initially by the artist which resembles the etched lines of other images., but lack the absence of light like other images. The artist who created these has not been traced until now.

Key words : *Printing, Dasa Mahavidya, Wood engraving*

Methodology : *This research paper is based upon using library and archive.*

Dasa Mahvidyaa (1292) is based on the worship of Devi/Shakti following the path of Tantra and Shakta principles. It was published and printed at Bangabasi Steam Machine Press, 34/1, Colootoola Street, in 1885. It carries 10 images of Goddess Kali, 5 pages, and 10 images of yantra in the pages that followed the preface. It carries various images of the Goddess from page 1 to 44, and advertisement in the next page. Every page carries 'stanzas" from 19-20. The measurement of printed matter in each page is 8 by 14cm, size of the page 10 and a half by 17 and a half cms, price being Re 1.

Mother Kali has been described here as the progenitor, protector and the conqueror of the world. It contains 10 descriptions of her, printed in an wood engraver's press, 10 finely painted patachitras and 10 images pf various yantras, though any descriptive text regarding the yantras is absent The images mentioned here are – Kali Rahasya, Tara Rahasya, Shorasha Rahasya, Bhubaneswari Rahasya, Bharaivi Rahasya, Chinnamasta Rahasya, Dhumawati Rahasya, Bagladi Rahasya, The idols of Matangi and Kamalakantika, size of the images 8 by 13 cm. On viewing the images, one can understand it carries the proficiency and expertise of an artist trained in an art school. The etched lines, light and shadow, and technique, the painted field remains the same. Though the image of Kali rahasya looks apparently done by a different artist, but etched by the same artist that started initially by the artist which resembles the etched lines of other images., but lack the absence of light like other images. The artist who created these has not been traced until now.

In **Kali Rahasya**, Kali stands on Shiva, the left foot on Shiva's chest and her four hands, the right hand carries the head that has been beheaded from the neck, kharag, a double –edged straight sword in another hand, the other left hand blesses the earth, and another hand bestowing coins downwards. Staving off the fear, a garland of skulls, that touches the knees. The

*Assistant Professor, Department of Graphics Printmaking, Visual Arts, Rabindra Bharati University, Kolkata.

tongue stuck out the face, Digambari thus cuts off the dead men's hands, that hangs from the waist covering the goddess. The lying Shiva extends from left to right of the image, and on the foreground is a corpse lying. The foreground of the image to some portion of the image has been etched to a little extent to increase the density of the darkness, and the hair of the goddess Kali has been painted in dark black paint but etched scantily. The axe of Kali's hand and the halo behind the goddess have been left white since a portion of the wood has been raised to a certain level. To keep the main subject Shiva and Kali, a play of light and shadow has been enacted and etched with a very fine instrument. On the painted space, one can see a group of men advancing from right to left as in a battle field. Long lines etched on the wooden plate. On the woodcut, thin lines have been etched and in the place of the flame behind Kali's head on the halo, the space has been etched deeply to create a sort of an illumination on the round spot.

Tara Rahasya depicts a man wearing a tiger skin, manly and strong. Chains adorn four hands and feet, the upper right hand carries a sword, the hand below carries a bowl, the left upper hand carries an axe, and the hand below carries a lotus. The hair is tied with a snake. A thread adorns his chest, the left foot on the upper chest of Shiva, and right foot on the upper thigh. The foreground carries an etched drawing of Shiva, illuminated and the rest of the work is left with a vacant white space. The lower portion of the image has been darkened and etched less. The main subject of this image is 'Tara', the light and shadow has been captured beautifully. The halo behind the head, light emanating from the star has been drawn so beautifully that only made possible by an accomplished artist.

Shorashi Rahasya is drawn, as if the Shorasi (teenager sixteen) is born directly from the lotus navel of Shiva, seated on the lotus. There is a maze on the right upper hand of for hands.; a bow below, a board game on the upper left hand, an arrow being held in the lower left hand. There's a crown adorning the head and star studded halo behind it. The garland along the neck touches the feet, the piece of saree adorns downward on the left. The face of Rajeswari in this image has been etched with bare minimum lines, few lines adorn similarly on the Shiva 's torso. Maheswar sleeps across a designed platform, with his right hand kept under his head. Three statues of Brahma below theplatform, etched inside with a flat border line, Vishnu next to it has been etched which has four hands, and executed in parallel lines. Indra is seated third from the left, and Mahewswar on the fourth. All in meditation are seated on the lotus, the base has been kept dark. The painted space of Shorasi is light grey, etched with lines parallel to each other.

Bhubanaswari Rahasya, The queen of the Universe called Bhubenswari. Affection is the power of love which is like sun rays. The right foot is folded and rests on the lotus, the left foot resides on a smaller lotus below. Amongst the four hand- the left upper hand holds a dangosh, the hand below holds a coin, the upper right hand blesses the earth, the hand below holds a rope made into a noose to drive out fear. The foreground is little, etched little and given the impression of a stone, there's no middle ground and the background is created that looks grey made with parallel etched lines. Bhubenaswari carries an illuminated round shaped moon that creates an effect of white on the etched plate, and perpendicular to it the rays of the sun have been drawn by the artist creating the splendor. The statues' limbs are finely designed with finely etched lines, with maximum etching and less lines.

Bhairavi Rahasya's Bhairavi is all about the beauty of Mother, hair spread out in a cascade, and is a Vaishnavite. The foreground of the picture is clear water, the lotus flower, its

stem and leaves are flotsam. Bhairabi sands on a big lotus, her four hands, upper left counting beads, the lower one bestows coins, right upper points towards the sky, the hand below carries a set of books. A garland of skulls, Bhairavi clad in a neatly pleated saree etched with proficiency, the softness of the delicate cloth exudes a muffled stillness. The water in the foreground to the rear is dotted with small hillocks, the landscape created with parallel lines etched deeply extend upwards that creates a vignette.

In the **Chinnamasta Rahyasya**, a close look reveals, decapitated her head with the weapon held in her right hand, the left hand holds the decapitated head, the blood sprinkles through the vein and she drinks it, the head separated from her body. Her two consorts drink the same blood. Goddess in form of Digambari walks atop a couple in the moment of their heightened sexual union. A grey shade has been attained by drawing parallel lines on a man's body that leaves a little space in front, below is painted black, a woman fully clad in saree, the light is accentuated with deep etching. The light falls on Chinnmasta, shadow is created to produce a full body by the artist. Like other images, the background is shadowed by parallel lines.

Dhumavati Rahasya looks at the world askantly. She is akin to nature, mother like. She let loose her hair like a cascade and wears her saree untidily. She stands erect holding a kulo (a winnowing fan). In the middle of the image, Dhumavati is seen donating while coming out of a temple that resembles a chariot. The shadow is created with skill mastery over etching beneath her feet where she stands, without apply any dark black pigment; the artist has completed the work with gray palette.

Bagala is seated on a throne; she is the goddess of speech with a thir eye. She rules treachery which is in the centre of most speech. She vanquishes them who engaged in ugly gossip. In this image, Bagalamukhi pulls out the tongue of a sinner and with her right hand that carries a weapon appears to throw at it. Her saree is etched beautifully, the white space is created magnificently and skill. The artist has completed the work skillfully about the pulling of the tongue, the face, and the contour of the neck and style with wood engraving. Except for the drapery's fold, the rest is created with etched lines to create a white space. There is strange looking animal beneath the Devis's throne. One can see the sun's rays behind the goddess' profile.

Matangi idol is seen seated with her beautiful eyebrows on a throne studded with precious stones. She blesses the world with her left hand. The hand below carries a sword, the right hand carries an ankush (goad) and the hand above holds a stick. The weapon which has a grip and spear like is etched elegantly, the knots as in a bamboo appears to have been knotted with spaces apart, the border and part of the image carry a shadow while the rest has been raised through etching. The front portion has been etched skillfully, the dark portion a carries a light occasionally. The middle of the throne and background, parallel lines have been etched. The crescent behind the goddess is etched in white, the lines big and small are small are etched that gives the impression of the rays of the sun behind Goddess Matangi.

The statue of **Kamala** sits on a lotus with a smiling face with her left foot folded and the right foot placed downwards. A necklace laced with precious stones adorns her neck. The two hands on the left depict fear and the mudra to get riddance from it. The right hands carry a lotus bud and a lotus in full bloom respectively. The Kamala is bathed with amrit nectar sprinkled by the trunks of two elephants on her two sides. The front of the image unto the mid portion depicts leaves of lotus and the flower wavering in the water, while Kamala itself sits on a

blossomed lotus. The whole image is bathed in orange, and with minimum effort the whole image has been etched with dexterity.

I may also cite an image done in wood engraving in 'The Penrose Anuual1970'The author of the book Dalziel and the title of the image is "Crusoe begings to ill". Printed in 1864 by J.D Watson. It appears that the sensitive portrayal done with thin lines and subtle variations that ascend the feelings of viewing a black and white image is taken with a camera. It is expected from the fact that lack of pointed, and sharp instruments in Calcutta, the lines etched by the artists here would be thicker and blunt than their compatriots in England but each and every object that has been drawn in a small space conceiving spiritual themes through lines is exemplary in nature which can also be seen in works of art done by overseas artists.

Kali rahasya

Shorashi rahasya

Bagala rahasya

Bibliography:

1. Sarkar, Biharilal, Dasha Mahavidya: Bangabasi Steam Machine Press, 1292 Bangabda.
2. Spencer Herbert, The Pernrose Annual 1970. London Lund Humphries Publishers Limited, 1970.
3. Rancahan, Som. Das Mahavidyas – A Contemporary Discourse. Abhibna Publications, New Delhi, 2022.

Uniqueness of the Gat of Tabla

S Sai Ram*

Abstract

The Gat is the most difficult form of composition to be described in the entire Tabla repertoire. The word 'Gat' refers to "composition" or "form" in North Indian classical music. Some scholars refer to Gat as 'movement' or 'gait' which is derived from the Hindi word 'Gati'. Gat is a prominent aspect of Instrumental music where it takes a melodic form – Razakhani and Masitkhani gat. Hence the composition called Gat applies to both Vocal and Instrumental music. Though some other fixed compositions of Tabla may be close to the form of gat, yet gat is a unique composition. The diversity of the composition makes it difficult to define the gat. The composition is inspired by various aspects and activities in Nature like chirping or the flight of birds, flow of the river, sounds of winds and thunder, human conversation and so on. Gat is probably the only composition which has a variety of characteristics than any other fixed or elaborate composition of Tabla. Gat is an integral part of Tabla Solo repertoire. Gat has a greater repertoire compared to other fixed compositions of Tabla. There are several types of gats, each having unique features. The composition has the potential to be exclusively presented as a Solo ensemble. The composition triggers the artist to dive into the aesthetics of its music and hence puts it much ahead of other compositions of Tabla musically and aesthetically.

Key Words : *Nature, Aesthetics, Laya, Repetition, Fixed*

Research Methodology : *Scientific and Aesthetical approach to explain the distinctiveness of 'Gat', thereby establishing its uniqueness. Explanation of the features of the types of Gat with examples of compositions from the repertoire.*

Introduction

Gat is a very unique composition amongst all fixed compositions of Tabla. Gats have been mostly composed in Poorab gharanas of Tabla (Lucknow, Farrukhabad and Benaras). Gats are played in Punjab gharana also. These gats are difficult because of their intricatelayakari. Gats are mostly composed in Teentaal with a few adaptations in other taals. The demonstration of gats with explanation and recitation takes the audience close to the understanding of the composition. Haji Vilayat Ali Khan of Farrukhabad gharana had composed many gats which are remembered and played by most of the Tabla players today. The tale goes that he went to Haj (Muslim Pilgrimage to Mecca) seven times and there he used to pray to the Lord (Allah) that his Gats become very prominent and popular in the world of Tabla. Today we find that all artists of Tabla play at least one or two of his gats in their presentation. They may or may not be aware of it. There are many types of Gat and each type carries a special feature. However, Gats which do not carry any special feature are termed as 'Shuddh' gats. The selection of syllables/phrases, layakari and pauses amidst the phrases makes the gat highly expressive, musical and aesthetical. There are elaborative and non-elabotative gats which makes gat, a very accomplished composition.

Gat – A Derivative of Nature

Gat is one of those compositions that has taken a great amount of inspiration from Nature i.e., the activities in and around Nature.

*Assistant Professor (Tabla), Dept. of Music, Sri Sathya Sai Institute of Higher Learning Puttaparthi, Andhra Pradesh

I intend to convey here that the masters of the yesteryears have imbibed much from various aspects of Nature to bring out very aesthetical compositions and they have elevated the Language of Tabla by the profound comparison to Nature. The activities of nature like the sounds of chirping of birds, flow of the river, lightning of the sky, blowing of winds, sounds and movements of animals, all these have largely inspired the Language of Tabla. The compositions have also been inspired by day-to-day human conversations and regular domestic activities. The expression for these aspects came from varying the pauses and laya through impeccable selection of syllabic phrases. Every element of Nature has a certain movement (speed) and sound which is rhythmic. This movement and sound is replicated on the Tabla with similar sounding syllables (though abstract) in a way that the listener feels the particular activity happening at the moment. "*Gats hold a significant relationship to chaal (speed). The Eastern and the Punjabi gats are predominantly popular because of their speed (chaal)*"

The legendary masters of Tabla like Ustad Ahmed Jaan Thirakwa (Farukkhabad), Ustad Haji Vilayat Khan (Farukkhabad) and Wajid Hussain Khan (Lucknow) must have felt the need to compose fixed compositions which are quite different from other routine fixed compositions. This might have made them peep into the aesthetical elements in Nature that can be corelated with the Language of Tabla.

Kinds of Gat

I. Vistaarsheel (Elaborative) Gats – These Gats can be elaborated like the Kaida or Rela though their structure is unlike the Kaida or Rela. They contain phrases composed specifically for Gat. Gat-Kaida and Rela-Gat are examples of such compositions. They end with a Tihai.

a) Gat Kaida in Teentaal

Ghidanaga Dha Stita Ghidanaga Dinataga |
X
Titaghida Nagatita Ghidanaga Dinataga |
2
Dha Sghida Naga Dha S Ghidanaga Dinataga |
O
Dhirdhir Dhirdhir Ghidanaga Tinataga |
3
Kidanaga Taa Stita Kidanaga Tinataga |
X
Titakida Nagatita Kidanaga Tinataga |
2
DhaSghida NagaDhaS Ghidanaga Dinataga |
O
Dhirdhir Dhirdhir Ghidanaga Dinataga |
3

b) Rela Gat in Teentaal

DhaSSdha ghidanagadingataga TakSSdha ghidanagadingataga |
X
DhaStiraghidanaga dingatagadhaStira ghidanagadhaStira ghidanagadinataga |
2
DhaStiraghidanaga dhirdhirghidanaga DhaStiraghidanaga dhirdhirghidanaga |
O
DhaStiraghidanaga dingatagadhaStira ghidanagadhaStira ghidanagadinataga |
3

TaaSStaa kidanagatingataga TakSStaa kidanagatingataga |
X
TaaStirakidanaga TingatagaTaaStira kidanagataaStira kidanagatinataga |
2
DhaStiraghidanaga dhirdhirghidanaga DhaStiraghidanaga dhirdhirghidanaga |
O
DhaStiraghidanaga dingatagadhaStira ghidanagadhaStira ghidanagadinataga |
3

Rela Gat is played at least two times. The last line is continued with elaborations (paltas) which makes the Rela. The Rela is written below :

DhaStiraghidanaga dingatagadhaStira ghidanagadhaStira ghidanagatinataga |
X
taaStirakidanagat inatagaTaaStira kidanagadhaStira ghidanagadinataga |
2
DhaStiraghidanaga dingatagadhaStira ghidanagadhaStira ghidanagatinataga |
O
taaStirakidanagat inatagaTaaStira kidanagadhaStira ghidanagadinataga |
3

II. Avistaarsheel (Non-Elaborative) Gats – These Gats are fixed in nature and are not expandable. However, some compositions can be repeated twice. A gat is such a unique and profound composition that the import of the language can be understood vividly when the composition is repeated,preferably both orally and through the playing of the composition.

a) Shuddh Gat- The word 'shuddh' in Hindi means 'pure'. The gats which do not carry any speciality and are the characteristic feature of a typical gat are termed as Shuddh gats.

Shuddh Gat in Teentaal

Takkitadha Takkitadha dhirdhirkitataka takkitadha |
X
Dhirdhirkitataka TaaStirakitataka dhirdhirkitataka takkitadha |
2
Dhirdhirkitatak atakdhirdhir kitatakadhirdhir kitatakatak |
O
Dhirdhirkitataka TaaStirakitataka dhirdhirkitataka takkitad |
3
Takkitataa Takkitataa Tiratirakitataka takkitataa |
X

Tiratirakitataka TaaStirakitataka Tiratirakitataka takkitataa |

2

Dhirdhirkita takatakdhirdhir kitatatakdhirdhir kitatakatak |

0

Dhirdhirkitataka TaaStirakitataka dhirdhirkitataka takkitadha |

3

The Gats which I am going to talk about further here, carry a speciality unlike the Shuddh gats.

b) Farad Gat -'Farad' is a Persian word which means only one time (Ekkad in Hindi). Though it is played once, the emphasis, force and selection of phrases of the composition has a great influence on the listeners, which leaves them spellbound. The phrases used are rare and unique and not heard in other compositions. The ending of the composition is unpredictable, with small and forceful phrases like 'DhirDhirkita' and 'kitatakadingada'

Farad Gat in Teentaal (From Khali)

Dhirdhirkat Dhirdhirkat Dhitadhita Dhagetita |

O

Kdedhetdhi kitadhaS Kitataka takitadha |

3

Katitadha Dhintadhet Tagenna DhaSSS |

X

Gadigana SSSga DiSgana Gadigana |

2

Kitatak Dhettaa TaaSkitataka TaaSdhet |

O

Tagenna Dhagetita Ghenanana kitatakadingada |

3

DHA

X

c) Dumuhi Gat – The word 'Dumuhi' in hindi means two faces. This composition begins and ends with the same set of syllables.

Dumuhi Gat in Teentaal

Dhighidanaga Takghidanaga Dhighidanaga Tirakitataka |

X

Dhinaginadhina Ginataktak Tirakitataka TaaSS |

2

TaaSti Takkdan Tinakidanaka Tirakitataka |
O
TaaS Sdha **Sdhi Ghidanaga** |
3
DHA

Both the phrases which are bold in the composition are in the beginning and at the end of the composition.

d) Anagat or Aasum: Composition that ends before the Sum of the Taal. Thisis often a small composition which takes the listeners by awe and wonder in the way it ends before the Sum. This composition sounds even more beautiful when it ends as much near to the first beat of the Taal (Sum). The last Dha is emphasized and the small pause before the Sum while missing a fraction of the last beat of the Taal is the aesthetics behind the composition.

Anagat in Teentaal

Dhati Sdha tiraki tadhati |
X
DhaStira Kitataka TaaStira Kitataka |
2
Tirakita takataa tirakita dhati |
O
Dhadha tidha dhati dhaS |
3

e) Ateet Gat: The composition that still continues to be played after the first beat of the Taal i.e., after the Sum, is termed as 'Ateet' Gat. The word 'Ateet' in Hindi means 'that has gone by'. In the musical sense, this means that the Sum has gone by. The listener finds it difficult to latch on to the sum while the artist emphasizes subsequent beat of the taal and the sum of the subsequent cycle which denotes the end of the composition.

Ateet Gat in Teentaal

DhaSkdadha Snadhadha kdadhaSna dhagetita |
X
Ghentera Snadhati kattita dhaSkidanaga |
2
Tirakitataktaa SGhenta DhaSSS SSkidanaga |
O
Tirakitataktaa SGhenta DhaSSS SSkidanaga |
3
Tirakitataktaa SGhenta DhaSSS Dha |
X
Dha Dhin Dhin Dha | ……
2

It can be seen in the above composition that the composition exceeds beyond the Sum of the Taal and ends on the third beat instead on the last beat of the Taal. The artist makes an impressive gesture to hold on to the Theka of the Taal in the subsequent beat. This brings the listeners attention to the time cycle of the Taal and hence this is an awe-inspiring composition.

f) Gats with Layakari: A single sentence (set of syllables) is played more than once in different speeds (layas). There can be two, three, four or five different layas.

i) Dupalli–A single sentence (set of syllables) called the 'palla' is played two times ('du' meaning two) in two different speeds. The speeds can be tigun – chougun or chougun - chahgun

<u>Dupalli in Teentaal</u>

Dhinaghi DaSna Dhinaghi Danaga |
X
Takati Rakita Dhatraka Dhikita |
2
Kataga Digana DhaSS DhinaghidaSna |
O

Dhinaghidanaga Takatirakita Dhatrakdhikita

3

Katagadigana |

DHA

X

ii) Tripalli - A single sentence (set of syllables) called the 'palla' is played three times ('Tri' meaning three) in three different speeds. The speeds can betigun-chougun-chahgun.

Tripalli in Teentaal (From Khali)

Dhinaghi DaSna Dhinaghi Danaga |

O

Takati Rakita Dhatraka Dhikita |

3

Kataga Digana DhaSS Dhinaghida |

X

Snadhina Ghidanaga Takatira Kitadhatra |

2

Kadhikita katagadi ganadhaS DhinaghidaSna |

O

Dhinaghidanaga Takatirakita Dhatrakdhikita

3

Katagadigana |

DHA

X

iii) Choupalli - A single sentence (set of syllables) called the 'palla' is played four times ('Chou' meaning four) in four different speeds. The speeds can be dugun-tigun-chougun-chahgun.

Choupalli in Teenaal

Dha Snadhi kita dhatra |

X

Kadhi kita ketra kadhi |

2

Kita kata gadi gana |

O

DhaS dhaSna dhikita dhatraka |

3

Dhikita ketraka dhikita kataga |

X

Digana dhaSdhaS nadhikita dhatrakadhi |

2

Kitaketra kadhikita katagadi ganadhaS |

O

DhaSnadhikita Dhatrakadhikita Ketrakadhikita

3

Katagadigana |

DHA

X

iv)Paanchpalli - A single sentence (set of syllables) called the 'palla' is played five times ('Paanch' meaning five) in five different speeds. The speeds can be dugun-tigun-chougun-chahgun-atgun.

Paachpalli in Teentaal

Taka Taka Taka Dhine |

X

Ghid naga Dhine Taga |

2

Takghi DaSna Dhatraka Dhikita |

0

Kataga Digana Nagana ganana |

3

Dhiradhira Dhiradhira Ghidanaga Dhinataga |

X

TakghidaSna Dhatrakadhikita Katagadigana

2

DhaSSkatS |

Dhiradhirakitatak TaaStirakitataka

0

TaaSSSkitataka Dhiradhirakitataka |

TaaStirakitataka TaaSkitataka

3

Dhiradhirakitataka TaaStirakitataka |

DHA

X

g) Gats with repetitive pharses: The Gats in which a phrase is repeated twice, thrice or four times and forms one set respectively. The nomenclature of gats is done as per the number of repetitions of the phrase. A given set is repeated till the last beat of the Taal in one, two or three cycles of taal.The composers must have put adequate thought into theprocess of calculation so that the composition completes itself before the Sum of the Taal. There is no Tihai in this composition. A few variations are as follows:

i) Dudhari – A phrase is repeated twice and forms a set. This set is repeated for the entire cycle of the Taal.Dudhari can be composed in Tisram or Chatusram in one or more than one avartan.

Dudhari in Teentaal (Tisram)

Dhagena Dhagena Takita Takita |

X

Dhatraka Dhikita Dhatrak Dhikita |

2

Kataga Digana Kataga Digana |

0

DhaStirakita DhatiS DhaStirakita DhatiS |

3

DHA

X

ii) Tidhari -A phrase is repeated thrice and forms a set. This set is repeated for the entire cycle of the Taal.

Tidhari in Teentaal

Dinadinadina Dhagenadhagena Dhagenatakita

X

Takitatakita |

Dhadagenadhada Genadhadagena

2

Takadhinataka Dhinatakadhina |

Takatakataka Tinatinatina Taakenataakena

O

Taakenadhatraka |

Dhinnagdhatraka Dhinnagadhatraka

3

Dhinnagaghenaga ghenagaghenaga |

DHA

X

iii) Choudhari - A phrase is repeated four times and forms a set. This set is repeated for the entire cycle of the Taal.

Choudhari in Teentaal

DhaDha DhaDha DinDin DinDin |

X

NaaNaa NaaNaa DhagenaDha genaDhage |

2

naDhagena TakitaTa kitaTaki taTakita |

O

DhaStirakita DhaStirakita DhaStirakita

3

DhaStirkita |

DHA

Findings and Conclusion :

The Gat is such a unique composition and innumerable features can be drawn out of it. The reason behind this is the fact that the composition is a derivative of not only a technical thought, but it is also been inspired by Nature and its Aesthetics. We have seen

several kinds of gat in this article. The remarkable feature is that the phrases / syllables used in the gats are distinct and specially composed. We have also seen that owing to its repertoire, a special presentation on 'Gats' of Tabla can be showcasedby the artists, preferably as an ensemble. Variation in Laya, pauses, emphasis on certain phrases and modulation are some of the important features of a Gat. The language of thegat is closely connected to the elements of Nature and hence it is the most creative and aesthetic composition of Tabla. The composition brings out the best potential of an artist in terms of his imagination and expression. Gat is a special composition which is not like the Tukda or the Paran or the Kaida or the Rela, but has the features of these compositions. Yet it is different from these compositions.

References :

https://www.tablalegacy.com/gat

Unique Tabla Gats – Dr. S R Chisti

Misra, Chote Lal. *Taal Prabandh*. New Delhi: Kanishka Publishers, 2006.

Misra, Chote Lal, *Playing Techniques of Tabla* – BenarasGharana New Delhi: Kanishka Publishers, 2007.

Saxena, Sudhir Kumar, *The Art of Tabla Rhythm*. New Delhi: D K Printworld (P) Ltd., 2006

Mayankar, Sudhir, *Aesthetics of Tabla*. Mumbai: Saraswati Publications

Performing Arts between Tradition and Contemporaneity
(with special reference to teaching learning in Bharatanātyam)

Dr. Shobha Shashikumar** **Deepthi Radhakrishna***

Abstract

Dance and Music in India were a form of worship, an artistic surrender to the lord in the temples, thereafter moved into the court and furtherhas been nurtured by the royal patronage. Dance (with many names like Sadir, Kelikai etc.) saw its zenith during the period of Royal patronages and experience a dark phase as a consequence of the colonial rule and was finally re-invented as "Bharatanātyam" post 18th century (Women of Pride, Page 117). The cultural taboo towards Dance generated post Islamic rule and colonialisation found a progressive path with the efforts of visionaries and activists like Ananda Coomaraswamy, E Krishna Iyer, Bengaluru Nagaratnamma, Rukmini Devi to name a few.

Hence, having its roots from a highly ritualisticrich temple tradition, Bharatanātyam now acquired its independent identity as a stylised off-shoot from this deep - rooted temple tradition.

Bharatanātyam is an evolvingdance form which has been able to adapt itself to almost every genre of literary and cultural change and has been an integral part of representation of Indian classical arts on the modern-day proscenium stage. But a common thread in this process of evolution is the presence of a Guru/ Mentor in the learning process. A Guru who plays the role of transcending his/her knowledge to many generations of disciples through oral tradition.

Key words: *Bharatanātyam, Guru Śiṣya Parampara, Oral tradition, Bani, Values, Culture*

Methodology: *This research paper is an analytical study which attempts to provide an overview of the significance and relevance of Oral tradition in Indian arts and analyse the transition in the pedagogy of Bharatanātyam Dance form as a performing art since its start to today's institutional training.*

Objective: Study and Analysis of the Guru Śiṣya Parampara then and now with an overview of evolution of Bharatanātyam as a performing art on the modern proscenium stage.

Analysis :

Oral tradition, also called **orality**, the first and still most widespread mode of human communication. Far more than "just talking," oral tradition refers to a dynamic and highly diverse oral-aural medium for evolving, storing, and transmitting knowledge, art, and ideas. It is typically contrasted with literacy, with which it can and does interact in myriad ways, and also with literature, which it dwarfs in size, diversity, and social function.(Britanica)

With respect to Indian classical arts, A disciple who is bound to oral tradition of learning, learns a master's art and artistry with a commitment to continue to retain and recreate the essence of a master's style, tradition and creativity to be passed on to many generations.

This paper attempts to explore few significant channelsthrough which the blend of tradition and contemporaneity can be observed

*Department of Performing arts, Jain (Deemed to be) University, Bangalore.
**Adjunct Faculty, Department of Performing arts, Jain (Deemed to be) University, Bangalore.

in the field of performing arts (with special reference to Bharatanātyam) and to analyse the pros and cons of this blended system. Hence, the analysis is carried out based on two parameters:

(a) Evolution of teaching and learning in Bharatanātyam :

Bharatanātyam as a dance form has been practiced and passed on through generations since its birth with the strong foundation laid by **Guru Śiṣya Parampara.** An artiste who transforms himself into a teacher with his artistry and culture justifies his artistic existence by imparting his knowledge in the form of tradition/Bāṇi (Style).

''आदि–गाथातत्वाहासिषययोहितयोजातहासततम''

'Adi-gathatatvahasishyayohithayojathahasathatam'

(Adi Shanakaracharya)

"ŚrīŚankara is the Guru who understood the tatva ('Adi-gathatatvaha'), which makes us 'sishyayo', meaning students, seeking this knowledge for 'hithayo' meaning our upliftment, for which ŚrīŚankara is composing this Stotram to make Sriman Narayana and ŚrīLakṣmī proud".

In a spiritual practice, A Guru goes beyond the technicality in art and influences a disciple in life by being a practitioner of art based on values and ethos. A disciple who acquires the ability to surrender himself physically and mentally equips himself to be a Śiṣya who represents the tradition of the Guru. This continues tradition bound evolution of art can be an interpretation to describe the Guru-Śiṣya Parampara. In Bharatanātyam learning too, A disciple,in the framework of Guru Śiṣya Paramaparabound to "Śiṣya Vrtti" would get trained in artistry and learn ways of life from his Guru too. The very essence of this kind of learning was complete surrender to the Guru in every sense which would prepare a disciple to organically absorb and assimilate a Guru's style in various facets. It would not be an exaggeration to compare this kind of tutelage to "Bhakti".[1] (Archanam, Pādasevanam, Dāsyam are a few forms of Navavidha Bhakti) which can be considered an organic part of Guru Śiṣya Parampara.

Natuvanars of the Devadasi clan took the position of Gurus to continue the tradition of transcending this art form. Vazhoor Ramayya Pillai, Tanjavur Kittappa Pillai, Pandanallur Meenakshi Sundaram Pillai, Jatti Thayamma, Kolar Puttappa etc. have transcended the style and genealogy of Bharatanātyam as a dance form through their respective Banis to many generations which are still represented by their Śiṣyas like Bhanumati, Sudha Rani Raghupati, Dr. Mala Shashikanth respectively. This tradition of Guru Śiṣya Parampara in Bharatanātyam has been a pivotal aspect for its existence and evolution as a Dance form.

With time, this rooted oral tradition in Indian classical arts as a whole and the practice of Guru-Śiṣya Parampara too has evolved.

The establishment of independent Dance schools in different parts of the country (unlike the Gurukula) have enabled wider reach of this art form catering to both quality and quantity.

Few instances: Established Dance institutions all over India.

Further, Teaching and learning of Dance started getting transformed from being a completely personalised approach to a more professional approach with the inclusion of Pedagogy in Indian classical arts into a more structured framework of Institutionalisation.

"The continuation of Guru Śiṣya Parampara fitted in the structure of a course was initiated in different parts of the country by the establishment of institutions like Santiniketan,

Kerala Kalamandalam, Nalanda to name a few" (Traversing Tradition, Sunil Kothari, Page 22).

In addition, Sunil Kothari also mentions in the book Traversing Tradition that "Kalakshetra is one of the foremost institutions which developed a curriculum based on the traditional vocabulary of a dance form, restructuring it to fit the framework of institutional requirements of teaching a dance form."

The Kalakshetra foundation established by Rukmini Devi in 1936 (one of the fore runners of re-invention of Bharatanātyamas a Dance form) has proven to beone of the pioneers for institutionalisation with respect to Dance and Music which has maintained high standards in blending pedagogy of Dance and Music with changing times and also extending the training to allied disciplines of Dance like Costumes, lighting, choreography etc which equips a student to choose art as a profession too.

It is relevant to mention the words of Rukmini Devi here :

"To be a real creative artiste, both emotion and intelligence are necessary". (Sunil Kothari, Page 28).

"Rukmini Devi was well aware of the importance of Guru Śiṣya Parampara. She was a "Deerghadarsi". She realised that in times to come, it might not be possible for seekers of knowledge to go to the Gurus and she started the reverse process of inviting great Gurus to her Gurukulam, The Kalakshetra"- C.V. Chandrasekhar (Rukmini Devi Arundale, A builder of institutions, Page 91).

This vision of Rukmini Devi as described by CV Chandrasekhar does prove that the Gurukula system envisioned by Rukmini Devi also ensured a completely focussed learning of students with a strong conviction to learn Art for Art- sakefitted into the framework of professional course.

Introduction of Dance in Indian education system by Rabindranath Tagore (Traversing Tradition, Dance Scholarship and future- Kapila Vatsayana, Page 12) post-independence has led its way to inclusion of classical arts in School education too. NCERT encouraged all Education institutions in India to incorporate Art including Dance and Music as a part of the curriculum in schools in the name of Art education. This inclusion helped in initiating children to Dance at a young age more as a skill which might encourage them to take serious learning of Art in the later years.

Govt recognized certification in Music, Dance and Drama was first introduced by KSEEB which may be considered to be the path which led its way for inclusion of performing arts into universities.

Further on, Institutionalisation in India has also led its way to universities where Dance and Music is considered as a medium to acquire a professional degree. Inclusion of Dance into the medium of a professional course traces its way back to the initiative taken by the University of Mysore in the year 1971[2]. This progress welcomed many students to become in-depth seekers of knowledge and formally opened a whole new area of research -based learning in Dance and Music too. Further, many other universities have included the department of performing arts as a continuation of hope and academic progress in Performing arts. The inclusion of Dance and Music in Universities have also widened the scope of employability for artistes with stability.

The most recent need and challenge is the digital era in teaching and learning of Bharatanātyam too. Nevertheless, Online mode of instruction has also gloved itself as another mode of teaching and learning of this traditional dance form that had been bound to oral tradition only.

(b) Bharatanātyam as a Performing Art :

Considering the timeline from where Bharatanātyam had entered the proscenium stage (19^{th} to 20^{th} century) where the intimate, private performing space was replaced by auditoriums, Bharatanātyam had emerged as a dance form which incorporated changes in all the aspects of executiontailored to the needs and ideologies of contemporaneity.Few significant aspects to justify the above observation:

1) The systematic progression of capability and depth of dancer incorporated in the traditionalMārgam (which follows Prthagartha format) has been Adaptingitself to the changing times considering practical challenges like duration of a performance, attention span of the audience and scope for exploration for a dancer.
2) Exploration and presentation of Nṛtya through a group presentation.
3) Gradual exploration from a Mārgamto thematic performances. (Ekartha-Prthagartha – Ėkārtha)**3**. This shows the organic influence of Natya in Nrtya which is more pronounced in characterisation
4) Practical shift from Live orchestra to pre-recorded music.
5) Upgradation in aspects of Ahārya (Costumes, lighting, sound etc.)
6) Exploration through research - based productions in the recent years.
7) Increase in Dance festivals and performance-based organisations
8) Social media being a useful tool for a performer.

(c) Possible Challenges to strike a balance between tradition and contemporaneity in the form of Bharatanātayam:

The first change is the role of a Śiṣya-Disciple- student as years have passed by.

1) Incurrent scenario, considering independent dance institutions, a teacher has a challenging responsibility to channelise his/her students to acquire an ability to understand the pros and cons of this Dance form being a performerin a more qualitative sense with constant quest to learn. On the other hand, Students also have a challenge to internalise the concept of striking a balance between their intelligence and humility while learning this beautiful art form.
2) Dance education in schoolswhich is more oriental in naturemightget Dance being limited to a skill development activity than a deep- rooted art tradition.
3) Inclusion of Performing arts in the main stream academia might bring in an administrative need to be treated and handled on par with other technical and professional courses.
4) Being a practitioner and a performer is mostly driven by passion than being a profession. Hence a conflict might rise in case of unpaid opportunities or pay to perform scenario.
5) Dance being a visual medium of expression provides a sense of liberty for an artiste to explore and execute. A conscious awareness and understanding of Lakshya and Lakshana is necessary to explore one's artistic libertythrough a Classical artform like Bharatanātyam. Eg: Santhana Dharmic values to be understood and seen with thorough poetic vision.
6) Vigilant and ethical use of social media.

Conclusion:

Though there can be no element of doubt that there has been a continuesprocess of upgradation in teaching and learning that has

played an integral role in the existence and evolution of Bharatanātyam as a performing art form in today's world, it is necessary and relevant to have a sense of responsibility to adapt to the changing times by being aware about the value system provided by the Oral tradition while playing the role of teacher or a student. Pros of institutionalisation can be fruitful only when the cons are handled with utmost awareness and vigilance. A performer has a hard task to strike the right balance between passion and profession. Contemporaneity can be a mode to facilitate the identity of a performer's work constructively than being a mere tool of projection and publicity.

The most wonderous aspect is that time and again, amidst many paradoxes and conflicts which have existed during all times in different forms, Bharatanātyam as a dance form has continued to evolve and elevate the human race till date.

References:

1. *'Sa tvasminparampremarupa' –bhakti* is of the nature of perfect love for the lord devoid of any personal desires or external motives and conditions. (Nārada Bhakti Sutra).
2. Univerity of Mysore:

   https://www.google.com/url?sa=t&rct=j&q=&esrc=s&source=web&cd=&cad=rja&uact=8&ved=2ahUKEwi7zrmpu8yAAxVlcWwGHUS6BsQQFnoECAwQAQ&url=http%3A%2F%2Fwww.uni-mysore.ac.in%2Fenglish-version%2Funiversity-college-fine-arts&usg=AOvVaw0kL9_cKr4EythjkXs5kAHM&opi=89978449
3. Prthagartha- Multiple theme presentations, Ekārtha- Single theme presentations)

Bibliography :

Burridge, stephanie. (2011). *Traversing Tradition: Celebrating Dance in India. – Traversing traditions* . The Routledge India Original.

Krishnarao U S, M.S.C, Chandrabhagadevi. (1956).*"Aadhunika Bharatadalli Nrtyakale"*, Karnataka Publishinh House Press.

Vishwanathan Lakshmi. (2014).*"Women of Pride – The Devadasi Heritage,* The Lotus collection. 2nd Ed., Rele Kanak. (2009).*"Bhava Niroopanna",* Nalanda Dance Research Centre.

Koushik V S. (1981) "Bharatanatya Digdarshana", Sanatana Kalakshetra, Banagalore. Web sources:

National focus group on Arts, Music, Dance and Theatre journal, NCERT. March 2006. https://www.google.com/url?sa=t&rct=j&q=&esrc=s&source=web&cd=&ved=2ahUKEwj-gpiBzb79AhX60XMBHb0CBJ4QFno ECA4QAQ&url=https%3A%2F%2Fncert.nic.in%2Fpdf%2Ffocus-group%2Fart_education.pdf&usg=AOvVaw0fT0RaXDwRcNzhuC-XK3cv

Kalakshetra Foundation. https://www.kalakshetra.in/college/rdcfa/

Nagarakar Samarth, Prakash Mythili. *Guru Śiṣya Parampara, TÊTE-À-TÊTE*. 2020 https://www.youtube.com/watch?v=z9HrUldMFbU

Adi Shankara, Gurubhujangastotram, https://sanskritdocuments.org/doc_deities_misc/gurubhujaNgastotram.html

Sujatha , *Bharatanātyam: The Vazhoor tradition*, Kalakendra Series. 2022 https://www.youtube.com/watch?v=AieZzXpHNgQ

Laxman Kamala. *Bharatanātyam: Documentary on Kamala Laxman*, Classical Dance. 2022 https://www.youtube.com/watch?v=5I778XkDvHg

Pillai Kittappa. *"Documentary on Tanjavur Bani of Bharatanātyam by Guru Kittappa Pillai*", Vaak.2021 https://www.youtube.com/watch?v=h1gI5EFvFeI

Khokar M Ashish. "Bani's (Schools) of Bharatanātyam, Vidya Mitra. 2016 https://www.youtube.com/watch?v=OXo1QckahgU

Shah Parel, "Institutions of Bharatanātyam" Vidya Mitra. 2016 https://www.youtube.com/watch?v=qM9PpNMiUdI

Khokar M Ashish. "Gurus of Bharatanātyam", Vidya Mitra. 2016 https://www.youtube.com/watch?v=SrbLYdhFz5E

https://divyapracharam.wordpress.com/2014/08/06/navavidha-bhakti-the-9-forms-of-devotion-to-attain-the-supreme-lord/

https://www.firstpost.com/living/from-temples-to-royal-courts-and-the-proscenium-stage-a-social-history-of-indian-performance-spaces-7440461.html - Sammithasreevathsa

https://narthaki.com/info/articles/article78.html - Geetha Chandran

https://www.thehindu.com/entertainment/dance/dance-in-the-digital-era-how-to-handle-the-challenges/article66266866.ece - The Hindu

Manobodha Chautisa :

A magnificent literary composition by the eminent Bhakta Poet, Sri Bhakta Charan Das of Odisha

Dr. Bilambita Banisudha*

Abstract

'Manobodha Chautisa' is a composition of symphonic poem type performed by artists who use a sophisticated set of prosodic schemes with additional melodic components. The genre is patronized by local elites and admired by connoisseurs, and it belongs to the "intermediate domain" of regional genres that share characteristics of both classical and folk music. Although it flourished actively in the 18th century in the state of Odiśā, this article reviews its formal qualities and its role in Odiśī, culture, and the broader group of uḍramgadhi genres. 'Manobodha Chautisa's composition includes a song for each letter of the alphabet, and each stanza begins with that letter. As a result, every piece of writing necessitates a high level of literary proficiency. The artist's clever use of the alphabet preserves the song's lyrics and, as a result, its verse rhythm. The work of art 'Manobodha Chautisa' by Bhakta Kavi Bhakta Charan Das is well-known for its magnificent compositions. Bhakta Kavi Bhakta Charan Das 'Manobodha Chautisa" 's work contains Odia and Sanskrit structures, and the Odia component is credited with establishing his abstract stature in the language. The most important goals in singing, Manobodha Chautisa with a special focus on the presentation and mode, are the presentation of a certain raga and the improvisation of its melodic structure. To trace and examine specific occurrences, pre-audio recordings, textual sources from numerous treatises, and live concerts will all be explored.

Keywords: *Manobodha Chautisa, Bhakta Kavi Bhakta Charan Das, Odia, folk music, uḍramgadhi.*

Research Methodolgoy : *This research piece is theoretical and employs a technique that incorporates the examination of existing literature and historical research approaches. The findings of this study are presented in the form of a conclusion. The use of secondary data sources is exclusive to the analysis that was carried out in this study. The secondary data were collected from a variety of public and unpublished sources, including government departments and individuals. In addition to this, secondary data were collected from various sources such as manuscripts, research reports, research papers, journals, and books. These secondary data were used to supplement the primary data. Both empirical and descriptive research approaches were taken for the study that was carried out for this work. The assessment of historical treatises, books, and other published materials such as articles, journals, and theses are all part of the field of textual criticism. The study methodology consists of a variety of different approaches, such as historical methods, axiological methods, and the analysis of recording carried out through the use of manual means.*

Introduction

The Hindu philosophies of Vairagya, Gyana, and Bhakti contain a variety of works written by prominent authors such as Adi Sankar. Some of these works include Bhaja Govindam, Bhatruhari's Vairagya Satakam, Vyasa's Srimad Bhagavatam, the Mahabharata, Srimad Bhagavad Gita, and Tulsi Das's Sri Ramacharita Manas. These books have had a tremendous effect on profound scholars, pundits, and devotees alike, and their ideas have resonated with them. (Index of Orissa Review. (n.d). https://magazines.odisha.gov.in/Orissareview/jan-2007/engpdf/68-80.pdf, 2007)

*Associate Professor, Department of Music vocal School of Professional Studies, Sikkim University

The 'Manobodha Chautisa,' which was written in Oriya by Bhakta Kabi, Bhakta Charan Das, has had a tremendous influence not only on people who are illiterate but also on those who are literate, as well as on those who have a restricted level of literacy, across the entirety of the state of Orissa. A greater number of people in the general public are now aware of the transient nature of worldly traits such as fame, riches, bodily shape, and appearance, in contrast to the eternal nature of the divine name, which is highlighted in this famous piece of art. (Das, 2022 IJCRT | Volume 10, Issue 3 March 2022 | ISSN: 2320-2) Previously, before the establishment of the school system in Chatasali-s, students would remember and recite the ManobodhaChautisa with exactness and in unison, a practise that was analogous to the conventional Gurukula style of instruction. The recitation and study of ManobodhaChautisa made it easier for young children to develop a religiously devoted attitude. As a result, these children were more likely to continue a religious way of life that included devotion to God and the singing of his name, even while they were engaged in other activities throughout the day. Instead of being orientated towards worldly goals, the cognitive attention was diverted towards a heavenly entity. This was done to emphasise the importance of spirituality. The poem begins by including each alphabet that is used in the Oriya language, and it ends by using almost all of the alphabets that are used in the Oriya language. The content has been written in a basic manner using terminology that is typically utilised in common speech. (Jena, 2005)

Manobodha Chautisa is a renowned literary and philosophical work in the Odia language, and it is often attributed to the Bhakta Poet Sri Bhakta Charan Das. This text is a collection of thirty-four verses that delve into various aspects of human psychology, emotions, and spirituality. It is considered a significant contribution to the Bhakti movement in Odisha, India. The text primarily focuses on the human mind and its intricacies, emphasizing the importance of self-realization, devotion to the divine, and the pursuit of inner peace. Manobodha Chautisa is revered for its profound insights into the human condition and the path to spiritual enlightenment. (Text of Bhakta Kabi Poet Sri Bhakta Charan Das and His Work...., 2018) The work is highly respected in Odia literature and is often studied and revered by scholars, spiritual practitioners, and enthusiasts of Bhakti poetry. Bhakta Charan Das is celebrated for his poetic and philosophical contributions, and Manobodha Chautisa is one of his most notable creations. The Hindu philosophies of detachment, knowledge, and devotion, have played a vital role. Adi Sankar's works, especially Bhaja Govindam, Bhatruhari's Vairagya Satakam, Vyasa's Srimad Bhagavatam, Mahabharata, and Srimad Bhagavad Gita, and Tulsi Das's Sri Ramacharita Manas are true examples of defining Indian philosophy. The 'Manobodha Chautisa' written in Oriya by Bhakta Kavi Bhakta Charan Das has exerted the same or even greater influence among the illiterate, literate, and semi-literate common people of Odisha, making them aware of the immortality of God's name and the transience of otherworldly names, fame, wealth, bodies, and appearances, etc. Before the school system was established, students would memorize Manobodha Chautisa and recite it in a choral way, akin to Gurukula. The singing and study of Manobodha Chautisa instilled a right religious bent in young children, motivating them to follow the religious life, devotion, and chant God's name. (ibid) Instead of materialism,

they concentrated on God. The poem begins and ends with the Oriya alphabet. It's written in plain language with phrases used in common speech, is thought-provoking and piercing to the mind, and depicts universal truth to be imprinted in children, youths, and elders' conscious, subconscious, and superconscious minds. It teaches life management, and character." Barnabodha" is a book of traveling poems written in Oriya by Bhakta Kabi Madhusudan Rao. Bhakta Charan approaches the subject gradually, methodically, and step-by-step. This immortal work is written in Oriya, but it hasn't been translated to attract other readers. (...magazines.odisha.gov.in)

In "Manobodha Chautisa" the poetic masterpiece, deeply rooted in the devotional and philosophical traditions of India, presents a profound exploration of the human psyche, spirituality, and the divine connection. This research paper aims to introduce and provide insights into the significance and impact of "Manobodha Chautisa" within the realm of Bhakti literature. Bhakta Charan Das, a prominent figure in the Bhakti movement, is celebrated for his poetic prowess and spiritual depth. "Manobodha Chautisa", often hailed as one of his seminal creations, is a 34-verse composition that delves into the intricate dimensions of the human mind, soul, and relationship with the divine. The verses are written in a lyrical and melodious manner, drawing readers into a contemplative journey of self-discovery and devotion. In this research paper, the historical and cultural context of Bhakti literature in India will be explored, emphasizing the essential role played by Bhakta Charan Das within this tradition. We will delve into the life and times of the poet, shedding light on the socio-religious milieu in which he lived and composed his works. An examination of his biography is crucial to understanding the motivations and inspirations behind "Manobodha Chautisa." The central focus of this research paper will be a detailed analysis of the content and themes found within "Manobodha Chautisa". We will explore how the poem addresses fundamental questions about the nature of the self, the pursuit of spiritual enlightenment, and the path of devotion. The verses offer a unique blend of poetic aesthetics and profound philosophical insights, making it a valuable contribution to both literature and spirituality. Furthermore, this research paper will examine the influence of "Manobodha Chautisa" on subsequent generations of poets, scholars, and spiritual seekers. We will discuss how the poem has been interpreted, translated, and revered within the Bhakti tradition and beyond, emphasizing its enduring legacy. This research paper seeks to illuminate the significance of this literary gem, its historical context, and its enduring impact on the world of devotion and literature. By delving into the depths of this poetic masterpiece, we hope to shed light on the profound wisdom it contains and its significance in the broader spectrum of Indian religious and literary traditions.

Objective

The purpose of studying "Manobodha Chautisa" would be to gain a deeper understanding of its content, its significance in the context of Bhakti (devotional) literature, and its potential impact on the spiritual and philosophical thought of the time. A research paper on "Manobodha Chautisa" might have several objectives, including Textual analysis of the verses of "Manobodha Chautisa" in terms of language, style, and poetic elements used by Sri Bhakta Charan Das. This analysis can help shed light on the literary qualities of the text.

Philosophical and Spiritual Themes will explore the philosophical and spiritual themes present in the text. This might include the concept of devotion (bhakti), the relationship between the devotee and the divine, and the pursuit of spiritual realization. The Historical and Cultural Context of "Manobodha Chautisa" in its historical and cultural context, considering the social and religious milieu of the time when it was written will have an impact on subsequent Bhakti literature and its role in shaping religious thought and practice. Comparative Analysis of "Manobodha Chautisa" with other devotional texts, both contemporary and earlier, to identify similarities and differences in their themes and approaches. This will delve into the life and background of Sri Bhakta Charan Das, the author of the text, to better understand the motivations and inspirations behind his work. Overall, the purpose of studying "Manobodha Chautisa" through a research paper would be to contribute to the academic understanding of Bhakti literature, philosophy, and the cultural heritage of the region where this text originated. This kind of study can provide insights into the intellectual and spiritual traditions of the time and their enduring significance.

Like a mirror, a composition shows the whole picture of the songs. It shows and keeps its features, such as its ascending and descending notes, its dominant notes and other sub-dominant notes, its complexities, and its unique note combinations, such as svara-sagati, etc. The different ways a raga can be put together show the many different ways it can be played. Even though there are a lot of song texts in the form of a collection of Persian, Sanskrit, and regional texts. The goal of the research is to study the lyrics of songs sung in the style of 'Manobodha Chautisa'. This includes analyzing the lyrics and the way the songs sound. It will try to track down and analyze several cases using pre-audio recordings, written sources from different treatises, and live concerts.

Historical Background

Bhakta Kavi Bhakta Charan Das was an Odia artist, prominent author, and artist of Odissi music. He wrote in both Sanskrit and Odia. His works are known for the reverential remainder. His perfect work of art 'Manobodha Chautisa' is a composition of symphonic poem type performed by artists who use a sophisticated set of prosodic schemes with additional melodic components. He was born in Raja Sunakhala khorda, Odisha.The study article titled "Manobodha Chautisa" examines the noteworthy contributions of Sri Bhakta Charan Das, a revered Bhakta Poet. To establish a historical foundation, it is imperative to comprehend the contextual backdrop and the poet's significance concerning this piece of work. Bhakta Charan Das emerged as a notable poet and spiritual luminary within the Bhakti movement in India, a religious and cultural phenomenon that places utmost significance on the cultivation of devotion towards a certain divine entity as a means to attain spiritual enlightenment. The individual resided throughout the latter half of the 19th century and the first years of the 20th century within the geographical boundaries of the Indian state of Odisha. (Jena, 2005). Bhakti movement originated in ancient India and became significant during the medieval era. The primary objective was to surpass the limitations imposed by caste and religious divisions while advocating for the cultivation of devotion towards a personal deity as the pathway to attaining redemption. Bhakta Charan Das, a poet and devout follower of Lord Jagannath, a god held in great reverence within the region of Odisha.

The individual in question was renowned for his profound dedication, profound spiritual discernment, and exceptional aptitude in the realm of poetry. The Bhakti tradition exerted a profound effect on his life and artistic output. "Manobodha Chautisa" represents a significant contribution by Bhakta Charan Das. The work comprises a compilation of thirty-four devotional songs, commonly referred to as "chautisa-s," which serve as a means for the author to convey his deep affection and reverence for Lord Jagannath. The songs exhibit a substantial amount of symbolism and imagery, effectively capturing the poet's individual encounters and spiritual progression. The cultural and geographical significance of Bhakta Charan Das and his work in Odisha is substantial. The devotional works created by him persistently endure as objects of veneration and are performed across the state, particularly during religious festivities and rites linked to Lord Jagannath. The enduring impact of Bhakta Charan Das is evidenced by the continued inspiration his devotional songs provide to spiritual seekers and devotees throughout generations. He is widely regarded as a highly esteemed person within the Bhakti tradition of Odisha. The primary objective of the research article titled "ManobodhaChautisa" is to provide a comprehensive exploration of the life, works, and influence of Bhakta Charan Das. This study intends to illuminate his significant contributions to the Bhakti movement and the rich cultural and spiritual history of Odisha. Additionally, an examination of the meaning of "ManobodhaChautisa" within the realm of Indian literature and devotional poetry might be undertaken.

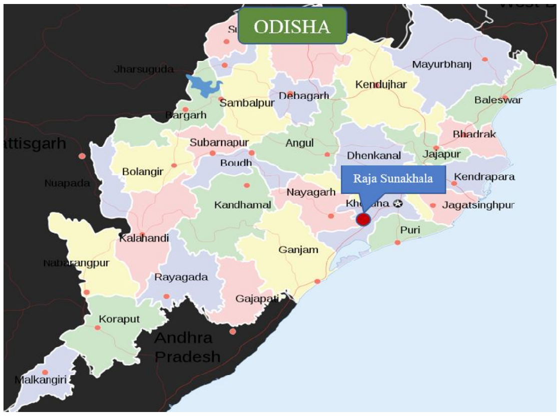

Fig 1- Raja Sunakhala, Odisha

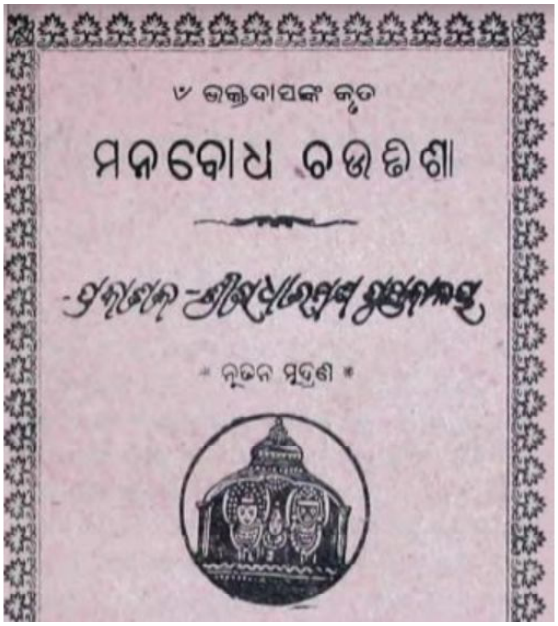

Fig - 2

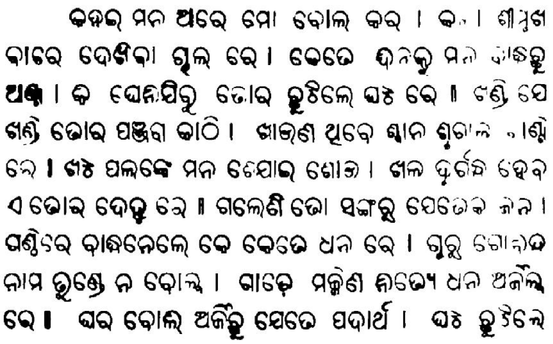
ଭଜର୍ ମନ ଅରେ ମୋ ବୋଲ କର । କ । ଶ୍ରୀମୁଖ
ବାରେ ଦେଖିବା ମୂଳ ରେ । ଭେଟେ ଧନକୁ ମନ ...କରୁ
ଅଣ୍ଣ । କ ଯେଉଁଗିରୁ ତୋର ଛୁଟିଲେ ଘଟ ରେ ॥ ... ଯେ
ଖଣ୍ଡି ତୋର ପଞ୍ଜରା କାଠି । ଖାଇଣ ଥିବେ ଶ୍ୱାନ ଶୃଗାଳ ...ଣ୍ଟି
ରେ । ଖଟ ପଲଙ୍କେ ମନ ଯୋଉ ଶୋଇ । ଖଳ ଦୁର୍ଗନ୍ଧ ହେବ
ଏ ତୋର ଦେହରୁ ରେ ॥ ଗଲେଣି ତୋ ସଙ୍ଗରୁ ଯେତେକ ଜନ ।
ଗଣ୍ଠିରେ ବାନ୍ଧିନେଲେ କେ କେତେ ଧନ ରେ । ଗୁରୁ ଗୋବିନ୍ଦ
ନାମ ତୁଣ୍ଡେ ନ ବୋଲୁ । ଗାଢ଼େ ମଣ୍ଡଣ କାର୍ଯ୍ୟ ଧନ ଅର୍ଜିଲୁ
ରେ ॥ ଘର ବୋଲି ଅର୍ଜିଲୁ ଯେତେ ପଦାର୍ଥ । ଘଟ ଛୁଟିଲେ

The form and structure of 'MANOBODHA CHAUTISA'

Kahai mana āremo bola kara
Kalā úrimukhavaredekhibachāla re
Kete dinaku mana bandhichhuāGta
Ki ghenijibutorachhutileghata re .....

In a nutshell, 'Manobodh' means 'to entice the mind properly' and 'to accept some thought without reluctance.The poet encourages the audience to take a look at Lord Sri Jagannath's dark face because life is short and nothing will be left of a man's body when he dies.After he dies, he will be eaten by jackals and vultures since the body he wears and sleeps on is a feast for them.The dead body will emit a foul odor.Many of your familiars have already passed away, yet none of them was able to take even a speck of dust, much alone any other important riches, with them.Instead of reciting the names of Guru and Govind in devotion, you are focused on accumulating wealth. After your death, you will no longer possess the aforementioned property, including everything you've earned and stored in the form of a house or within the walls of a house. After death, you will only be accompanied by the name of God.You may be convinced that everything is yours, but when you die and cease to exist, no one will be yours.(Sanyal, 2021) Like a palanquin used to transport a beautiful young girl, your insides hold a sacred altar on which the all-pervading, intangible God has been placed. Unless you devote yourself to the service of the Sadguru and worship and recall the name of Govind, you will be tricked and repent at the time of death. When you invoke Govind's name, all of your worries and anxieties will vanish. Since the beginning of time, God's ears have been trained to hear your cries for help. He is like a boatman who checks back to see if anyone else wants to join him before he sets out to cross the river in his boat. There is nothing beautiful about a body that is covered in a thick layer of skin. When you're in this state, your body feels like a drum that's been hollowed out. When a person dies, his or her body's materials will be considered trash and thrown away. If you do good deeds in this life, you'll be rewarded with the same good deeds in the next.When you're on your deathbed, you have nothing to lose by giving generously to charity. Breathless and then lifeless will set in. You'll have to deal with God of Death's lair, and you'll suffer greatly as a result. This wealth, which you claim to have earned, is yours solely because you claim to have earned it. But in reality, your body does not belong to you after death, and this is a fact. Many of your friends and family members have died. Still, you believe that your body will never expire and that you will be able to enjoy your wealth for eternity. (Text of Bhakta Kabi Poet Sri Bhakta Charan Das and His Work...., 2018) This is a completely erroneous belief that you've developed over time. Many of the world's most illustrious kings have indeed come and gone. None of them were able to enjoy their wealth indefinitely. In the end, the parasites will get their hands on your hard-earned money and savings. After your death, they will build their homes on your land. You're more concerned with accumulating money than you are with praising Guru and Govind. Everything you've acquired and stored in the shape of a house or within the walls of a house will be lost to the estate after your death. Many diseases have their roots in the human body. It's only a matter of time before you're back to your old self. Nobody has the power to keep you safe or even slow down the clock on your demise. Yama's attendants will punish you in the Lord of Death's dwelling once you die. Piety and immorality can

be distinguished by your conscience, but you do not practice it. You set out to amass wealth even though you committed wrongdoing in the process. This is a worldly shackle that you will be unable to escape if you are determined to engage. Piety drives the world. Sinning will bring shame to your name, therefore avoid it at all costs. You'll end up in hell for your sins, where you'll suffer an eternity of torment.There isn't a second in which you're using your tongue to say, Hari. You're participating in something that will ultimately lead to the demise of your life's mission. You spend your time and energy on short-lived matters. As the sun rises in the morning, the lotus-eyed God pervades your entire body. You are protected by His grace. Fix your thoughts on the Lord's lotus feet. There's still time to make alterations to your daily routine. If you're like a flower that gets blown around by a strong wind and loses its identity, it's because you're not spending enough time remembering the Lord. You should not voluntarily bind the knotted rope over your neck and attempt to hang yourself. You are urged repeatedly not to engage in the activities of this world, to protect yourself from the agony of hell, by turning your mind to God in time so that you will not be able to repent in hell. A Sadguru should guide you from the beginning in your devotion to God. You take it for granted that nobody can cross the vast ocean when the boat is in broken and leaking condition. To be strong, you need to rely on God's flawless protection. Sincere and devout thoughts bring God closer, while non-devotional thoughts push Him further away. We waste our time and energy on meaningless activities like fantasizing and daydreaming. People will refer to you as "dead" when you die. You tell others to die, but you'll die one day, too. Once a creature is born into the world, it will very certainly meet its demise. Chant Sri Hari and keep him in mind if you want to maintain your good name. You reflect on Lord Sri Jagannath's greatness as you watch his bondage from Yama's side. The world's ocean appears beautiful from the surface, yet its dark depths are teeming with horrors. Never put your faith in a person's outward appearance, because neither the monarch nor his subjects will last forever. You see and hear it every day in your vision and your hearing. (Index of Orissa Review. (n.d). https://magazines.odisha.gov.in/Orissareview/jan-2007/engpdf/68-80.pdf, 2007) Even yet, you're tempted to amass material money in whatever way you can. Temptation leads to failure. If you want another life, you can't have human life.Indulging in worldly materialism is a waste of a once-in-a-lifetime human birth. To put it another way, you won't get anything out of this, not even a little extra profit. For this reason, recite Sri Krushna's name; serve Him; concentrate on His lotus feet; and be pleased with remembering Him. Make no apologies for getting tossed around in everyday situations. Realize that everything else is a figment of your imagination; only the name of Hari is true and real. Think twice before you believe that everything in the world is real. Your life expectancy is eroding at an alarming rate. Chant the name of Sri Hari to help you get over your sorrows. Never put faith in the immortality of the body or get caught up in physical pleasures; when one turns away from serving God and forgets to keep His name in mind, he forfeits his well-being and sets himself up for a downward spiral. You will never be able to reanimate a dead body. Recite Sri Hari's name before you die to give your current life meaning. Keep your faith in God, not in your body.It is wrong to spend one's time and energy on self-indulgence rather than serving God. This is Bhakta Das's call to action, urging people to

modify their lifestyles as a result.

Conclusion :

Bhakta Kavi Bhakta Charan Das has been considered by many scholars to be an essential link to the development of Odiūī literature and Odiūī music. It is not uncommon for South Asian writers to be virtually unknown outside their home country Bacta mold Bacta Charandas is no exception. East India and its contacts can be tracked through Bhakta Kavi Bhakta Charan Das. At that time, there was some evidence of the relationship between Sanskrit and Odia. Examining the literary substance of Manobodha Chautisa reveals that the widespread influence of the Caitanya-style Vaicnavism in Odisha and the unique status of the work, explicitly as Vaicnavitic literature, require further investigation. A master of literary form and technique, Bhakta Kavi Bhakta Charan Das is more remarkable for his poetic linguistic manipulation. Great indexes of modern Odisha music include Bhikari Bala, Arabinda Muduli, etc, this Manoboda Chautisa is very popular with the general public of Odisha.

References :

...magazines.odisha.gov.in, B. K. (n.d.). Bhakta Kabi Poet Sri Bhakta Charan Das and His Work 'Manobodha. *magazines.odisha.gov.in*.

Das, D. N. (2022 IJCRT | Volume 10, Issue 3 March 2022 | ISSN: 2320-2). THE EMINENT POETS OF ODISHA AND THEIR CONTRIBUTION TOWARDS ODISHI MUSIC: A STUDY. *IJCRT*, a89-a95.

Index of Orissa Review. (n.d). https://magazines.odisha.gov.in/Orissareview/jan-2007/engpdf/68-80.pdf. (2007, January). Bhubaneswar, Odisha, India.

Jena, S. (2005). Bhakta Kabi Poet Sri Bhakta Charan Das and His Work 'Manobodha Chautisa'.

Sanyal, S. B. (2021, (2021, March 1). *Sanyal, S., Banerjee, A., Nag, S., Sarkar, U., Roy, S., Sengupta, R., & Ghosh, D. (2021, March 1). Tagore and neuroscience: A non-linear multifractal study to encapsulate the evolution of Tagore songs over a century.* Kolkata: https://scite.ai/reports/10.1016/j.entcom.2020.100367.

Text of Bhakta Kabi Poet Sri Bhakta Charan Das and His Work.... (2018, May 7). Bhubaneswar, Odisha, India.

Challenges for Communication in the Era of Social Media

Dr. Bala Lakhendra*

Abstract

With the advent of Social Media platforms, most of the media messages are shaped by and circulate within the multi-faceted, always available, participatory communication space called the digital environment. This participatory, de-centralized space indicates a paradigm shift in media and communication, and therefore in the culture at large. In the new paradigm, comprehensive media ecology-infused media literacy is necessary not only in the disciplines of communication and media studies, but across higher education. The five-part model engages core concepts from media ecology, critical cultural studies, and critical pedagogy, with a final goal of educating enlightened media practitioners interested in seeking social change. In the emerging media environment, messages, forms, and new ways of thinking and being ought to be the mandate of twenty-first century higher education.Digital has helped in the transition of the traditional media to the innovative, disruptive, and open new media age. Innovation is the key to success in the current media and publishing world and is the only way to drive the industry forward in the coming times. This paper's main idea is to discuss the different changes in communication style and process.

Key words *: Social Media, Communication, Society, Education, Tradition*

Methodology : *This Research Paper is based on Qualitative analysis of the research papers and available books in the related area of Communication and the changing trends in the field of communication with special reference to social media. As the quantitative approach for any research aims to observe things in order to explain what is happening and what kind of changes are taking place with a particular circumstances. The qualitative research framework is geared toward creating a complete and detailed description of the observation by a researcher. Rather than providing predictions and/ or causal explanations, the qualitative method offers contextualization and interpretation of the data gathered which is available in the public domain. In this Research the researcher has used the Qualitative method as it is subjective and requires an observation and elaboration which is carefully chosen from the available text in the respective domain.*

Introduction

Today the whole world is witnessing a new trend in communication. Including the print and electronic media, traditional media as well is affected with the Social Media and the trend and style of communication is changing. Along with digital technology, social media has played a big role in changing the consumer behaviour. Anything that goes viral gets distributed like a flash. Via social platforms, content can now be tagged and correlated for cross-selling, up selling, and opinion generation.Also, the devices that consumers purchase dictate how the content needs to be distributed. Nowadays, smart phones are loaded with cool apps that offer innovative ideas for execution of content. In short, anyone can be a content creator.Also, disruption is the new mantra for success in the media and publishing industry. The ways of doing business has changed, with new players coming up with new rules and strategies, empowered by emerging technologies. With innovative technologies and services such as streaming,

*Sr. Assistant Professor, Department of Journalism and Mass Communication, Banaras Hindu University, Varanasi

artificial intelligence, cloud-based media services, augmented and virtual reality, and intelligent devices, the media landscape is set for further disruption.

In today's digital era the consumersare the King makers. From the far-right end of the industry value chain to the centre, consumers have come a long way from the days when they had to absorb the one-way content that was dished out by the media and publishing giants. Today, the consumer calls the shots on what content needs to be created, what can cross-sell or upsell, and finally, how the content needs to be distributed. This transition has also greatly impacted the way industry players conduct business. Earlier, businesses ran around big media and publishing houses that decided on what movie, music, or book they would release and when. These businesses contracted artists and authors for content creation and managed the rights of the content. The content was distributed geographically, and it usually hinged on the distribution network of these business houses.Movies needed to be appropriately long to match the show time in movie halls, songs needed to be bundled together to create an album, and books needed to be appropriately sized to manage the logistics of delivering them to the stores. Promotions were planned in a way to project content as a product. The biggest flaw in this approach was that content was treated as a product and not as a service. The fact that content needs to connect emotionally to the end consumer to succeed, remained understated.

With the advent of streaming partners many of the above rules were thrown out of the textbook. We are now seeing new series of different programs releasing across the globe on the same day. Innovative content like short movies, mini-series, one song release, and short stories, have gained popularity.We are also witnessing new ways of promotion. Movies are being promoted via comics, and books via short movies. There are ample opportunities to cross-sell and upsell. Social media has taken word of mouth promotion to the next level where comments on social networks can make or break the success of a piece of content, for example, a movie. As far as enterprises, institutions, administrations, organizations, groups, families and individuals start their own online presence, they become "media" by their own, they also become "sources" for traditional media, and in many cases, they produce strong "media criticism": opinion about how issues are covered by legacy media and delivering of alternative coverage.

Apart from media and publishing houses and distribution companies, a major chunk of media revenue now goes to streaming players and social and viral aggregators. Alphabet, Facebook, and Baidu are a few technology companies which are in the list of top thirty companies earning revenue from media along with digital media companies like Walt Disney, Comcast, 21st Century Fox, Viacom, and new-age content streaming giants like Netflix and Amazon.

Today we are witnessing the focus shift from the industrial production constraints (press, radio, television) to content authority in order to define media. National Geographic and CNN, for example, are not a particular kind of media, but brands which represents authority over an area of content (natural life) or expertise in current affairs content management (journalism).The media convergence towards digital resets media identity, shifting from platforms to contents and outstanding brand image in relation to a type of content not to a media format. Media brand image is one of the most valuable actives of media companies in the

new environment: a source of credibility and prestige for digital content.Today media starts to understand that their business is selling the content, not the holder: multi-platform services to be accessed by users from a range of terminals according to the user's situation and needs.

During the eighties, the merge of satellite and cable technologies enabled broadcast media the delivering of content to thematic segmented target audiences, evolving from broadcasting to narrowcasting. From the 90's on, internet opens the way to a next step: from narrowcasting to pointcasting.Online content provision not only could fit niche targets but even more: it could be arranged to meet the specific interests and time constraints of every individual user. The de-massification of public communication arrives with the personal configuration options of online media and services. The passive unidirectional way of media consumption is replaced by the concept of an active user seeking for content, exploring and navigating info-spaces. Users become also content producers in many web environments, mainly the social web.

The communication process in the actual scenario is user centred, users have the control to choose, to decide, to search, to define and configure, to subscribe or unsubscribe, to comment and, most important: to write, talk and film. Self-media, nanopublishing or thin media are the new names for the strategy of those users who decide to become even more active and start low profile digital native media activities. One of the strongest issues about digitalization is that text, audio, video, graphics, photos, and animation could be arranged together and interactively on a single media for this first time in history. This multimedia identity of the actual environment allowed all media industries to converge online (press, broadcast, movies) and this is the reason why media distinctions related to use of single language (textual, audio, visual) tend to be erased. Online media are multimedia, and multimedia is a new language. This meta-medium nature of the net should be understood at the light of older media revolutions: the first step of older media being the content of newer media is followed by a next step in which newer media develops its own language and content, and older media redefine their identities.

Regular frequency was a strong paradigm of the old scenario to the point the many media were defined in relation to its time constraints (daily, weekly, monthly). Online media (whether they are digital versions of a daily newspaper, or a weekly or monthly magazine) assume that they must to be real time updated to survive in the new environment.What we lost in the road from periodicity to real-time is the reflection. What we gain is dynamism and conversational styles. Sharing news and opinions with the ability to interact in real-time are the seed of cybercommunities.

The gatekeeper paradigm was broadly used to explain the role of media editors and the agenda-setting theory and to describe the functions of media in defining the daily issues.This intermediation function should be revisited nowadays in the light of the decentralized nature of the net. Together with legacy media, many other informal sources become relevant to establish the agendas (because the agenda does not exist anymore). Worldwide publishing without editors, but with a close peer review daily process and in most cases open to comments from readers is the nature of social web publishing. As a result of that, the agenda of relevant current affairs goes beyond the established media land and now is share with a wide variety of new sources, most of them not media, including social web portals, mailing lists,

e-bulletins, search engines, newsgroups, forum and weblogs with their respective feeds when available.

Space for the print media and time for broadcast media ceased to be the limit to content and now the time of the user is the new scarce resource. One of the strong effects of "readers becoming writers" is the proliferation of online information without clear attribution of source authority and heterogeneity of content quality. The overflow of information calls for new skills and tools to manage data, news, and opinions. Content syndication, news aggregators, news readers, popularity rankings, recommended reading, most viewed lists, trending topics, are but just a few of the tools available to navigate the chaos of abundance.

Far from the single-direction point-multipoint asymmetrical distribution model of legacy media, with the net emerges a bilateral inverse model many-to-one based on the client-server architecture of the internet, but also a multilateral horizontal and symmetrical many-to-many model.The fact that content providers and users access the same channel to communicate, enable the users to establish a bilateral relationship with media and also a multilateral relationship with other users of the system. Secondly, by the same rule, users could become content providers.In the new environment, the user has the ability to choose between content options and to define the time for access, but interactivity also means the capacity to change the aspect of the content, to produce content for a system and to communicate with other users.The first level of interactivity has to do with the possibility for the user to choose the format of information display (browser and navigation interface configuration). The second level of interactivity is the possibility for the user to produce input for a system. This contribution could be co-authoring, writing comments, answering pools and tests, posting news, and so on.The third level of interactivity has to do with the possibility for the user to communicate with other users of the system in real or delay time. Dealing with interactivity in the context of media with a long and strong tradition of one- way distribution of content is one of the most important challenges that mainstream media has to face.

The broadcasting paradigm of one-to-many unilateral distribution is replaced by both: many to one access and many to many communications. Client-server architecture of the internet started a new model based on the decisions of the users. The access paradigm is complementary with the user centre paradigm and both explain the strong interactive nature of the new environment. Access means to seek, search, navigate, surf, decide, an active attitude, a will to connect and communicate, the contrary of the passive reception of media content. "My daily visits", "My homepage", "My favourites", walls and timelines are expressions of this personal way to seek for content, and the lasts attempts of contextual advertising shows how the old dynamics has change: now advertisers are looking for targets outside the media arena, testing ways for a personal approach based on keywords searching and database mining.

Analogue media narrative construction is linear and narrators have the power to control the story organization and tempo. The digital platforms enable narrators to organize content by fragmenting it into small units (nodes) with multiples paths between them (links). Hypertextual narratives empower the user shifting the control of the narrative from the narrator to the reader. From linear temporal media, we are shifting to non-linear spatial content. Hypertext becomes the grammar of the digital world.

Reading text lines, listening or watching

temporal (linear) audiovisual media are typical activities of traditional media consumption. The digital nature of the actual environment opens the way for a spatial, rather than temporal, organization of content. Websites, blogs and social media profiles are spaces to visit. Virtual spaces where users perform activities: they meet each other, learn, gather and share news and opinions, do shopping and gaming, entertain and create.The pathways of the info-spaces are built on links. Creating and activating links online could be the new name of alphabetization. Reading and writing by linking, this is, exploring and creating hypertextual environments on a daily basis is the most strategic skill digital natives are achieving.

The extraordinary amount of data available in the Digital Age bring back the strategic role of media as social managers of knowledge, a role to be shared with an increasing number of new players. The analysis of data and its transformation into knowledge (not the management of a platform) becomes the axis of media activities. Today, the strategic mission of media is the information about the information: information intelligence, interpretation, filtering and searching combined with the challenge of new interactive multimedia narratives and delivered by a wide range of channels. This new scenario for public communication in the internet era should not be understood in an apocalyptical way, but it should be considered, instead, as the opportunity to redefine the profiles, the professional challenges and the academic training of communicators, and also to rethink the changing nature of media and mediators.

A few decades back, the television was just a box with a screen and a remote for watching programs. Back then, the broadcaster picked the content that was appropriate for us, broadcasted it at the time that the broadcaster thought was suitable for us, with the breaks he thought we could take. Music followed the same groove – it was either radio on which everything was played in a predefined format at a modulated pitch, or a CD/tape for which we needed to go to the shop and had to wait to get back home to play it. Also, the books we used to read were those that were available in our community, and we could read only a few at home, and for more books, a visit to a library or a book club was required.

Conclusion

Today, things have taken a U-turn, and the scenario has changed completely. Now, TV is still a screen and a remote, but it allows us to watch whatever we want, at our preferred time and pace. Similarly, the music we hear is just a click/swipe/voice command away. We have thousands of books on our mobile phones that we can read/hear at our leisure. Digital technology has made all this possible and brought the end user to the forefront. Now, it is us, the consumers, who decide which content we consume, how, and when.A paradigm shift in the way they work will only be possible when their manager becomes open to change.The digital age arrives with a set of big communication challenges for traditional mainstream media: new relations with audiences (interactivity), new languages (multimedia) and a new grammar (hypertext). But this media revolution not only changes the communication landscape for the usual players, most importantly, it opens the mass communication system to a wide range of new players.Blogs and social media represent the ultimate challenge for the old communication system because they integrate both: the new features of the digital world and a wide democratization in the access to media with a universal scope.The global process could be

understood as a big shift from the classical mass media models to the new media paradigms: the user becomes the axis of communication process, the content is the identity of media, multimedia is the new language, real-time is the only time, hypertext is the grammar, and knowledge is the new name of information.

References :

Alimoradi, Z., Jafari, E., Potenza, M. N., Lin, C.-Y., Wu, C.-Y., & Pakpour, A. H. (2022). Binge-Watching and Mental Health Problems: A Systematic Review and Meta-Analysis. International Journal of Environmental Research and Public Health.

Bhatti, M. A., Khalid, R., & Khalid, A. (2022). Motivations Behind Binge-WatchingAmong Youth And The Gratifications Achieved. Pakistan Journal of Social Research.

Jenner, M. (2018). Netfix and the Re-invention of Television. Cambridge, UK: Springer International Publishing.

KPMG. (2018). Media Ecosystems: The walls fall down.

Maheshwari, M. (2014). Digitisation of Cable Television in India. International Journal of Research.

Mankekar, P. (1999). Screening Culture, Viewing Politics: An Ethnography of Television, Womanhood, and Nation in Postcolonial India.

Mehta, N. (2009). Television in India: Satellites, Politics and Cultural Change.

MICA, C. (2018). Indian OTT Platforms Report.

Rani, P. (2013). Privatisation,convergence and Broadcasting regulations:A case study of the Indian Television Industry.

Srinivasan, A., Edward, S., & Eashwar, A. (2021). A Study on Binge Watching andIts Association with Sleep Pattern - A Cross Sectional Study among Medical CollegeStudents in Kancheepuram District, Tamil Nadu. National Journal of CommunityMedicine.

Sundaravel, E., & Elangovan, N. (2020). Emergence and future of Over-the-top (OTT) video services in India: An Analytical Research. International Journal ofBusiness, Management and Social Research.

बहुलतावादी बोध के कवि भवानी प्रसाद मिश्र

डॉ. अविनाश कुमार सिंह*

सारांश

इस शोध–पत्र में हिन्दी की समकालीन कविता के संवादधर्मी और लोकतांत्रिक मूल्यों के समर्थक कवि भवानीप्रसाद मिश्र की काव्य चेतना और काव्य व्यवहार की पहचान की गई है। भारत एक बहुजातीय राष्ट्र है। मिश्र जी की कविता भी एक लोकतांत्रिक संरचना रखती है और किसी भी सांस्कृतिक उत्पादन में लोकतंत्र की हिफाजत को सर्वश्रेष्ठ दायित्व के रूप में देखती है। प्रस्तुत अध्ययन में इन्हीं मूल्यों के संरक्षण की रचनात्मक कोशिशों की पड़ताल भवानीप्रसाद मिश्र की विभिन्न कविताओं, उनकी वैचारिकी और उनकी काव्य भाषा के अनुशीलन के माध्यम से की गई है।

बीज शब्द : *बहुलतावाद, लोकतंत्र, सौंदर्यबोध, बाजारवाद, संस्कृति, राष्ट्रीयता, नागरिक–समाज*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र के लिए द्वितीयक माध्यमों की सहायता लेकर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।*

कविता को बिखरा कर देखने से
सिवा रेशों के क्या दिखता है
लिखने वाला तो हर बिखरे अनुभव के रेशे को समेट कर लिखता है।[1]

भवानी जी की कविताओं के सहारे उन पर ही बात करनी हो, और कहने वाले की संभावित फलश्रुति पर प्रश्न चिह्न पहले से उन्हीं की तरफ से ही खड़ा हो, तो कोई भी बात कहना–लिखना बेहयाई है। बेहयाई तो खैर बतकही के सुख में भी है और बतकही लोक और शाख दोनों में एस्थीटिकली वैध है– काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। अमर्त्य सेन तो हम बहसबाज हिंदुस्तानी (द आर्ग्युमेंटेटिव इंडियंस) हैं, यह दुनिया भर को बता ही चुके हैं। वैसे भी खुद भवानी जी की कविताएं बतकही का सौंदर्यशास्त्र बुनती हैं। कविताओं में आर्ट ऑफ कन्वर्सशन या बतरस का सौंदर्य विकसित करने वाले वे अनूठे कवि हैं। हालांकि कुछ विद्वानों ने कविता में इस कन्वर्सशन के पुट को सपाटबयानी कहकर कमतर भी आँका है। सपाटबयानी को वे मैथिलीशरण गुप्त की इतिवृत्तात्मकता का विस्तार पाते हैं और "कवितापन'" के विरूद्ध पाते हैं। इस "कवितापन" को कवि–कौशल का प्रमाण–पत्र भी माना गया है। भवानी जी इस कौशल को "चतुराई" के पदबंध में बेपर्द कर देते हैं और अपने अंदाज में कहते हैं,

तनेगा नहीं मुझसे, चाहूँ तो भी
कोरी चतुराई का वितान।[2]

यह कोरी चतुराई का वितान इसलिए भी नहीं तनेगा क्योंकि जिन समयों के आर–पार उनकी कविता का फलक व्याप्त है, वह समय अपने–आप में पर्याप्त चतुर है और गोया उन्हें पता है कि इस चतुराई का इलाज बेशक कविता की देह में विन्यस्त ईमानदार सरलता में है,

चतुर मुझे कुछ भी
कभी नहीं भाया
न औरत, न आदमी, न कविता ![3]

तो, लब्बोलुआब यह कि भवानी जी की कविता में "चर्वणा विश्रांति' की तलाश करने वाले लोग निराश हो सकते हैं। उनकी सौंदर्यदृष्टि पर वज्रपात भी हो सकता है।

प्रसंगवश सौंदर्य की बात आ ही गई है तो एक सवाल उन पर उठाया भी गया था। मिश्र जी पर लिखते हुए अस्सी के दशक के नामचीन आलोचक–कवि कांति कुमार ने अपने एक आलेख में लिखा है, "सतपुड़ा के अजगरों से भरे, शेरवाले, बाघवाले, गरज और दहाड़वाले घने जंगलों के प्रति कवि का अनुराग एक सहचर का सा है। कवि ने बारंबार स्वयं पर रवीन्धनाथ इत्यादि अनेक सौन्दर्य–चेता कवियों के प्रभाव की बात का उल्लेख किया है किन्तु यह जानकर आश्चर्य होता है कि मिश्र जी ने मानव–सौंदर्य का चित्रण प्रायः नहीं ही किया है। उनके काव्य में गदबदे बच्चों, शरमाती ग्राम–वधुओ, कपोत–कंठी सुंदरियों मौन बने रहने वाले लाज–भरे सौंदर्य के चित्रण

*एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

का सर्वथा अभाव है। यह तथ्य हमारा ध्यान अत्यंत आग्रह के साथ इसलिए आकर्षित करता है क्योंकि कवि के प्रिय भारतीय अथवा पाश्चात्य समस्त कवियों ने मानव–सौंदर्य के अत्यंत रससिक्त चित्र अंकित किये हैं। यहाँ पर यह ध्यान दिलाना आवश्यक जान पड़ता है कि मैं यहाँ सेक्स की नहीं सौंदर्य की बात कर रहा हूँ मिश्र जी के काव्य में सेक्स के किसी रूप की चर्चा नहीं है, केवल यही नहीं, जीवित सौंदर्य का उल्लेख भी एक सिरे से गायब है। कवि स्वयं भले ही यह माने कि, 'मेरा जीवन कुछ ऐसी मस्ती में बीता कि प्रेम और सौंदर्य का ध्यान मुझे नहीं आया', पर इसका एक संगत कारण मुझे यह प्रतीत होता है कि गांधी जी के उपयोगितावाद तथा विनोबा के सर्वोदियवाद से अनुप्राणित होने की वजह से मानव–सौंदर्य उनके लिए काम्य अथवा प्रेय नहीं रह गया है। वे रवीन्द्र से प्रभावित हैं किंतु उनके काव्य में रवीन्ननाथ, गांधी जी के सांचे में ढलकर उपस्थित हुए हैं। हिमधवल, प्रवीर्घ दाढ़ी एवं धराविचुम्बी चीनांशुक परिधान के स्थान पर गांधी जी की लाठी एवं लंगोटी धारण करने पर रवीनद्रनाथ को जो रूप होता है वही रूप मिश्र जी के काव्य का है। सम्भवतः इसी कारण रवीन्धनाथ की भांति वे उर्वशी के दिव्य सौंदर्य के गीत न गाकर 'सत्यकाम' के गीत गाते हैं।"[4]

कांति जी मानव–सौंदर्य में सेक्स–चित्रण की काव्याभिव्यक्ति को आवश्यक भी मानते हैं और भवानी जी में अनुपस्थित पाकर थोड़े निराश भी होते हैं। दिलचस्प यह है कि मानव–सौंदर्ययोध और उसकी काव्याभिव्यक्ति के जिस प्रारूप में सेक्स–चित्रण को अनिवार्य कर दिया गया है, उसे कांति कुमार जी रवीन्द्रनाथ टैगोर के "काव्यबोध" और कुछ देशी–विदेशी कवियों के तर्क के आधार पर स्थापित करना चाहते हैं। गांधी जी का उपयोगितावाद या विनोबा का सर्वोदयवाद उनके मानने में मानव–सौंदर्य से रहित कर देने वाले तत्व हैं। यहाँ पर दो तरह के स्पष्ट विभ्रम दिखते हैं। पहला तो यह कि मानव–सौंदर्य या जीवित सौंदर्य के लिए सेक्स की चर्चा होनी चाहिए और, दूसरा यह कि उपयोगितावाद और सर्वोदयवाद ने जीवित सौंदर्य के चित्रण से भवानी जी को वंचित कर दिया। कांति जी को गांधी जी को पढ़ना चाहिए था और उनके 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग" को तो जरूर। भ्रम टूटता उनका "जीवित सौंदर्य" की गांधीयन थियरी को समझकर। भवानी जी द्वारा जिस प्रेम और श्रृंगार की ओर ध्यान नहीं देने की आत्मस्वीकृति को संदर्भित किया गया है, वह आत्मस्वीकृति एक कटाक्ष है ऐसे ही आलोचकों की दृष्टि पर जो कविता को बिखेर कर कवि के अनुभवों की संलिष्टता के रेशे को भी सच में नहीं देख पाते। कुछ देर के लिए यदि कांति जी की ही जीवित मानव–सौंदर्य की ही बात कर लें तो उसे स्थूल से आशय में भी भवानी जी की कविता निराश नहीं करेगी उनको,

इस एकाकार शून्यता में
तुम भर दीखती हो
बचाये कुँकुम
जलते हुए भाल पर[5]

यह जलते हुए भाल पर कुँकुम सजाये हुए जीवित–सौंदर्य की कविता उन्होंने अपनी पत्नी के लिए लिखी थी। जिसमें सौंदर्य, दायित्व और सुख एक साथ दमक रहे हैं। और, देखना हो तो कांति जी को भवानी जी के जलते पथ पर पर थोड़ी नजर डालनी चाहिए थी,

छाँह चाहिए
चितवन–पवन चाहिए
तेरी बाँह चाहिए।"[6]

फिर भी अगर वह तथाकथित जीवित सौंदर्य नहीं दिखा तो कहना न होगा कि साठ के दशक में वाया कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम भारत में दाखिल होने वाली हॉलीवुड टाईप स्वतंत्रता में परकीया रति–चित्र की अपेक्षा करने वाली कांति–पिपासा क्या ही तृप्त होगी! कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका–नियंत्रित नये तरह का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद था जो भारत जैसे सद्यः स्वतंत्र परंतु क्षत–विक्षत देश की नाजुक तबीयत का फायदा उठाते हुए थोप दिया गया। अज्ञैय के नेतृत्व में बंबई में इसकी भारतीय साहित्यिक फ्रेंचाइजी बकायदा 1955 में खोली गई और हिन्दी की अधिकांश कविता ने इसे नये तरह के "विश्वबोध' के रूप में हाथों–हाथ लिया। इसमें अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद ने घी डालने का काम किया और हमारी देशज आधुनिकता की चली आ रही सहज काव्यधारा अचानक से "अपने–अपने आकाश?" की तलाश में लग गयी। हालांकि यह भ्रम टूटा। देर लगी। सच्चिदानंद भी कायदे से अज्ञेय बने। कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम के मंसूबों को खुद अज्ञेय ने भी समझा और बाद की रचनाओं में मानो प्रायश्चित किया। भवानी जी अज्ञैय के वापसी को शुभ मानते हुए कहते मिले,

सच्चिदानंद अज्ञेय न बन जाते
तो शायद इतने अच्छे भी
नहीं बनते वे
इस शल्द ने उन्हें बनाया है
मैं आज देर तक उनका नाम बदलना मनाया है।
एक त्योहार की तरह
और खुशी उमड़ी है
कि खेल खेल में
हमें एक आदमी मिलता की चला गया
शेखर से लेकर भवन्ती तक खिलता की चला गया ![7]

अज्ञेय के बहाने उन्हें आदमी मिला। इस आदमियत की तलब भवानी जी कविता का केन्द्रीय स्वर है। उन्हें पता है कि कविता यदि सीधी जबान में बात करे, तो असर करेगी, कविता भी बनी रहेगी। बावजूद इस स्वीकार के कि, अब के बरस की कविता सादी नहीं है साधो। काँटों की सेज है यह गादी नहीं है साधो। (गांधी पंचशती)[8] उन्हें अपने काम पर भरोसा है ।

एक लंबा काम है जिसे मैं कर रहा हूँ
समय को में भर रहा हूँ रंगों से और प्रकाश से।[9]

समय को रंग और प्रकाश से भरने के लिए जो कुछ उन्होंने किया वह कभी सवाल की शक्ल में, तो कभी कवि होने की जरूरत की शक्ल में प्रकट हुई है। वे सवाल इसलिए करते हैं कविता में क्यांकि बहुत सारे लोग हैं, जिनका जीवन ही सुविधाभोगी व्यवस्था के लिए सवाल बना हुआ है–

ऐसी सुविधा कम करो कि कोई सिर्फ दस्तखत करता रहकर
महल अटारी मोटर ताँगे वायुयान पर चढ़कर डोले
ऐसी सुविधाएँ खत्म करो जिसमें कोई पढ़कर लिखकर
कमकर, किसान, बुनकर, सुनार, लढ़िया, लुहार से बढ़ बोले[10]

यह सवाल उनके समय के भारत का भी था और आज के क्रोनी पूंजीवाद के समय का भी। किसानों का वजूद सवाल तब भी था सत्ता और कारपोरेट के मठों को और आज भी है। हमने साल पर चलने वाला अथक संघर्ष देखा हाल ही में किसानों का। भवानी भाई की कविता अब देखें और संघर्ष को फिर से देखें,

मेरी शस्य श्यामला माँ के बेटे भूख लिए बैठे हैं
कभी संजीवन–मूर मिली थी अब तो जहर पिए बैठे हैं
आज नहीं माँ के स्तन में दूध कि उसका लाल विकल है
आज निपट निरुपाय कि माँ के जीवन में आग, आँख में जल है।[11]

माँ के जीवन में आग है, आंखों में पानी है, उसके बेटे किसान अपने वजूद को समझाने की कोशिश कर रहे हैं और कवि तटस्थ हो या भयभीत हो, तो उसे भवानी भाई को जरूर याद करना चाहिए,

अभय तो
शब्द और स्वर और ध्वनि का
पहला देय है।[12]

और यदि अभय न भी हुए स्वरों में तो कविता में सही के लिए खड़ें तो दिखें। यह हमारी मुक्ति का भी पैमाना है, हमारी जवाबदेही का भी,

कविताएँ न लिखते हम
तो असंभव दिशाएँ न सूझतीं
ताकतें अपनी भी
रोटी–रोजी तक ही जूझतीं
और घर से दफ्तर
दफ्तर से घर आते–जाते ढाते रहते
अपनी जरूरत के मृताबिक
छोटे–बड़े जुल्म
अपने आस–पास पर।[13]

यानि हमारी सुविधाभोगी तटस्थता सत्ता द्वारा कीलें बिछाने से भी ज्यादा खतरनाक है। इसलिए भवानी अपना पक्ष तय करते हैं, घोषित भी करते हैं। वे उनकी जबान बनते हैं जो बेजुबान हैं,

कर रहा हूँ घाव में पैदा जुबान
बेजुबाँ जिस दिन न होगा घाव एक
जगेगा उस दिन नया बदलाव एक
घायलों के राज में होंगे न घाव
सब सहेंगे धूप, सब भोगेंगे छाँव।[14]

उनकी इन कविताओं को पढ़ते हुए कई बार यह लगता है कि वे कट्टर वामपंथी रहे हैं। ज्यादातर उन्हें गांधीवादी भी कहते रहे। अंतर इतना रहा कि अक्सरहा

वामपंथी होना एक आरोप की तरह लगता रहा उन पर और गांधीवादी होना कविता के लिहाज से कम 'पैशनेट' दिखा लोगों को। ऐसा महसूस होता है कि उनकी चर्चा इतनी अधिक रही मंचीय कवि के रूप में, ओज और तीखे राजनीतिक व्यंग्य के कवि के रूप में, कि उनकी रचना प्रक्रिया की गहराई में कम ही लोग उतरे। इस गहराई को समझने के कुछ सूत्र उनके मित्र रहे गोपालप्रसाद व्यास के लिखे संस्मरण के इस अंश में मिलते हैं,

"क्या–क्या रूप हैं भवानी भाई के? एक ओर काका कालेलकर और दादा धर्माधिकारी के साथ गांधी दर्शन का मार्मिक विवेचन, दूसरी ओर निकृष्ट से निकृष्ट कवि–सम्मेलनों में सहजभाव से उनकी उपस्थिति। अपने सम्मान और निष्ठा की रक्षा की खातिर बड़े से बड़े पद–प्रलोभनों का त्याग, मगर दूसरी ओर कन्धे पर एक छोटा सा झोला लटकाये, बिना बिस्तर के लम्बी–लम्बी यात्रा और एक सामान्य व्यक्ति की तरह स्टेशन के खोमचे वाले से चार आने की रोटी और दो आने की तरकारी लेकर खड़े ही खड़े उनका लंच बड़े–बड़े मंत्रियों और रईसों के यहाँ पहुँचने में असुविधा, मगर कोई कलाकार, कवि या हिन्दी का पत्रकार हो और वह इन्हें निमंत्रण देना भूल जाए तो डाकिये का दोष मानकर उसके यहाँ स्वयं जा पहुँचना आदि लीलाएँ उनकी अलौकिक ही हैं।"[15]

यानि दार्शनिकता का तात्विक संज्ञान और जीवन का सहजतम बोध एक साथ भवानी जी के कवि– व्यक्तित्व को गढ़ता है। हर कवि की तरह शब्द उनके लिए भी महत्वपूर्ण हैं। शब्दों के साथ उनके पहले के, संग–साथ के और बाद के कवियों ने काफी संवाद किये, लेकिन शब्दों के जनक यानि कवि–विशेष का विरोध शब्द नहीं कर पाये। लेकिन भवानीप्रसाद के पास शब्द कुछ और ही करते मिलते हैं,

मैंने देखा है कि कभी–कभी
एक मीठे विरोध में
वे मेरे खिलाफ तक खड़े हो गए हैं
सोचता हूँ
कि मेरे शब्द
अब मुझ से भी बड़े हो गए हैं।[16]

यह किसी कवि की वास्तव में सार्थकता है कि उसके शब्द उसे भी अतिक्रमित करें। उसकी चिंतन–प्रक्रिया और रचना–प्रक्रिया के बीच के अनिवार्य द्वन्द्व को साधने के कठिन दायित्व के निर्वाह में शब्दों को 'खिलाफ' भी खड़े होना ही चाहिए। आचार्य शुक्ल की बात यहां इस संदर्भ में अनायास ही याद आ रही है कि, ज्यों–ज्यों सभ्यता पर आवरण चढ़ते जाएंगे कवि कर्म कठिन होता जाएगा। इस कठिनाई का प्रतिवाद यही है कि हम गढ़ी गई या थोपी गई मूर्तियाँ तोड़ने की ताकत शब्दों में आने दें,

सत्य हो शिव हो सुन्दर हो
आखिरकार इन सबको
किसी न किसी पल
तोड़ना पड़ता है।[17]

इस तोड़फोड़ में संभव है कि कविता की तत्कालीन धारा को भी चुनौती देनी पड़े। भवानी भाई ने भी चुनौती दी और ली भी। नई कविता के अस्तित्ववादी तर्कों और तारसप्तक के 'लाउड' अंतर्लाप के बीच भी भवानी भाई ने कविता की आत्मा को अशरीरी नहीं होने दिया। उन्होंने अपनी भाषिक बरकत में भारतीय जमीन की कविता को संजोया और सजाया। उन्होंने लोक और आभिजात्य में संवाद संभव किया। पुल बनाया। अर्थ और शब्द को स्वर दिया है, देह दी। प्रेमशंकर रघुवंशी ने 'भवानी भाई' नामक अपनी संपादित किताब में ठीक लिखा है, "नई कविता और उसके बाद की कविता के बौद्धिक दबाव के कारण भावात्मयक प्रतिक्रिया में नव–गीत उभरकर आया है।... भवानी मिश्र नई कविता के छन्दवादी कवि हैं।... नई कविता और नवगीत के बीच भवानी भाई के ये गीत सेतु का–सा काम करते हैं।"[18] इसी संपादित किताब में लगभग यही बात भगीरथ मिश्र भी कहते हैं, "सामाजिक विडम्बना की प्रतिक्रिया में इनकी अनेक रचनाएं हैं जो अपने युग के यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं। तदनन्तर भवानी मिश्र की रचनाओं में नवलेखन की प्रवृत्ति भी समाविष्ट हुई– जिसके अन्तर्गत मूलतः आत्म–विश्लेषण और शिल्पगत नवीनता के दर्शन होते है।"[19] नवलेखन की प्रवृत्ति में आत्म विश्लेषण की मौजूदगी रही, ऐसा बताया गया है। भवानी भाई कि कविताएं इस सरलीकरण के खिलाफ बैठती हैं। वे आत्म और अनात्म के बीच के कहीं बात करते मिलते हैं,

बूँद–बूँद उमगा था
नदी हूँ अब

न बूँद मेरी थी न यह धारा
दूसरों का हूँ में समूचा सारा![20]

यह बात अज्ञैयानुयायियों के लिए जितनी जरूरी थी उतनी ही यह वाली बात कि, हमें तुम दीवारों का नहीं मैदानों का छन्द करो'[21], अज्ञेय विरोधियों यानि कि टिपिकल वामपंथियों के लिए जरूरी है। मैदानों का छंद की असल जीवित मानव सौंदर्य है, जिसके अलहदा किसान–कवि भवानी भाई हैं। कबीर के छंद का मैदान काशी से गहमर तक धड़कता जनजीवन था तो केदारनाथ सिंह के लिए पूर्वांचल का खेत खलिहान। नागार्जुन के छंद मिथिला के मैदानों में सरपट भागते मिलते थे तो रामविलास शर्मा ने बैंसवाड़े के छंदों को अकेले में अपनाया था। भवानी भाई ने सतपुड़ा के जंगलों में तीतर और आदिवासियों की अंतरंग अठखेलियों में सहजता का छंद पाया था,

चाहे मृत्यु को गाओ, चाहे जीवन को
चाहे माटी को गाओ, चाहे पानी को
तरल रखो प्राणी को, सरल रखो बानी को[22]

सरल होना सबसे कठिन है। कविता में कविता होना और सरल भी होना तो और भी कठिन। आत्मानुभूति की भावप्रवणता और बहिर्जगत के खुरदुरे यथार्थ के बीच कविता के लिए सही शब्द मिलना बहुत कम ही संभव होता है, यह भवानी भाई को भी पता है,

शब्द टपटप टपकते हैं फूल से
सही हो जाते हैं मेरी भूल से।[23]

सही शब्द भले ही भूल से मिल पाते हों लेकिन उन्हें यह बोध है कि हम जितने सच्चे होंगे अंतर में, उतने ही सच्चे होंगे बाहर में,

हँसे तो बच्चों की तरह खिलखिलाकर
और रोये तो तिलमिलाकर
बच्चों की तरह
खघलिस सुख
खघलिस दुख[24]

बच्चों की तरह का खघलिसपन दुर्लभ और दुसाध्य है कविता के ढांचे में लाना इसलिए वे जीवन में धंसने की बात करते हैं। इसीलिए वे नकली जीवन और छिछले बोध के खिलाफ हैं,

शरीर और फसलें
कविता और फूल, सब एक हैं
सबको बोना बखरना पड़ता है
जितना गहरा कृप खुदे, उतना मीठा जल
आज नहीं कल।[25]

जब गहरे उतर जाते हैं जीवन में तो हमें हमारा रास्ता मिलता है। कवि को उसका 'बोध' मिलता है। जीवन सच में 'नागरिक' नहीं है। सच्चा जीवन गंवई है। नगर में कल्पनाएं सरल हैं, गांव में कल्पनाएं गरल हैं,

और तुम जो कल्पना को झूठ
समझे हो
समझ लो सत्य इतना–
कल्पना को सरल करने से
कठिन है कल्पना को गरल करना।[26]

कल्पना को गरल करना और उसे कंठ में धारण करना अपने आप को आई ने में देखना है। आत्म–परीक्षण है। यह इसलिए जरूरी है कि हमारा आज का आत्म–परीक्षण हमारी कल की पीढ़ियों की दिशा तय करता है,

अरे! अरे!! क्या तुम भी नहीं धरे
ठीक तराजू, ठीक बटखरे
क्या तुम नहीं जानते
कि जो लोग अनुपात नहीं मानते
उन्हें तो नहीं अगली पीढ़ियों को
चिल्लाकर कहना पड़ता है
हाय मरेध हाय मरे!![27]

यह आत्म–परीक्षण कभी भी मूक नहीं हो सकता। उसे 'वोकल' होना ही पड़ेगा। उसे स्थानीयता के मुहावरे में दुनिया को देखना होगा और दुनियावालों को असल बात बताना भी होगा,

बाट से हाट तक
हाट से घाट तक आओ जाओ
तूफान के बीच गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर।
तटस्थ हो या कूटस्थ हो
इससे फर्क नहीं पड़ता।[28]

कहना न होगा, जब बाट से हाट और हाट से घाट तक फैले तूफानों को वह देखेगा तो तटस्थता उसे अभिशाप की तरह ही लगेगी। वह देख पाएगा कि हमारे समय का पहरूआ अपनी भाषाई कलाबाजी में उन सभी चीजों की हत्या करता जाएगा जो मूल्यवान रही हैं अभी तक,

ऐसी लाचारी लगती है कभी–कभी
कि जड़ हो जाते अभी के अभी
देखना न पड़ता गांधी के देश में
उसके ही अनुयायियों के हाथों
उसकी एक–एक इच्छा का खून
देश की गरीबी को भूलकर पालना
खोखले प्रजातन्त्र का सफेद हाथी[29]

उसे यह भी पता चलेगा कि खोखले प्रजातंत्र के इस सफेद हाथी को जो खुराक मिल रही है वह कोई रक्तफूल है जो किसी साम्राज्यवादी से आशीर्वाद के रूप में हमारे समय का पहरूआ दोनों हाथ पसार कर ला रहा है,

हमने अपने पांच हजार बरसों से
अब तक के मानसिक विकास
को गया बीता मान लिया
और माँगने लगे अपनी
हर समस्या के हल
विदेशों से
रेंग–रेंग कर घुटनों और पेट के बल
विदेश बेचारे क्ध्या करें हम माँग रहे हैं
और उनकी समझ में उनके
पास कुछ हल है
उनके पास सौ–पचास बरसों
में उगाये हुए
रक्त के कुछ फल हैं
वे इन्हें बॉट रहे हैं,
और यहाँ तक
कि जो लेना नहीं चाहते
इन रक्त फलों को
उन्हें वे डॉट रहे हैं।
जैसे अमेरिका वियतनाम को
डॉट रहा है
रूस चेकोसलोवाकिया को
चीन ने तिब्बत का फाड़कर
मुँह अपने रक्तफल
उसमें भर दिये हैं
और हमने तो अपने हाथ–पाँव मूँह–पेट
सब इनके सामने कर दिये हैं
कि ये हमें अपने–अपने
रक्तफलों से लाद दें।[30]

जब यह गहरी धंसान समय और जीवन में होगी तब कवि–जन की आंखें खुलेंगी– (कितनी चीजों से बँधकर खुलता हूँ मैं।[31] जब बंद आंखें खुलेंगी तो कवि को भरोसा है कि लोग सवाल उठाने लगेंगे।

सत्तासीन वर्ग इन्हीं सवालों से डरता है,
कौन है जो और भड़काना
जरूरी समझता है आग को
कौन है जो एक
सुविधा समझता है
जल रहे इस बाग को?[32]

बाग में लगाई आग स्वाभाविक नहीं, प्रायोजित हुआ करती है। इसमें प्रभुवर्ग की महत्वाकांक्षाएं बराबर की साजिशकर्ता हुआ करती हैं। अक्सर हमें पता नहीं चलने दिया जाता। आज तो हमें सूचनाओं के लगातार प्रहार से असली सूचना से वंचित कर दिया जाता है। झूठ इतना रंगीन दिखाया जाता है कि वही सच लगने लगता है और पहरुआ मुस्कुराता है अपनी चतुराई पर और जैसा कि पहले कहा गया कि भवानी भाई को औरत, आदमी या कविता किसी की चतुराई पसंद नहीं है, इसलिए वे कह देते हैं कि,

धूल और धुएं के अस्तित्व में
वे भूल गये हैं दो बातें
कि सूरज सब पर चमकता है
और किसी भी एक की नहीं है
यह धरती[33]

किसी एक की यह धरती कभी नहीं रही। यह बहुलधर्मी रही है इतिहास में भी। भवानी भाई की कविताओं में इतिहासबोध का पदबंध लगातार सक्रिय रहा है। वे नयेपन के स्वीकार के कवि हैं, आधुनिक कवि हैं लेकिन औपनिवेशिक

आधुनिक नहीं, ठेठ देशज–आधुनिक, भाषा और भाव दोनों मेंय मौसम नए छूते रहते हैं मगर इसलिए

> कि वे नए होते हैं लौट लौट कर
> फिंकना चाहिए अर्थ पुराने से पुराने शब्दों में से नए संदर्भो में
> मेरा आज का मन एक नया सन्दर्भ है
> मगर ऐसा नया भी नहीं
> कि लगाव न हो उसका किसी पुराने के साथ[34]

सन्दर्भ सूची :

1. आचार्य, नंदकिशोर, (सं), मन एक गैली कमीज है, भवानी प्रसाद मिश्र, वाग्देवी प्रकाशन, 1998 ई. संस्करण, पृष्ठ 12
2. त्रिपाठी, प्रभात, (सं), तोड़ो चमत्कारों में पड़ी गाठें, भवानीप्रसाद मिश्र, संकलित– भवानीप्रसाद संचयिता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003 ई., पृ. 166
3. मिश्र, भवानीप्रसाद, चलते –चलते. संकलित– अंधेरी कविताएँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968 ई. पृष्ठ 133
4. रघुवंशी, प्रेमशंकर, (सं.), बोलचाल की भाषा के गीतफरोश : भवानीप्रसाद मिश्र– कांति कुमारय संकलित– भवानी भाई, सरला प्रकाशन, दिल्ह्ली, 1982 ई., पृष्ठ 51
5. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), ग्रतिनिधि कविताएं (भवानीप्रसाद मिश्र), राजकमल प्रकाशन. दिल्ली, 2022 ई. संस्करण, पृष्ठ 53
6. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली – भाग 1, अनामिका प. एंड डिस्ट्री., दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृष्ठ 57
7. वही, पृष्ठ 69
8. मिश्र, भवानीप्रसाद, गाँधी पंचशती, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1969 ई., पृष्ठ 162
9. वही, पृष्ठ 188
10. वही, पृष्ठ 209
11. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली, भाग 1, अनामिका प. एंड डिस्ट्री., दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृष्ठ 62
12. वही, पृष्ठ 76
13. वही, पृष्ठ 83
14. वही, पृष्ठ 92
15. रघुवंशी, प्रेमशंकर, (सं.), एक बेतकल्लुफ आदमी, भवानी भाई, गोपाल प्रसाद व्यास, संकलित– भवानी भाई, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1982 ई., पृष्ठ 124
16. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली – भाग 1, अनामिका प. एंड डिस्ट्री., दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृष्ठ 132
17. वही, पृष्ठ 136
18. रघुवंशी, प्रेमशंकर, (सं.), संपादकीय आलेख, भवानी भाई, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1982 ई., पृष्ठ पंद्रह–सोलह
19. कवि–व्यक्तित्व पर एक दृष्टि, डॉ. भगीरथ मिश्र, संकलित– वही, पृष्ठ 11
20. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली– भाग 1, अनामिका प. एंड डिस्ट्री., दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृष्ठ 132
21. वही, पृष्ठ 158
22. वही, पृष्ठ 160
23. वही, पृष्ठ 253
24. वही, पृष्ठ 107
25. वही, पृष्ठ 302
26. वही, पृष्ठ 303
27. वही, पृष्ठ 336
28. वही, पृष्ठ 341
29. मिश्र, भवानी प्रसाद, गाँधी पंचशती, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1969 ई., पृष्ठ 35
30. वही, पृष्ठ 341
31. सिंह, विजयबहादुर सिंह, (सं.), भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली– भाग 1, अनामिका प. एंड डिस्ट्री., दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृष्ठ 190
32. वही, पृष्ठ 200
33. वही, पृष्ठ 320
34. मिश्र, भवानी प्रसाद, नये सन्दर्भ की चिनगारी, संकलित– अंधेरी कविताएं, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1968 ई., पृष्ठ 95

मानव जीवन में संगीत का महत्व

डॉ. आशुतोष शर्मा *

सारांश

संगीत के बिना मनुष्य की वही स्थिति है जिस तरह एक खुले आसमान में पंछी की, बिना हवा के है । सार यही है की संगीत का मानव–जीवन में बहुमहत्ता और योगदान है। संगीत हमारे जीवन का निश्चित रूप से एक अहम् हिस्सा है जिसे हम चाह के भी नजरअंदाज नहीं कर सकते । संगीत आत्मा की खुराक है और यह सदाबहार है ।

मुख्य शब्द : *संगीत, संस्कृति, मानसिक स्वास्थ्य, भक्ति संगीत, लोक संगीत, मनोविज्ञान*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोधपत्र विश्लेषणात्मक अनुसंधान तथा गुणात्मक अनुसंधान पर आधारित है। इस शोध पत्र में संगीत से संबद्ध विश्लेषण करते हुए संगीत के महत्व और गुणात्मकता पर प्रकाश डाला गया है।*

सृष्टि के स्वर्णिम विहान से लेकर प्रलय की काली संध्या तक संगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है । जीवन–ग्रन्थ के पृष्ठों को कहीं से भी पलटिये, कोई भी अध्याय ऐसा नहीं जिसे संगीत से शून्य कह दिया जाय ।[1] संगीत मनुष्य की सबसे प्राचीन और प्रभावशाली कलाओं में से एक है। इसका इतिहास सैकड़ों वर्षों से भी पुराना है और इसके विभिन्न रूपों और शैलियों को विकसित किया गया है। अन्य कलाओं की तरह, संगीत भी मानवता के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता आया है। विभिन्न काल–खण्डों और संस्कृतियों में, संगीत ने अपने आप को नए तरीकों में प्रस्तुत किया है जो आज भी चल रहा है। संगीत का मानव जीवन में गहरा प्रभाव है। यह हमारे मानवीय अनुभव को आकार देता है और बढ़ाता है। संगीत हमें आत्म–परिचय में मदद करता है ।

संगीत मानव–जीवन में एक शक्तिशाली अंग है, और इसके महत्व को कम करके आंका नहीं जा सकता है। यह हजारों वर्षों से मानव सभ्यता में मौजूद है और इसने हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्राचीन अनुष्ठानों और समारोहों से लेकर आधुनिक मनोरंजन और भावनात्मक अभिव्यक्ति तक, संगीत मजबूत भावनाओं को जगाने और व्यक्तियों के बीच संबंध बनाने की क्षमता रखता है। संगीत की सबसे महत्वपूर्ण भूमिकाओं में से एक है भावनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता। इसमें खुशी, उदासी, उत्साह और पुरानी यादें जगाने की शक्ति है। चाहे वह जीवंत और उत्साहित धुन के माध्यम से हो या उदास धुन के माध्यम से, संगीत में हमारे दिल और आत्मा को इस तरह से छूने की क्षमता है कि अकेले शब्द ऐसा नहीं कर सकते। इसके अलावा, संगीत में लोगों को एक साथ लाने की अद्वितीय क्षमता है। यह भाषा और सांस्कृतिक बाधाओं को पार करता है और इसमें विभिन्न पृष्ठभूमि और मान्यताओं के व्यक्तियों को एकजुट करने की शक्ति है। यह समुदाय और साझा अनुभवों की भावना पैदा कर सकता है, लोगों के बीच अपनेपन और एकता की भावना को बढ़ावा दे सकता है। संगीत का मनुष्य पर भिन्न–भिन्न रूप से प्रभाव पड़ता है। यह आत्मा और मन को इस प्रकार झंकृत करता है कि इसकी महक हृदय के भीतर कोने–कोने में समा जाती है।

ध्वनि, संगीत का एक महत्वपूर्ण आधार है जो हमारे मानवीय अनुभव को गहराता है और उसे आकार देता है। संगीत की खोज और विकास के माध्यम से, हम नई आवाजें और स्वररंगों को जन्म दे रहे हैं जो हमें खुशी, आनंद और संतोष का अनुभव कराते हैं। संगीत का हमारे मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अध्ययनों से पता चला है कि संगीत सुनने से तनाव कम हो सकता है, चिंता कम हो सकती है और यहां तक कि संज्ञानात्मक कार्य में भी सुधार हो सकता है। इसमें हमें मन की विभिन्न अवस्थाओं में ले जाने की क्षमता है, जो रोजमर्रा की जिंदगी की मांगों और दबावों से मुक्ति दिलाती है। अपने भावनात्मक और चिकित्सीय लाभों के अलावा, संगीत फिल्म, विज्ञापन और शिक्षा जैसे विभिन्न

*असिस्टेंट प्रोफेसर, महाराणा प्रताप नेशनल कॉलेज, मुलाना (अम्बाला)

उद्योगों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। फिल्म में, संगीत का उपयोग कहानी को बढ़ाने और दर्शकों में विशिष्ट भावनाएं पैदा करने के लिए किया जाता है। विज्ञापन में, संगीत का उपयोग अक्सर उपभोक्ताओं के साथ एक यादगार और भावनात्मक संबंध बनाने के लिए किया जाता है।

संगीत एक विशेष शैली है, जिसे सभी लोगों के मनोभाव और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उपयोग किया जाता है। इसका सौंदर्य, मनोरंजन और शांति को बढ़ाने का खास असर होता है। संगीत की उत्पत्ति मानव सभ्यता के शुरुआती दौर से ही हो चुकी है और यह समय के साथ विकसित होता गया है। संगीत का महत्व अधिकतर अपनी संस्कृति और सांस्कृतिक विरासत के रूप में महसूस होता है। यह न केवल एक कला है, बल्कि आत्मा का एहसास है जो हमारे जीवन में समृद्धि और सुखद भावनाओं का संचार करता है। भारतीय संगीत शास्त्र का मूल साम गान पर आधारित है जो सामवेद से लिया है।[2]

शिक्षा में, संगीत का उपयोग संज्ञानात्मक विकास को प्रोत्साहित करने और सीखने के अनुभवों को बढ़ाने के लिए किया जाता है। निष्कर्षतः, संगीत का मानव जीवन में बहुत महत्व है। इसमें भावनाओं को जगाने, लोगों को एक साथ लाने और हमारी मानसिक भलाई में सुधार करने की शक्ति है। चाहे वह व्यक्तिगत आनंद के लिए हो, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए हो, या व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए हो, संगीत अनगिनत तरीकों से हमारे जीवन को समृद्ध और बेहतर बनाने की क्षमता रखता है। संगीत लंबे समय से सभी संस्कृतियों और धर्मों में आध्यात्मिक उपलब्धि से जुड़ा रहा है। इसमें आत्मा का उत्थान करने और व्यक्तियों को उच्च शक्ति या आंतरिक आत्म से जोड़ने की शक्ति है। कई आध्यात्मिक प्रथाओं में संगीत को ध्यान, प्रार्थना या पूजा को बढ़ाने के साधन के रूप में शामिल किया गया है। संगीत को आध्यात्मिक प्राप्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का एक प्रमुख कारण भाषा और तर्कसंगत सोच से परे जाने की इसकी क्षमता है। संगीत की सामंजस्यपूर्ण धुनें और लय विश्लेषणात्मक दिमाग को पार कर सकती हैं और हमारी चेतना के गहरे क्षेत्र में प्रवेश कर सकती हैं। यह हमें गहन जागरूकता, आंतरिक शांति और आध्यात्मिक संबंध की स्थिति तक पहुंचने की अनुमति देता है। विभिन्न आध्यात्मिक परंपराओं में संगीत के विभिन्न रूपों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, ग्रेगोरियन मंत्र ईसाई अनुष्ठानों में प्रमुख हैं, जबकि सूफी चक्कर समारोह में लयबद्ध और ट्रान्स–प्रेरक संगीत शामिल होता है। हिंदू धर्म में देवताओं की स्तुति और आह्वान के लिए भजन और कीर्तन गाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, दुनिया भर की स्वदेशी संस्कृतियाँ अपनी आध्यात्मिक प्रथाओं में संगीत और जप का उपयोग करती हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों से यह भी पता चला है कि संगीत का मन और शरीर पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यह तनाव कम करने, रक्तचाप कम करने और विश्राम को बढ़ावा देने वाला पाया गया है। ये शारीरिक लाभ आध्यात्मिक प्रथाओं के लक्ष्यों के साथ संरेखित होते हैं, जिनका उद्देश्य शांत और केंद्रित स्थिति विकसित करना है। इसके अलावा, संगीत में भावनाओं को जगाने और व्यक्तियों के बीच एकता की भावना पैदा करने की शक्ति है। जब लोग जप करने या गाने के लिए एक साथ आते हैं, तो एक सामूहिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। यह सामुदायिक अनुभव परस्पर जुड़ाव की भावनाओं को बढ़ा सकता है और आध्यात्मिक विकास को सुविधाजनक बना सकता है। चाहे वह भक्ति संगीत सुनना हो, समूह गायन में भाग लेना हो, या कोई वाद्य–यंत्र बजाना सीखना हो, किसी की आध्यात्मिक यात्रा में संगीत को शामिल करना एक गहरा समृद्ध और परिवर्तनकारी अनुभव हो सकता है। यह आत्म–अभिव्यक्ति, आत्म–खोज और परमात्मा के साथ संवाद के लिए एक अनूठा अवसर प्रदान करता है। निष्कर्षतः, संगीत और आध्यात्मिक प्राप्ति के बीच संबंध इस विश्वास में निहित है कि संगीत पारलौकिक संबंध स्थापित कर सकता है और हमारे अस्तित्व के आध्यात्मिक पहलुओं का पोषण कर सकता है। चाहे औपचारिक धार्मिक सेटिंग में अभ्यास किया जाय या व्यक्तिगत चिंतन में, संगीत में चेतना को ऊपर उठाने, आंतरिक शांति को बढ़ावा देने और आध्यात्मिक विकास को सुविधाजनक बनाने की क्षमता है।

मनुष्य का जीवन संगीत के बिना विनाशी होता है। संगीत मन, आत्मा, और भावनाओं के संवाद का माध्यम है जो हमारी रूचि, संतोष, और समृद्धि को बढ़ाता है। भारतीय संगीत एक अत्यंत प्राचीन संस्कृति है, जो इतिहास के विभिन्न युगों में विकसित हुई है। भारतीय संगीत को शास्त्रीय और लोकसंगीत के दो विभाजनों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

शास्त्रीय संगीत : भारतीय शास्त्रीय संगीत

एक विशिष्ट संरचना और ढंग से गाया–बजाया जाने वाला संगीत है। इसमें विभिन्न रागों, तालों, और स्वरों का उपयोग किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में गायन, वादन, और नृत्य के अलग–अलग रूप होते हैं।

लोकसंगीत : भारतीय लोकसंगीत जनमानस के साथ संबद्ध है और यह लोगों के जीवन के विभिन्न पहलुओं को दर्शाता है। इसमें गीत, बार्मेर, भजन, लोकगीत, रागनी, ढोलकपूरा, भवाई आदि शामिल होते हैं। भारत के विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में लोकसंगीत के विभिन्न रूप होते हैं।

शास्त्रीय संगीत का महत्व

मानसिक स्वास्थ्य का संरक्षण : संगीत की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मानसिक स्वास्थ्य का संरक्षण करने में है। विभिन्न शोधों में साबित हुआ है कि संगीत मन को शांत करता है, तनाव को कम करता है और मानसिक चिंताओं को दूर करता है। संगीत में स्वर, ताल और लय का सम्मिलन मन को आनंदित बनाता है और उसे प्रसन्न मुद्रा में ला देता है। विशेष रूप से ध्यान और एकाग्र मन के लिए संगीत का उपयोग किया जाता है, जो मानसिक स्वास्थ्य को सुधारता है और अवसाद, चिंता, तनाव और निद्रा की समस्याओं का सामना करने में मदद करता है। वैदिक काल से ही संगीत को रोग निवारक माना जाता रहा है। विभिन्न रागों के प्रयोग से रोगों का इलाज किया जा सकता है और मनोरोगों को दूर किया जा सकता है।

भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम : संगीत, व्यक्ति की भावनाओं, भावुकता और विचारों को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम है। संगीत के माध्यम से व्यक्ति अपनी भावनाओं का समर्थन और अभिव्यक्ति करता है। इससे उसका मनोबल बढ़ता है और सकारात्मकता की भावना होती है। संगीत अपने रस भाव, से सुनने वाले के मन पर एक खास प्रकाश डालता है और उसे समस्त विचारों को समझने और धारण करने में मदद करता है।

समृद्धि और समरसता का साधन : संगीत मानवता की अनूठी समृद्धि और समरसता को बढ़ाने में मदद करता है। संगीत एक ऐसा कारण है जो सभी लोगों को एकजुट करता है, चाहे वह एक दूसरे से कितने भी भिन्न हों। मन को शांति और सुकून देना इसका प्रमुख कारण है। यह विचलित व चंचल मन को स्थिर करता है। निःसंदेह संगीत की मधुर धुनें मन को शांत करती हैं ।

शक्ति और उत्साह का स्रोत : संगीत शक्ति और उत्साह की सृष्टि करता है। युद्धभूमि में सैनिकों को प्रेरित करता है और उनके मनोबल को बढ़ाता है।

भक्ति की साधना : धार्मिक संगीत द्वारा भक्ति और आध्यात्मिकता की भावना को व्यक्त किया जा सकता है। भगवान की स्तुति और उनके नाम के चंगेरों से आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जन में लोक संगीत का महत्व

लोकसंगीत भारतीय संस्कृति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है और इसका महत्व विभिन्न पहलुओं में होता है। निम्नलिखित कुछ कारण हैं कि लोकसंगीत क्यों महत्वपूर्ण है और इसकी जीवन में क्या भूमिका है–

सांस्कृतिक समृद्धि : लोकसंगीत भारतीय सांस्कृतिक समृद्धि का प्रतीक है। इसमें विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों की अलग–अलग संस्कृति और परंपराओं को दर्शाया जाता है और इससे समृद्ध संस्कृति की विविधता का पता चलता है। संगीत समाज एवं संस्कृति का प्रतीक है।[3]

लोक संवाद : लोकसंगीत लोगों के बीच संवाद का माध्यम है। यह जनमानस की भावनाओं, विचारों, और समस्याओं को साझा करने का माध्यम है। लोकसंगीत एक–दूसरे के साथ जुड़ने में मदद करता है।

समाज सुधार : लोकसंगीत में विभिन्न सामाजिक मुद्दों को उठाने वाले गीत होते हैं। इन गीतों के माध्यम से लोगों को सामाजिक जागरूकता, विचारधारा परिवर्तन और समाज में सुधार के लिए प्रेरित किया जाता है।

मनोरंजन : लोकसंगीत एक मनोरंजक कला है जो लोगों को मनोरंजन करती है। इसमें विभिन्न प्रकार के गाने, नृत्य, और वाद्य शामिल होते हैं, जिनसे लोग आनंद लेते हैं और अपने दैनिक जीवन की थकान भूल जाते हैं।

संस्कृति और परंपरा के आधार : लोकसंगीत भारतीय संस्कृति और परंपरा का महत्वपूर्ण आधार है। इसमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संदेश और गुणगान लोकसंगीत के माध्यम से पहुंचाया जाता है।

लोकसंगीत न केवल भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है बल्कि इससे समाज में समरसता, एकता, और सामाजिक समझदारी का संदेश भी मिलता

है। इसलिए, लोकसंगीत का समर्थन और संरक्षण करना महत्वपूर्ण है ताकि हमारी संस्कृति और परंपरा की धरोहर का साक्षात्कार किया जा सके।

संगीत और मनोविज्ञान

संगीत मनोविज्ञान या साइकोलॉजी ऑफ म्यूजिक एक रुचिकर और महत्वपूर्ण विषय है जो गायन, संगीत श्रोता, और संगीतकारों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करता है। संगीत मनोविज्ञान उन भावनाओं, विचारों, और अनुभूतियों का पता लगाता है जो लोगों को संगीत सुनने और बनाने के दौरान आते हैं।

संगीत मनोविज्ञान के कुछ मुख्य विषय :

ध्वनि और इमोशन : संगीत में उपयोग होने वाले ध्वनियों और संगीतीय तत्वों का मनोवैज्ञानिक परिणाम होता है। यह विभिन्न इमोशन्स (भावनाएं) को उत्पन्न करने में मदद करता है, जैसे कि गुस्सा, खुशी, उत्साह, शोक, आदि।

संगीत और मानसिक स्वास्थ्य : संगीत का सुनना और गाना मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने में मदद कर सकता है। यह तनाव को कम करने, उच्च ध्यान स्तर को बढ़ाने और मन को शांत करने में मदद करता है।

संगीत का प्रभाव : संगीत के भौतिक और मानसिक प्रभाव का अध्ययन संगीत मनोविज्ञान का एक अहम पहलु है। इसमें संगीत के रौंगते आना, ध्वनि के प्रभाव, और मस्तिष्क गतिविधियों का अध्ययन शामिल होता है।

संगीत का उपयोग और चिकित्सा : संगीत कार्यों और ध्वनियों का उपयोग चिकित्सा में भी किया जाता है, जैसे कि संगीत चिकित्सा और म्यूजिक थेरेपी। यह विभिन्न मानसिक समस्याओं का इलाज करने में मदद कर सकता है।

संगीतकारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : संगीतकारों के मनोवैज्ञानिक तत्वों का अध्ययन संगीत मनोविज्ञान के अन्तर्गत आता है। यह उनके संगीत बनाने के प्रक्रिया, सृजनशीलता, स्थायित्व और संगीत में उनके रूचिकर फैसलों के पीछे के कारणों का अध्ययन करता है।

संगीत मनोविज्ञान एक रोचक और उपयोगी शाखा है जो संगीत के प्रभाव, संगीतकारों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं और संगीत में अनुभूतियों का अध्ययन करता है। यह हमें संगीत के गहरे संबंधों को समझने में मदद करता है।

संगीत और मोक्ष :

ऐसा कहा जाता है की संगीत परमात्मा तक पहुँचने में सहायक है।[4] संगीत से मोक्ष की प्राप्ति को धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भ में समझने के लिए, हमें हिंदू धर्म के वेदांत तत्त्वों को समझना आवश्यक है। वेदांत के अनुसार, मनुष्य की आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म (अनन्त आत्मा या परमात्मा) का अभिन्न अंश है। मनुष्य का आत्म साक्षात्कार या अपने आत्मा के साथ एकीकरण, उसे मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग खोलता है। संगीत एक ऐसा माध्यम हो सकता है जो इस मार्ग को सुगम और अधिक प्रभावशाली बनाता है।

संगीत का अभ्यास और अनुशासन मन को एकाग्र करता है और उसे ध्यान में एकत्रित करने में सहायक होता है। जब एक व्यक्ति संगीत को अनुभव करता है और उसमें खो जाता है, तो वह ध्यान में भी स्थिर होता है और उसका मन चिंताओं और विचारों से शांत हो जाता है। इस शांत अवस्था में, उसके अंतरंग मन की गहराईयों को समझने का मौका होता है और वह अपने सत्य स्वरूप को पहचान सकता है।

धार्मिक अनुष्ठानों में भी संगीत का अपना विशेष महत्व है। कई धार्मिक संगीत पथ (भजन, कीर्तन, सुफी संगीत आदि) व्यक्ति को आत्मीयता और आध्यात्मिक संवाद का अनुभव करने में मदद करते हैं और उसे भक्ति और भावुकता के साथ आत्मीय रूप से जोड़ते हैं। संगीत के माध्यम से, व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति, मन की शुद्धि, और आत्मा के साथ एकाग्रता के मार्ग में सहायता हो सकती है, जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग मिलता है। यह ध्यान और साधना का एक सुंदर तरीका है जो व्यक्ति को अंततः आनंद, शांति, और मुक्ति की प्राप्ति के पथ पर ले जाता है।

संगीत का इतिहास एक रोचक और समृद्ध यात्रा है, जो कई सदियों के दौरान विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों से उत्पन्न हुआ है। इसे भारतीय उपमहाद्वीप में हुए सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तनों ने आकार दिया है। संगीत के इतिहास के मुख्य कालों में संगीत की स्थिति इस प्रकार थी :

प्राचीन और मध्ययुग :

हिंदी संगीत की जड़ें प्राचीन काल में वेदीय मंत्र और स्तुति से जुड़ी हैं। ये श्रेष्ठ रचनाएँ धार्मिक कार्यक्रमों और अनुष्ठानों के दौरान प्रस्तुत की जाती थीं। समय के साथ, वीणा, सितार, और तबला जैसे विभिन्न संगीत वाद्ययंत्रों का उद्भव हुआ। संगीत का इतिहास अन्य कलाओं या विद्याओं के इतिहास की अपेक्षा कही अधिक अगम्य होता है।[5]

भक्ति और सूफी परंपराएँ (15वीं–18वीं सदी) :

मध्ययुगीन काल में भक्ति और सूफी आंदोलन ने संगीत को गहराई से प्रभावित किया। कबीर, सूरदास, और तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने भक्ति गीतों की रचना की, जो सरल धुनों में गाए जाते थे और जनता द्वारा आसानी से समझे जाते थे। उसी तरह, सूफी संत और कवि अमीर खुसरो ने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत और कव्वाली के विकास में योगदान दिया, जो पर्शियन और भारतीय संगीतीय तत्वों को मिलाकर बनाया गया।

मुगल शासनकाल (16वीं–18वीं सदी):

मुगल शासकों के काल में संगीत को और भी समृद्धि मिली। मुगल दरबार में प्रसिद्ध संगीतकारों का आकर्षण था, जिससे पर्शियन और भारतीय संगीतीय शैलियों का मेल हुआ। तब ध्रुपद, खयाल, और ठुमरी जैसे संगीत रूप विकसित हुए।

फिल्मी संगीत की उत्पत्ति (20वीं सदी):

20वीं सदी की शुरुआत में भारतीय फिल्म उद्योग, जिसे आम तौर पर बॉलीवुड के नाम से जाना जाता है, शुरू हुआ। 1931 में पहली बातचीती फिल्म ''आलमआरा'' के रिलीज के साथ ही फिल्मों में संगीत की मांग तेजी से बढ़ी।

निष्कर्ष : इस प्रकार जीवन में संगीत के अभाव का प्रभाव निम्नानुसार पड़ सकता है :

आत्मिक शांति का अभाव : संगीत के बिना मन को शांत और स्थिर रखना मुश्किल होता है। ध्यान, चिंतन, और आत्मिक शक्ति के लिए संगीत अपरिवर्तनीय भूमिका निभाता है।

भावनाओं की कमी : संगीत के माध्यम से हम अपने भावनाओं को व्यक्त करते हैं और उन्हें व्यक्त करते हैं। संगीत के बिना, हमारे मन की आंतरिक दुनिया अवर्णनीय होती है।

समृद्धि का अभाव : संगीत हमारे जीवन में समृद्धि और खुशियों का स्रोत है। रागों और धुनों के माध्यम से हम अपने जीवन में उत्साह और आनंद को बढ़ा सकते हैं।

भावुकता का अभाव : संगीत एक ऐसा साधन है जिससे हम भावुकता को व्यक्त कर सकते हैं। गाने के जरिए हम अपने आंतरिक दर्द, सुख, और उत्साह को अबोध रूप से जाहिर कर सकते हैं।

जीवन की उदासीनता : संगीत के अभाव में जीवन उदासीन हो जाता है। रागों की मधुरता और स्वरों की सहजता के बिना, जीवन का संचार और सहजता खो जाती है।

भावनाओं का दबाव : संगीत के बिना, हमारे भावनाओं का दबाव बढ़ जाता है। भावनाएं अचानक और असंतुलित ढंग से व्यक्त होती हैं जो हमें आंतरिक शांति से वंचित करती हैं।

आत्मविश्वास का कमी : संगीत आत्मविश्वास को बढ़ाता है और हमें खुद पर विश्वास करने में मदद करता है। इसके अभाव में, हमारा आत्मविश्वास कमजोर हो जाता है और हम अपने क्षमताओं पर संदेह करने लगते हैं।

रूचि का अभाव : संगीत के बिना, हमारे जीवन से रूचि का अभाव हो जाता है। संगीत हमें नया और सुंदर समय बिताने के लिए प्रोत्साहित करता है और हमें अपने दिनचर्या को उत्पादक बनाने के लिए प्रेरित करता है।

सन्दर्भ सूची :

1. वसंत, संगीत विशारद, पृ. 524
2. आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सामवेद सहिता, पृ. 19
3. थत्ते, डॉ. अनया तथा पटेल, विजल, गीत विविधा, पृ. 02
4. टाक, तेज सिंह, सुबोध संगीत शास्त्र, पृ. 02
5. शर्मा, स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 7

उत्तर भारतीय संगीत में राग एवं उससे उत्पन्न रस : एक महत्वपूर्ण तत्त्व

अलंकार महतोलिया*

सारांश

संगीत वह ललित कला है, जिसकी स्वर–लहरी में डूबकर प्राणी को आलौकिक आनंद एवं रस की अनुभूति होती है। जीवन की जटिलता से घिरा हुआ मानव जिस समय सच्चे सुमधुर संगीत का रसास्वादन करता है, उसका अन्तःकरण सुख एवं शान्ति से अभिभूत हो तृप्त हो जाता है। संगीत आत्मा का उपादान है और मानव भावना–प्रधान प्राणी है। उसके अन्तर में बसने वाली विशिष्ट भावनाओं को उद्वेलित कर, इसकी सृष्टि करना ही कला का उद्देश्य है। संगीत में नाद द्वारा अभिव्यक्ति करते हैं। नाद–सौंदर्यजनित आनन्द प्रत्येक प्राणी ले सकता है।

संगीत की सृष्टि करते समय गायक–वादक जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे वास्तविक भाव होते हैं, जरूरी नहीं है कि करूण रस की अभिव्यक्ति के समय कलाकार लौकिक रूप से पीड़ित हो, गायक, वादक स्वरों के द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वह प्राणी मात्र हृदय के संवाद के द्वारा श्रोताओं के रजोगुण, तमोगुण, राग–द्वेष रूपी ग्रन्थियों को खोलकर इस हृदय में जिस चेतना का अनुभव कराते हैं, उसी को संगीतज्ञ की भाषा में रस कहते हैं।

मुख्य शब्द : *संगीत राग, रस, आनन्द*

प्रविधि : *पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है ।*

भारतीय संगीत में 'रस' को वही सर्वोपरि स्थान प्राप्त है जो पाश्चात्य संगीत में सौंदर्य को, बाह्य अलंकरणों से अलंकृत होने के साथ ही भारतीय संगीत में गायक और श्रोता के मध्य भावात्मक सामांजस्य स्थापित करने का असीम आत्मपरितोष व आनन्द की उत्पत्ति करने की भी क्षमता है। इसी आनन्द की चरम अवस्था संगीत की रसावस्था कही जाती है। **इमर्सन ने कहा है**– कलाकार की इन्हीं व्यक्तिगत अभिव्यंजनाओं से कला में विशिष्टबद्धता का विकास होता है।

रस का संगीत से संबंध– रस मानव–जाति के अन्तःकरण में वास करने वाली विशिष्ट भावनाओं का परमोत्कर्ष है। उन भावनाओं की पराकाष्ठा को रस कहा गया। नाट्यशास्त्र में इस स्वरूप का सर्वांग निरुपण है। संगीत में प्रयुक्त रसों के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में विशेष उल्लेख जाति–प्रकरण में है अर्थात् भिन्न–भिन्न जातियों का किस–किस रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग होना चाहिए, यह बताते हुए भरत ने संगीत में रस की चर्चा की है। रस के सम्पर्ण विवेचन का आधार निम्न सूक्ति हैः–

तत्र विभावानुभावाव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

नाटयशास्त्र

तत्पश्चात् 'संगीत रत्नाकर' आदि ग्रन्थों में विशेष रसों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष स्वरों की उपयोगिता के संबंध में कहा गया–

सरी वीरेऽद्भुतेरौद्रविभत्सेभयानके ।
कार्यो गनी तु करूण हास्यश्रृंगारयोर्मयो ।।

अर्थात्

हास्य, श्रंगार रस में	–	मध्यम, पंचम
वीर, रौद्र, अद्भुत रस में	–	षड्ज, ऋषभ
करूण रस में	–	गांधार, निषाद
भयानक, वीभत्स रस में	–	धैवत

स्वरों के इस रस–विधान के अनुसार, इन स्वरों की प्रधानता जिन रागों में पाई जाय, उन्हें उन रसों के लिए उपयोगी मान लिया जाय ।

प्राचीन शास्त्रकार एक स्वर से एक रस की उत्पत्ति मानते हैं पर ऐसा सम्भव नहीं, उनके अनुसार

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग (गायन), डी.एस.बी. कैम्पस, नैनीताल, उत्तराखण्ड

षड्ज से वीर रस व पंचम से श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है पर सभी रागों में षड्ज और अधिकतर पंचम का प्राबल्य रहता है। इस प्रकार सभी राग वीर और श्रृंगार रस के होने चाहिए। वास्तव में एक स्वर जब तक अन्य स्वरों का सहयोग नहीं लेगा, रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। केवल पंचम स्वर से तो श्रृंगार रस की उत्पत्ति नहीं हो जाएगी। यह दूसरी बात है कि श्रृंगार रस–प्रधान राग में पंचम का प्राबल्य हो, परन्तु पंचम को जब तक राग के अन्य स्वर का साहचर्य नहीं प्राप्त होगा, रस निष्पत्ति नहीं हो सकती। सारांश में राग का एक प्रमुख स्वर वादी अपने सहयोगी स्वर–संवादी, अनुवादी, विवादी स्वर का सहयोग लेकर ही रस उत्पत्ति करते है।

संगीत कला के विभिन्न रसों की सृष्टि के लिए जो विशिष्ट स्वर–समुदाय निश्चित किए गए हैं, उन्हें राग कहते हैं। राग की परिभाषा ही है– **'रंजयतीति रागः ।**

हिन्दुस्तानी पद्धति में स्वर के अनुसार तीन वर्ग किए हैं:–

1. रे ध कोमल स्वर वाले संधि प्रकाश रागों में – शांति व करूण रस
2. रे ध तीव्र स्वर वाले रागों में – श्रृंगार रस
3. –ग नी कोमल स्वर वाले रागों में – वीर रस

साहित्य में नौ रस–श्रृंगार, हास्य, करूण रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अदभुत और शान्त माने गए। नवरस होते हुए भी पं. भातखण्डे ने संगीत में मुख्यतः तीन ही रस माने– श्रृंगार, वीर, करूण । इनके साथ ही शान्त रस का भी संगीत में महत्त्व है ।

सात स्वरों में स्वयं यह गुण है कि वे अलग–अलग रसों की निष्पत्ति करते हैं और इन्हीं स्वरों का सन्निवेश राग कहलाता है। गीत से मिलकर राग 'रस' को मूर्त रूप देता है। राग में रंजकता तब ही आती है, जब रागों का स्वर–सन्निवेश किसी रस के प्रसारण का साधक बने। राग संगीत का एक विशिष्ट शास्त्र है, जो राग को रंजक बनाता है– राग स्वरूप को कायम रखता है, और गीत के माध्यम से राग को मूर्त रूप देता है।

राग के संबंध में महत्वपूर्ण मान्य सिद्धान्त इतना ही है कि किसी कलाकार के द्वारा प्रस्तुत राग–रूप किसी नियम पर आधारित है अथवा नहीं ? और उस राग को प्रस्तुत करते समय किस प्रकार स्वरों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे वह विशिष्ट रस और सौंदर्य की अभिव्यक्ति करें ।

राग के सौंदर्य का मूल हेतु खोजते–खोजते राग में रस–निष्पत्ति की कल्पना का उद्‌गम हुआ। संगीत में ध्वनि ही साधन है। वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर ज्ञात हो सकता है कि किस ऊंचाई–निचाई के स्वर का क्या प्रभाव पड़ता है। वह स्वर सापेक्ष होते हैं। प्रत्येक राग में स्वर लगाने के भिन्न प्रकार होते हैं। अलग–अलग स्वरों के प्रयोग से, स्वरों के परस्पर संयोग से, कोमल और तीव्र स्वरों वाले रागों से भिन्न–भिन्न रस की उत्पत्ति होती है ।

शुद्ध स्वरों वाले राग शान्त और गम्भीर रस के अनुकूल होते हैं, जैसे भूपाली, बिलावल आदि । दो मध्यम वाले राग प्रायः श्रृंगार रस के होते हैं– जैसे छायानट, बिहाग, श्यामकल्याण आदि । कोमल ऋषभ–धैवत वाले राग प्रायः भक्ति रस–प्रधान होते हैं– जैसे भैरव, कालिंगड़ा इत्यादि। ग–ध–नी कोमल स्वर वाले राग प्रायः वीर रस–प्रधान माने जाते हैं, पर इसका अपवाद भी है। मालकौंस में वीर रस की अपेक्षा श्रृंगार रस की बंदिशें अधिक मिलती हैं, जैसे– 'मुख मोड़ मोड़ मुस्कात जात', 'कोयलिया बोले अंबुवा की डाल पर', 'ऋतु बसंत को देत संदेसवा' आदि। मालकौंस में वीर रस की रचनाएँ भी हैं ।

स्थाई : भेरी बजी संग्राम की, चहूँ ओर से गूँजी दिशाएँ ।

अंतरा : आकाश में रण रैम छायो, भयभीत हो रिपु काँप जाये।

अर्थात् शब्द काव्य–योजना के अनुसार भी रस का आर्विभाव होता है–

आज राग–रस संबंधी अनेक विचारधाराएं विचारणीय हैं–

1. राग का रस निश्चित है।
2. एक ही राग के अनेक रस हैं।
3. एक ही राग से अनेक रस–निर्माण हो सकत हैं।
4. राग का रस से कोई संबंध नहीं, रस काव्य का विषय है।
5. राग–गायन का मन पर जो परिणाम होता है, वह नाद मोह है। वह अवर्चनीय व अवर्णनीय है।

अव उपरोक्त विचारधाराओं का विश्लेषण करते हैं–

1. राग का रस निश्चित है– राग के स्वर–संधान से, समयानुसार निश्चित ऋतु में महफिल

योग्य वातावरण देखकर अपनी व श्रोताओं की मनस्थिति समझकर, निश्चित ग्रह, अंश, न्यास, अल्पत्व–बहुत्व, मींड, गमक आन्दोलन, रागांग, दर्शक, स्वरसंगति, स्वर उच्चारण शैली, कण प्रयोग, राग चलन वैशिष्ट्य, शुद्ध स्वर सन्निवेश, सुयोग्य तालयुक्त गाया जाये तो रस अवश्य उत्पन्न होगा।

समयानुसार रागों का चयन कर, उसके योग्य काव्य शब्द हों तो मन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा । समयानुसार मनुष्य के अन्दर विभिन्न प्रकार की भावनाएँ व विचार उठते हैं। प्रातः काल के शान्त वातावरण में मनुष्य का हृदय शान्ति व भक्ति से ओत–प्रोत रहता है, अतः इस समय शान्त व भक्ति रस का राग भैरव, जोगिया आदि राग गाये जाते हैं। सूर्यास्त के समय थके हारे मनुष्य का मन विषाद व वैराग्य से भरा रहता है। उस समय वैराग्यपूर्ण, उपदेश भरे, करूण रस मिश्रित राग श्री, पूर्वी, मारवा आदि राग गाये जाते हैं। रात्रि के प्रथम व द्वितीय प्रहर में मानव मन में श्रृंगारिक भावनाएँ जागृत होती हैं– इस समय श्रृंगार रस–प्रधान राग जैजैवन्ती, बिहाग इत्यादि गाए जाते हैं। हम देखते हैं बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर राग गायन–समय निर्धारित किया गया है।

2. एक ही राग के अनेक रस– संगीत का परिवर्तन जनरूचि पर है। आज अपनी–अपनी स्वयं की कृतियों या बंदिशों में अपनी–अपनी शब्द–योजना कलाकार करने लगे हैं। कभी–कभी एक ही बंदिश को दूसरे राग में भी बांधकर गाते हैं। कभी–कभी एक ही राग में अनेक रसों की विभिन्न कविताएँ बनाकर नई–नई स्वर–संगतियों का समावेश करते हैं। फलस्वरूप राग–स्वरूप पर मतभेद भी होता है।

3. एक ही राग से अनेक रस–निष्पत्ति– इसे करना गायन वादक की कुशलता पर निर्भर है। करूण, वीर पोषक रागों में स्वर, लय की सहायता से श्रृंगार रस का आर्विमाव हो सकता है। मूल रस को न भूलते हुए, पृथक–पृथक स्वर–संगतियों द्वारा लय की सहायता से अनेक रस उत्पन्न करें तो वह 'कलावंत' भी कहलायेगा। पर गायक–वादन क्रिया में कौन से रस में कौन–सा रस मिश्रित करने से प्रभाव पड़ेगा, ध्यान रखना पड़ता है। करूण में हास्य, रौद्र में शान्ति मिश्रण से विसंगति आ जाएगी। हमारे शास्त्रीय संगीत में बहुत से मिश्रराग हैं, जिनमें दो रागों का मिश्रण होता है, उदाहरणार्थ– वसंत बहार, यहाँ दोनों ही राग एक ही प्रकृति के हैं व श्रृंगार रस के द्योतक हैं, पर भैरव बहार में भैरव एक गम्भीर प्रकृति व शान्त रस का है जबकि बहार श्रृंगार रस प्रधान ।

4. रस काव्य का विषय है– संगीत के रागों में काव्य एक घटक होने से राग का संबंध भी रस से है। **कारलाइल ने कहा है**– "कविता संगीतमय विचार है"। ध्वनि व लय का उपयोग कविता व संगीत में समान रूप से होता है। सूरदास के पद अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति और कलात्मक शब्द–योजना के कारण ही आह्लादकारी है। उनकी भावानुकूल राग–योजना भी काव्य के भाव–वैभव की समृद्धि में सहायक है।

5. राग गायन का परिणाम व प्रभाव नाद मोह है– राग सुगन्धित पुष्पों के समान है। यद्यपि सुगन्ध से रस निष्पत्ति नहीं होती है, फिर भी मन पर अवर्णनीय प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार राग–गायन में मन पर एक प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसे हम नाद मोह कह सकते हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक ही रस उत्पन्न करेगा।

रागों में रस–संबंधी तथ्य– इस विषय में कह सकते हैं कि आज रागों का रस निश्चित करने के लिए उनके शुद्ध–विकृत स्वर तथा उनके स्वर–संगतियों द्वारा निश्चित करना साधारण कार्य नहीं, फिर भी हम कह सकतें है कि भैरव का अति कोमल आन्दोलित रे ध तथा दरबारी का अतिकोमल आन्दोलित ग ध गाम्भीर्ययुक्त है। गौड़सारंग व मांड की वक्रता चंचलताद्योतक है। बागेश्री, आभोगी के स्वर मंगलता दर्शाते हैं। देशकार के धेवत, पंचम स्वर तथा पंचम पर न्यास आह्लाद के प्रतीक हैं। तोड़ी अंगवाचक स्वर सा रे ग, रे ग, रे सा करूणा से भरे हैं।

पूरिया, मारवा, सोहनी के स्वर–समान हैं पर अंश स्वर एवं स्थान–भेद मन्द्र, मध्य, तार के कारण गाम्भीर्य व शान्त, मारवा वीरता का पोषक व सोहनी चंचलतायुक्त है। एक ही स्वरावलि होते हुए भी लयभेद से रामकली चपल, भैरव गंभीर व कालिंगड़ा श्रृंगारयुक्त है। शंकरा, अड़ाना, हिंडोल, वीररस युक्त है। जोगिया, कलिंगड़ा करूण रस के हैं। खंभावती, झिंझोटी, खमाज, तिलंग आदि राग श्रृंगार के द्योतक हैं।

अर्थात् यह निश्चित है कि राग का संबंध रस से था और है, पर एक राग से एक ही रस उत्पन्न होना संभव है अथवा अनेक रस उत्पन्न हो सकते हैं, और वे

कौन–से स्वरों व स्वर–संगतियों से उत्पन्न होंगे? यह प्रश्न विचारणीय है ।

भरत काल में भी जाति के रस थे, पर 'षड्जमध्यमा' यही एक जाति ऐसी है, जो अनेक रसों के अनुकूल है, श्रुति–जाति का भी रस से सम्बन्ध था। पर, रागों के सन्दर्भ में इस विषय पर मनन करने से इस संबंध में कुछ तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं–

कोमल स्वर कोमल भाव, तीव्र स्वर तीव्र भाव व्यक्त करेंगे पर यदि तीव्र स्वर का उच्चारण मृदुता से करें तो कोमल भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार कोमल स्वर मींड आन्दोलनयुक्त स्वर–उच्चारण से गाम्भीर्य; मुर्कियों से चपलता; बोल आलाप, तान जिसमें प्रबल स्वर न हो उससे श्रृंगार; गमक तान से वीरता; स्वर कम्पन व कण सहित मींड से करूण; तानों के गमकयुक्त स्वरों से वीरता तथा प्रौढभाव आदि दर्शाया जा सकता है ।

निष्कर्ष :

राग का रस से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हाँ, भावना जागृत कर इस निर्माण के लिए गाने की शैली उपयुक्त कंठ–स्वर–उच्चारण, गीत शब्द, लय, संगत के वाद्य, हाव–भाव के यथोचित प्रयोग से इसका काफी मा़त्रा में परिपाक हो सकता है।

रस का सागर अथाह है। रागों की संख्या असंख्य है। नित्य नये राग निर्मित हो रहे हैं। राग सुगन्धित, रस–सौन्दर्ययुक्त पुष्पगुच्छ के समान है। रस–सिद्ध–गायक वादक रसिक श्रोता पर एक अवर्णनीय प्रभाव छोड़ देता है। इसी से कहा गया है– "Music, when soft voices die, vibrates in the memory".

इस प्रकार, हमारा संगीत रसोत्पत्ति करने में सक्षम है। राग की अवधारणा से रस का जो प्रताप, जो स्वर निर्झर बहता है, उसके रसमय जलकणों से भींगकर थका हुआ प्राणीरूपी राही अपनी समस्त थकावट को भूल जाता है और उससे जो रसास्वाद होता है, वह उसे मिल सकता है, संगीत में और केवल भारतीय संगीत में ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. जैन रेनू, स्वर और राग
2. पाठक, डा. सुनंदा, हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास
3. चौधुरी विमलाकान्त राय,राग व्याकरण
4. डॉ. राकेश व मधुबाला, संगीत मधुबन
5. सिंह ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास

निर्गुण भक्ति के प्रणेता कबीर दास

मेघना कुमार*

शोध सारांश

भारतीय संस्कृति में अनेक संत हुए जिन्होंने समाज को नई दिशा दी। अपने समय तक प्रचलित व्यवस्था में व्याप्त बुराइयों को अपनी तपश्चर्या के बल से तथा अपने व्यवहार से बदलने का प्रयास किया । इन सुधारवादी संतों में कबीरदास का नाम आता है । कबीर दास ने अपने समय में व्याप्त अनेक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयत्न किया । किसी जाति–विशेष को ही भक्ति करने की अर्हता हो, इस बात का खंडन किया । अन्य जातियों के लिए भी भक्ति करने का उपदेश दिया तथा निर्गुण ब्रह्म 'राम' की उपासना का सूत्र समाज के समक्ष रखा ।

सूचक शब्द : *निर्गुण, भक्ति, जुलाहा, रूढ़ि, अस्पृश्य, विरोधाभासी*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन के लिए पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं से तथ्य सामग्री एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया है ।*

उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन का उद्देश्य कबीर दास तथा उनकी निर्गुण भक्ति को गहराई से समझना है ।

शोष विषय :

भारतीय संस्कृति में संत जनों को विशेष आदर दिया गया है। संत के अंतर्मन में किसी के लिए द्वेष नहीं होता है। संत जन सदैव परहित के लिए क्रियाशील रहते हैं। भारतीय संस्कृति में ऐसे संतों का भी आविर्भाव हुआ है जिनका मत सबसे अलग तथा विरोधाभासी होने के कारण पूरे जीवन–काल में विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा हो। ऐसे ही संतों में से एक हैं कबीर दास। 'कबीर दास ने यद्यपि समस्त मध्यकालीन भारतीय साहित्य को प्रभावित किया था, किन्तु उनके जीवन–सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों का निराकरण अभी तक नहीं हो पाया है।'[1]

कबीर दास के जन्म के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किंवदन्तियां प्रचलित हैं। वाराणसी के लहरतारा तालाब के किनारे नीरू और नीमा नाम के दंपत्ति को एक अबोध बालक मिला जिसे कबीर नाम दिया गया। कबीर हिन्दू की संतान थे अथवा मुसलमान की, यह कहना भी कठिन है। कुछ विद्वान उन्हें हिन्दू मानते हैं, कुछ का मत है कि उनका आविर्भाव हिन्दू तथा मुसलमान माता–पिता से हुआ था एवं कुछ विद्वानों का मत है कि कबीर किसी देवता की सन्तान हैं । कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि कबीर की दिव्यता को देख कर कहा जा सकता है कि वह किसी संत के कृपा से उद्भूत हुए थे । कबीर दास का जन्म से किसी धर्म विशेष का होना अवश्य प्रमाणित नहीं है किन्तु यह तो सर्वस्वीकार है कि उनका संस्कार हिंन्दू रीति–नीति से हुआ था । कबीर दास के दृश्य जगत के बन्धनों से मन की विरक्ति, केवल गुरु तथा परमात्मा के लिए अटूट तथा अडिग श्रद्धा, सांसारिक कार्यों में अरुचि, तत्कालीन समय हिन्दू तथा मुसलमान के बीच परस्पर द्वेषयुक्त व्यवहार के प्रति असहिष्णुता तथा इन दोनों समुदायों में परस्पर मेल का प्रयत्न, अपनी जड़ अवस्था में पहुँच चुकी धार्मिक रूढ़ियाँ पर प्रहार इत्यादि व्यवहार आकस्मिक अथवा अकारण नहीं थे । इन सभी के मूल में संस्कारों का प्राबल्य था । कबीर दास के जन्म के समय को ले कर भी अनेक विद्वान अलग–अलग मत प्रकाशित करते हैं । अन्य विद्वानों के मत तथा कबीर दास की रचनाओं के सोदाहरण प्रमाण देते हुए उर्वशी सुरती का कथन है – "कबीर दास के जन्म का वर्ष, डॉ. राजकुमार वर्मा के अनुसार, संवत् 1455; श्री ब्रह्मदत्त शर्मा जी के अनुसार, संवत् 1456 तथा रविन्द्र नाथ ठाकुर के Poems of Kabir के अनुसार संवत् 1440 है । कबीर दास की कुछ पंक्तियों के अनुसार उनका जन्म का वर्ष 1425 होना प्रमाणित होता है ।"[2] कबीर दास का जन्म–स्थान काशी होने के सम्बन्ध में अधिकतर विद्वान सहमत हैं । काशी में उद्भूत कबीर दास के पालक

*सहायक आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

माता–पिता की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों का मत उनके जुलाहा होने के सम्बन्ध में है । ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार जुलाहा जाति की उत्पत्ति म्लेच्छ पिता तथा कुविंद माता से हुई है । जुलाहा जाति को 'जोला' नाम से भी जाना जाता है । कबीर दास के पालक माता–पिता को कोरी जाति से भी सम्बन्धित माना जाता है । ऐसी मान्यता है कि कोरी जाति नाथ–सम्प्रदाय से प्रभावित थी । उक्त परिवार को 'जोगी' जाति से भी जोड़ा जाता है । इस जाति में हिन्दू धर्म के आश्रम भ्रष्ट लोगों को स्थान दिया जाता था । इस जाति के लोग जुलाहे का व्यवसाय करते थे अथवा स्वयं को गोरखनाथ या भरथरी का अनुयायी बता कर भिक्षाटन कर जीवन–निर्वाह करते थे । हिन्दू धर्म में पथ भ्रष्ट जाति 'जोगी' को नीच तथा अस्पृश्य माना जाता था । आचार्य हजारी प्रसाद दिवेदी का मत है 'कबीर दास ने स्वयं को जुलाहा तो कहा लेकिन मुसलमान नहीं । उन्होंने अपने को हिन्दू या मुसलमान न कह कर दोनों से अलग माना है ।'[3] उक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर दास जन्म तथा पालक माता–पिता दोनों ही आधार पर तत्कालीन जाति–व्यवस्था के अनुसार भक्ति करने से वंचित रखे जाने की अवस्था में थे । कबीर दास के ज्ञान पिपासा को शांत करने में ये सभी बिंदु रुकावट बने । हिन्दू पाठशालाओं में प्रवेश नहीं मिला क्योंकि हिन्दू धर्म की दृष्टि से वे पथ–भ्रष्ट परिवार के सदस्य थे । इसी प्रकार इस्लाम धर्म के मदरसों में भी प्रवेश नहीं मिला क्योंकि वे पूरी तरह मुसलमान नहीं थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर दास की जाति के सम्बन्ध में लिखते हैं– 'हिन्दू, मुसलमान, योगी, गृहस्थ, साधू, वैष्णव सब थे भी और कुछ भी नहीं थी। कबीर सबके न्यारे थे।'[4] कबीर दास के पिता के मन में अपने पुत्र को शिक्षित करने की लालसा थी किन्तु पूर्वजों के पथभ्रष्ट हिन्दू तथा इस्लाम की ओर आकर्षण ने हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही धर्म के शिक्षा–केन्द्रों में प्रवेश की निषेधाज्ञा थी। इसके अतिरिक्त कोई अन्य पाठशाला नही थी । अतः इन परिस्थितियों में कबीर दास को अपने पिता से पारिवारिक कारोबार, कपड़े बुनने और उन्हें बेचने की शिक्षा ही प्राप्त हो सकी। कबीर दास की वाणी में कटुता और कठोरता का समावेश शायद समाज के इसी अभिशाप की देन थी। कबीर दास को किसी धर्म की विधिवत शिक्षा तो नहीं मिल सकी किन्तु उनके अंतर्मन में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही धर्म के त्यौहार, उत्सव, विभिन्न धर्म–ग्रन्थों के विषय और उनकी गहराई को समझने की लालसा बलवती होती रही। अपने मन की इस पिपासा को शांत करने हेतु कबीर दास संतों तथा फकीरों की संगत में रहने लगे। यह सब करते हुए भी कबीर दास के अंतर्मन में दबे हुए हिन्दू–संस्कार ने उन्हें हिन्दू समाज में प्रचलित भक्ति–ज्ञान की ओर प्रेरित किया। कबीरदास सत्संग में लगे रहे तथा कुछ समय बाद तुलसी की माला धारण कर स्वयं को वैष्णव मत का अनुयायी बताया। बाह्याचार को आडम्बर बताने वाले कबीर दास ने अंतर्मन की शुद्धि का विशेष समर्थन किया। अहर्निशी राम–राम जपते रहना, संत जनों के संग बैठना तथा उनके द्वारा ज्ञान तथा चिन्तन के व्याख्यान सुनना तथा संत जनों की सेवा इत्यादि में कबीर दास की इतनी रूचि बढ़ी कि इन सभी को करते हुए वे अपने आजीविका को भूल ही गये थे।

तत्कालीन सार्वजनिक शिक्षा से वंचित रहने पर भी कबीर दास की शिक्षा में दिव्यता झलकती है। पांच वर्ष की अवस्था में ही राम–नाम की दीक्षा लेने वाले कबीर दास कहते हैं–

पांच बरस के जब भये, कासी माझ कबीर।
गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर ।।

पांच वर्षों में ही सभी प्रकार के ज्ञान से अभिसिंचित हो जाना अतिशयोक्ति हो सकती है किन्तु कबीर दास की मर्मस्पर्शी दृष्टि, भगवत ज्ञान इत्यादि इस ओर संकेत करते हैं कि यह अतिश्योक्ति नहीं है। कबीर दास का ज्ञान ग्रन्थों का ज्ञान नहीं था। उनका ज्ञान स्वयं के चिन्तन, श्रवण, मनन की सुखद परिणति थी। अपने अनुभूति जनित ज्ञान से संसार को प्रकाशित करने वाले कबीर दास ने स्वयं की सार्वजनिक शिक्षा नहीं होने की प्रमाणिकता अपनी पंक्तियों में देते हैं–

1. मसि कागद छुयो नहीं कलम गह्यो नही हाथ ।
2. बिंदिया न पढ़उ बाद न जानउ ।

पुष्ट मतों के अनुसार कबीर दास ने स्वामी रामानन्द जी से राम–नाम की दीक्षा ली थी । कबीर दास के काव्य में गुरु के प्रति समर्पण तथा गुरु की भक्ति सहज ही देखी जा सकती है । गुरु कृपा से कबीर दास के अंतर्मन में निर्गुण भक्ति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ । कबीर दास ने निर्गुण भक्ति की अस्पष्टता को दूर किया तथा

प्रमाणित किया कि निर्गुण ब्रह्म की भी उपासना सम्भाव्य है । चूँकि निर्गुण ब्रह्म अन्तरंग उपासना है अतः इसके लिए शरीर को उस अवस्था तक पहुंचाने के लिए प्राणायाम, योगाभ्यास तथा ध्यान की आवश्यकता को रेखांकित किया गया । कबीर दास जिस राम–राम का जप करते थे, वे निर्गुण राम थे । उन्होंने अपने पदों के माध्यम से निर्गुण राम की उपासना की सलाह दी है –

निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखी न जाई ।
चारि बेद जाके स्मृति पुराना, नौ व्याकरना मर्म ना जाना ।
सेस नाग जाके गरुण समाना, चरण कंवल कंवला नही जाना ।।
कहै कबीर जाकै भेदे नहीं, निज जन बैठे हरि की छाहीं ।।

ज्ञान–मार्ग की परम्परा की निश्चित अवस्था के बाद निर्गुण भक्ति के लक्षण दिखने लगते हैं। भक्ति की प्रधानता वाले ज्ञान–मार्ग में योग का स्वर पार्श्व में हो जाता था अर्थात् गौण हो जाता था तथा ज्ञान से युक्त नैतिकता की प्रधानता रहती थी। 'इसी ज्ञान प्रणव नैतिकता की प्रधानता वाले योग मार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहारी लता प्रस्फुटित हुई उसको ही 'निर्गुण भक्ति मार्ग' नाम दिया गया।'[5] वर्तमान समय में प्रचारित 'संत साहित्य' मूल रूप से निर्गुण भक्ति मार्ग का साहित्य है। 18वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में निर्गुण साधना पद्धति का उद्भव हुआ। इस समय भारतीय समाज में भक्ति की दो धाराएं प्रवाहमान हुईं–

1. उच्च जाति से सम्बन्ध रखने वाले भक्त, जो परम्परा में चले आ रहे विश्वास, आस्थाओं, आचार–विचार, व्रत, उपवास आदि को स्वीकार करते हुए उपासना करते थे ।
2. निम्न जाति वर्ग के भक्त, इन लोगों में सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप परम्पराओं के प्रति आक्रोश था । इस वर्ग के भक्तों का मानना था कि किसी भी समय तथा किसी भी स्थिति में भगवान का भजन किया जाय तो मुक्ति सम्भव है ।

एक किंवदन्ती है कि कबीर दास ने तुलसी की माला तथा तिलक लगा कर स्वयं को वैष्णव घोषित कर दिया । स्वयं को स्वामी रामानन्द जी से दीक्षित होने की भी बात को घोषित किया । यह बात स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने शिकायत रूप में स्वामी रामानन्द तक पहुंचाई । स्वामी रामानन्द ने कबीर दास को अपने आश्रम में मिलने के लिए बुलाया । कबीर दास के पहुंचने पर उन्होंने पूछा कि तुम हमारे शिष्य कब हुए । इस के प्रति उत्तर में कबीर दास ने कहा कि जब आप से राम–नाम की दीक्षा ली । इस उत्तर से स्वामी रामानन्द बहुत प्रसन्न हुए तथा कबीर दास को निम्न जाति वर्ग के लोगों में भक्ति के प्रचार का आदेश दिया । स्वामी रामानंद का मानना था कि भक्ति–मार्ग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति अन्य मार्गों की अपेक्षा सरल है तथा भक्ति कोई भी कर सकता है । स्वामी रामानन्द की ये विचारधारा कबीर दास ने प्रसारित की । कबीर दास कहते हैं –

भक्ति द्रविण उपजी, लाये रामानंद ।
परगट किया कबीर ने, सप्त द्वीप नव खंड ।।

कबीर दास की भक्ति में भगवान के नाम का उच्चारण, पवित्र हृदय तथा मन और सत्संग प्रमुख थे । इसके लिए जाति अथवा समय विशेष आवश्यक नहीं था । निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना के लिए नाम का आधार आवश्यक था, अतः कबीर दास ने निर्गुण ब्रह्म को 'राम' कहा ।

निर्गुण ब्रह्म के अग्रणीय उपासक तथा बाह्याचारों का विरोध कर अन्य जाति के लोगों को भक्ति का मार्ग दिखाने वाले कबीर दास ने मगहर में अंतिम साँस ली । विभिन्न मतों के अनुसार, देहावसान के समय कबीर दास की आयु 70 से 120 वर्ष के बीच रही होगी । कबीर दास के मृत्यु के बाद इनके हिन्दू तथा मुसलमान अनुयायी भक्त अपनी रीति के अनुसार अंतिम संस्कार करने के लिए लड़ पड़े लेकिन जब शव से चादर उठाया गया तो वहां दो फूल थे । एक को मुसलमानों ने दफना दिया तथा एक फूल का हिन्दुओं ने अग्नि संस्कार किया ।

निष्कर्ष

कबीर दास का जीवन समाज में व्याप्त कुरीतियों से लड़ने उनका खंडन करने में ही व्यतीत हुआ । पहले से चली आ रही परम्परा जो अपने लक्ष्य से भटक कर संकुचित रह गयी थी, का खंडन करते हुए कबीर दास को समाज के भारी विरोध का सामना करना पड़ा । कबीर दास द्वारा भारत के एक विशेष काल खंड के साहित्य तथा समाज को विशेष प्रभावित किया किन्तु वर्तमान समय तक उनके सम्बन्ध में अनेक तथ्यों पर विद्वत समाज का मतैक्य नहीं है । उनके निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म का

सिद्धांत अनेक विरोधों के बाद भी जन–सामान्य ने सहजता से स्वीकार किया तथा वर्तमान समय तक इस मत को स्वीकार्यता मिल रही है । उनके द्वारा किये गये कार्य तथा प्रतिपादित सिद्धांत को तत्कालीन परिस्थिति में स्थापित कर सकना सहज नही था । जीवनपर्यन्त भक्ति को पारिभाषित करने वाले संत कबीर को समाज के वर्ग–विशेष से द्वेष मोल लेना पड़ा । कुछ विद्वान ऐसा भी मानते हैं कि यह विरोध इतना बढ़ गया कि कबीर दास को अपने जीवन के अंत समय में काशी को छोड़ना पड़ा । कबीर दास मगहर को अपने निवास के लिए चुना तथा यहीं उनका देहावसान हुआ ।

सन्दर्भ सूची :

1. मौर्या, डॉ0 प्रहलाद, कबीर का सामाजिक दर्शन, पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1974, पृष्ठ 25
2. सूरती, उर्वशी, कबीर जीवन और दर्शन, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, 1980, पृष्ठ 38
3. मिश्र, सुभाष चन्द्र (शोध प्रबंध), भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य के सन्दर्भ में कबीर की भक्ति का अध्ययन, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात 1990, पृष्ठ – 22
4. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, कबीर, हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुंबई, 1942, पृष्ठ 189
5. वही, पृष्ठ 77

कुमाऊँ की लोक संगीत–परम्परा

कमल जोशी** डॉ. रवि जोशी*

सारांश

मानव सभ्यता के साथ संगीत भी धीरे धीरे विकासोन्मुख हुआ। संगीत न केवल मनोरंजन का साधन था वरन् भावनाओं को व्यक्त करने का एक अच्छा माध्यम भी बना। लोकसंगीत किसी भी क्षेत्र की विविधता और सांस्कृतिक परिवेश को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है। दुनिया–भर में संगीत सभी के जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह मानव के दैनिक जीवन, समारोह, शोक एवं हर्ष के सभी अवसरों में व्याप्त है। कुमाऊँ का लोक संगीत भी यहाँ के पारंपरिक समारोह और रीति–रवाज एवं आम जन–जीवन का अभिन्न अंग है। गायन, वादन एवं नृत्य तीनों ही कुमाऊँ के लोक संगीत के आधार तत्व हैं। धार्मिक कार्य हों या मनोरंजन, बिना लोक संगीत के अधूरे हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र में कुमाऊँ की लोक संगीत–परंपरा की संक्षेप में चर्चा की गई है।

मुख्य शब्द : *लोक, लोकगीत, कुमाऊँ, लोक वाद्य, संगीत, उत्तराखंड*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है ।*

प्रस्तावनाः

कुमाऊँ का लोकसंगीत प्राचीन काल से ही यहाँ के जनजीवन का अभिन्न अंग रहा है। लोकसंगीत जहाँ धार्मिक एवं मांगलिक कार्यों की दृष्टि से आवश्यक है वहीं कृषि और श्रम के कार्यों में भी अपनी विशेष भूमिका रखता है। कुमाऊँ के लोक संगीत की विविधता तब भी देखने को मिलती है जब फसल, हुड़िकया बोल के गायन के साथ बोयी जाती है, और पहली फसल अपने इष्ट देवता को अर्पित करने की प्रथा भी संगीत के साथ ही संपन्न होती है। कुमाऊँ में "धात" या "धाद" (कुमाऊँनी में 'धाद' का अर्थ ऊँचे स्वर में दूर–दूर तक आवाज लगाना और इसे नगाड़े की सहायता से दूर–दूर तक आवाज पंहुचा कर सन्देश दिया जाता था[1]) लगाने के लिए जहाँ धतिया नगाड़ा बजाया जाता है वहीं देवताओं के आह्वान के लिए देवतारी बाजा विवाह के अवसरों में छलिया बाजा और छलिया नृत्य, कृषि गीत, जागर, घड़ियाला, चौती, ऋतु रैण व मांगल गीतों में संगीत–योजना का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। कुमाऊँ के लोकसंगीत के विभिन्न अध्येताओं ने लोकसंगीत का वर्गीकरण निम्नवत किया है–

(क) डॉ. त्रिलोचन पाण्डे का वर्गीकरण

- (अ) मुक्तक गीत
- (आ) संस्कार गीत
- (इ) ऋतु गीत
- (ई) कृषि गीत
- (उ) देवी देवता, व्रत त्यौहार के गीत
- (ऊ) बालगीत[2]

ख) डॉ. कृष्णानन्द जोशी का वर्गीकरण

- (अ) धार्मिक गीत
- (आ) संस्कार गीत
- (इ) ऋतु गीत
- (ई) कृषि सम्बंधित गीत[3]

ग) डॉ. भवानीदत्त उप्रेती का वर्गीकरण

- (अ) संस्कार गीत
- (आ) स्तुति पूजा और उत्सव गीत
- (इ) ऋतु गीत
- (ई) जातिमूलक गीत
- (उ) व्यवसायमूलक गीत

*सहायक प्राध्यापक, संगीत विभाग, डी. एस. बी. परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखंड
**शोध छात्र, संगीत विभाग, डी. एस. बी. परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखंड

(ऊ) बालगीत

(ए) मुक्तक गीत[4]

कुमाऊँ की प्रमुख गेय विधाएं

न्यौलीः

'न्यौली' उत्तराखंड में पाए जाने वाले एक पक्षी का नाम है। कुमाऊँ की लोक कथाओं के अनुसार यह पक्षी अपने प्रेमी से अलग होने या दूर होने पर उदासी भरी आवाज निकालता है। न्यौली एक अनिबद्ध विरह गीत प्रकार है जिसे मुख्य रूप से महिलाएं गाती हैं। कुमाऊँ की महिलाओं का जीवन बहुत कठिन रहा है, इस पीड़ा को कम करने के लिए उन्होंने संगीत का आश्रय लिया। न्योली गीतों को उन्होंने घास काटते समय, जानवर चराते समय एवं अन्य दैनिक जीवन के काम करते समय गाया। न्यौली एक विरह गीत है, जिन गीतों में महिलाओं का दुःख दर्द झलकता है। उदाहरण के लिए –"काट्ना काट्ना पलू औंछ,चौमासी को बन। थामी जांछ बगन्या पानी, नी थामीनू मन।।"[5]

इसमें एक स्त्री अपने मन की व्यथा को प्रकृति के साथ जोड़ते हुए कह रही है कि 'काटते काटते सावन के वन तो पल्लवित हो गए हैं और बहता हुआ पानी भी थम ही जाता है पर ये मन नहीं रुकता है, ये नहीं थमता'।

न्यौली का गायन आलाप शैली में किया जाता है इनमें दो या चार पंक्तियाँ होती हैं और यह जरुरी नहीं कि पहली पंक्ति का संबंध दूसरी पंक्ति से हो। कुमाऊँनी अंचल में न्योली दो तरह की है– "सोर्याली" और "रीठागाड़ी"। "सोर्याली" पिथौरागढ़ जनपद में एवं "रीठागाड़ी" अल्मोड़ा के रीठागाड़ क्षेत्र में प्रचलित है ।[6]

जोड़

जोड़ का शाब्दिक अर्थ है– 'योग' 'संधि' अथवा "जोड़ना"। अपने व्यापक अर्थ में गेयता की दृष्टि से 'जोड़' का तात्पर्य, गीत की उस पंक्ति से है जो एक समान भाव, लय से मुख्य गीत की एक पंक्ति को दूसरे से जोड़ती है 'जोड़' कहलाती है। कुमाऊँनी गीतों में स्थायी के पश्चात्, अंतरा के रूप में आने वाली पंक्तियों के मध्य "जोड़" गाया जाता है। कुमाऊँ के मेलों में आशुकवि लोकगायक तुरंत जोड़ बनाने की क्षमता भी रखते हैं। जुगल किशोर पेटशाली ने एक साक्षात्कार के दौरान बताया कि "जोड़" को गाय चराते समय, पानी लाते समय एवं किसी अन्य दैनिक कार्य के समय भी गाया जा सकता है।[7]

प्रो. देवसिंह पोखरिया के अनुसार जोड़ भी न्यौली गीत विधा के समान ही गीत प्रकार हैं, किन्तु जोड़ में पहला चरण 6 और दूसरा चरण 14 वर्ण का होता है। द्रुत गति से गाये जाने वाले गीत प्रकारों में थोडा विराम देने के लिए जोड़ का प्रयोग किया जाता है। जोड़ मुख्यतः प्रमुख गायक द्वारा गाया जाता है जिसमें संगति के लिए प्रायः "हुड़का'' नामक अवनद्ध वाद्य का प्रयोग होता है। जोड़ की समाप्ति पर सहगायकों का समूह पुनः मुख्य लोकगीत में जुड़ जाता है। जोड़ का उदाहरण– "दातुले की धार दातुले की धार, बीच गंगा छोड़ी गैय्ये नै वार नै पार" ।

चांचरी

'चांचरी' को कुमाऊँ का जातीय नृत्य भी कहा जाता है। चांचरी को झोडे का प्राचीनतम रूप भी माना गया है। चांचरी में पदक्रमों का विशेष ध्यान रखा जाता है। धार्मिक गीतों से इतर चांचरी में श्रृंगार रस के गीतों की प्रधानता रहती है। प्रो. देव सिंह पोखरिया चांचरी को संस्कृत के चर्चरी शब्द से विकसित मानते हैं।[8] कालिदास के नाटक में चर्चरी शब्द का उल्लेख मिलता है।[9] पूर्वी कुमाऊँ (सीरा, सोर, मुनस्यार, अस्कोट और काली कुमाऊँ) में इसे 'खेल' भी कहते हैं। चांचरी अक्सर मेलों और त्योहारों के सामूहिक नृत्य गीत हैं। चांचरी गीत वृत्त एवं अर्धवृत निर्मित करके गाए जाते हैं। वृत्त के मध्य में एक मुख्य गायक रहता है जिसे चंचरिया, दुहरिया, जिल्लेदार या पद्यार कहा जाता है।[10] चांचरी में स्त्री और पुरुष दोनों की भागीदारी रहती है। चांचरी का एक उदाहरण निम्नवत है–

"कम्ला ग्यूं खेत जन् जाये, छोटी ग्यूं बाली टुटली।
कम्ला सन्मुख जन् जाये, छोरी पिरदा टुटली ।।
कम्ला सोर की सड़क मनी ओड़ की चीन छ।
छोरी सुवा का सिरान पनी सुनु की बीन छ ।।"[11]

झोड़ा

झोड़ा कुमाऊँ का एक प्रमुख धार्मिक गीत प्रकार हैं जिसे कुमाऊँ में गोल घेरे या अर्धवृत में गाने का प्रचलन है। प्रो.पोखरिया के अनुसार झोड़े दो प्रकार के होते हैं एक

मुक्तक और दूसरा प्रबंधात्मक (कथात्मक)।[12] झोड़ा नाम को लेकर कुमाऊँनी साहित्य के विद्वानों के अलग अलग मत हैं। कुछ अध्येता इसे संस्कृत के "झटित" शब्द से सम्बंधित बताते हैं और मानते हैं, कि झोडे में पग संचालन और लय दोनों ही द्रुत रहते हैं और कुछ विद्वान झुल्ला शब्द को झोड़ा की उत्पत्ति मानते हैं। प्रो. पोखरिया ने इसे जोड़ शब्द माना है।[13] पूर्वी कुमाऊँ और सिरा परगने में झोड़ा गायन में मुख्यतः भक्तिप्रधान गीत गाये जाते हैं। झोड़ा गायन प्रायः मंदिर प्रांगण में होता है।

"ओहो, गोरी गंगा भागीरथी को, के भल रेवाड़ा।
ओहो खोल दे माता खोल भवानी धार में केवाड़ा।।
आहा के ल्लै रै छ भेट पहोंडा, के खोलूँ केवाड़ा।
ओहो, द्वी जोंया का लाखा ल्लै रयूँ, खोल दें केवाड़ा।।"

छपेली

छपेली चंचल एवं गतिपूर्ण लोकगीत है। यह एक नृत्य गीत के रूप में प्रचलित है। लोकोत्सवों, विवाह, या अन्य मेलों आदि के अवसर पर इन नृत्य गीतों को देखा जा सकता है। छपेली में एक मुख्य गायक होता है। शेष समूह के लोग उस गायक का अनुकरण करते हैं। स्त्री–पुरुष मिलकर छपेली गाते हैं। नर्तक स्त्रियों के आभूषण पहनकर नृत्य करता है। स्त्री वेशधारी पुरुष और अन्य नर्तक प्रायः गायक भी होते हैं। इस गीत में एक मुख्य गायक होता है, जो प्रायः हुड़के की थाप पर गीत की कड़ियों को जोड़ता जाता है। गीत की अंतिम पंक्ति टेकपद होती है, जिसे सहगायक दुराहते हैं और नर्तक नृत्य करते हैं। गीत के टेकपद भिन्न–भिन्न नृत्यक्रम की मुद्राओं पर आधारित होते हैं। छपेली प्रेम और श्रृंगार प्रधान नृत्यगीत है। छपेली में हस्त–संचालन के अनुरूप पदक्रम भी सुनिश्चित रहता है। झोड़ा, चांचरी आदि नृत्यगीतों की अपेक्षा इसमें अंग–संचालन, भाव–भंगिमाओं का प्रदर्शन और अनुभवों के प्रदर्शन में अधिक उन्मुक्तता और स्वच्छंदता रहती है। इस नृत्य में मुख्य वाद्ययंत्र के रूप में हुड़का और सहायक वाद्ययंत्रों के रूप में मसकबीन, बांसुरी और मंजीरा इत्यादि वाद्य बजाए जाते हैं।[14]

मांगलिक गीत / फाग

विभिन्न संस्कारों में गाये जाने वाले मंगल गीत को 'फाग' कहा जाता है जिन्हें उत्तराखंड के कुमाऊँ में "शकुनाखर" कहा जाता है। शकुनाखर से तात्पर्य "शुभ" या "शकुन" के "अक्षरों" से है। फाग स्त्री प्रधान गीत हैं विभिन्न शकुन के अवसरों पर स्त्रियाँ कानों में हाथ लगाये इन गीतों को गातीं हैं। संस्कारों की विभिन्नता के साथ फाग गीतों में भी विविधता देखने को मिलती है जीवन के हर कर्मकांड हेतु गीत निश्चित हैं जिसे महिलाओं द्वारा समूह में गाया जाता है। गीत गाने वाली इन महिलाओं को "गिदार" (अर्थात गीत गाने वाली महिलाऐं) कहा जाता है। जिस परिवार में शुभ अवसर होता है तो गिदार उस परिवार के व्यक्तियों के नाम का उल्लेख और उनकी शुभ फल की कामना भी करती हैं।

होली

होली उत्तराखंड का एक महत्वपूर्ण त्यौहार है । हालॉकि होली मूलतः ब्रज की है पर भारत के सभी प्रदेशों में समान रूप से मनाई जाती है। कुमाऊँ में होली का एक अलग रूप देखने को मिलता है जहाँ ब्रज और पहाड़ दोनों की सांस्कृतिक छठा देखने को मिलती है। "माना जाता है कि 16 वीं सदी में राजा कल्याण चंद के समय कुमाऊँ में होली गायन आरम्भ हुआ। कुमाऊँ के नरेश उघोतचंद ने अपने महल में सन् 1697 को दशहरे का महल बनाया जहाँ दशहरे के दिन राजसभा होती थी"।[15] कुमाऊँ में होली के तीन भेद हैं– (1) खड़ी होली (2) बैठकी होली (3) महिला होली। खड़ी होली आंगन में और रास्ते में चलते हुए सामूहिक तौर पर गायी जाती है। काली कुमाऊँ (चम्पावत और लोहाघाट) में खड़ी होली में अधिकतर खड़ी बोली के शब्द सुनाई देते हैं। जैसे 'जोगी आयो शहर में व्योपारी' लेकिन पश्चिमी कुमाऊँ और कुछ पूर्वी कुमाऊँ जैसे सीरा और मुनस्यार में होली में भी झोडे और चांचरी की गायकी देखने को मिलती है। कुमाऊँ में पौष महीने के पहले इतवार से पुरुषों की होली गायन का आयोजन शुरू हो जाता है जिसमें विष्णुपदी व निर्गुण भक्ति की होली बैठकों का आयोजन हो जाता है और बसंत पंचमी के बाद श्रृंगार रस की होली गायन किया जाता है, जिनमें शास्त्रीय संगीत के अनेक राग–रागिनियों में बद्ध होली–गायन सुनने को मिलते हैं।

बालगीत

बच्चों से सम्बंधित गीतों को 'बालगीत' कहा जाता है। बच्चों को लुभाने और उन्हें अपने समाज की जानकारी देने के लिए बालगीतों का प्रयोग किया गया

क्योंकि बच्चे लय में अपने आस–पास के माहौल को जल्दी समझते हैं। एक बालगीत गीत जिसे महिलाएँ सातूं–आठु पर्व में भी गातीं हैं–

"हल्लोरी बाला हल्लोरी, तेरी इजू पालुरी घास जै रै छ। घास काटी ल्याली फिर दूध पिलाली, हल्लोरी बाला हल्लोरी"।।[16]

बैर

'बैर'से तात्पर्य है 'द्वन्द्व' अथवा 'संघर्ष'। यह प्रश्नोत्तर शैली में होने वाली अनुपम गीतात्मक प्रतिद्वंदता है। गायकों के बीच यह बैर–भाव केवल प्रश्नोत्तर काल अथवा गीतों की अवधि तक ही सीमित रहता है। उत्सवों, मेलों आदि में गायकों द्वारा इस गीत शैली का आयोजन किया जाता है। सारा जन समूह श्रोता बनकर गायकों की जय पराजय देखने बैठा रहता है। कोई भी बैर गायक अर्थात 'बैरिया' किसी भी विषय, दृश्य, घटना या प्रसंग को लेकर गीत प्रारम्भ करता है और गीतों में ही दूसरे बैरियों से प्रश्न पूछ देता है। श्रोताओं की मंडली के बीच कई बैरिये एकत्रित रहते हैं। दूसरा 'बैरिया' अपने स्थान पर खड़ा होकर पहले के प्रश्न का उत्तर देते हुए अपना प्रश्न पूछ लेता है। प्रश्न– उत्तर का यह क्रम अबाध गति से चलता रहता है। इसमें गायक को अपनी प्रतिभा– प्रदर्शन का पूर्ण अवसर मिलता है। बैर गीतों के साथ किसी भी वाद्य–यंत्र का प्रयोग नहीं होता है।

कुमाऊँ का पारंपरिक वाद्य संगीत

कुमाऊँ के लोक वाद्य में चर्म वाद्य, अवनद्ध वाद्य, शुषिर वाद्य, तत वाद्य और घन वाद्य चारों का समावेश है। विभिन्न अवसरों पर ये लोक वाद्य हमारे समाज को संगीतमय और उल्लासमय बनाते आये हैं। ढोल बनाने के लिए बैल की खाल का प्रयोग किया जाता है वहीं अच्छा हुड़का बनाने के लिए लंगूर की खाल प्रयोग में लायी जाती है। जुगल किशोर पेठशाली के अनुसार वाद्यों के प्रकार

1. अवनद्ध वाद्य – ढोल, हुड़का, ढोलक, डौंर।
2. शुषिर वाद्य – बांसुरी, जौंल्या मुरूली, तुरही, रणसिंह, तुरही, शंख, मशकबीन।
3. तत् वाद्य – सारंगी, एकतारा
4. घन वाद्य – कांसे की थाली, बिणई, झांझ

कुमाऊँ के प्रमुख लोक वाद्य

ढोल

यह उत्तराखण्ड के सबसे प्राचीन और लोकप्रिय वाद्ययंत्रों में शामिल हैं, इन्हें मंगल वाद्य के नाम से भी जाना जाता है। जनश्रुति है कि प्रारम्भ में युद्ध के मैदानों में सैनिकों के कुशल नेतृत्व एवं उनके उत्साहवर्धन करने के लिए इनका उपयोग किया जाता था और फिर यह कला युद्ध के मैदानों से लोगों के सामाजिक जीवन में प्रवेश करते चली गई, अंततः यह शुभ कार्यों के आगमन का प्रतीक बन गई। आईन–ए–अकबरी में पहली बार ढोल के संदर्भ में वर्णन मिलता है अर्थात् यह कहा जा सकता हैं कि 16वीं शताब्दी के आसपास ढोल की शुरुआत पहली बार की गई थी। ढोल ताम्बे और साल की लकड़ी से बना होता है। इसके बाएं तरफ बकरी की और दाएं तरफ भैंस या बाहरसिंगा की खाल होती है। यह एक तरफ से लकड़ी की छड़ी और दूसरी तरफ से हाथ से बजाया जाता है।

दमाऊ

दमाऊ भी कुमाऊँ का प्राचीन वाद्य है, कुमाऊँ में यह ढोल से ज्यादा प्रचलित है। उत्तराखंड की हर परंपरा में खास भूमिका निभाने वाले ढोल–दमाऊ को लेकर दंतकथाओं में कहा गया है कि इसकी उत्पत्ति शिव के डमरू से हुई है, जिसे सबसे पहले भगवान शिव ने माता पार्वती को सुनाया था। कहा जाता है कि जब भगवान शिव इसे सुना रहे थे, तो वहां मौजूद एक गण ने इसे मन में याद कर लिया था। तब से ही यह परंपरा पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक रूप से चली आ रही है। दमाऊ तांबे का बना हुआ एक फुट व्यास तथा 8 इंच गहरे कटोरे के समान होता है। इसमें भैंस की खाल का प्रयोग किया जाता है। इसे ढोल की तरह बार–बार कसने की आवश्यकता नहीं होती है।

हुड़का

कुमाऊँ के विभिन्न उत्सवों, मेलों स्थानीय देवी–देवताओं के जागर, लोक गीतों और लोक नृत्यों में सर्वाधिक प्रयोग होने वाला वाद्य है। यह लकड़ी का बना और अंदर से खोखला होता है और दोनों सिरों पर बकरी के आमाशय की झिल्ली मढ़कर आपस में एक डोरी से

कस दिया जाता है। कुमाऊँ में हुड़का जागर लगाने का मुख्य वाद्य है। हुड़का बनाने के लिए आमतौर पर खिन और बरों की लकड़ी प्रयोग में लायी जाती है। खिन की लकड़ी से बने हुड़के के बारे में एक कहावत है–"खिनौक हो हुडुक, दैन पुड हो बनारौक, बौं पुड हो लंगुरौक, जबत कै तौ हुडुक बजौल, उ इलाकाक डंगरी बिन न्युतियै नाचण लागाल"[17] अर्थात् खिन की लकड़ी की बनी नाली हो। दायीं पुड़ी बंदर और बांयी पुड़ी लंगूर के खाल की हो। जिस समय भी वो हुड़का बजेगा तो उस जगह के सारे डंगरीये बिना निमंत्रण के ही नाचने लगेंगे।

डौंर

डौंर मांगलिक कार्यों, जागा–जागरों एवं उल्लास के अवसरों पर प्रयोग होने वाला वाद्य है। यह भी हुडके के समान पर उससे थोडा बड़ा वाद्य है जिसे एक ओर लकड़ी के सोंठे से और दूसरी ओर हाथ से बजाया जाता है। कुमाऊँ में इसका प्रचलन हुड़के की तुलना में कम है पर गढ़वाल में देवी–देवताओं के आह्वान के लिए डौंर का ही प्रयोग सर्वाधिक किया जाता है। इसका आकार चपटे डमरुनुमा–सा होता है जो सानण अथवा खमिर की लकड़ी का बना होता है। दोनों सिरों पर घुरड़ कांकड़ और बकरे के चमड़े मढ़े होते हैं। डौंर पर अधिकतर घन्याली लगायी जाती है। घन्याली परियों को नचाने के लिए लगायी जाती है।[18]

मसकबीन

मसकबीन (Bagpipe) मूलतः स्कॉटलैंड का वाद्य है जो अंग्रेजों के माध्यम से उत्तराखंड पहुंचा।[19] हालिया कुछ 100 दशकों पूर्व ही मसकबीन भी उत्तराखंड की संस्कृति में शामिल हुई और अब उत्तराखंड की संस्कृति का अभिन्न अंग बन गयी है। मसकबीन के बिना उत्तराखंड का संगीत अधूरा–सा है। वर्तमान में मसकबीन छलिया नृत्य और कुमाऊँ एवं गढ़वाल रेजिमेंट के फौजियों द्वारा बजाया जाता है। मसकबीन का मुख्य भाग चमड़े का थैलीनुमा मसक होता है। इस मसक में पांच छेद कर चार में पिपरियां लगा दी जाती हैं और एक छेद में नाली जो मसक में हवा भरने का काम करती है। मसक को बजाते समय बगल से दबाया जाता है जिससे प्रेशर में हवा पिपरियों में जाती है।[20]

रणसिंग

हमारे प्राचीन ग्रंथों में रणसिंग बजाने का उल्लेख मिलता है, जिसे किसी युद्ध में विजय के दौरान हर्षोल्लास के लिए बजाया जाता रहा है। तांबे से बना यह वाद्य आज भी अपने पौराणिक स्वरुप में विद्यमान है। शादी बारात के दौरान इसे ढोल–दमुवे के साथ बजाया जाता है। इसे बजाने के लिए फेफड़ों में जान और मुँह के अंदर पर्याप्त वायु और स्वाँस का नियंत्रण चाहिए।

तुरही

यह एक प्राचीन और बहुप्रचलित लोक वाद्य है जो तांबे की धातु का बना होता है और मुँह से हवा भरकर बजाया जाता है। सामंती काल में युद्ध भूमि की ओर बढ़ते हुए और वीरों के उत्साहवर्धन के लिए तुरही का प्रयोग किया जाता था। वर्तमान में तुरही शादी बारातों और छलिया नृत्य के साथ सर्वाधिक प्रयोग में लाया जाने वाला वाद्य है।

नागफणी

यह तांबे का बना और तुरही की तरह का वाद्य है पर इसकी आकृति नाग जैसी होती है, इसलिए इसे नागफणी कहते हैं। यह वाद्य तुरही की तरह लम्बा न होकर डेढ़ से 2 फुट का ही होता है। यह एक सहायक और कम प्रचलित वाद्य है। मंगल कार्यों के दौरान इसे बजाने की प्रथा है।[21]

जौंयां मुरूली

जौंयां शब्द हिंदी के जुड़वा शब्द का ही कुमाऊँनी रूप है। इस लोक वाद्य में 2 मुरुलियां जुडी रहती हैं रिंगाल के तने से बनने वाली जौंया मुरूली को लोग पहाड़ों में मार्ग लंबा होने पर चलते समय बजाया करते थे। राजूला मालूसाही लोकगाथा में भी इसे बजाया जाता है। इस वाद्ययंत्र की खास बात है कि इसमें रंगीली धुन, बैरागी धुन, उदासी धुन और जंगली चार प्रकार की धुनें ही बजाई जाती हैं।[22]

बिणाई

बिणाई मुख्यतः ग्रामीण महिलाओं द्वारा बजाया जाने वाला लोक वाद्य है। बिणाई का प्रयोग युवक–युवतियां, स्त्री–पुरुष विरह वेदना व्यक्त करने के लिए करते हैं।

बिणाई लोहे से बना एक छोटा–सा वाद्य है जिसे उसके दोनों सिरों को दांत में रखकर मुह के अंदर और बाहर आती वायु के दबाव से बजाया जाता है। इन दोनों सिरों के बीच एक पतली लोहे की झिल्ली होती है जिसे हाथ से कम्पन किया जाता है। स्वांस लेने और छोड़ने से और बिणाई की झिल्ली में कम्पन से आवाज में विविधता आती है। आमतौर पर बिणाई एक ही स्वर देता है।

कांसे की थाली

कांसे की थाली का प्रयोग कुमाऊँ में हुड़के के साथ सहायक लोक वाद्य के रूप में किया जाता है। स्थानीय बोली में इसे कंसासुरी थाली भी कहते हैं। लोक मान्यताओं के अनुसार कांसे में कंस का वास होता है और कंस की प्रवृति आसुरी थी इसलिए इसे (कंसआसुरी) कंसासुरी थाल कहा जाता है।[23] सहायक वाद्य के रूप में कांसे की थाली का प्रयोग सिर्फ जागरों में ही किया जाता है। देवताओं और भूतों को जगाने के लिए जिस समय भारत गाया जाता है उस समय सहायक वाद्य के रूप में हुड़के के साथ कांसे की थाली बजायी जाती है। हुड़के की थाप में इसे पद्म (पयां) की लकड़ी के पतले तनों (सोठों) से बजाया जाता है।

सारंगी

यूं तो शास्त्रीय संगीत में बहुत प्रचलित सारंगी की आवाज के सभी दीवाने हैं जिसके बगैर शास्त्रीय गायन और एकल तबला–वादन अधूरा–सा है लेकिन कुछ 3 या 4 दशकों से कुमाऊँ में सारंगी के प्रयोग में कमी देखी गयी है। पलायन और पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से जो रितुरैण नए साल के आगमन पर मीरासियों द्वारा सारंगी की संगत के साथ गायी जाती थीं वो अब विलुप्त–सी हो गयी हैं। इसका कारण मीरासियों के शोषण और उन्हें समाज में जगह न मिलने की हो सकती है। सारंगी भारत का एक अति मधुर और प्राचीनतम वाद्य है। यह गज से बजाने वाले वितत वाद्य के अंतर्गत आता है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः उपर्युक्त शोध–पत्र में कुमाऊँ के लोक संगीत और वाद्य–यंत्रों के लोक जीवन में प्रयोग के आधार पर यह कहना सुनिश्चित होगा की कुमाऊँ क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध है। लोक गीत एवं लोक वाद्य जन मानस के हर एक कार्य से जुड़े हुए हैं। कुमाऊँ की लोक संस्कृति में एक ओर गायन, वादन एवं नृत्य तीनों का समावेश है और वहीं दूसरी ओर स्त्रियों और पुरुष दोनों की भागीदारी रहती है। लोकसंगीत की गायन और वादन विधाओं में विविधता भी देखने को मिलती है। समयचक्र के साथ लोक संगीत में परिवर्तन आये हैं, जो परिवर्तन आगे भी निरंतर होते रहेंगे पर आज के जनमानस का दायित्व यह बनता है की वह लोक संगीत की आत्मा और मौलिकता को बरकरार रखने में अपना योगदान दें।

संदर्भ सूची :

1. पेटशाली जुगल किशोर, उत्तराँचल के लोक वाद्य, पृष्ठ– 107
2. पाण्डेय, डॉ. त्रिलोचन, कुमाऊँ का लोक साहित्य, पृष्ठ –74
3. जोशी, डॉ. कृष्णानन्द, कुमाऊँ का लोक साहित्य, पृष्ठ – 13
4. उप्रेती, डॉ. भवानी दत्त, कुमाऊँनी लोक साहित्य तथा गीतकार, पृष्ठ –16
5. पोखरिया, देव सिंह, 2009, उत्तराखंड लोक संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ–344
6. तथैव
7. साक्षात्कार, जुगल किशोर पेटशाली, 12 नवम्बर 2022
8. पोखरिया, देव सिंह, उत्तराखंड लोक संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ–331
9. घिल्डियाल, अच्युतानंद (सं), कालिदास ग्रंथावली, कालिदास, भारतीय प्राच्य विधा शोध संस्थान वाराणसी
10. पोखरिया, देव सिंह, उत्तराखंड लोक संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ–332
11. तथैव, पृष्ठ–346
12. तथैव, पृष्ठ–328
13. तथैव
14. तथैव
15. https://amritvichar.com/there-is-a-rich-tradition-of-holi-singing-in-kumaon-ustad-amanat-hussain-is-considered-the-father-of-kumaoni-classical-holi/
16. पन्त, हेम, घुघूति बासूति, उत्तराखंड के पारंपरिक बालगीत, पृष्ठ–06
17. पेटशाली, जुगल किशोर, उत्तराँचल के लोक वाद्य, पृष्ठ–52
18. तथैव, पृष्ठ–69
19. पोखरिया, देव सिंह, उत्तराखंड लोक संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ–341
20. पेटशाली, जुगल किशोर, उत्तराँचल के लोक वाद्य, पृष्ठ–135
21. तथैव, पृष्ठ–127

22. तथैव, पृष्ठ–118
23. तथैव, पृष्ठ–30

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. कालिदास ग्रंथावली, कालिदास, सं अच्चुतानंद घिल्डियाल, भारतीय प्राच्य विधा शोध संस्थान वाराणसी।
2. पोखरिया, देव सिंह, 1994, लोक संस्कृति के विविध आयाम मध्य हिमालय के सन्दर्भ मेंय अल्मोड़ा, श्री अल्मोड़ा बुक डीपो।
3. पोखरिया, देव सिंह, 2009, उत्तराखंड लोक संस्कृति और साहित्य, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया।
4. जोशी, कृष्णानंद, 1971, कुमाऊँ का लोक साहित्य, प्रकाश बुक डिपो, बरैली।
5. पेटशाली, जुगल किशोर/कुंजवाल लता, 2003, कुमाऊँ के संस्कार गीत, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. पेटशाली, जुगल किशोर, 2007, उत्तराँचल के लोक वाद्य, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. तिवारी, ज्योति, 2002, कुमाऊँनी लोकगीत तथा संगीतः शास्त्रीय परिवेश।
8. रावत,नैन सिंह, 1986, जोहार के स्वर, लोक कला केंद्र दरकोट, मुन्स्यारी (पिथौरागढ़)।
9. जोशी, दिनेश, 1988, कुमाऊँनी लोकगीतों में पर्यावरण शिक्षा, हिमालयन अध्ययन केंद्र, पिथौरागढ़।
10. नाथूराम, उप्रेती, 1977 , कुमाऊँनी की लोक कला, कुमाउनी संस्कृति, रुद्रपुर, उपयोगी प्रकाशन।
11. पाण्डेय, त्रिलोचन, 1979, कुमाऊँ का लोक साहित्य, अल्मोड़ा बुक डीपो, अल्मोड़ा।
12. उप्रेती, भवानी दत्त, कुमाऊँनी लोक साहित्य तथा गीतकार।
13. पन्त, हेम, 2022, घुघूति बासूति, उत्तराखंड के पारंपरिक बालगीत, समय साक्ष्य, देहरादून।

यूजीसी–केयर सूचीबद्ध, पिअर रिव्यूड वार्षिक शोध पत्रिका

कालिदास साहित्य में कला–वैभव

डॉ. जी. एल. पाटीदार**

अंकिता आर्य*

शोध–सार

संस्कृत वाङ्मय ज्ञानगंगा का बृहदार्णव है। जहाँ से सहस्त्र ज्ञानधाराएँ उद्गमित एवं प्रवाहित हुई हैं। संस्कृत साहित्य के अनेकानेक अलौकिक एवं अमूल्य ग्रंथों के रचनाकारों में वाल्मीकि, वेदव्यास, अश्वघोष, शूद्रक, भास, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाणभट्ट, सुबंधु, दण्डी आदि लब्धप्रतिष्ठित कवीश्वर हुए है। संस्कृत वाङ्मय–रूपी माला में मोति–रूपी ग्रंथों को अनवरत पिरोया जाता रहा है। अलौकिक एवं समृद्ध संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठता व भावात्मकता तो पाश्चात्य विद्वानों को भी भावविभोर कर अपनी ओर आकृष्ट ही करती है। भारतीय संस्कृति की व्यापकता तथा सजीवता का चित्रण साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में मनोरमता से चित्रित किया है। रचनाओं के कथा–कल्पों, प्रसंग–सन्दर्भों में कलाओं के रस–रंग को भी उत्कीर्ण किया है। कला मानव के अरुणोदय से ही भाषायीय रेखाओं को उकेरने का कार्य करती रही है। कालिदास का साहित्य जहाँ काव्यकला की रसता लिए हुए है, वहाँ कला पक्षीय वैभव की भी चित्रकारी करता है। यहाँ कालिदास साहित्य में उत्कीर्ण विविध रूपा कलाओं पर शब्दतुरीय चित्रण के रंग को देखा जा रहा है।

सूचक शब्द : *साहित्य, कला, वाङ्मय, ग्रन्थ*

प्रविधि : *इस शोध–पत्र को तैयार करने में द्वितीयक स्रोतों से सहायता ली गई है ।*

कालिदास का परिचय–

कालिदास संस्कृत साहित्य के महान् कवीश्वर हैं। भारतीय परम्परा के ''कवि–कुल–गुरु'' के रूप में प्रतिष्ठित कालिदास को अलौकिक काव्य प्रतिभा का धनी कहा जाता है। कालिदास को ''कविता कामिनी विलास'' तथा ''दीपशिखा कनिष्ठिकाधिष्ठित'' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया हैं। कालिदास विक्रमादित्य के सभारत्न, उज्जयिनी निवासी तथा भगवान शिव के परम भक्त थे। सर विलियम जोन्स ने भी कालिदास को ''भारत का शेक्सपीयर'' कहा है। कालिदास को वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का उत्तम ज्ञान था।[1] कालिदास को भारत के प्रदेशों की यात्रा का व्यापक अनुभव था।[2] कालिदास का साहित्य विश्वगौरव को अलंकृत करता है।

महाकवि कालिदास के कृतित्व–

कालिदास की सात रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें महाकाव्य दो हैं– कुमारसम्भव एवं रघुवंश । नाटक तीन हैं– अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय। तथा दो खण्डकाव्य– ऋतुसंहार एवं मेघदूत । यहाँ इन शब्द प्रसूति कालिदास साहित्य में ही कला के विविध पहलुओं पर मंथन कर नवनीत प्राप्त करने का यत्न किया जा रहा है।

कला से अभिप्राय–

कलयति उद्भावयति इति कला। 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति 'कल्' धातु से होती है जिसका अर्थ है– उत्पन्न करना या निर्माण करना, गिनना, या शब्द करना। ''कल्'' धातु, ''कच्'' प्रत्यय एवं स्त्रीलिंग ''टाप्'' प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न होता है अर्थात् दृश्य या अदृश्य स्थूल या सूक्ष्म वस्तु या भाव से सम्बंधित सौन्दर्यानुभूति साकार होकर व्यक्त रूप में प्रकट होती है, तो उस अभिव्यंजना को ही ''कला'' कहते हैं। कलाएं मानव के लिए चिरकाल से साथ–साथ ही रही हैं। कला न ज्ञान है, न शिल्प, न ही विद्या, कला के माध्यम से ही मानव परमानंद से द्रवीभूत होता है क्योंकि प्रारम्भिक काल से ही मानव सौन्दर्य और प्रकृति का प्रेमी रहा है। यह कला ही मनुष्य के कार्य एवं शक्ति के रूप में प्रकट होती है। कला के स्वरूप व महत्त्व को उद्घाटित करने के लिए साहित्यकारों व इतिहासकारों

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

**एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, एसोसिएट फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला (हि.प्र.)

के द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। अमरकोश में शिवदत्त ने 'कला' शब्द की उत्पत्ति 'कद्' धातु से मानते हुए कहा है कि ''क सुखम् लाति इति कलम्'' तथा ''कं आनन्दं लाति इति कला'' अर्थात् प्रसन्न करना ही कला है।[3] मानवीय संवेगों को अभिव्यक्त करने का मूर्तरूप कला ही है । यह देश के सांस्कृतिक विकास को उन्नत, समृद्ध एवं रक्षित करती है।

कला की परिभाषा –

रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार ''जो सत्य और सुन्दर है, वही कला है।'' अरस्तू के अनुसार– ''कला हमारी प्रकृति के सुंदर अनुभवों का अनुकरण है।'' जयशंकर प्रसाद– ''ईश्वर की विक्षिप्तता शक्ति का वह संकुचित रूप जो हमें बोध भाव प्राप्त होता है, वही कला है।'' शतकत्रय के रचनाकार भर्तृहरि ने भी नीतिशतक में व्यक्त किया है कि–

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुःपुच्छविषाणहीनः ।
तृणं नखान्नपि जीवमानः तद् द्भागधेयं परमं पशूनाम् ।।[4]

अर्थात् जो मनुष्य साहित्य और संगीत से रहित है वह प्रत्यक्ष रूप से बिना सींग व पूँछ वाले पशु के तुल्य है। भर्तृहरि ने भारतीय संस्कृति में कला के महत्त्व को मानव मन में पुनःस्थापित करने का यत्न किया है। संस्कृत साहित्य की प्रवाहिता या धारा वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग तक निरंतर प्रवाहित होती रही है। संस्कृत साहित्य में कला उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानव की सभ्यता। प्राचीनकाल से धीरे– धीरे अद्यतन काल तक कला का निरंतर विकास होता रहा। कला मानवीय सभ्यता व संस्कृति को उद्घाटित करती है। यह कलादर्पण की भाँति है। क्योंकि यह भारतीय संस्कृति का प्रमाण प्रस्तुत कर देश के विकास में सहायक है। मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाले भावों को अभिव्यक्त या रचनात्मक बनाने का माध्यम कला का विकास ही है। संस्कृति के उत्थापन के लिए साहित्यकला, नृत्यकला, शिल्पकला, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, संगीतकला तथा नाट्यकला अत्यन्त महनीय रही है। यह कला ही देश की संस्कृति के महत्त्व को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। भारतीय दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि ''वेद ही कला का उद्गम है।''

कालिदास साहित्य में कला के विविध आयाम

कालिदास की काव्य–कला से प्रभावित होकर राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी लिखा है कि–

''चिरकाल रसाल ही रहा, जिस भावज्ञ कवीन्द्र का कहा ।
जय हो कालिदास की कविता केलि कला–विलास की ।।''

तथा यह भी कहा है कि ''अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति या मन के अंतःकरण को सुंदरता के साथ व्यक्त करना ही तो कला है।''[5] कालिदास ने शब्द–चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला, सौन्दर्यकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, प्रकृतिकला आदि का वर्णन अति रमणीयता के साथ किया है। कवि कुलगुरु कालिदास की रचनाओं में चाहे अलकापुरी का वर्णन हो, चाहे राजाओं के महलों का वर्णन हो, उनकी तूलिका इनके स्थापत्य में उतनी नहीं रमी, जितनी प्रकृति के स्थापत्य में उनकी चेतना आद्यांत संसक्ति लगती है। जैसे– हिमालय की उपत्यकाओं, गुहाओं या वन–क्षेत्र का वर्णन हो। इसीलिए कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में दुष्यंत के मुंह से यह कहलवाया कि वन की लताओं ने सौंदर्य में राजा की उद्यान की लताओं को पराजित कर दिया है, क्योंकि वन–लता में स्वाभाविकता व नैसर्गिकता होती है। उसी प्रकार प्रकृति के स्थापत्य में पक्षियों का कलरव, झरनों की कलकल, मेघों का वर्षण, हंसों की जलक्रीडा, वन में प्रस्थान करती हुई तथा खुर–न्यास से धूल उड़ाती हुई कामधेनु की पुत्री नंदिनी का चित्र हो या बाण लगने के भय से भागते हुए हिरण का शब्द चित्र हो या यक्षिणी के अपने भवन में विद्यमान सुखद वातावरण का चित्र हो। इस प्रकृति के स्थापत्य में कालिदास का चित्र रमा है, रचा है, बसा है। इसीलिए कहा गया है कि प्रकृति कालिदास की निजी संस्कृति है तथा कालिदास प्रकृति का चतेरा कवि हैं। आगे कालिदास के कलात्मक वैभव को देखा जा सकता है–

(1) नृत्यकला व संगीतकला

समस्त कलाओं में संगीत कला का अपना महनीय महत्त्व है, क्योंकि कला जहाँ उन्नत होती है, वहां ईश्वरावास होता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि ''सामवेदोऽस्मि'' अर्थात् ''वेदों में सामवेद हूँ।'' क्योंकि संगीतमय वेद सामवेद ही है।[6] संगीतकला मनुष्य के मन को आनंदित एवं प्रफुल्लित करती है। अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि ''संगीत कं न मोहयेत्'' अर्थात् संगीत किसको मोहित नहीं करता? अतः संगीतकला तो प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली होती है।[7] मालविकाग्निमित्र में राजकुमारी मालविका की संगीतकला व नृत्यकला के प्रदर्शन की प्रशंसा की गयी है। वह मालविका संगीत कला में इतनी

प्रवीण या निपुण है कि उसमें सिखाये गये भावों को और अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित करने की कला विद्यमान है।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ।।[8]

मालविका उत्तम कलाकारिणी बतायी गयी है। इसी प्रकार मालविका के समान कौशिकी में नृत्यकला, अभिनयकला एवं संगीतकला में पारंगता को यह पद्य व्यक्त करता है–

अङ्गैरन्तर्निहितवचनः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागवन्धः स एव ।।[9]

मालविका का 'छलिक–नृत्य' जो महारानी धारिणी द्वारा सिखाया गया, वह वर्णित है।[10] मालविकाग्निमित्र के प्रारंभ में ''तदारभ्यतां संगीतकम्।'' ऐसा सूत्रधार द्वारा कहा गया है।[11] मालविकाग्निमित्र में संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन और नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है। मृदंग वाद्य से सम्बंधित संकेत संगीतकला के प्रचलन को दर्शाता है–

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ।।[12]

मृदंग वाद्य की ध्वनि की भांति मेघ की गर्जना को सुनते हुए मोरों का समूह नभ की ओर दृष्टि डालते है, यह गूंजित ध्वनि जो मध्यम स्वर से उठने वाली मायूरी नामक ध्वनि मदमस्त बनाने वाली है। आचार्य गणदास के द्वारा भी नृत्यकला का भाव प्रकट किया गया है कि ''अद्य नर्तयितास्मि।'' अर्थात् आज मैं नृत्यकला का पण्डित हो गया हूँ।''[13] कालिदास रचित रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में कीचक नामक बांस की बांसुरी द्वारा वनदेवियों द्वारा राजा दिलीप के 'यशोगान का वर्णन[14] तथा कीचक नामक बांस की बांसुरी द्वारा ध्वनित शीतल वायु का वर्णन है।[15] रघुवंश महाकाव्य के तृतीय सर्ग में श्रवण सुख देने वाले वाद्ययंत्रों की ध्वनि तथा वाराङ्गनाओं के नृत्य का उल्लेख मिलता है।[16] रघुवंश महाकाव्य में शङ्ख, तुरही (रघुवंश, 6.9), नगाड़े (रघुवंश, 6.56) आदि वाद्ययंत्रों तथा मयूर, सारसों की वाणी, मन को मोहित कर देने वाली मादकता युक्त ध्वनि का वर्णन है। नृत्यकला की प्राकृतिकता वाले मयूरों के नृत्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[17]

कालिदास रचित मेघदूत में हमें शिव के ताण्डव नृत्य[18] का भी संकेत प्राप्त होता है। संगीतशास्त्र से सम्बंधित एकादश प्रकारों वाली मूर्च्छना का स्पष्ट शब्दोल्लेख है।[19] विक्रमोर्वशीयम् में देवगणों की देव अप्सरायें भी संगीत ध्वनि की माधुर्यता के कारण श्रेष्ठ संगीत कला का ज्ञान रखने वाली बतायी गई है।[20] अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ सर्ग में चेटी मधुकरिका कामदेव के लिए गीत प्रस्तुत करती है– त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पंचाभ्यधिकः शरो भव।[21] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय सर्ग में नायक या नायिका के रूप से सम्बंधित सौन्दर्य गान का विवरण मिलता है–

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ।।[22]

(2) स्थापत्यकला

महाकवि कालिदास ने रघुवंश में राजाओं के किलों व छः प्रकार के सैन्य बलों का स्पष्ट उल्लेख प्राचीन काल में स्थापत्यकला का संकेत देता है –

गुप्तमूलप्रत्यन्तः स शुद्धपाणिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ।।[23]

रघुवंश के अष्टम सर्ग में दक्षिण समुद्र तट पर स्थित ''गोकर्ण'' नामक स्थल पर नारदजी द्वारा शिवजी की स्तुति के लिए आना, प्राचीन स्थापत्यकला का संकेत प्रस्तुत करता है।[24] रघुवंश के प्रथम सर्ग में महर्षि वशिष्ठ के आश्रम का उल्लेख प्राप्त होता है जो स्थापत्यकला का संकेत देता है।[25] रघुवंश के षष्ठ सर्ग में राजाओं के सभा में बैठने के लिए कीमती एवं रत्नजड़ित सिंहासनों का प्राप्त होना स्थापत्यकला का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[26] सोने के सिंहासन का भी उल्लेख है।[27] खंडकाव्य मेघदूत में रामगिरि पर्वत के आश्रमों,[28] उज्जयिनी के महल,[29] शिवजी का महाकाल मंदिर[30], अलकापुरी के गगनचिम्बी महल आदि का वर्णन स्थापत्यकला की प्राचीनता को अभिव्यक्त करता है। तत्समय स्थापत्यकला समृद्धावस्था में प्राप्य थी।

(3) चित्रकला

महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक त्रोटक में राजा पुरुरवा द्वारा कल्पना के आधार पर उर्वशी का

चित्र–रचना करने की कला का वर्णन प्राप्त होता है जो चित्रकला की प्राचीनता व प्रसिद्धि को दर्शाता है।[31] मालविकाग्निमित्र में राजा मालविका की सुन्दरता से मंत्रमुग्ध होता हुआ कहता है कि मालविका का चित्र बनाने वाले कलाकार या चित्रकार के द्वारा बनाया गया चित्र इसकी वास्तविक सुन्दरता का पूर्ण रूप से प्रकटीकरण नहीं कर पाता है अर्थात् वह चित्र से भी अधिक सुंदर दिखाई देती है।[32] साथ ही चित्रकला विषयक अन्य वर्णन भी प्राप्त होता है–

चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां ।
चित्रलेखा माचार्यस्यालोकयन्तो तिष्ठति ।।[33]

अभिज्ञानशाकुन्तल में भयपूर्वक दौड़ते हुए मृग का अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया गया है–

ग्रीवामङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।[34]

कालिदास ने नायिकाओं की सुन्दरता का भी चित्रण अत्यंत मनोरम रीति से किया है। कुमारसम्भव में पार्वती का चित्रण हो या अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला का चित्रण या मेघदूत में यक्षिणी का चित्रण या विक्रमोर्वशीय में उर्वशी या मालविकाग्निमित्र में मालविका, इन सभी का शब्दचित्रण सजीवता एवं मानवोचित गुणों से परिपूर्ण चित्रित किया है। कालिदास ने भित्तिचित्रों, फलकचित्रों एवं पटचित्रों का भी उल्लेख किया है।

(4) ज्योतिष

रघुवंशमहाकाव्य में महर्षि वशिष्ठ शकुनशास्त्र के परम ज्ञानी थे, जैसे इस श्लोक से स्पष्ट किया गया है–

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत्।।[35]

अर्थात् कामनाओं को पूर्ण करने वाली धेनु नन्दिनी का एकमात्र दर्शन ही राजा दिलीप को पुत्र की प्राप्ति के लिए शुभ व हितकारी है। रघुवंश में महारानी सुदक्षिणा के राशि में सूर्य उच्च स्थान पर होने पर भी भाग्य–सम्पत्ति को प्राप्त करने वाले पुत्र के उत्पन्न होने का वर्णन है।[36]

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।।[37]

अर्थात् राजा दिलीप तथा महारानी सुदक्षिणा द्वारा आश्रम जाते समय चित्रा नक्षत्र और चंद्रमा के संयोग के समान ही उनके साथ शोभायुक्त व अवर्णनीय विधा घटित हुई। रघुवंश महाकाव्य में सप्तम सर्ग में ज्योतिष से सम्बंधित उल्लेख प्राप्त होता है कि अश्विनी आदि नक्षत्र ताराएँ, मंगल आदि ग्रह आदि पूर्ण चन्द्र वाली रात ''चांदनी की रात'' होती है।[38] रघुवंश के द्वादश सर्ग में राम के विरोधी शत्रुओं के लिए सूर्पणख का दर्शन हो जाना, उसी प्रकार अपशकुन कहा गया है, जिस प्रकार यात्रा को निकलने पर क्षतिग्रस्त अंग वाले व्यक्ति के दर्शन हो जाना। यह ज्योतिष के विद्या शकुनशास्त्र से सम्बंधित विवरण प्रस्तुत करता है।[39] रघुवंश में पंचम सर्ग में चन्द्रमा की कलाओं का वर्णन ज्योतिष से सम्बंधित।[40] विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में राजा पुरुरवा की तुलना विशाखा नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा से किये जाने का विवरण है।[41] इस प्रकार विविध सन्दर्भों से ज्योतिष विज्ञान के सूत्र हमारे सम्मुख उपस्थित होते है, ज्योतिष शास्त्र में जीविका की अधिकाधिक सम्भावनाएँ उपलब्ध हैं। कौशल एवं रोजगार दोनों इसमें प्राप्त कर सकते है।

(5) लेखनकला

विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय सर्ग में प्रेम की सूचना देने के लिए प्रेमी के लिए भोजपत्र पर अक्षरों को अंकित करने का वर्णन है।[42] कुमारसम्भव में भी भोजपत्र पर प्रेमी को प्रेमिका द्वारा प्रेमभाव को लिखकर प्रकट किया जाता है।[43] भोजपत्र या वृक्ष की खाल पर नुकीली लोहे की कील से लिखा जाता था। इस प्रकार की लेखन कला तत्समय उपलब्ध थी ।

(6) मूर्ति कला

रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में भगवान शंकर की अष्ट मूर्ति का उल्लेख मूर्तिकला का उदाहरण प्रस्तुत है–

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ।।[44]

(7) युद्धकला

रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के राज्य में चार प्रकार की सेना– अश्व सेना, हाथी सेना, रथ सेना, पैदल सेना राज्य को सुरक्षा प्रदान करने वाले छत्र की

भाँति कार्यरत हैं। जैसा कि वर्णित है–

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिमौर्वी धनुषि चातता ।।[45]

इस प्रकार राजा दिलीप का राज्य सशक्त होना युद्ध कला में प्रवीणता तथा तत्परता को सूचित करता है। आज भी वही देश ताकतवर है जिसके पास सैन्य बल या युद्धकला में महारथ प्राप्त है।

शोधात्मक निष्कर्ष–

कालिदास का कला–वैभव शब्दार्थ से भावार्थ एवं आकार से विचार तक के मनस भावों तक का मनोविज्ञानिक भ्रमण एवं रमण चित्रकारीय शैली में करता हुआ दिखाई देता है। कालिदास के समय में कला उत्कर्ष धारण किए हुए थी। विविध कलाओं में कौशल एवं जीविका के संकेत प्राप्य है। आज भी समस्त कलाओं में आजीविका निहित है, कालान्तर में कुछ शिथिलता अवश्य आई है, पर कलाओं की अपनी खूबी है जो हर युग में नवीन कौशल को धारण किये हुए है। मनुष्य अपनी भावनाओं को कलाओं के माध्यम से उद्घाटित एवं अभिव्यक्त करता है। अशाब्दिक भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम यह काव्य विषयक कला ही है। कला के बिना जीवन रसविहीन होता है। यह कला ही मनुष्य को आनंदानुभूति कराती है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में नृत्यकला, संगीतकला, नाट्यकला, स्थापत्यकला, युद्धकला, शृंगारकला, काव्यकला, लेखनकला, ज्योतिषज्ञान आदि का मनोरमता से हृदयग्राही वर्णन किया है। कलाएँ मनुष्य के कौशल को उत्कीर्ण करती हैं, फलागम के रूप में जीविका प्रदातृ है कला । कला का संपोषण, संरक्षण, संवर्धन, अभिवर्धन और रक्षण मनुष्य के विकास के लिए सर्वोपरि है। मानव चेतना का विकास कलाओं में निहित है। आओ कलाओं का अभिवर्धन करें।

अलम् इति ।

सन्दर्भ सूची :

1. त्रिपाठी, प्रो. राकेश मणि, संस्कृत साहित्य का मौलिक इतिहास, पृ.सं. 39–40
2. शर्मा, डॉ. उमाशंकर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, 2019, पृ. 200
3. शिवदत्त, अमरकोश, पृष्ठ सं. 72
4. नीतिशतक, 12
5. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, पंचम सर्ग
6. श्रीमद्भगवद्गीता, 10.22
7. अभिनवनाट्यशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ० 61
8. मालविकाग्निमित्र, 1.5
9. मालविकाग्निमित्र, 2.8
10. मालविकाग्निमित्र, 1.3
11. मालविकाग्निमित्र, 1.1 के बाद का गद्य
12. मालविकाग्निमित्र,1.21
13. मालविकाग्निमित्र, 2.9 से पहले का गद्य
14. रघुवंश महाकाव्य, 2.12
15. रघुवंश महाकाव्य, 4.73
16. रघुवंश, 3.19
17. रघुवंश, 1.47
18. मेघदूत, 1.39
19. मेघदूत, 2.26
20. विक्रमोर्वशीयम्, 1.3
21. अभिज्ञानशाकुन्तल्, 6.3
22. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 2.10
23. रघुवंशम्, 4.26
24. रघुवंशम्, 8.33
25. रघुवंशम्, 1.52
26. रघुवंशम्, 6.6
27. रघुवंशम्, 7.28
28. मेघदूत, 1.1
29. मेघदूत, 1.28
30. मेघदूत, 1.37
31. विक्रमोर्वशीय, 2.10
32. मालविकाग्निमित्र, 2.2
33. मालविकाग्निमित्र, 1.3 के बाद का गद्य
34. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ,1.17
35. रघुवंशमहाकाव्य, 1.87
36. रघुवंश, 3.13
37. रघुवंशमहाकाव्य, 1.46
38. रघुवंशम्, 7.28
39. रघुवंश, 12.43
40. रघुवंश, 5.16
41. विक्रमोर्वशीयम् ,1.12
42. विक्रमोर्वशीयम्, 2.12 से पहले का गद्य
43. कुमारसम्भव, 1.7
44. रघुवंश, 2.35
45. रघुवंश,1.19

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में किराना घराना

डॉ. सुभाष विश्नोई** **प्रियंका सहवाल***

शोध सार

भारतीय शास्त्रीय संगीत का इतिहास अत्यंत सुविस्तृत तथा सुदीर्घ रहा है। विविध काल–खण्डों में शास्त्रीय संगीत के अध्ययन – अध्यापन के लिए संगठन अथवा कोई ऐसी संरचना अवश्य होती थी जो अबाध रूप से गुणवत्तापूर्ण कार्य सम्पादन में आने वाली सभी बाधाओं का निराकरण करे तथा समाज के सम्मुख संगीत को नित नूतन बनाने के लिए सदैव तत्पर रहे। उत्तर मध्य काल में घराना पद्धति ने सांगीतिक उत्थान के लिए अपना अमूल्य योगदान दिया। उत्तर भारत में शास्त्रीय संगीत में घराना पद्धति अपने आप में एक अनूठी शैली के रूप में समाज में उद्भूत हुई। संगीत के तीनों ही अंगों गायन, वादन तथा नृत्य में अनेक घराने मिलते हैं। शास्त्रीय गायन के घरानों में किराना घराना को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस घराने ने शास्त्रीय ख्याल गायन के अंतर्गत अतिविलंबित लय का सफल प्रयोग किया जिसका प्रभाव वर्त्तमान में सभी घरानों पर स्पष्ट रूप से दिखता है। किराना घराने के उद्भव के मूल में उस्ताद बन्दे अली खां साहब का योगदान याद किया जाता है। खां साहब सफल बीनकार थे, अतः किराना गायकी में बीनकारी अंग भी दिखता है। प्रस्तुत शोध–पत्र में किराना घराना की गायन–शैली के विविध तत्वों को रेखांकित किया गया है।

सूचक शब्द : *घराना, गायकी, शास्त्रीय, सुरीलापन, ख्यातिलब्ध कलाकार, राग–विस्तार*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन के लिए विविध पत्र–पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के सहयोग से तथ्यों को संकलित किया गया है।*

शोध उद्देश्य : प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन का मुख्य उद्देश्य उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के किराना घराना की गायन–शैली को समझना तथा इसे रेखांकित करना है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में घराने का प्रचलन लगभग 200–250 वर्ष पूर्व से आरम्भ हुआ किन्तु आज यह शब्द शास्त्रीय संगीत का पर्याय बन गया है। शास्त्रीय संगीत का नाम आते ही सामान्य जनमानस के अंतर्मन में घराना शब्द स्वतः ही आ जाता है। शास्त्रीय संगीत में घरानों का विशेष महत्त्व है। घराना के माध्यम से शास्त्रीय संगीत का शिक्षण तो होता ही है । साथ ही, संगीत के किसी विशिष्ट तत्व को संचित, सृजित तथा प्रोत्साहित करते हुए आगे की पीढ़ी को हस्तांतरित भी किया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में विशेष प्रचलित घराना का शास्त्रीय संगीत के विशिष्ट प्रचार में बड़ा योगदान . ष्टिगोचर होता है। घराना शैली के द्वारा शास्त्रीय संगीत को एक नूतन आयाम प्राप्त हुआ है। घराना पद्धति शास्त्रीय संगीत के तीनों ही अंगों गायन, वादन तथा नृत्य में प्रचलित है। तीनों ही अंगो के अनेकानेक घराने प्रचार में रहे हैं। सभी घरानों द्वारा शास्त्रीय संगीत की यथा योग्य सेवा प्रदान की गयी।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में किराना घराना का विशिष्ट स्थान है। इस घराने का आरम्भन सुप्रसिद्ध बीनकार तथा ध्रुपद गायक उस्ताद बन्दे अली खां साहब जो कि ग्वालियर घराने के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद हद्दू खां के जामाता (दामाद) थे, से माना जाता है। लेकिन इस गायकी को घराना के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उस्ताद अब्दुल करीम खां तथा उस्ताद वहीद खां को प्राप्त है। कुछ विद्वानों का मानना है कि किराना घराना के मूल पुरुष नायक घोंडू तथा नायक मन्नू थे। ये दोनों ही संगीतकार ग्वालियर के महाराजा मानसिंह तोमर के दरबार में 1486 से 1516 की समयावधि में नियुक्त थे। इन्हीं की वंश परम्परा में आगे चल कर उस्ताद अब्दुल करीम खां तथा उस्ताद वहीद खां का जन्म हुआ।

किराना घराने के नामकारण के सन्दर्भ में विविध मत प्रचार में हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि महाभारत काल के सुप्रसिद्ध धनुर्धर, दानवीर कर्ण की राजधानी

*शोधार्थिनी, संगीत विभाग, तिलकधारी पी. जी. कॉलेज, जौनपुर, उत्तर प्रदेश
**शोध निर्देशक, संगीत विभाग, तिलकधारी पी. जी. कॉलेज, जौनपुर, उत्तर प्रदेश

जिसे कर्णनगरी कहा गया कालान्तर में इसका अपभ्रंश किराना हो गया। इसी आधार पर इस घराने का नाम किराना पड़ा। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि "उत्तर भारत में कुरुक्षेत्र के पास एक गाँव अवस्थित है जिसका नाम किराना है। इसी गाँव में उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब का जन्म हुआ था। अतः इस गाँव के नाम पर ही इस घराने का नाम पड़ा। उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब भी इसी मत के समर्थक थे।" कुछ विद्वान उक्त दोनों मतों से अलग मत देते हैं उनके अनुसार उत्तर प्रदेश में कैराना नाम का गाँव है उस्ताद बन्दे अली खां साहब यहीं के निवासी थे और चूँकि उस्ताद बन्दे अली खां साहब को इस घराने में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है अतः इस घराने का नाम उनके जन्म स्थान के नाम पर किराना पड़ा।

किराना घराना की गायकी में आलाप का प्राधान्य है। इस घराने में विद्यार्थियों को शिक्षण देते समय उसके सुरों के सटीक लगाव पर विशेष बल दिया जाता है। सभी घरानों तथा गायन की सभी शैलियों में सुरीलापन अत्यंत आवश्यक है किन्तु किराना घराना में सुरीलेपन पर विशेष बल दिया जाता है। किराना गायकी में स्वरों के सुरीला होने के साथ ही इसमें नाजुकता, कोमलता का भी ध्यान रखा जाता है। इस घराने में कहा जाता है कि "सुर गया तो सिर गया।" किराना घराना की गायन–शैली के अंतर्गत सुरीलापन के साथ ही आलाप के विविध प्रकारों तथा मीड़ को अत्यंत सौन्दर्यपूर्वक समायोजित किया जाता है। "एक स्वर से दूसरे स्वर पर पहुँचने के लिए किराना गायकी में एक विशेष प्रकार की चिकनाई दिखती है।"[2] धीमी बढ़त इस गायन शैली की विशेषताओं में से एक है। इस घराने की गायकी में लयकारी तथा बोल उपज का स्थान लगभग नगण्य है। गायन में लयकारी नहीं होने से गायन में लय तथा ताल का विशेष चमत्कार नहीं दिखता है। गायक द्वारा कुछ शब्दों को ले कर अपनी बंदिश की बढ़त की जाती है। इस घराने में बड़े ख्याल के लिए अतिविलंबित लय का चयन किया जाता है। अति विलंबित लय में विस्तृत आलाप, रेशम के समान मुलायम स्वरों में खट्के का प्रयोग, स्थान विशेष पर स्वर का संकुचन तथा विस्तार सहज ही श्रोताओं के अंतर्मन को छू लेता है। किराना घराना में स्वरों का लगाव अन्य घरानों की अपेक्षा अलग है।

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के घरानों में किराना घराना ऐसा अकेला घराना है जहां ठुमरी भी सिखाई जाती है। उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब ने अपनी सोच तथा परिश्रम से ठुमरी को एक नूतन आयाम दिया।

"बीन वादन के सौन्दर्यात्मक अवयवों से प्रेरित होकर इन अवयवों को ख्याल में समायोजित करने वाले ख्यातिलब्ध कलाकार उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब थे। खां साहब के कारण ही किराना घराना प्रतिष्ठित हुआ।"[3] उक्त सन्दर्भ में श्री आठवले जी कहते हैं– "किराना घराने की गायन शैली के आदि आचार्य उस्ताद बन्दे अली खां साहब अपने बीन–वादन में ख्याल का अत्यंत सुन्दर समायोजन किया था। उनका बीन वादन ख्याल अंग से होता था। ऐसी मान्यता है कि अब्दुल करीम खां साहब तथा वहीद खां साहब ने उस्ताद बन्दे अली खां की परम्परा से ही गायन सीखा था। अतः इस गायकी में तंत्रीय अंग का प्रभाव दिखना स्वाभाविक था। उस्ताद अब्दुल करीम खां तथा उस्ताद वहीद खां की गायकी में बीन तथा सारंगी अंग के आलाप एवं गमक की तानें स्पष्ट दिखने लगीं। बाद में यही अवयव उनके गायन की विशेषताओं में गिने जाने लगे । उसका गायन ही किराना घराने की आत्मा के समान है । अतः ये अवयव आज भी किराना घराना की गायकी में दिखते है।"[4]

किराना घराना की गायकी में बड़े ख्याल के लय को अतिबिलम्बित करने का श्रेय उस्ताद अब्दुल वहीद खां साहब को जाता है। विलंबित ख्याल के लय के अति विलंबित हो जाने से आलाप के माध्यम से राग का विस्तार करने के लिए ताल के प्रत्येक आवृति में अपेक्षाकृत अधिक समय मिल जाता है। लय के अति विलम्बित होने से गायन में चौनदारी की अनुभूति होने लगी। इससे गायन में गंभीरता आई तथा स्वरों पर अधिक ठहराव तथा उसकी आंस की उत्पत्ति सम्भाव्य हुई। इस नूतन प्रयोग ने ख्याल गायन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। उस्ताद वहीद खां साहब के इस प्रयोग का प्रभाव लगभग सभी घरानों की गायकी पर पड़ा। इस प्रयोग के नकारात्मक प्रभाव भी दिखने लगे। बंदिश की लय के अति विलंबित हो जाने से बंदिश का साहित्य उपेक्षित होने लगा। बंदिश के शब्दों की अपेक्षा स्वर को अधिक महत्व दिया जाने लगा। शब्दों की अपेक्षा स्वरों को अधिक महत्व देने के सन्दर्भ में गायकी के तंत्रीय अंग का प्रभाव भी हो सकता है।

किराना घराना में औडव तथा वक्र चलन वाले रागों का गायन सामान्यतः नहीं किया जाता है। इस घराना में राग विस्तार एक–एक स्वर बढ़ाते हुए करने की परम्परा रही है। विलम्बित ख्याल की लय अति विलंबित होने के कारण गायन गंभीर तथा भावपूर्ण हो जाता है, अतः इसके लिए किराना शैली के गायन के लिए इसी प्रकार के रागों का चयन किया जाता है। इस घराना में सामान्यतः दरबारी, शुद्ध कल्याण, पुरिया, पुरिया धनाश्री, यमन, तोड़ी आदि रागों का गायन किया जाता है। उस्ताद अब्दुल करीम खां साहब ने अपने जीवन–काल का एक खंड मैसूर में भी व्यतीत किया। अतः उन पर दक्षिण संगीत का प्रभाव पड़ा। फलतः खां साहब ने दक्षिण के कुछ रागों जैसे– खरहरप्रिया, सावेरी आदि रागों में बंदिशें रच कर अपने घराने के अवयवों में समाहित कर लिया।

इस घराना में लय के अति विलंबित होने के कारण बाद की तानें अति द्रुत लय में की जाती हैं। किराना की गायकी में आकार की तानों का आधिक्य है जबकि बोल तानें लगभग नगण्य हैं। इस घराना में सरगम करने का अनूठा ढंग है। गायन में सरगम लयात्मक, कलात्मक तथा वैचित्र्यपूर्ण होता है।

किराना घराना में गायकों का आधार स्वर सामान्यतः ऊँचा रहता है। यह गायकी आलाप तथा भाव–प्रधान गायकी है। बाबा दीक्षित का मत था कि किराना घराना के गायक अपने गायन में बोलतान, बोलबाँट आदि से परहेज करते हुए सरगम के माध्यम से राग–विस्तार करते हैं। यह शैली उनके घराना का विशेष अंग बन चुका है। किराना गायकी के लिए इस घराना के गायक सामान्यतः विलम्बित ख्याल के गायन के लिए एकताल तथा किंचित झूमरा जबकि मध्य तथा द्रुत लय की बंदिश के लिए सामान्यतः तीनताल का ही चुनाव करते हैं। इस शैली के गायन में कठिन तानों का प्रयोग किया जाता है। तान करते समय भी लयकारी आदि का निषेध है।

निष्कर्ष :

किराना घराना की गायन–शैली एक अत्यंत अनूठी गायन–शैली के रूप में स्थापित है। यह गायन–शैली बोलबाँट, बोलतान, लयकारी, आदि चमत्कृत करने वाले तत्वों से अलग रह कर भी श्रोता वर्ग में विशेष लोकप्रिय है। चूँकि इस गायकी के उद्‌भव के मूल में तंत्रीय वाद्य का प्रभाव रहा है, अतः इस घराने में इसका प्रभाव आज भी दिखता है। इस घराना के गायकों द्वारा स्वर का सूई की नोक– जैसे नुकीला तथा सटीक लगाव, गायन में चिकनाई और एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने में स्वर की तारतम्यता का खंडन न होना आदि इस घराने के तंत्रीय अंग को दर्शाते हैं।

संदर्भ सूची :

1. धर्मपाल, किराने घराने की गायकी एवं बंदिशों का मूल्यांकन, ओमेगा पब्लिकेशन नयी दिल्ली, 2008, पृष्ठ 34
2. खोत, जयंत, संगीतकार उस्ताद अब्दुल करीम खां, के. एल. पचौरी प्रकाशन, 2003, पृष्ठ 20
3. देशपांडे, श्री वामनराव, घरानेदार गायकी, राज कमल प्रकाशन, 2020 पृष्ठ – 31
4. तत्रैव, पृष्ठ. 30

The Significance of Folk Music and Media in India's Freedom Struggle

Prabhat Kumar Dubey** **Badshah Alam***

Abstract

Folk media refers to traditional means of infor- mation and message dissemination through demonstration of native songs, dance, plays, stories, myths or symbols in a visually appealing and entertaining manner performed in front of local audience aware of the context and the background of performance art. The outreach of modern media was severely limited in pre-independence era with limited and exclusive access to print and electronic media. However, the folk media was ingrained deep into the local culture like a bestowed legacy passed from one generation to next. Local plays (Natak Mandali) were a hot-spot for deliberation and diffusion of ideologies popularising need for armed-struggle or subtle non-cooperation. Songs of valour and courage were sung and dramatised on stage in a hope that people develop resistance and defiance against the ruling monarch. Bahurupiya (Master of disguise) was one of the most ancient folk media practice prevalent during British era and is even practiced in modern times. They (Bahuripyas) were skilled in art of mimicry and imitation and this practice was used by the legendry freedom fighter Azaad. His comrade Bhagat Singh was known to mobilise people through stage and role plays where the bravery of native warriors was praised and celebrated through patriotic poetry and songs. Gandhi took a local folk symbol Charkha and established it as epitome of boycott and non- cooperation and a beacon of self-reliance in an attempt to reduce the country's economic burden. Historical evidences suggest that such events were quite popular means to mingle with people and prepare them to revolt or disturb the ruling regime. It also helped in development of new materials of resistance through a sort of cascading effect. This study makes an attempt, through extensive literature survey and anecdotal evidence, to investigate the role of folk media during freedom struggle with particular focus on plays/drama, bhajan/kirtan and native symbols centred on the Bengal province (Bihar, Jharkhand, Orissa and West Bengal) and how it helped in restoring the native pride and eventually preparing them to stand up and fight and against the English.

Keywords : *freedom struggle, media, press, folk song, folk dance, folk media*

Methodology : *Supported by secondary sources.*

I. INTRODUCTION

Every campaign requires an effective communication. Every government needs a suitable platform to held presentations and discussions on matters of national or international importance. In modern times countries and communities have access to plethora of medium through which propaganda can be spread and thoroughly diffused even to the seemingly lower hierarchy of social order, but this was not the case in colonial India. Media was strictly regulated and monitored by the British government. In the next paragraph, I review the case of conventional media- print and electronic and their availability during British era.

**Astt. Professor, Amity School of Communication Amity University Patna, Bihar* Patna, India
***Astt. Professor, Amity School of Communication Amity University Jharkhand,* Ranchi, India

II. MEDIA IN BRITISH INDIA

A. Newspaper and vernaculars

The beginning of modern media culture in India started with the publishing of *'Bengal Gazzette'* by an Irishman, James Augustus Hicky[1] in the year 1780. It was followed by more newspapers like *The India, The Calcutta Gazette, The Madras Gazette, The Bombay Herald etc.* After the freedom struggle of 1857 more vernaculars which were in local languages began to flourish. However, there were reporting delays in want of transportation and communication. In 1858, the Indigo Movement by Bengal farmers was reported by large number of vernaculars and it was when censorship truly started in India. By the year 1910, British government started regulating the publishing of sensitive news[2]. However articles with nationalist tone kept on appearing furthering the disappointment of British.

B. Radio

Radio was another tool of media and communication which was introduced under the British rule. The first broadcasting started in 1920s[3] and the radio transmission was heavily regulated by British until amateur radio operators came into the picture when they started broadcasting contents with nationalist fervour.

III. FOLK TRADITION IN BRITISH INDIA

Before I begin writing on the main theme, let's review the different folk practices that were prevalent in British India and how those were geographically distributed.

A. Folk songs

Cecil Sharp, a famous English folk song collector, musician and composer defines folk songs as "the spontaneous music of the unspoiled, unlettered classes and created out of their pure natural instinct"[4] Folk songs in India are one of the oldest and still in practice. During British India, folk songs underwent a radical change and songs with patriotic and defiant flavour began to be written and performed all over the India[5]

- *Raamcharitmanas* is an ancient Hindu text written by sage Tulsi Das. It retells the life and philosophy of Lord Rama, the great Hindu deity and is recited in Northern India with utmost devotion and is closely related with their way of lifestyle and thinking.[6] It celebrates the judicious choice of good over evil; right over wrong; light over darkness and also mentions human value of universal nature that has been cherished and preserved by Hindu philosophy throughout the centuries[7]. It had been used as a radical text around Gangetic plane during British era[8] to keep the fire of religious identity burning. Social and political biases in India is closely related to the individual's religious preferences. This was known to the sages, devotees, pandits and pujaris (custodians of Hindu temple) and has been extensively used to uplift the moral of people during the humiliating period of colonialism.
- *Bhajan/Kirtan* are religious devotional songs used in liturgical and individual worship by adherents of Hindu and Sikhs as aids to think, feel and act in ways appropriate to their traditions' understanding of transcendent reality[9]. British were indifferent to Indian music, particularly so of *Bhajans and Kirtans* because they were of complex narratives and involved context based knowledge to grasp the meaning of songs. Local musicians were discouraged and only a handful of them found patronage under local rulers. However, many rulers came forward and promoted it through organising events and funding the development of the field. Maharaja Pratap Singh of Jaipur started the

practice of holding conference of musicians. This exercise eventually culminated into the production of *Sangit Sagar*, a monumental work on Indian Music. were used to uplift the religious moral of the society and made people associated with their roots. Contents of *Bhajan* and *Kirtan* covered familiar religious themes. These were performed under a closely knitted group which were stakeholders in native affairs and many a times these gatherings culminated into socio-political discussion group. Discontent and disappointments were openly discussed and slowly the sympathy for British began to deteriorate. Cause of freedom fighters got a boost and it only helped in the national cause.

- *Quawwally* is Muslim devotional song and it is sometimes also referred as Sufi songs[10]. These were folk songs performed by Muslim artists and those were many a times written on social and political issues in an entertaining way to uplift the mood of people[11].
- *Dhandhar* were folk songs with lively performance and well synchronization of voice of the singers and rhythm of instruments. These were having content related to religious theme. Eminent local personalities were also the theme of these songs[12].

It is performed by a group of *quawwals* and is led by two solo singers. It present mystical poetry with themes like love for God or beloved or country characterised by repetition and improvisation. Drum beats is accompanied by hand clapping and reinforced with melodious tune of harmonium. Beauty of the performance lies in the vigorous participation of the performers. Public gathering becomes conducive to social debate and nationalists took advantage of that for campaigning their propaganda against the British. All these interactions were strictly on one-to-one basis and that helped in establishing a repertoire with the general mass.

B. Folk dance

India is rich in her diversity. There are many types of folk dances that are performed all over the country with local importance and meaning. In Britannica Encyclopaedia, folk dance has been defined as authentic traditional dance of a given society, handed down from generation to generation in the manner of all traditions, customs, beliefs, superstitions and folk-ways without alteration. Folk dance is the most natural and spontaneous expression of exuberance and celebration of life. Folk dance is simple instinctive and vigorous in nature and allows to a large measure, abandonment and freedom of expression.[13]

Tamasha is principally a folk tradition emanating from Maharashtra during late sixteenth and seventeenth century[14]. It served as a bawdy, lascivious entertainments for the armies of both Mughal and Maratha chieftains of the Deccan plain. It was a great moral booster for the fighters who gave the British nightmares.

Bahurupiya dance was rich in color and loud in perfor- mance. The stage was set to astonish and surprise the audience. The performers changed appearances and voices too often and left the audience spell-bound. These dance forms were infused with local folklores and chances are that it might as well had inspired the legendary freedom fighter Chandra Shekhar Azaad. Azad was a master of disguise and the British police had had hard time locating him. He always seemed to be a step ahead[15] and this led to demoralisation of British police. Azad's exploit gave a boost to the cause of freedom.

C. Folk theatre

Folk theatre was used to stir the

nationalist conscience of the society through role plays and stage-show on contemporary issues. It was a way for regional cultural expression leading to rediscovery and re-evaluation of indigenous form of literature and performing arts[16]

Bhagat Singh mobilised the students through live theatre performance in Lahore National College; as Reddy et.al. write in their seminal paper, "In 1923, Singh joined the National College in Lahore, where he was also involved in extra- curricular activities such as the dramatics society"[17]

D. Folk symbol

Folk symbols are like geographical indicators (GIs) and local do immense pride in these symbols. India is country that loves and respects its legends and mythologies and some symbols are entrenched deep in natives psyche and intelligent leaders understood the power of symbols, be that the sword of Simon Bolivar or unstoppable force of Gandhi's Charkha (spinning wheel to yarn clothe). Charkha symbolised non-materialism at its height and added a spiritual aspect to the whole movement[18].

IV. FOLK MEDIA AND PUBLIC AWARENESS

Regulating Folk media would be a logistic nightmare for the British. eventually it led to more and more people being educated about the evil policies of British government which would eventually lead to growing discontent which is reflected strongly in the non-cooperation and civil disobedience movement. It can safely be assumed that folk media led to elevated public awareness regarding the call for democracy and prospect of freedom. Following can be the reasons, although not exhaustive or limited to, for folk media being so instrumental in reading and, in turn, affecting the mood of public in favour of the nationalist movement:

- Folk media was familiar to the audience. They associated with the context; the language and performers were familiar- this gave a feeling of approval and validation of their pain and grief. Here the contextual and linguistic awareness gave impetus to behavioural psychology.
- The interest, mood, perception, understanding, interpretation and attitude were all native, so the diffusion of information was deeper and durable.
- Those satisfied the innate need of locals for self- expression. The presentations were dramatic and lyrical and aided in the charm.
- Most of the populace live in villages and folk media was more effective in rural areas because the techniques and simple and easy.
- Folk media played a meaningful role in rural areas, in educating the rural people about the consequences of social evils like alcoholism, illiteracy untouchability, superstition, communalism, population explosion, malnu- trition and in-sanitation, dowry, sati and so on.

V. CONCLUSIONS

Information dissemination is a complex process and differ- ent variables are at play, linguistic considerations; perceptional differences; behavioural psychology; identity complexities and many more. Mainstream media in contemporary world is at advantage when we take into consideration the plethora of means and medium; however, that was a tough job when world was not acquainted with gazettes and internet. British era India was one such place where news would be harder to spread provided the limitations of access. Folk media would come as saviour owing to its ease of accessibility. It helped in building a positive sentiment towards the nationalist cause and

helped in freedom struggle movement would not be a hyperbole to make, per se. However, the immense contribution of folk media wasn't just limited pre-independence, rather its usefulness and relevance has permeated the flow of time and modern government relies on it popularity for campaigning on different social issues.

ACKNOWLEDGMENT

AK and BA acknowledge the facility and infrastructure provided by Amity University of Patna.

References :

1. Gilding, Ben. (2018). The Rise and Fall of Hicky's Bengal Gazette (1780–2): A Study in Transoceanic Political Culture. The Journal of Imperial and Commonwealth History. 47. 1-27. 10.1080/03086534.2018.1506870.
2. Raman, V. Venkat. "THE INDIAN PRESS ACT OF 1910: THE PRESS AND PUBLIC OPINION AT CROSSROADS IN THE MADRAS PRESIDENCY 1910-1922." Proceedings of the Indian History Congress, vol. 60, 1999, pp. 863–71, http://www.jstor.org/stable/44144157. Ac- cessed 19 Apr. 2022.
3. Pinkerton, A 2008, 'Radio and the Raj: broadcasting in British India (1920-1940)', Journal of the Royal Asiatic Society, vol. 18, no. 2, pp. 167-191. https://doi.org/10.1017/S1356186307008048
4. CHOUDHURY, Sanghamitra. "FOLK MUSIC AS A VOICE OF MARGINALIZED SOCIETY: A COMPARATIVE STUDY OF GOAL- PARIA FOLK MUSIC OF ASSAM AND PHLENG PHUE CHIWIT OF THAILAND." The Eastern Anthropologist (2013): n. pag. Print.
5. Sadhana Naithani (2001) An Axis Jump: British Colonialism in the Oral Folk Narratives of Nineteenth-Century India, Folklore, 112:2, 183-188, DOI: 10.1080/00155870120082227
6. Lutgendorf, Philip. The life of a text: performing the Ramcaritmanas of Tulsidas. Univ of California Press, 1991.
7. Ramkissoon, Romila. Characterisation in the Ramcharitmanas. Diss. 2005.
8. Kumar, Kapil. "The use of Ramcharitmanas as a radical text: Baba Ram Chandra in Oudh, 1920-50." Occasional papers on history and society (1984).
9. Reid, Stephen Breck, ed. Psalms and practice: worship, virtue, and authority. Liturgical Press, 2001.
10. Gaind-Krishnan, Sonia. "Qawwali Routes: Notes on a Sufi Music's Transformation in Diaspora." Religions 11.12 (2020): 685.
11. Bhattacharjee, Anuradha, and Shadab Alam. "The Origin and Journey of Qawwali: From Sacred Ritual to Entertainment?." Journal of Creative Communications 7.3 (2012): 209-225.
12. Chapke, Rajendra, and Rekha Bhagat. "Traditional folk media: An ef- fective communication tool for social development." Proceedings Paper R0319 (2003).
13. Sohi, Jatinder, and Preeti Sodhi. "RENAISSANCE CALL: FOLK DANCES OF HARYANA."
14. Abrams, Tevia. "Folk theatre in Maharashtrian social development programs." Educational Theatre Journal 27.3 (1975): 395-407.
15. Schechter, Joel. "Back to the popular source: Introduction to part I." Popular Theatre. Routledge, 2013. 3-11.
16. Hansen, Kathryn. "Indian Folk Traditions and the Modern The- atre." Asian Folklore Studies, vol. 42, no. 1, 1983, pp. 77–89, https://doi.org/10.2307/1178367. Accessed 25 Apr. 2022.
17. REDDY, Y. RAMACHANDRA, and SURYA PRAKASH. "IMPRINTS OF BHAGAT SINGH IN INDIAN INDEPENDENCE MOVEMENT: A HISTORICAL OVERVIEW."
18. Balaram, S. "Product symbolism of Gandhi and its connection with Indian mythology." Design Issues 5.2 (1989): 68-85.

भारतीय संगीत में वैश्वीकरण का प्रभाव : एक अध्ययन

डॉ. पंकज शर्मा*

शोध सार

भारतीय शास्त्रीय संगीत पर विविध काल में सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक नई धारा अथवा एक नए प्रकार का जन्म हुआ है। वर्तमान काल में सुविस्तृत भू–भाग पर वैश्वीकरण के प्रवाहमान वेग से भारतीय शास्त्रीय संगीत भी अछूता नहीं है। वर्तमान समय में वैश्वीकरण का हमारे संगीत पर अनेक सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभाव पड़े हैं। अनेक नूतन प्रयोगों ने भारतीय संगीत को एक नई ऊंचाई दी है तो वहीं कुछ ऐसे तत्व भी हैं जो इस संगीत की पूरी स्थिति पर ही प्रश्नचिन्ह लगाने को आतुर हैं। वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय शास्त्रीय संगीत में अनेक सम्भावनाओं के नूतन द्वार खुले हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र में भारतीय संगीत के वैश्वीकरण में सकारात्मक तथा नकारात्मक प्रभाव की चर्चा की गई है।

सूचक शब्द : *सामाजिक, आर्थिक, सकारात्मक प्रभाव, वैश्वीकरण, शास्त्रीय संगीत*

शोध प्रविधि : *प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन के लिए विविध पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का अध्ययन किया गया है। यह शोध–पत्र इसके पूर्व में आंशिक या पूर्ण रूप से प्रकाशन के लिए कहीं भी प्रेषित नहीं किया गया है।*

शोध उद्देश्य : *प्रस्तुत शोध–पत्र के लेखन का मुख्य उद्देश्य भारतीय शास्त्रीय संगीत में वैश्वीकरण के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों का अध्ययन करना एवं उन्हें रेखांकित करना है।*

शोध विषय

भारतीय संस्कृति के लिए वैश्वीकरण की अवधारणा कुछ नया नहीं है। इस अवधारणा का समावेश अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में स्पष्ट दिखता है। प्राचीन संस्कृति में "वसुधैव कुटुंबकम्" का उद्घोष भारतीय संस्कृति के वैश्वीकरण की ओर संकेत करती है। भारतीय विद्वानों ने सम्पूर्ण विश्व को एक कुटुंब के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय विद्वानों का चिंतन इस प्रकार है–

अयं निजः परोवेति गणनालघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैवकुटुंबकम्।।

अर्थात् यह मेरा है, यह उसका है; जो ऐसा सोचता है वह अत्यंत संकुचित मानसिकता का व्यक्ति है। उदार चित्त वाले व्यक्ति के लिए तो यह संपूर्ण धरती एक कुटुंब है।

वर्तमान समय में प्रचलित 'वैश्वीकरण' अथवा 'भूमंडलीकरण' शब्द जिसे अंग्रेजी में "Globalization" कहा जाता है, की अवधारणा बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में अस्तित्व में आई तथा इसी सदी के अंत होते–होते यह संकल्पना तीव्र गति से प्रसारित हुई।[1] "वैश्वीकरण एक शब्द है जिसका उपयोग यह वर्णन करने के लिए किया जाता है कि कैसे व्यापार और प्रौद्योगिकी ने दुनिया को अधिक जुड़ा हुआ और अन्योन्याश्रित स्थान बना दिया है। वैश्वीकरण अपने दायरे में उन आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों को भी शामिल करता है जो इसके परिणामस्वरूप हुए हैं। समय के साथ इस अवधारणा की पहुंच बढ़ती जा रही है।" वैश्वीकरण की संकल्पना ने सभी देशों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक आदि नीतियों को विधिवत् प्रभावित किया है। प्रसिद्ध विद्वान एंथोनी गिडिंस ने वैश्वीकरण की परिभाषा देते हुए लिखा– "विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रितता अथवा पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है। यह पारस्परिक, सामाजिक और आर्थिक संबंधों में होती है। इसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं।"[2] नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. अमर्त्य सेन जी वैश्वीकरण के संदर्भ में लिखते हैं "वैश्वीकरण नया नहीं है और न तो इसे मात्र पाश्चात्यी करण ही समझा जाना चाहिए। प्रयास, पर्यटन, प्रवसन तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान तथा ज्ञान के प्रचार–प्रसार के माध्यम से यह हजारों वर्षों से विकसित होता चला रहा है।"[3] प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति में

*सहायक आचार्य, संगीत विभाग, धीरेन्द्र महिला महाविद्यालय, वाराणसी

अंतर्निहित वैश्वीकरण की भावना त्यागवृत्ति के आधार पर उपभोग को बलवती करती है जबकि वर्तमान वैश्वीकरण उपभोगवादी है। वर्तमान काल में वैश्वीकरण का मुख्य आधार आर्थिक है। भौगोलिक सीमा से मुक्त होकर आर्थिक क्रियाकलापों एवं व्यापार को बढ़ावा देना के लिए संपूर्ण विश्व को एक बाजार के रूप में उपस्थित करना ही वैश्वीकरण है। वैश्विक स्तर पर उपलब्ध सुखदायक विविध भौतिक संसाधनों की संचयन एवं संचालन के लिए अधिक से अधिक धन की आवश्यकता के कारण मनुष्य के निजी जीवन में व्यस्तता अधिक बढ़ गई है जोकि मनुष्य के जीवनचर्या पर वैश्वीकरण का प्रभाव स्पष्ट प्रभाव है। वैश्वीकरण ने भारतीय संस्कृति के साथ भारतीय संगीत को भी प्रभावित किया है। व्यापारिक मानसिकता प्रधान वैश्वीकरण के प्रवाह ने भावना प्रधान भारतीय संगीत का भी व्यापारीकरण कर दिया है।

वर्तमान काल में भारतीय शास्त्रीय संगीत में वैश्वीकरण का स्पष्ट प्रभाव अत्यंत व्यापक रूप से दिखता है। वैश्वीकरण ने भारतीय संगीत में अनेक स्थानों पर नूतन सम्भावनाओं के द्वार खोले हैं तो साथ ही कुछ स्थानों पर चिंताजनक स्थिति भी उत्पन्न कर दी है। भावनाओं तथा अंतर्मन को स्पर्श करने वाले भारतीय संगीत को भी वैश्वीकरण के प्रभाव से एक उत्पाद की भांति देखा जाने लगा है । संगीत पर व्यापारिक मानसिकता के प्रभाव से सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही प्रकार के प्रभाव हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत पर वैश्वीकरण का प्रथम .श्या प्रभाव घराना पद्धति तथा गुरु–शिष्य परंपरा के ह्रास के रूप में दिखता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के शिक्षण के समय शिष्य को गुरु के सम्मुख उपस्थित होना अत्यंत अनिवार्य है। क्योंकि भारतीय सांगीतिक चिंतन अत्यंत गूढ़ है। परिस्थिति तथा परिवेश से स्वरों के लगाव में अंतर तथा इसके परिणामस्वरूप राग के स्वरूप में अंतर को अनुभूत किया जाता है। अतः विद्यार्थी को इस प्रकार के परिस्थितिजन्य अंतर को समझने तथा स्वर, श्रुति, राग आदि के सूक्ष्मतम ज्ञान के लिए गुरु का प्रत्यक्ष सानिध्य अत्यंत आवश्यक है। किंतु वैश्वीकरण के प्रभाव से अब न तो शिष्य के पास इतना समय है कि वह लंबे समय तक अपने गुरु के सम्मुख उपस्थित होकर सूक्ष्मता से इस विषय का अध्ययन करें और ना ही गुरु के पास इतना समय है कि शिष्य को निरंतरता पूर्वक अत्यंत सूक्ष्मता से लम्बे समय तक सांगीतिक मार्गदर्शन करें। सुदीर्घ काल से सृजित संगीत के अनेक अमूल्य अवयव गुरु–शिष्य परंपरा अथवा घराना परंपरा के ह्रास होने से अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही है।

शिक्षण के साथ–साथ प्रस्तुति में भी वैश्वीकरण ने अपना प्रभाव दिखाया है। प्रस्तुतीकरण के पूर्व प्रस्तोता द्वारा अपनी प्रस्तुति इस प्रकार से सजाया जाता है की थोड़े समय में ही अधिक से अधिक प्रभाव डाला जा सके। प्राचीन काल में रागदारी को विशेष समय दिया जाता था किंतु वर्तमान में समझ की अल्पता तथा व्यस्तता के कारण रागदारी को सुनने और उसका आनंद लेने वाले श्रोताओं का भी अभाव है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो शनै शनै ऐसा भी समय आ जाएगा जब प्रस्तोता को भी रागदारी की समझ अपेक्षाकृत कम होगी। क्योंकि वह व्यस्तता अथवा शीघ्रता के कारण अपने गुरु से इसकी शिक्षा प्राप्त ही नहीं कर पाएगा।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में वैश्वीकरण के प्रभाव से रिकॉर्डिंग आदि का प्रचलन बढ़ा है। शास्त्रीय संगीत में प्रस्तोता अपनी प्रस्तुति मंच के समक्ष बैठे हुए श्रोताओं के मनके अनुरोध करता रहा है। किंतु वर्तमान में उसे सामने श्रोता कम ही स्थानों पर मिलते हैं अधिकतर तो उसे कैमरे अथवा रिकॉर्डिंग मशीन के समक्ष अपना गाना प्रस्तुत करना पड़ता है। जिससे श्रोताओं के मन के अनुरूप गायक अपनी प्रस्तुति नहीं दे सकता है। पुनः गायक के लिए रिकॉर्डिंग के समय में समय सीमा की बातें तो होती है। अतः वह चाहते हुए भी अपने कला का प्रदर्शन अपने मन के अनुरूप नहीं कर सकता है। इस प्रकार से रिकार्डिंग के कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत के सन्दर्भ में ऋषि चिंतन द्वारा उद्भूत रागों का समय सिद्धांत के अनुशासन को भी अस्वी.त किया जाता है। पूर्व काल में प्रचलित रागात्मक प्रस्तुती के स्थान पर वर्तमान में कुछ कलाकार यूजन का भी प्रयोग कर रहे हैं। जिसके अंतर्गत विविध प्रकार के संगीत को भारतीय शास्त्रीय संगीत में मिलाकर प्रस्तुत किया जा रहा है। भारतीय संगीत में यह एक नूतन प्रयोग है।

वैश्वीकरण के फल स्वरुप विविध नवीन वाद्य यंत्रों की खोज ने प्राचीन एवं परंपरागत वाद्य यंत्रों के अस्तित्व पर संकट खड़ा कर दिया है। वर्तमान काल में

सिंथेसाइजर जैसे वाद्य; बांसुरी, सितार, इसराज, शहनाई, हारमोनियम जैसे अनेक वाद्यों को सहजता से प्रस्तुत कर सकते है। नवीन इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों के रखरखाव आदि का खर्च भी पारंपरिक वाद्यों की अपेक्षा कम है। इस प्रकार सांगीतिक वाद्यों पर इसके नकारात्मक प्रभाव भी स्पष्ट दिखते हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभाव भी स्पष्ट होते हैं। इस वैश्वीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय शास्त्रीय संगीत के लिए वरदान स्वरूप प्राप्त माइक्रोफोन ने भारतीय संगीत को एक नूतन आयाम पर स्थापित किया है। माइक्रोफोन के आगमन से पूर्व भारतीय संगीत में गायकों को अपनी आवाज ऊंची रखनी पड़ती थी जिससे कि विशाल जन समूह में सभी श्रोताओं तक गायन बहुत सके। जिससे उसके गायन की प्रस्तुति में लालित्य तथा भावात्मकता प्रभावित होती थी। किंतु माइक्रोफोन के आगमन से गायक अपनी आवाज भाव के अनुसार रखता है। माइक्रोफोन के आगमन से पूर्व विशाल जनसमूह के मध्य गायन तथा वादन प्रस्तुत करते समय गायक की आवाज बुलंद होती थी किंतु वाद्यों को एक सीमा तक की बजाया जा सकता था। अतः संगीत में गायकों का स्थान प्रमुख था। किंतु माइक्रोफोन के आगमन से श्रोता तक आवाज पहुंचाने के लिए प्रस्तोता को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता है। प्रस्तोता अपनी प्रस्तुति को श्रोताओं तक पहुंचाने की अपेक्षा अपनी प्रस्तुति की गुणवत्ता तथा उसमें भाव सौंदर्य आदि पर ध्यान केंद्रित करता है। श्रोताओं तक बिना अधिक श्रम किए गायन के साथ साथ सभी वाद्यों की सरस ध्वनि पहुंचने से कलाकारों द्वारा इन वाद्यों के जोरदार वादन कि अपेक्षा कोमलता तथा स्वतंत्र अस्तित्व पर भी विचार किया। जिसके परिणाम स्वरूप वर्तमान समय में गायन के साथ ही वाद्यों का स्वतंत्र वादन भी विशेष प्रचार में आया। वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय शास्त्रीय संगीत को विश्व के विभिन्न भागों (देशों) में सुना तथा पसंद किया जाने लगा है। अनेक विदेशी विद्वानों द्वारा भारतीय संगीत के अध्ययन हेतु भारतीय भाषा को सीखने तथा उनके द्वारा भारतीय संगीत पर विस्तृत शोध एवं लेखन का प्रमाण उपलब्ध है। अनेक भारतीय विद्वान संगीतज्ञ भारतीय संगीत के प्रचार हेतु विश्व के विभिन्न विभागों पर भ्रमण कर अपना गायन प्रस्तुत कर रहे हैं तथा सम्मान प्राप्त कर रहे हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत के साधकों ने विभिन्न बड़े वैश्विक मंचों पर भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व किया है। जिनमें कुछ प्रमुख है "पंडित बुधादित्य मुखर्जी ने 30 जून 1990 को लंदन के हाउस आफ कॉमनस में सितार वादन प्रस्तुत किया, पंडित रोनू मजूमदार ने हॉलीवुड की फिल्म प्राइमरी कलर में संगीत निर्देशन किया, सुप्रसिद्ध सितार वादक पंडित रविशंकर जी को विश्व के लगभग 14 विश्वविद्यालयों द्वारा डॉक्टरेट की उपाधि, रेमन मैग्सेसे अवार्ड तथा दो बार ग्रैमी अवार्ड भी प्रदान किया जा चुका है।"[4] आदि।

प्राचीन काल से ही भारतीय विद्याओं के संरक्षण तथा संचरण के लिए लेखन कार्य को बहुत महत्व दिया जाता रहा है। किंतु मध्यकाल में विविध विद्याओं और मुख्य रूप से संगीत विद्या के मुसलमानों तथा निरक्षर किन्तु साधक कलाकारों के हाथ में पहुंचने से इसके लेखन कार्य में शिथिलता आ गई। जिससे कि अनेक तथ्य लिपिबद्ध नहीं किए जा सके। पंडित भातखंडे जी तथा पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी के बाद संगीत में लेखन की क्रिया भी प्रचलित हुई। वर्तमान समय में विष्णु द्वै के प्रयास सफल प्रयासों से तथा वैश्वीकरण के परिणाम औद्योगिकरण से भारतीय शास्त्रीय संगीत में ग्रंथों के लेखन उनके प्रसारण तथा उनके प्रचार–प्रसार को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान काल तक भारतीय संगीत के अनेक पक्षों पर विचार कर उन्हें ग्रंथ रूप में परिणित करके प्रकाशित किया जा चुका है।

वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय संगीत में रोजगार की संभावना बढ़ गई। पूर्व काल में जहां संगीत को मनोरंजन अथवा मन शांति के लिए सुना जाता था वही वैश्वीकरण के प्रभाव के बाद संगीत में संगीत चिकित्सा आदि अनेक क्षेत्रों के उद्भव के साथ ही रोजगार के नए अवसर उपस्थित हुए।

निष्कर्ष :

वैश्वीकरण के प्रभाव से भारतीय शास्त्रीय संगीत में सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही प्रकार के प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। कुछ स्थानों पर जहां सकारात्मक प्रभाव पड़े हैं, वहां तो प्रशंसनीय रूप से एक नया आयाम स्पर्श करने के लिए कलाकार प्रयासरत हैं किंतु जहां नकारात्मक प्रभाव पड़ रहे हैं वे इस प्रकार से

संगीत को प्रभावित कर रहे हैं जिससे निकट भविष्य में संगीत के वर्तमान स्वरूप के लुप्त होने की संभावना बलवती होती जा रही है। वर्तमान आधुनिकता के प्रवाह में पारंपरिक तथा मूल भावना को अस्वीकृत किया जा रहा है जो भयावह परिणामदायक है। भारतीय संगीत में वैश्वीकरण अथवा आधुनिकता का समावेश वहीं तक उचित है, जहां तक उसकी मौलिकता तथा पारंपरिकता का अंत न हो। मौलिक तथा पारम्परिकता के अंत के साथ ही भारतीय शास्त्रीय संगीत अपना मूल स्वरूप ही खो देगा। जब संगीत ही नहीं बचेगा तो उसमें प्रयोग कैसे होगा। इसलिए वर्तमान वैश्वीकरण तथा आधुनिकता के प्रचंड प्रवाह में आवश्यकता है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत के मूल स्वरूप को संचित एवं सुरक्षित रखा जाए।

सन्दर्भ सूची :

1. https://education.nationadgeographic.org/resource/gdobadization/
2. आकांक्षा डॉ. कुमारी, भारतीय संगीत और वैश्वीकरण, कनिष्क पब्लिक पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 27
3. टाइम्स आफ इंडिया, नई दिल्ली संस्करण, 16 जुलाई 2001
4. मिश्र, पंडित विजय शंकर, अंतर्नाद सुर और साज, कनिष्क पब्लिसर्स, नयी दिल्ली, 2011, पृष्ठ 153

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

वार्षिक शोध पत्रिका

कुमार प्रिन्टर्स

लाह बाजार, शिल्पी पोखरा, छपरा, सारण (बिहार)

(निबंधित कार्यालय : प्रभुनाथ नगर, छपरा)

Mob. : 9431090666